# एशिया के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा

प्रथम संस्करण
१९७१

मूल्य : तेरह रुपये



मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस,
२५७, गोलागंज, लखनऊ

# प्रकाशकीय

गुफाओं और कन्दराओं में रहकर वन्य जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य ने अपने बुद्धि-विवेक के प्रयोग से आदिम अवस्था से उत्तरोत्तर आगे बढ़कर महान् सामाजिक संगठनों और संस्कृतियों का सृजन किया तथा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कल्पनातीत सफलताएँ प्राप्त कीं। फलतः आज वह अन्तरिक्ष में विचरण करने और चन्द्रमा तक पहुँचने में सक्षम हो चुका है। उसके भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास की गति अबाध है।

पुरातत्त्ववेत्ताओं और इतिहासकारों ने मानव-सभ्यताओं के विकास-क्रम की खोज के श्लाघ्नीय प्रयत्न किये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं खोजों पर आधृत है और इसमें एशिया की दजला-फरात, सिन्धु-गंगा आदि नदियों के किनारे प्रतिफलित सभ्यताओं के विस्तार तथा परवर्ती सभ्यताओं के रूपों का बुद्धिपरक विश्लेषण किया गया है। कबीले की जीवन-शैली से लेकर आज के परिकल्पित अन्तर्राष्ट्रीय समाज की रूप-रेखा तक पर विद्वान् लेखक की तीव्र दृष्टि गयी है। प्रत्येक युग में एशियाई देशों के जन-जीवन के विविध पक्षों—धर्म, दर्शन, साहित्य, शिल्प, उद्योग-धन्धे, नियम-व्यवस्था, रहन-सहन आदि सभी पर सम्यक्‌रूपेण इसमें विचार किया गया है, जिससे इस महाद्वीप के विभिन्न अंचलों की अतीत एवं वर्तमान की रीति-नीति की झाँकी हमारे सामने आती है और उनके भविष्य का आभास मिलता है। उन्होंने निर्भय होकर उन सब के बारे में निष्पक्ष मत व्यक्त किये हैं, टिप्पणियाँ की हैं। इतिहास का परिशीलन लेखक ने एक नये दृष्टिकोण से किया है, जो इतिवृत्तात्मक या घटनाप्रधान न होकर विभिन्न युगों में एशिया के बहुरंगी समाज और संस्कृति अथवा लोक-जीवन के सजीव चित्र प्रस्तुत करता है। उनकी गवेषणापद्धति अपनी है। हमें विश्वास है, इतिहास, संस्कृति और राजनीति के उच्च-स्तरीय विद्यार्थियों का इस असाधारण ग्रन्थ के अध्ययन से यथेष्ट लाभ होगा और हिन्दी जगत् इसे आदरपूर्वक अपनायेगा।

**लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'**
**सचिव, हिन्दी समिति**
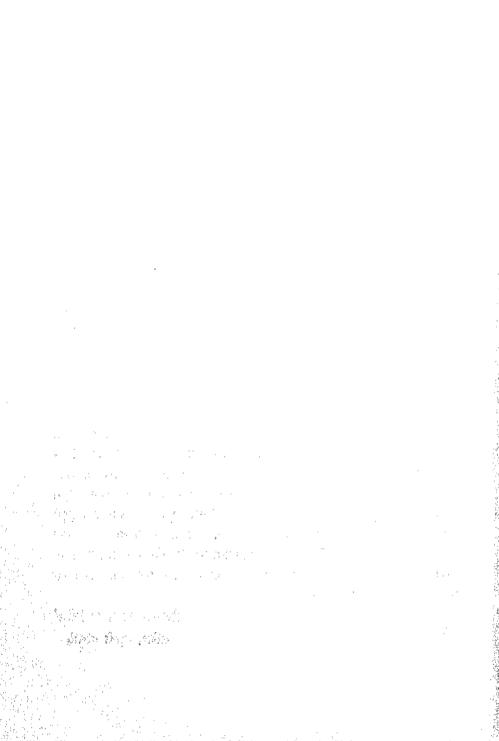
# प्राक्कथन

'एशिया' शब्द बाबुली भाषा के शब्द 'अशू' से निकला है। इसका अर्थ 'निकलना', 'उभरना' और 'बढ़ना' है। यह सूर्य के उदय होने के लिए प्रयुक्त होता है। इससे 'पूर्व' की व्यंजना भी होती है। बोगाज़-कुई से प्राप्त अभिलेखों से पता चलता है कि अनातोलिया (एशिया खुर्द) का पश्चिमी प्रान्त 'अश्शुवा' कहलाता था जिसके पीछे यह शब्द मालूम होता है। यह नाम केइस्तर नदी के तटवर्ती प्रदेश के लिए काफी समय तक प्रयुक्त होता रहा। यूनानी कवि होमर ने इसे अपना कर इसका रूप 'एशिया' निर्धारित किया (ईलियद २।१।४६१)। इसके बाद एजियन प्रदेश के नाविकों ने इससे पूर्व के उस विशाल भूभाग को अभिहित किया जहाँ उनकी समुद्र-यात्रा समाप्त हो जाती थी। एस्काइलस ने अपने नाटक 'पर्से' में इस शब्द का प्रयोग हखामनीशी साम्राज्य के पर्याय के रूप में किया और हिरोदोतस ने ईरानी-यूनानी वैमनस्य को एशिया-यूरोप के संघर्ष के रूप में व्यक्त किया।

'एशिया' शब्द की उपर्युक्त व्युत्पत्ति से प्रतीत होता है कि यह यूनानी-एजियन नाविकों द्वारा पूर्व के भूभाग के लिए प्रयुक्त होता था। इसका मुख्य प्रतीक सूर्योदय है। किन्तु यह प्रतीक निरा भौतिक या प्राकृतिक ही नहीं है। इसका एक विशाल और गम्भीर रूप भी है जो संस्कृति के उद्भव और विकास का परिचायक है। अर्थात् जिसे हम 'एशिया' कहते हैं वह संस्कृति के अरुणोदय का देश है। वहाँ संस्कृति की पहली किरणें फूटीं, ज्ञान की पहली रश्मियाँ निकलीं और मनुष्य ने पशुता की नींद से उठकर प्रगति की ओर पहले पग बढ़ाये। हजारों वर्ष पहले के उस दिव्य विहान से आज तक के इस सांस्कृतिक विकास का सर्वेक्षण इस पुस्तक का विषय है।

संस्कृति का इतिहास एक नयी परिकल्पना है। अभी तक इतिहास को राजनीतिक घटनाओं की सूची माना जाता रहा है। इतिहास के विद्यार्थी राजाओं के नाम या सेना-पतियों के कृत्य रटना या युद्धों और अभिषेकों या राजपलटियों की तालिकाएँ तैयार करना अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मानते रहे हैं। इसके कुछ कारण भी हैं—एक तो राजनीतिक घटनाओं के लिखित वृत्त मिल जाते हैं जो इतिहासकार के लिए तैयार सामग्री प्रस्तुत कर देते हैं, दूसरे इनका लोक-जीवन पर इतना गहरा प्रभाव और प्रबल सम्पर्क रहा है कि सहजैव इन पर दृष्टि पहुँच जाती है, तीसरे अभी वह मध्यकालीन मनोवृत्ति दूर नहीं हुई है जो इन्हें और इनसे सम्बन्धित व्यक्तियों को दिव्य समझती है। किन्तु धीरे-धीरे समाज के

उपेक्षित वर्ग ऊपर आ रहे हैं, लोकतन्त्र, समाजवाद और समानता का नारा उठ रहा है, प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग अपने अस्तित्व और उसके महत्त्व के प्रति जागरूक होता जा रहा है, जिससे इतिहास कुछ मुट्ठी-भर लोगों का खेल-तमाशा लगने के बजाय पूरे समाज का विकास-क्रम मालूम हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजाओं, सेनापतियों और कूट-नीतिज्ञों के कृत्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिकों, कलाकारों और साहित्यकारों का कार्य रहा है और इनसे भी ज्यादा प्रभावशाली ऋषियों, मुनियों, धर्म-प्रवर्त्तकों और तत्त्व-द्रष्टाओं की देन रही है और सब से स्थायी उन अज्ञात असंख्य लोगों का अध्यवसाय रहा है जिन्होंने खेती-बारी, उद्योग-धन्धे और रहन-सहन के तरह-तरह के तरीके चलाये हैं और खुद तकलीफें उठाकर या शोषण सहन कर उन्हें चालू रखा है और उनके द्वारा समाज की व्यवस्था को पुष्ट किया है। इतिहास का यह नया दृष्टिकोण सारे समाज की संस्कृति पर आधारित है। इसे इस पुस्तक में विकसित करने की चेष्टा की गयी है। फलतः इसमें राजाओं, मन्त्रियों या सेनापतियों के नाम इक्का-दुक्का ही मिलेंगे, अधिकतर विभिन्न देशों के विविध वर्गों के लोगों से भेंट होगी, पण्डे-पुरोहितों, आचार्य-दार्शनिक, कवि-कलाकार मिलेंगे, कारीगर-दस्तकार, वणिक्-व्यापारी, साहूकार-दलाल सामने आयेंगे और किसान-कमेरे, मज़दूर-मेहनती, बन्दी-गुलाम, दास-भृतक ध्यान आकृष्ट करेंगे। इससे कुछ ऐसा लगेगा कि पूरा समाज नज़र के सामने घूम रहा हो या संस्कृति का चलचित्र मनःपटल पर चल रहा हो या जीवन की अनेक भूली हुई शैलियाँ अवचेतन के नेपथ्य से निकल कर चेतना के रंगमंच पर नाच रही हों। यह दृश्य, यह अनुभव, यह प्रतीति, यह साक्षात्कार अनुपम होगा और अद्भुत् भी, विस्मय उत्पन्न करेगा और उत्कण्ठा को भी जगायेगा, और साथ ही हमें अपने जैसे असंख्य लोगों के सुख-दुःख में शरीक कर हर्ष और विषाद के झूले पर झुलायेगा। निश्चय ही यह भावों और विचारों की एक नयी उपलब्धि होगी।

जैसा कि इस पुस्तक या इसके किसी भी अंश के पाठक को सहजैव स्पष्ट हो जायगा, इसकी तैयारी में बेहद परिश्रम, चिन्तन और मनन निहित है। लेखक ने कई भाषाओं के हजारों ग्रन्थों, निबन्धों और लेखों के अध्ययन के बाद इसे लिखा है। जहाँ तक सम्भव हुआ मौलिक सामग्री तक पहुँचने की कोशिश की गयी। यह सामग्री धर्मग्रन्थों, साहित्य-कृतियों, वैज्ञानिक रचनाओं, कला, शिल्प और पुरातत्त्व की वस्तुओं, लोक-प्रचलित परम्पराओं आदि में सुरक्षित है। सरकारी वृत्तों की नयी व्याख्या और नयी दृष्टि से उनके अध्ययन से भी काफी नयी बातें मालूम हुई हैं। दसों वर्षों तक दिन-रात चुपचाप इस सामग्री की खोज, इसका संकलन और इससे प्राप्त निष्कर्षों का परीक्षण और निबन्धन उसका अध्यवसाय रहा है। इसका जो कुछ भी फल है वह तुच्छ भेंट के रूप में पाठकों के कर-कमलों में अर्पित है।

लेखक के सामने सबसे बड़ी समस्या यह रही है कि इतनी विशाल सामग्री को थोड़े से थोड़े शब्दों और कम से कम वाक्यों में कैसे संक्षिप्त करे। किन्तु निरन्तर अभ्यास से यह कुछ सुलझी है, हालाँकि इसे हल करने में बहुत सी काम की बातें छोड़नी पड़ी हैं। लेखक को सन्तोष है कि फिर भी वह पाठकों के सामने काफी ज्ञातव्य बातें प्रस्तुत कर पाया है और बहुत से अनजाने मामलों पर नयी रोशनी डालने में समर्थ हुआ है। जब दुनिया भर की काट-छाँट के बाद, जो पुस्तक को संक्षिप्त रूप देने के लिए आवश्यक हुई, लेखक अपने प्रयास के इस अन्तिम रूप को देखता है तो उसे यह अनुभव कर ख़ुशी होती है कि वह थोड़े से पृष्ठों में भी काफी ज़रूरी बातें खुल कर कह सका है।

पुस्तक अनेक नवीन खोजों से भरी है। बहुत से ज्ञात तथ्यों की नयी व्याख्याएँ इसमें जगह-जगह मिलती हैं। किन्तु सब से अधिक महत्त्व की वस्तु एक नये परिप्रेक्ष्य का निर्माण, एक नये दृष्टिकोण की उपलब्धि, एक नये सन्दर्भ का सम्पादन है। इसका प्रमुख लक्षण संस्कृति के विविध रूपों, धर्म, दर्शन, उद्योग, व्यापार, कला, शिल्प, साहित्य, विज्ञान, तकनीक, उत्पादन, वितरण, सम्बन्ध, सम्पर्क, नियम, प्रशासन, व्यवस्था, संस्था आदि जीवन के सभी पक्षों और रहन-सहन के सभी तरीक़ों, को एक-दूसरे का पूरक समझ और एक-दूसरे के ऊपर आश्रित मान एक समन्वित विचार-पद्धति में ग्रथित करना है। आजकल यह देखा जाता है कि प्रायः इतिहासकार इनमें से किसी एक को छाँट कर उसके द्वारा सारे जीवन की व्याख्या करने की कोशिश करते हैं जो स्वभावतः एक पक्षीय हो जाती है। कुछ आर्थिक तत्त्व को प्रधानता देते हैं तो कुछ धर्म को, कुछ विचार को प्रमुख समझते हैं तो कुछ आचार को, कुछ सामाजिक व्यवस्था को महत्त्वपूर्ण मानते हैं तो कुछ विज्ञान और तकनीक के विकास के स्तर को, किन्तु सत्य यह है कि ये सब समान रूप से एक उलझे हुए धागों के गुच्छे के सूत्रों की तरह एक-दूसरे से मिले हुए हैं और एक-दूसरे को थामे हुए हैं। इनको अलग करने और इनके महत्त्व की मात्रा निर्धारित करने के बजाय इन्हें सामूहिक और संश्लिष्ट रूप से एक साथ लेना और समान महत्त्व देना वैज्ञानिक दृष्टि से समुचित और लाभकारी है। इस पुस्तक में यही दृष्टि अपनायी गयी है।

पुस्तक सरल और चलती भाषा में है, जिस पर पण्डित लोग भले ही नाक-भौं सिकोड़ें, लेकिन जो सामान्य पाठक को, जिसके लिए ख़ास तौर से यह लिखी गयी है, विश्वास है, ज़रूर अच्छी लगेगी।

पुस्तक में एशिया के प्रमुख देशों और प्रदेशों के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास को दस भागों में बाँट कर कालक्रम से सज्जित किया गया है। हर भाग का उसकी प्रमुख प्रवृत्ति के अनुसार अलग नाम रखा गया है जो उससे सम्बन्धित परिच्छेद का शीर्षक है। हर भाग में सभी प्रादेशिक संस्कृतियों की तात्कालिक अवस्थाओं के समानान्तर चित्र हैं

जिनसे पाठक को एक साथ उन सब का परिचय मिल सके और वह एकदम उनके विषय में सर्वांगीण दृष्टिकोण बना सके।

लेखक समझता है कि एशिया के लोगों के जीवन की विभिन्न धाराओं को आत्मसात् करना हम सबका कर्त्तव्य है और सबकी भलाई का रास्ता है। उसे विश्वास है कि यह पुस्तक इस दृष्टि से कुछ उपयोगी सिद्ध होगी।

**मोती भवन** **बुद्धप्रकाश**
**सहारनपुर**

# विषय-सूची

## पहला परिच्छेद

### संस्कृति का सवेरा



## दूसरा परिच्छेद

### एकता की ओर



## तीसरा परिच्छेद

### मध्य एशिया की आँधी

## चौथा परिच्छेद

### विश्वधर्म-चेतना



## पाँचवाँ परिच्छेद

### संस्कृति का परिपाक



## छठा परिच्छेद

### इस्लाम का प्रवेश

## सातवाँ परिच्छेद

### तुर्कों और मंगोलों का प्रसार



## आठवाँ परिच्छेद

### मध्यकालीन स्तब्धता



## नवाँ परिच्छेद

### आधुनिकता का आगमन

## दसवाँ परिच्छेद

### प्रगति के पथ पर

# पहला परिच्छेद

# संस्कृति का सवेरा

## संस्कृति की पहली किरणें

करीब चार लाख वर्ष हुए, एशिया में मनुष्य ने यह अनुभव किया कि प्राकृतिक वस्तुओं को अपने काम में लाया जा सकता है। उसने आसपास पड़े हुए पत्थरों को उठाकर जानवरों पर फेंकना शुरू किया। जानवरों के पंजे तेज थे और दाँत नोकीले और उनमें बहुत ताक़त थी, लेकिन उनमें इतनी क्षमता न थी कि पत्थर उठाकर फेंक सकें। इससे वे मनुष्य के मुकाबले में पिछड़ गये। यह बुद्धि, प्रतिभा और सृजन-शक्ति के प्रयोग से प्रकृति को अपने काम में लाने और उस पर विजय पाने का मनुष्य का पहला प्रयास था जिसे संस्कृति की शुरूआत कहा जा सकता है।

धीरे-धीरे जब मनुष्य को पता चला कि रक्षा और आघात में पत्थर उपयोगी हैं तो उसने उन्हें फोड़कर नोकीली शकलें देनी शुरू कीं। चीन में पेकिंग के नज़दीक चू-खू-थिएन की गुफाओं में इस प्रकार के पत्थर के हथियार बनाने वाले आदमियों के अवशेष मिले हैं। वे पत्थरों को फोड़कर तेज़ करने के अलावा आग जलाना भी जानते थे और जानवरों को मारकर और शायद भूनकर खाते थे। उन्हें सजावट या आभूषणों में रुचि नहीं थी और उनमें अन्त्येष्टि प्रथा का भी अभाव था।

इसके बाद पत्थर के औजारों और हथियारों में और सुधार हुआ। पत्थर को दोनों तरफ से तराश कर धारदार बनाया जाने लगा। यह कुल्हाड़ी का काम करता था। इससे चीज़ों को काटने-छीलने का काम किया जाता था। ऐसी कुल्हाड़ियाँ अफ़्रीका में कसरत से मिलती हैं।

धीरे-धीरे मनुष्य की बुद्धि बढ़ने लगी। २५,००० ई० पू० के लगभग उसने हड्डी और हाथीदाँत की चीज़ें बनाना और उन पर ज्यामिति जैसी शकलें बनाना शुरू कर दिया। साथ ही वह औरतों की मूर्तियाँ भी बनाने लगा, जिनका सम्बन्ध उर्वरता बढ़ाने के किसी उपचार से मालूम होता है। दक्षिणी रूस के पुश्कारी स्थान पर उसने गुफाओं के बजाय खाल के तम्बुओं में रहना शुरू कर दिया और खाल के कपड़े सीने

और पहनने आरम्भ कर दिये। उस ज़माने में फलक और छेनी बनाने का रिवाज दूर-दूर तक फैल गया।

लगभग ६०००–८००० ई० पू० में इतिहास ने नयी करवट ली। मनुष्य ने मछली पकड़ने और शिकार खेलने के अलावा जानवर पालना और अपने आप उगने वाला अन्न काटना और इकट्ठा करना शुरू कर दिया। इससे वह घर बसाकर रहने लगा। जल्दी ही ये बस्तियाँ गाँव बन गयीं। इनमें से कुछ ने क़िलेबन्द क़सबों का रूप ले लिया। यह तबदीली अरब, शाम और ईरान की मरुभूमियों के ऊपरली उपजाऊ और सजल इलाक़े में हुई।

सब से पहले गाँव बसाने वाले लोग नतूफी कहलाते हैं। इनकी बस्तियाँ फिलस्तीन में मिलती हैं। उर्दुन्न (जोर्डन) नदी की ऊपरली घाटी में ऐनान नाम के स्थान पर पुराने पत्थर के युग के अवशेषों के ऊपर नतूफी संस्कृति के तीन स्तर मिलते हैं, जिनसे प्रकट होता है कि यह संस्कृति सीधी पत्थर के युग की संस्कृति से विकसित हुई। ऐनान के दूसरे स्तर में जो गाँव था उसमें ७ मीटर व्यास के गोल मकान मिले हैं। इन मकानों के फर्श ज़मीन में धँसे और लिपे-पुते थे। इनके दरवाज़ों में लगी लकड़ी की पैड़ियाँ फर्श पर ले जाती थीं। मकानों के ऊपर का ढाँचा नरसलों और खपच्चियों का बना था। मकानों के बराबर में गड्ढे थे, जिनमें शायद अनाज भरा जाता था। पत्थर के हल का रिवाज था। हड्डी के टुकड़े में पत्थर के बारीक टुकड़े फँसाकर दराँती बनायी जाती थी। पत्थर के बरतन, खरल, मूसल और हड्डी के सुए, कटवे, पिन आदि बनाये जाते थे। मकानों के नीचे मुर्दों को गाड़ा जाता था। अक्सर उनके अंग कटे मिले हैं।

ईराक़ी कुर्दिस्तान में करीम शहर, गिर्द चाई और जावी चेमो स्थानों पर भी पुराने गाँव मिले हैं, वहाँ भट्ठियाँ और सामान भरने की कोठियाँ मिली हैं और चक्की-चकले, पत्थर के हल और इक्का-दुक्का दराँतियाँ भी मिली हैं, जिनसे पता चलता है कि खेती-बारी की शुरूआत हो रही थी लेकिन लोग उठाऊ-चूल्हे थे। यह देहाती जीवन की आदिम अवस्था थी।

गाँव धीरे-धीरे बढ़ने लगे। साइप्रस में खीरोकीतिया में ४८ गोल गुम्बज वाली झोपड़ियाँ मिली हैं। इनकी संख्या कभी हजार के करीब रही होगी जिनमें हज़ारों आदमी रहते होंगे। इनकी बुनियाद चूने के पत्थरों की थी और दीवारें कच्ची ईंटों की। दरवाज़ों पर लकड़ी की चौखटें लगी थीं। उनसे पैड़ियों के द्वारा नीचे फर्श पर जाया जाता था। फर्श के बीच में आग जलाने का कुण्ड था। बीच में खम्भे थे जिन पर दूसरी मंजिल टिकी थी। खम्भों में ताख थे। अनाज काटने, आटा पीसने, ऊन कातने, पत्थर के बरतन बनाने का रिवाज था।

उर्दुन्न (जोर्डन) घाटी में जेरीको में भी स्थायी जीवन के विकास के चिह्न मिले हैं। वहाँ ८००० ई० पू० के लगभग नतूफी लोगों की बस्ती थी। इसके बाद वहाँ एक क़िलेबन्द क़सबा बना। इसका क्षेत्रफल ८ एकड़ के करीब था। क़िलेबन्दी के साथ ८.५ मीटर व्यास का एक पत्थर का बुर्ज था जिस पर जाने को ज़ीना होता था। इस ज़ीने में पहुँचने के लिए एक दरवाजा और रास्ता था। इसके साथ १.५ मीटर चौड़ी पत्थर की दीवार बस्ती के चारों ओर बनी हुई थी। दीवार के अन्दर बुर्ज के पास उत्तर की ओर लिपी हुई कच्ची ईंटों की दीवारों के घरे मिले हैं जो शायद पानी भरने के हौज़ थे। दीवार के बाहर चट्टान को तराश कर ८.५ मीटर चौड़ी और २.१० मीटर गहरी एक खाई बनायी गयी थी। चूँकि कुदाल और गैंती के प्रयोग का कोई साक्ष्य नहीं मिला है, इसलिए लगता है कि पत्थरों से चट्टान को फोड़कर या आग और पानी से इसके टुकड़े कर यह खाई बनायी गयी थी। इसमें काफी मेहनत और वक्त लगा होगा और बहुत लोगों ने मिल-कर काम किया होगा। यह सिंचाई और रक्षा के लिए पानी भरने के काम आती थी। बुर्ज, दीवार, हौज़ और खाई से पता चलता है कि उस जगह के निवासियों में सहयोग और अनुशासन का भाव गहरा था।

क़सबे के अन्दर कच्ची ईंटों के गोल या अण्डाकार मकान थे। कुछ में एक ही कमरा था और कुछ में तीन तक कमरे थे। इनके फर्श ज़मीन की सतह से नीचे थे और उन पर उतरने के लिए पैड़ियाँ बनी थीं। लकड़ी की चौखटों से जड़े दरवाज़ों में होकर इन पैड़ियों से उतर कर मकान के अन्दर जाया जाता था। अन्दर से मकान लिपे-पुते थे और इनकी छतें डंडियों और खपच्चियों को गारे से लीपकर गुम्बज़नुमा बनायी जाती थीं। मुर्दों को फर्श के नीचे दफनाया जाता था। खोपड़ियों को भूसा, मिट्टी या गेरू भरकर अलग से रखा जाता था। लगता है कि यह कोई धार्मिक उपचार था। एक ओर तो इनसे नरबलि का अनुमान होता है और दूसरी ओर इस बात का पता चलता है कि ये लोग यह मानते थे कि मरे हुए व्यक्तियों की बुद्धि उनके सिर में होती है और उससे लाभ उठाने के लिए उनको सुरक्षित रखना ज़रूरी है।

कारबन १४ के परीक्षणों से यह बस्ती ६८०० ई० पू० की मालूम होती है।

कुछ समय बाद और लोगों ने जेरीको पर कब्ज़ा कर लिया। ये लोग तहूनियों के पूर्वज मालूम होते हैं। इन्होंने क़सबे के रूप को बनाये रखा। लेकिन इनके पत्थर के बरतन पहले लोगों से भिन्न प्रकार के मालूम होते हैं। उस वक्त इस जगह क़रीब ३००० आदमी रहते होंगे। यह ख़ास बात मालूम होती है कि जेरीको के निवासी मिट्टी के बरतन बनाना नहीं जानते थे।

ईराक़ी कुर्दिस्तान में जार्मो और थिसली में ओतज़ाकी नाम के स्थानों से उस

ज़माने के अनाज भी मिले हैं। गेहूँ की 'अम्मर' और 'आइनकोर्न' नामक क़िस्में वहाँ पायी गयी हैं। यह खेती-बारी के विस्तार का स्पष्ट प्रमाण है।

दक्षिणी अनातोलिया में भी उस ज़माने में गाँव और क़सबे उभर रहे थे लेकिन वहाँ शुरू से ही मिट्टी के बरतन बनाने का रिवाज मालूम होता है। शाताल हुयुक और शुकुरकन्त में इन बस्तियों के अवशेष मिले हैं। शाताल हुयुक का क़सबा ५०० मीटर लम्बा और १५० मीटर चौड़ा था। वहाँ कच्ची ईंटों के बने चौकोर मकान मिले हैं। मिट्टी की पकायी हुई मूर्तियाँ भी वहाँ की विशेषता है। वहाँ के दबाव से तोड़े हुए ओब-सीडियन के भाले और बाणों के कोने और दराँतियों के फलक विशेष महत्त्व रखते हैं। यह संस्कृति ईराक़ की संस्कृति से भिन्न मालूम होती है।

६००० ई० पू० से मिट्टी के बरतनों की हलकी पीली सतह पर लाल रंग की चीतन-कारी की जाने लगी और कुछ लोगों ने इस काम में विशेष दक्षता प्राप्त की। साथ ही अनातोलिया और ईरान में धातुओं का प्रयोग किया जाने लगा।

इस काल में ईराक़ और ईरान में संस्कृति की रोशनी फैलने लगी। उत्तरी ईराक़ में हसुन्ना, दजला नदी पर समर्रा और फ़रात नदी पर बग़ूज़ उन्नति करने लगे। इस काल के मिट्टी के बरतनों पर ज्यामिति की शकलों की सजावट मिलती है। किन्तु ईराक़ और ईरान में जानवरों और आदमियों की शकलें बनाने का रिवाज शुरू हो गया। अनातोलिया के हसिलार में चितेरों और कुम्हारों की बस्ती के अवशेष मिले हैं।

संस्कृति के इस उषाकाल में स्थानीय भेदों के रहते हुए भी एक समान ढंग की संस्कृति पनपी। इसके विशेष लक्षण शिकार के साथ-साथ पशुपालन और खेती-बारी का विकास था। इससे स्थायी जीवन को बढ़ावा मिला और गाँव और क़सबे उभरने लगे। इनमें स्थापत्य, कला, योजना, सहयोग और प्रशासन की उन्नति हुई। धार्मिक और दार्शनिक विचार निखरे। उर्वरता की देवी की पूजा का रिवाज बढ़ा और मृतकों को विधिवत् दफनाने की भावना पैदा हुई, पहले जो परलोक और जीवन की अक्षुण्णता की परिचायक है। जेरीको में मृतकों की बुद्धि को सुरक्षित रखने और उससे लाभ उठाने का उपचार विशेष महत्त्व रखता है। पत्थर, मिट्टी, धातु और हड्डी की चीज़ें कारीगरी और दस्तकारी के विकास का प्रमाण हैं।

इस तरह एशिया की भूमि पर मनुष्य ने संस्कृति के विहान का अभिनन्दन कर उसके दिव्य प्रकाश का साक्षात्कार किया।

## सुमेर में संस्कृति की श्रीवृद्धि

ग्राम्य संस्कृति से नगरों की संस्कृति का विकास हुआ। यह परिवर्तन दजला

और फरात नदियों की घाटियों में सम्पन्न हुआ। दजला नदी आरमीनिया से निकल कर १२०० मील की दूरी तय करती हुई फारस की खाड़ी में गिरती है। इसका बहाव तीर की तरह तेज़ है। इसलिए इसे प्राचीन काल में 'इदिगलात' कहते थे। इसके बहाव का कोई ठिकाना न था। अतः इसके किनारे पर स्थायी बस्तियाँ कम पनपीं। लेकिन फरात नदी का १८०० मील का प्रवाह शान्त रहा और यह यातायात, सिंचाई और उर्वरता का विश्वसनीय साधन रही। इसका प्राचीन नाम उरुत्तु (उरुदु), जिसका अर्थ 'ताँबा' है, यह सिद्ध करता है कि यह व्यापार का श्रेष्ठ माध्यम रही और इसने उद्योग-धन्धों, विशेषतः धातुओं के काम को काफी बढ़ावा दिया। दक्षिण की ओर बहते-बहते ये नदियाँ एक दूसरी के काफी निकट आ जाती हैं। एक जगह इनकी दूरी सिर्फ ३० मील ही रह जाती है। इस इलाक़े को 'अक्कद' कहते हैं। यह नगरों और बस्तियों का गुच्छा है।

दज़ला और फरात नदियों के दोआब को आजकल मेसोपोटेमिया कहते हैं। इसमें गेहूँ, जौ, मांस, मछली, छुहारे आदि कसरत से मिलते हैं, लेकिन पत्थर और धातु बाहर से लानी पड़ती हैं। इससे वहाँ के लोग व्यापार, संगठन, व्यवस्था आदि में बहुत बढ़े-चढ़े रहे हैं। क़रीब ६००० वर्ष हुए, वहाँ दक्षिण-पश्चिमी ईरान के लोगों ने गाँव बसाने शुरू किये। इसके बाद वहाँ शामी लोग आने लगे। इन ईरानी और शामी लोगों के मेल से नागरिक विकास की पहली किरणें फूटीं। चौथी सहस्राब्दी ई० पू० के अन्तिम चरण में कोह काफ (काकेशस) और कैस्पियन पार के इलाक़े से सुमेरी लोग इस प्रदेश में घुसे। वे घुमन्तू थे लेकिन उन्होंने जल्दी ही अपने विरोधियों से काफी बातें सीख लीं। धीरे-धीरे वे सारे देश पर हावी हो गये। परन्तु पश्चिमी रेगिस्तान के शामी लोग, जो घर बसाकर रहना नहीं जानते थे और खेती-बारी से अपरिचित थे और जिन्हें 'मर्तु' कहते हैं, उन्हें तंग करने लगे। यह सुमेरी संस्कृति का वीर-काल है। इसके बाद सुमेरी ठीक तरह जम गये और इस सारे इलाक़े का नाम सुमेर पड़ गया। इस काल में सुमेरी संस्कृति का रूप निखरा। २७०० ई० पू० के आसपास इसकी शैली और पद्धति स्पष्ट होने लगी। नागरिक संस्थाएँ, नगर राज्य, स्थापत्य, शिल्प और कला, समाज-विन्यास, श्रम-विभाजन, वर्ग-व्यवस्था, धार्मिक विश्वास, नैतिक मान्यताएँ, ज्ञान, विज्ञान, साहित्य और लेखन-पद्धति अपने विशिष्ट रूपों में उभरी और पनपी। २३०० ई० पू० के लगभग अगादे के शासक सारगोन ने सारे इलाक़े के राज्यों को राजनीतिक एकता के तार में बाँधा। उसका वंशज नरमसिन प्रसिद्ध विजेता था। किन्तु इसके बाद गूती और अमोरी लोगों ने सुमेर पर अधिकार कर लिया। अमोरी सम्राट् हम्मुरबी (१७५० ई० पू०) अपनी कानूनों की संहिताओं के लिए प्रसिद्ध है। इसके बाद कस्सी, हुर्री और खत्ती

लोगों ने सुमेर को जीत लिया। फिर असुरों ने अपना विशाल साम्राज्य क़ायम किया। इसके बाद खल्दिया के लोगों ने नव-बाबुली साम्राज्य बनाया और फिर ईरान के हखामनीशी सम्राटों ने इस सारे प्रदेश को जीत लिया। इस समस्त उथल-पुथल के बावजूद सुमेरी संस्कृति का स्वरूप बना रहा।

सुमेरी लोगों को संस्कृति के अनेक पक्षों और रूपों के जन्मदाता कहा जा सकता है। नागरिक जीवन के विकास में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योग दिया। उनके नगर लोक-जीवन की स्वतन्त्र इकाइयाँ थीं। प्रत्येक नगर एक देवता का निवास स्थान माना जाता था। उसका मन्दिर, जिसे 'ज़िग्गुरत' कहते थे—इसी से 'जियारत' शब्द निकला मालूम होता है—नगर का केन्द्र था। यह कला, शिल्प, धर्म, प्रशासन और उद्योग-व्यापार का हृदयस्थल था। इसके कई तल्ले होते थे। बराबर में और सामने बड़े-बड़े जीने और ढलवाँ रास्ते बने थे। ऊपर खम्भों वाले द्वारों से गुज़र कर मन्दिर में जाया जाता था। पूरी इमारत को रंग-बिरंगी धूप में सुखायी हुई ईंटों के कोनों से सजाया जाता था। मन्दिर के आसपास पुजारियों, पण्डों, प्रशासकों के निवास और कार्यालय थे। उनसे मिले व्यापारियों के घर और कारीगरों के कारखाने थे। व्यापारी (तुमगर, इससे पश्चिमी एशिया का 'तवंगर' शब्द निकला मालूम होता है) और कारीगर (नग्गर, इससे अरबी का 'नज्जार' शब्द निकला है) समस्त सांस्कृतिक व्यवस्था के प्रतीक थे। उनके सम्बन्ध काफी दूर-दूर तक थे। उनमें निजी सम्पत्ति की व्यवस्था थी जिससे लेखन-कला, पत्र-संग्रह और क़ानूनी संहिताओं का रिवाज बढ़ा।

सुमेरी संस्कृति का क्षेत्र नगर राज्यों का समूह था। नगर राज्य का राजा या अधिपति वहाँ का स्थानीय देवता माना जाता था। उसके नायब (इशाक्कु) के रूप में शासक कार्य करता था। देवता के प्रसाद से वह अपने शासनकार्य में सफल हो सकता था और उसके रोष का अर्थ उसका पतन था। जब वह देवता को रुष्ट कर देता और शामी परिभाषा के अनुसार 'क़ुत्लुलु' का अपराधी होता तो देवता उसे संरक्षण देना बन्द कर देता। ऐसा अपराधी शासक अपनी राजशपथ के विपरीत (ममीतएतेक़ु) आचरण करता हुआ देवता द्वारा निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन (इते इलि एतेक़ु) करने वाला घोषित किया जाता, जिससे उसे राज करने का हक़ न रह जाता। अतः राजा के लिए यह सिद्ध करना जरूरी था कि उसने देवता के विरुद्ध कोई ऐसा कार्य नहीं किया है जिससे वह रुष्ट हो जाय। देवता की इच्छा के अलावा सभा (सुमेरी 'उक्किन', अक्कदी 'पुहरुम') की सद्भावना भी राजा के लिए आवश्यक थी। इस सभा के दो सदन थे—एक उच्च सदन जिसके सदस्य नगर के वृद्ध पुरुष होते थे और दूसरा निम्न सदन जिसमें नगर के सब लोग या इनमें से प्रतिनिधि के रूप में कुछ शामिल होते थे।

तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० में जब कीश नामक नगर-राज्य के शासक अग्गा ने 'एरेख' के शासक गिलगामेश के पास यह प्रस्ताव भेजा कि वह उसका आधिपत्य मान ले, तो गिलगामेश ने उच्च सदन की बैठक बुलाकर उसमें यह प्रस्ताव रखा और जब उसने समपर्ण करके शान्ति खरीदने का प्रस्ताव किया तो उसने निम्न सदन की बैठक बुलाकर उसके सामने इसे पेश किया और उसके इस निर्णय पर कि समर्पण के बजाय लड़ना श्रेष्ठ है युद्ध की तैयारी की। यह 'मितलुकु' (परामर्शात्मक सामूहिकता) का सिद्धान्त प्रतिनिधि राज्य या नियन्त्रित राजतन्त्र या संवैधानिक शासन की ओर पहले कदमों में से एक है।

सुमेरी नगर राज्यों के लोग अपने अधिकारों के प्रति काफी जागरूक थे। शासकों की सख्ती उन्हें अखरती थी। लगश के राज्य के लोगों ने ऊरनन्शे से चले आ रहे राजवंश को हटाकर एक नये वंश के उरुकगीना को 'इशाक्कु' चुना। उसने पहले शासन की सख्तियों को दूर कर और उसके द्वारा लगाये हुए करों को रद्द कर और साथ ही दुर्बल को धनाढ्य के शोषण से मुक्त कर और सूदखोरों, चोरों एवं हत्यारों का सफाया कर लोगों की स्वतन्त्रता और उनके अधिकारों को सुरक्षित किया। लगश के एक ऐतिहासिक वृत्त में सब से पहले 'स्वतन्त्रता' (अमर्गी) की परिकल्पना मिलती है।

लोगों की अधिकार-चेतना और आपसी सम्बन्धों के समन्वय की भावना क़ानून की संहिताओं के रूप में व्यक्त हुईं। ऊर के तीसरे राजवंश के प्रवर्तक ऊर-नम्भू ने, जिसका काल २०५० ई० पू० के क़रीब है, क़ानूनों की एक संहिता प्रकाशित की। इसमें उसने अनाथ बच्चों, विधवाओं और ग़रीबों की रक्षा के लिए क़ानून की घोषणा की और 'ख़ून का बदला ख़ून' की भावना से प्रेरित पुराने फौजदारी के क़ानून के बजाय, कि 'जो तुम्हारी आँख फोड़े तुम उसकी आँख फोड़ दो, जो तुम्हारा दाँत तोड़े तुम उसका दाँत उखाड़ लो', जुर्मानों की सज़ा का विधान किया। इसके बाद बिलालामा और लियितइश्तर ने अपनी संहिताएँ चालू कीं। आखिरकार हम्मूरबी ने १७५० ई० पू० के लगभग अपनी प्रसिद्ध संहिता बनायी जो प्राचीन क़ानूनों का सब से श्रेष्ठ और स्पष्ट कोश है। इसमें सम्पत्ति, वेतन, दासता, घरेलू सम्बन्ध, अपराध आदि से सम्बन्धित क़ानून हैं। सम्पत्ति-विषयक क़ानून इसकी विशेषता है। इसमें भूमि को दो भागों में बाँटा गया; वह भूमि जो राजा सरकारी सेवा के बदले में लोगों को जागीर के रूप में देता था लेकिन जिसे वे बेच-खोच नहीं सकते थे, और वह भूमि जिस पर उसके स्वामियों को रहन, बै, पट्टे, वसीयत आदि के पूरे अधिकार थे अर्थात् जो काफी हद तक उनकी सम्पत्ति थी। भूमि के मालिक जिन लोगों को उसे पट्टे या बटाई पर देते थे उन्हें उसमें खेती या बाग़बानी लाज़मी तौर पर करनी पड़ती थी। ऐसा न करने पर बाज़ार-भाव से लगान या बटाई

देनी पड़ती थी। दासों की स्थिति निश्चित थी। उन्हें ख़ास क़िस्म की पोशाक पहननी पड़ती और अपने शरीर पर विशेष ठप्पा लगाना पड़ता था। भाग जाने या स्वामी पर हमला करने पर उन्हें सख़्त सज़ा दी जाती थी। लेकिन उन्हें महीने में तीन दिन की छुट्टी का हक़ था, वे सम्पत्ति रख सकते और स्वामी को क़ीमत या मुआवज़ा देकर स्वतन्त्र हो सकते थे, स्वामी को उन्हें मौत की सज़ा देने का अधिकार नहीं था। परिवार में पिता या पति का स्थान सर्वोपरि था। शादियाँ मुहादों के रूप में होती थीं। बच्चा न होने पर पति पत्नी को तलाक़ दे सकता था या दूसरी पत्नी रख सकता था। पति कर्ज़े की अदायगी में पत्नी और बच्चों को गिरवी रख सकता था। ऐसी सूरत में वे, पत्नी और बच्चे कर्ज़ख़्वाह के ग़ुलाम समझे जाते थे लेकिन तीन वर्ष बाद अपने आप उनकी रिहाई हो जाती थी। पत्नी के अपंग या बीमार हो जाने पर पति को उसके गुज़ारे का इन्तज़ाम करना पड़ता था। इस प्रकार सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के अनेक पक्षों को नियन्त्रित करने की काफी कोशिश की गयी थी।

सुमेरी नगरों और उनमें रहने वालों के रहन-सहन का अन्दाज़ा ऊर और बाबुल के खण्डहरों से किया जा सकता है। ऊर-नम्भू के काल में, २०५० ई० पू० के लगभग, ऊर नाम का नगर तरक्क़ी की चोटी पर पहुँचा। इसके दो भाग थे। केन्द्रीय भाग कुछ-कुछ अण्डाकार था। इसके चारों ओर ७५ फुट मोटी और २½ मील लम्बी दीवार थी। इसके बाहर दो से तीन मील तक हर तरफ मोहल्ले बसे हुए थे। सड़कें और गलियाँ तंग और टेढ़ी-मेढ़ी थीं और उनके किनारे बने हुए मकानों के कोनों को गोल बनाया जाता था, जिससे आने-जाने वालों को उभरी हुई ईंटों की टक्कर से चोट न लगे। तामीर में धूप में सुखायी ईंटों का प्रयोग होता था। सड़कों पर फर्श नहीं था जिससे बरसात में कीचड़ हो जाता था। कारीगर और काम करने वाले मोहल्लों में मिट्टी और नरसल के मकानों में रहते थे। किन्तु मध्यम वर्ग के आज़ाद लोग चहार-दीवारी के भीतर ईंटों के मकानों में बसते थे। नगर का केन्द्रस्थल मन्दिर का अहाता था जहाँ राजा, राजकर्मचारी और पण्डे-पुजारियों का निवास था। इस तरह नगर के निवासियों के मोटे तौर से तीन हिस्से थे। कुल मिलाकर उनकी आबादी ढाई लाख के क़रीब थी। नगर के साथ लगा देहाती इलाक़ा खेतों और बाग़-बग़ीचों से आरास्ता और नालियों एवं नहरों से लैस था।

तीन सौ वर्ष बाद हम्मूरबी के शासनकाल में बाबुल की उन्नति हुई। उसमें व्यापारियों और अफसरों के मकान धूप में सुखायी ईंटों के बने थे। उनकी दीवारें मोटी और छतें पड़ी और तारकोल से लिपी थीं जिससे पानी अन्दर न आ सके। मकान में पक्का सहन, उसके चारों ओर चटाई के सायबान और उनके पीछे रिहायशी कमरे

होते थे एवं कमरों में पलंग, मेज़, कुर्सी और सन्दूक़ फर्शों पर चटाई बिछती थी। कभी-कभी सहन के चारों ओर ऊपर की मंज़िल में छज्जा होता था। रात को लोग छत पर सोते थे लेकिन गर्मी से बचने के लिए ज़मीन के नीचे तहख़ाने बने थे। सहन का एक दरवाज़ा गली में खुलता था। इस दरवाज़े के बराबर में रसोई होती थी। इस रसोई से पानी निकलने की नाली बाहर गली की नाली में मिल जाती थी। लोग ख़ासे आराम से रहते थे।

बाबुल के मन्दिर और बाज़ार शान-शौकत और तड़क-भड़क के केन्द्र थे। वहाँ नाच-गाने, उपदेश-व्याख्यान का समा रहता था। लोगों की चख़चख़ और कारीगरों की खटखट के फलस्वरूप कानों को कुछ भी नहीं सुनाई देता था। वहाँ दस्तकारों से तैयार माल लेने और उन्हें कच्चा सामान देने के लिए आये हुए देशी-विदेशी व्यापारियों का जमघट रहता था। नगर के दरवाज़ों के पास के बाज़ारों में किसान सब्ज़ी, फल और चिड़िया बेचने लाते थे। पास में सामान ढोने वाले गधों की क़तारें खड़ी रहती थीं। तीज-त्योहार और धार्मिक अवसरों पर बड़ी रोशनी और रौनक़ होती थी। बाद में लटकते हुए बाग़, बड़ी मीनार और इश्तर दरवाजा सजधज और दिल बहलाने के स्थान बन गये थे।

जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट हो जायगा, सुमेरी नगरों की बनावट और व्यवस्था पाकिस्तान-भारत की सिन्धु-सरस्वती की संस्कृति के नगरों से नितान्त भिन्न थी।

सुमेरी लोग पढ़े-लिखे और ज्ञान-विज्ञान के प्रेमी थे। उनमें तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० में शिक्षा-पद्धति का काफी विकास हो चुका था। पाठशाला को 'एदुब्ब' कहते थे। हो सकता है, अरबी का साहित्यवाची शब्द 'अदब' इसी से निकला हो। अध्यापक को 'उम्मिया' कहते थे जो शायद 'मियाँ' का पूर्वरूप हो। अध्यापक के साथ एक सहायक काम करता था। नक्शे खीचना सिखाने वाले और भाषा का अभ्यास कराने वाले अलग होते थे। एक व्यक्ति लड़कों को बेंत लगाता था। हाजरी लेने के लिए मानीटर होते थे। बच्चों को सबेरे से शाम तक मेहनत से पढ़ाया जाता था। गारे की पट्टियों पर कीलाक्षर लिपि लिखने पर बहुत ज़ोर दिया जाता था। बच्चे जल्दी से तैयार होकर पाठशाला जाते थे। अक्सर उनके माता-पिता अध्यापकों को घर बुलाकर उनकी ख़ुशामद करते थे जिससे वे उनके बच्चों को दिल से पढ़ायें और उनके साथ सख़्ती न करें। शिक्षा का कार्यक्रम विविधतापूर्ण था। इसके अनेक स्तर रहे होंगे।

सुमेरी लोगों का ज्ञान-विज्ञान काफी बढ़ा-चढ़ा था। इस क्षेत्र में उनकी अनेक उपलब्धियाँ समस्त मानव जाति की सम्पत्ति बन गयी हैं। उदाहरण के लिए, उन्होंने सूर्य के हिसाब से वर्ष को ३६० दिनों में बाँटा और इसमें कुछ फालतू दिन शामिल किये।

फिर १२ महीनों का वर्ष और ४ हफ्तों का महीना और ७ दिन का हफ्ता, जिसमें सातवाँ दिन 'सब्बतु' (सब्बत) छुट्टी का दिन होता है, निश्चित किये। दिन और रात को बारह-बारह घण्टों की अवधि में बाँटकर ६० मिनट का घण्टा और ६० सेकण्ड का मिनट क़ायम किया। लम्बाई नापने के लिए अंगुल का नाप बनाया जो २/३ इंच या १६.५ मिलीमीटर के बराबर है। १५ अंगुल का हाथ, २० अंगुल का फुट (यह १२ इंच से १३ इंच तक का बैठता है), ३० अंगुल का बालिस्त, ६ बालिस्तों की नरसल, दो नरसलों की छड, १० छडों की रस्सी (जरीब) और १८० रस्सियों या ६.६५ मील के माप निश्चित किये। ३५$\frac{1}{2}$ वर्ग मीटर का एक 'सर', १०० 'सर' का एक खेत (गन), १८ खेतों (गन) का एक हलक़ा 'बर' तय किये। गिनती की कई पद्धतियाँ चलायीं। ज्योतिष विद्या, चिकित्सा शास्त्र, नक्शानवीसी आदि के ज्ञान की शुरूआत की।

सुमेरी लोगों का विचार था कि सृष्टि के आरम्भ में समुद्र था। इसकी देवी नम्मू को जगज्जननी बताया गया है। इससे सार्वभौम शिखर की उत्पत्ति हुई। इसमें पृथ्वी और आकाश जुड़े हुए थे। कालान्तर में वे अलग हो गये। आकाश का देवता 'आन' हुआ और 'पृथ्वी' की देवी 'की'। इन दोनों के अलग होते ही अन्तरिक्ष नामक एक और प्रदेश बन गया। इसके देवता 'एनलील' को 'आन' (आकाश) और 'की' (पृथ्वी) का पुत्र बताया गया है। इसके लक्षण गति और विस्तार थे जो वायु की विशेषताएँ हैं। 'एनलील' का सम्बन्ध 'की' से हुआ। इससे एक ओर सूर्य, चन्द्रमा, तारे और ग्रह बने और दूसरे वनस्पति, पशु और मानव जीवन की उत्पत्ति हुई और संस्कृति के विकास की भूमिका तैयार हुई। जल का देवता 'एन्की' सभ्यता के विस्तार का माध्यम बना।

समुद्र, आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्ष (वायु) के स्रष्टा देवता हैं। उनके योजना बनाते, विचार करते और उसके अनुरूप नाम का उच्चारण करते ही वह पदार्थ उत्पन्न हो जाता है। यह दिव्य शब्द और सृजन-शक्ति के सम्बन्ध का सिद्धान्त चिरकाल तक पश्चिमी एशिया की विचारधारा का केन्द्रबिन्दु रहा। किन्तु, सुमेरी दर्शन के अनुसार, देवता अनियन्त्रित ढंग से या मनमाने रूप से सृष्टि नहीं करते। वे योजना, सन्तुलन, व्यवस्था और नियमितता के अनुसार कार्य करते हैं। इस भाव को 'मे' की परिकल्पना में गुंफित किया गया है। सुमेरी मान्यता के अनुसार विश्व के रूपों और गति में तारतम्य, कारण—कार्य सम्बन्ध और परस्पराश्रितता का भाव है जिसके कारण अतीत और वर्तमान की तरह भविष्य भी ज्ञेय है। इससे ज्योतिष विद्या का प्रचुर विकास हुआ और यह दुनिया भर में फैल गयी।

सुमेरी लोग उच्च नैतिक भावों के प्रति सजग थे। सत्य और मंगल, नियम

और व्यवस्था, न्याय और स्वाधीनता, सरलता और पवित्रता, दया और करुणा उनके देवताओं और राजाओं के उदात्त गुण माने गये हैं। किन्तु देवताओं की सेवा-पूजा, उनके प्रति पूर्ण प्रपत्ति और समर्पण, नम्रता और प्रार्थना मनुष्य का धर्म माना गया है। उनकी दृष्टि में, जो शामी जगत् में प्रायः सब जगह मिलती है, मनुष्य देवताओं का खिलौना, नियति का दास और प्रकृति का अनुचर है और सदा नरक के अन्धकार और यातना से अभिभूत रहता है। इस प्रकार उनके दर्शन में निराशा, शोक, पतन, भय आदि के भाव भरे पड़े हैं। यह वैदिक दृष्टि से एकदम प्रतिकूल प्रतीत होता है, जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

सुमेरी साहित्य उपर्युक्त दर्शन और विचारधारा को स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है। 'सृष्टि-काव्य' में विश्व के विकास और विस्तार की कथा है और समन्वय तथा अव्यवस्था के तत्त्वों के संघर्ष का वृत्तान्त है। 'गिलगामेश के काव्य' में मनुष्य की अमरत्व की खोज और इसके लिए देवताओं से उसके संघर्ष और अन्त में नियति द्वारा उसके पराभव का हृदयद्रावक वर्णन है। यह काव्य मनुष्य के असीम साहस, उत्साह, अध्य-वसाय और साथ ही नियति की निष्ठुरता और प्रकृति-तन्त्र की कठोरता तथा इनके सामने उसकी घोर विवशता का परिचायक है। 'कष्ट भोगने वाले पुण्यात्मा व्यक्ति की कविता' में सिद्ध किया गया है कि मनुष्य अपने कर्मों से दुःख भोगता है, किन्तु इसकी बाबुली छाया में दिखाया गया है कि पश्चात्ताप और देवताओं की आराधना से उसका कष्ट दूर हो जाता है। यह प्रार्थना, स्तुति, धर्मोपचार, मन्त्र-तन्त्र, टोने-टोटके, बलि-पूजा आदि से सम्बन्धित विशाल साहित्य जीवन की अनेक कठिन परिस्थितियों और कठोर समस्याओं का साक्ष्य देता हुआ इनसे मनुष्य के जूझने का चित्र प्रस्तुत करता है।

## ईरान में संस्कृति का आविर्भाव

ईसू मसीह के जन्म से करीब चार हज़ार वर्ष पहले ईरान की नव-पाषाणयुगीन संस्कृति का नया दौर आया। गारे के बजाय हाथ से बनायी हुई कच्ची ईंटों के बड़े और खुले मकान बनाये जाने लगे और उनकी अन्दरूनी दीवारों को लाल रंग से चीता जाने लगा। मिट्टी के बरतनों पर गहरे लाल रंग की पृष्ठभूमि तैयार कर काले रंग से चिड़ियों, रीछों और अन्य जानवरों की क़तारें खींची जाने लगीं। धीरे-धीरे ये डिज़ाइनें रूढ़ और प्रतीकात्मक हो गयीं। पत्थर के साथ-साथ धातु भी काम में लायी जाने लगी। ताँबे को पीटकर सुई, काँटे आदि चीजें बनायी जाने लगीं। कुत्ते और घोड़े के पालने और जौ-गेहूँ की खेती करने का रिवाज बढ़ा।

इस युग के मिट्टी के बरतनों पर लाल और ऊँट जैसे पीले रंगों का अस्तर देकर चीतनकारी की जाती थी। लाल अस्तर के बरतन मध्य और उत्तरी ईरान में कैस्पीयन सागर के किनारों तक मिलते हैं और पीले अस्तर के बरतन दक्षिणी ईरान, फारस की खाड़ी और अरब-सागर के किनारों के इलाक़ों में पाये जाते हैं। इनसे मिलते-जुलते लाल और पीले अस्तर के बरतन क्रमशः सिन्धुघाटी, उत्तरी बलूचिस्तान और दक्षिणी बलूचिस्तान में मिले हैं। हो सकता है इन ईरानी और हिन्दी इलाक़ों में कुछ तालमेल रहा हो।

इसके बाद विकास का एक नया मोड़ आया। सियाक नामक स्थान की खुदाई के तीसरे स्तर में इसके निशान मिलते हैं। इसका विशेष लक्षण साँचे में ढालकर चपटी आयताकार ईंटें बनाने की कला है। इससे मकान बनाने के ढंग में काफी तबदीली हुई। मकानों की क़तारों के बीच में तंग और घुमावदार गलियाँ छोड़ी जाने लगीं। चाक और आवें के रिवाज से मिट्टी के बरतन बढ़िया बनने लगे। इन्हें पकाते वक्त बिस्कुटी रंग दिया ज़ाने लगा और उन पर जानवरों की शकलें चीती जाने लगीं, जिनमें शुरू में प्राकृतिकता थी लेकिन बाद में प्रतीकात्मकता आ गयी जिससे ये ज्यामिति के आकारों-जैसी लगने लगीं। इनमें से कुछ बरतन तो अण्डे के छिलके जैसे बारीक और पतले हैं और बढ़िया कारीगरी का साक्ष्य देते हैं।

कारीगर, लोहार और ठठेरे पत्थर के सामान के अलावा ताँबे के छुरे और चाक़ू, मुँह देखने के शीशे और गोल सिरों वाले लम्बे पिन बनाने में काफी होशियार हो गये। घड़ों और मटकों के मुँह पर मिट्टी मढ़कर मोहर लगाने का रिवाज चल पड़ा। इन मोहरों पर ज्यामिति की शकलों के अलावा मनुष्यों, पौधों और जानवरों की आकृतियाँ भी बनायी जाने लगीं।

चौथी सहस्राब्दी ई० पू० के अन्त में यह चीतनकारी के मिट्टी के बरतनों वाली संस्कृति ख़त्म होने लगी। सूशा में इस तरह के बरतन बनने एकदम बन्द हो गये। इनकी जगह दस्ते और नलीदार टोंटी वाले एकरंगे लाल बरतनों का रिवाज हो गया। ऐसा लगता है कि कहीं बाहर से, शायद रूसी तुर्किस्तान की तरफ से, नयी संस्कृति के लोग आकर ईरानी पठार के उत्तर-पूर्वी इलाक़ों में बसने लगे। उधर पठार के बिचले हिस्से में सूशा और इलाम की ओर से लोगों के हमले होने लगे। उनके असर से वहाँ मकान और अच्छे ढंग से बनाये जाने लगे। हालाँकि इस तरह के मकानों में घुसने के दरवाजे छोटे थे, पर उनमें आराम काफी था। घर में घुसते ही चूल्हा सामने पड़ता था। इसके दो हिस्से होते थे—एक रोटी सेकने के लिए, दूसरा सालन पकाने के लिए। एक तरफ पानी की घड़ौंची लगी होती थी। फर्श के नीचे मुर्दों को दबाने का रिवाज था।

लिखाई चल पड़ी थी। लिखे हुए फलकों को सूराख़ करके रस्सी से सामान के साथ बाँध दिया जाता था। व्यापार तरक्क़ी पर था।

तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० में इलामी, केशी, लल्लुबी और गूती जातियों की उन्नति हुई और इन्होंने सुमेरी संस्कृति के क्षेत्र में मारधाड़ की। इस दौरान में पठार के इलाक़े में पहले जैसा जीवन चलता रहा। गियान में कुम्हार चीतनकारी के बरतन बनाते रहे। सुनार काँसी और चाँदी के हार और तोड़े गढ़ते रहे। हिस्सार में काले धूसर एकरंगे बरतन चलते रहे और काँसी की दस्तकारी ने काफी तरक्क़ी की।

दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में एशिया के स्तेपों से जातियों के संक्रमण की एक नयी लहर आयी। इनका एक दल कोह.काफ (काकेशस) को पार कर फरात के बड़े घुमाव तक पहुँचा और दूसरा दल ज़गरोस के बिचले इलाक़े से होता हुआ दक्षिण की ओर मुड़ गया और वहाँ के केशी लोगों में घुलमिल गया। कुछ जातियाँ ईरान के विभिन्न भागों में फैलीं। हो सकता है, उनमें से कुछ ने हिस्सार जैसी बस्तियों को बर्बाद किया हो। उनके प्रसार का कुछ साक्ष्य 'वेन्दीदाद' आदि प्राचीन ईरानी ग्रन्थों में मिलता है। इन लोगों के कुछ चिह्न मिले हैं। सियाक के टीले पर उन्होंने एक बस्ती बसायी और उसके चारों ओर एक चहारदीवारी बनायी और उसमें मीनारें लगायीं। मुर्दों को घरों के फर्श के नीचे दबाने के बजाय उन्होंने बस्ती से कई सौ गज़ दूर एक कब्रिस्तान बनाया। उनकी कब्रें नोर्दिक ढंग के मकान की तरह की होती थीं, जैसी इटली में भी मिलती हैं। उनमें मुर्दों को काफी साज़ और सामान के साथ दफनाया जाता था। उनके सिरों पर चमड़े के खौद बाँधे जाते और उन पर चाँदी के टिकले और फलक जड़े जाते थे। स्त्री-पुरुष चाँदी और काँसी के ज़ेवर—जानवरों के सिरों वाले पिन और काँटे, दस्तबन्द, बुन्दे, बालियाँ, छल्ले, बकसुए आदि—पहनते थे। औरतों के बिछुए काँसी या लोहे के बनते थे। हथियारों में तलवार, छुरे, ढाल और तीर का रिवाज था जो काँसी और लोहे दोनों के बनते थे। घोड़े के साज़ का काफी सामान कब्रों से निकला है जिससे ज़ाहिर होता है कि इन लोगों को घुड़सवारी का इतना शौक था कि मरने के बाद भी उसकी ज़रूरत महसूस होती थी। मिट्टी के बरतन, सादे और चित्रित, दोनों क़िस्म के मिलते हैं। इनमें लम्बी टोंटी का लोटा खास है जो मृतक की रस्म में पानी वगैरा देने के काम में आता होगा। इन बरतनों पर जो चीतनकारी है उसमें सूरज और घोड़े की शकलें काफी मिलती हैं और आदमियों को भीड़ी बण्डी और चोटीदार खौद पहने पैदल लड़ते दिखाया गया है। कुछ मोहरों पर घुड़सवार और रथ पर चढ़े योद्धाओं की आकृतियाँ मिलती हैं। कब्रों और उनके सामान से पता चलता है कि समाज के तीन वर्ग थे—अभिजात वर्ग, इनकी कब्रें चाँदी के ज़ेवरों और हथियारों

से लैस मिलती हैं, आज़ाद किसान और भूमिधर, इनकी कब्रों में लोहे का छोटा-मोटा सामान और कुछ मामूली से बरतन मिलते हैं, और बेगारी-कमेरे, इनकी कब्रों में छत तक नहीं मिलती, सामान का तो सवाल ही क्या है।

पुराने साहित्य से ईरानी लोगों की सामाजिक व्यवस्था पर कुछ रोशनी पड़ती है। समस्त राष्ट्र को 'क्षथ्र' कहते थे और देश का नाम 'दह्यु' था। यह क़बीलों में विभक्त होता था जिन्हें 'ज़न्तु' कहते थे। क़बीला खानदानों से मिलकर बनता था जो 'विश्' कहलाते थे । 'विश्' परिवार शामिल होते थे जिनके लिए 'न्मान' शब्द प्रयुक्त था । पॉल थीमे का विचार है कि 'ज़न्तु', 'विश्' और 'न्मान' देश और स्थान वाची शब्द हैं और इनमें रहने वालों को क्रमशः 'ऐर्यमन', 'वरेज़ान' (खानदान) और 'ख़्वएतु' (परिवार) कहते थे । परिवार का प्रमुख, जो युद्धकला में निपुण होता था, 'मर्यक' या 'मरीक' कहलाता था। इनसे मिलकर अभिजात वर्ग बनता था। शुरू में समाज इस अभिजात वर्ग और साधारण जनता में ही बँटा हुआ था, लेकिन बाद में 'अथ्रवान' या 'जओतर' (ब्राह्मण), 'क्षथ्रिय' (क्षत्रिय) और 'वास्त्रयोशान' (वैश्य) नामक वर्गों में विभाजित हो गया। 'वास्त्रयोशान (वैश्य) ज्यादातर खेतीपेशा थे। कारीगरों का 'हुतुख़्शान' नामक एक अलग वर्ग माना जाता था । 'यस्न' में सिर्फ एक जगह 'ह्वैती' नाम के एक चौथे वर्ग का ज़िक्र आता है जिसे 'शूद्र' के बराबर रखा जा सकता है। दासों और अनुचरों के दो विभाग थे—स्वदेशी ('मानीय') और विदेशी ('ग्रद' या 'कुरताश')।

लगता है, शुरू में, खास तौर से पूर्वी ईरान में, ब्राह्मण और क्षत्रिय के कामों में बहुत ज्यादा भेद नहीं था। राजा लोग शासन और धार्मिक कृत्य दोनों करते थे, इन्हें 'कवि' कहते थे। लेकिन पश्चिमी ईरान में सुमेरी-इलामी प्रभाव से ब्राह्मण और क्षत्रिय-वैश्य का भेद काफी गहरा था।

ईरानी धर्म प्राकृतिक और नैतिक तत्त्वों का संगम था। इसके अनुसार सारा विश्व एक विधान के अनुसार चलता है और उसे चलाने वाला 'अहुर्मज्द' है। उसका साथी 'मिथ्र' 'रोशनी' का प्रतीक है । 'अर्दवी सूरा' या 'अनाहिता' पृथ्वी माता है। 'वृथ्रघ्न' युद्ध और विजय का देवता है, 'ख़्वरना' राजकीय प्रभुत्व और प्रताप का रूप है, 'फ्रवशी' अच्छे आदमियों की सहायता करने वाले फरिश्ते हैं। इन सब देवताओं को 'यस्न' (यज्ञ) से प्रसन्न किया जाता है। इसका खास कृत्य 'होम' (सोमयज्ञ) है। इसमें 'मन्थ्र' (मन्त्र) के साथ देवताओं को आहुति दी जाती है । अग्नि, प्रकाश और आकाश का विशेष महत्त्व है।

आठवीं सदी ई० पू० से ईरानी दुनिया में शक और किम्री जैसी घुमन्तू जातियाँ घुसपैठ कर रही थीं। ये लोग ईरानी नस्ल के थे और स्तेपों की खलबली के कारण स्थायी

समाजों पर धावे कर रहे थे। सारा मध्यपूर्व इनके हमलों से काँप गया। लूरिस्तान के उत्तर में किरमानशाह जिले के हरसिन, अलिश्तर और खुर्रमाबाद आदि स्थानों से उनकी कला और संस्कृति के बहुत से अवशेष मिले हैं। फिर्शमान का विचार है कि वहाँ का काँसी और लोहे का सामान—आदमियों और जानवरों की आकृति की मूँठ वाली लम्बी तलवारें, खोखले दस्तों वाली छोटी किरपान और खंजर, जानवरों की शकलों से सज्जित कुल्हाड़े और कुदाल, भालों या तीरों की लोहे और काँसी की नोकें, घोड़े के साज और रथ की सजावट का सामान, जिनमें घोड़े, भैंसे और बैल की शकलों को तरह-तरह के नमूनों का रूप दिया गया है, वेशभूषा और शृंगार की चीजें, पिन, पेटी के टिकले, मुँह देखने के शीशे, खाने-पीने के बरतन आदि—इन शकों की संस्कृति के परिचायक हैं। असल में इस कला में पश्चिमी एशिया की कई परम्पराएँ मिल गयी हैं।

## सिन्धु-सरस्वती की सभ्यता और अन्य सांस्कृतिक परम्पराएँ

दक्षिणी अफगानिस्तान और बलूचिस्तान में ईसा से करीब चार हजार वर्ष पहले की देहाती बस्तियाँ मिलती हैं, जिनमें एक अलग किस्म की जीवनशैली विकसित हुई। यह संस्कृति एक ओर ईरान और मध्य-एशिया की संस्कृति से सम्बन्धित थी और दूसरी ओर सिन्ध और पंजाब की जीवनपद्धति में परिणत हुई। असल में माद से अरखोजिया और पंजाब तक तथा ख्वारज्म और सुग्द से बलूचिस्तान, सिंध और गुजरात तक का विशाल प्रदेश एक ही सांस्कृतिक परम्परा में बँधा हुआ था जो विविध रूप रंगों में इसके अनेक इलाकों में व्यक्त हुई।

उपर्युक्त ग्रामीण और प्राग्नागरिक संस्कृति, जिसके अवशेष आमरी, कोट दीजी, हड़प्पा, कालीबंगन आदि स्थानों पर मिले हैं, तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० में सिन्धु-सरस्वती की विशाल सभ्यता के रूप में विकसित हुई। पूर्व में मेरठ जिले के आलमगीरपुर, बुलन्दशहर जिले के भटपुरा और मानपुर तक इसके निशान मिले हैं। पश्चिम में बलूचिस्तान के मस्करान तट पर स्थित बालाकोट, सोतका कोह और अरब सागर के किनारे पर सुतकागन दोर तक इसके चिह्न पाये जाते हैं और फारस की खाड़ी में बहरीन द्वीप में रास-अल-कला आदि की संस्कृति से इसका गहरा रिश्ता है। उत्तर में रावलपिण्डी जिले में और उसके बाद मुन्दीगाक और नाद-ए-अली आदि अफगानिस्तान के इलाकों में और उससे भी परे तुर्कमानिस्तान के नमाजगातेपे और कारातेपे आदि स्थानों तक इसका फैलाव और असर दिखाई देता है। दक्षिण में साबरमती नदी के तट पर लोथल, नर्मदा

के मुहाने पर मेहगाम और तेलोड, भद्र नदी पर रोजाड़ी और अडकाट, किम नदी पर भगतराव, समुद्रतट पर सोमनाथ पाटण और रंगपुर एवं सूरत तक इसके चिह्न पाये जाते हैं और दक्षिण-पूर्व में घग्गर नदी के किनारे, बीकानेर और बहावलपुर के इलाकों में, इससे सम्बन्ध रखने वाली अनेक बस्तियाँ मिली हैं। इस विशाल प्रदेश में, जिसका रकबा एलच्चिन के अनुसार पाँच लाख वर्गमील से कुछ कम है और जिसमें ७० से ऊपर बस्तियों का पता लग पाया है, अनेक शहर, कसबे और गाँव उभरे, जिनमें सिन्ध के लरकाना जिले का मोहेन्जोदड़ो, पश्चिमी पंजाब के माण्टगुमरी जिले का हड़प्पा, पूर्वी पंजाब के अम्बाला जिले का रोपड, राजस्थान के श्रीगंगानगर जिले का कालीबंगन और गुजरात में साबरमती के किनारे पर लोथल इसके प्रमुख केन्द्र थे। स्पष्टतः यह प्राचीन काल की सबसे विस्तृत संस्कृति थी। कुछ विद्वान् इसे सुमेरी संस्कृति के प्रभाव से उत्पन्न मानते हैं, कुछ का विचार है कि इसके निर्माण का श्रेय द्रविड़ लोगों को है, कुछ विश्वास करते हैं कि यह हिन्दी-ईरानी इलाके की निजी उपज है। बात यह है कि यह इस देश की अपनी चीज है और यहाँ हजारों साल पहले से चले आ रहे रहन-सहन के विकास का फल है।

बड़े शहरों की खुदाई के आधार पर इस संस्कृति का नक्शा कुछ इस प्रकार खींचा जा सकता है—शहर दो भागों में बँटा होता था। पश्चिम की ओर का भाग शासनाधिकारियों और पण्डे-पुरोहितों का गढ़ था। इसमें बड़े-बड़े भवन होते थे और यह चहारदीवारी से घिरा होता था। मोहन्जोदड़ो के इस भाग में २३० फुट लम्बी और ७८ फुट चौड़ी जिस इमारत के अवशेष मिले हैं उसमें निश्चय ही कोई बड़ा आदमी रहता होगा। इसमें ३३ फुट वर्ग का एक सहन था जिसके तीन तरफ बरामदे थे। बरामदों के बराबर में कमरों की कतारें थीं। इनके फर्श पक्के थे। इनमें से दो में ऊपर जाने के लिए जीने थे। इसके दक्षिण में स्नानकुण्ड था। यह ३९ फुट लम्बा, २३ फुट चौड़ा और ८ फुट गहरा था और पक्की ईंटों का बना था। इसके चारों तरफ बरामदों और कमरों की दो-मंजिली कतारें थीं। इनमें आठ ९.५ फुट लम्बे और ६ फुट चौड़े गुसलखाने और उनके ऊपर की मंजिल में रिहायशी मकान थे। इस स्नानकुण्ड से ठीक पश्चिम में १५० फुट लम्बा और ७५ फुट चौड़ा अनाज का गोदाम था। गढ़ के दक्षिणी भाग में ९० फुट वर्ग का सभाभवन था जिसमें बैठने के लिए ईंटों की मंचिकाएँ थीं। यह सार्वजनिक उत्सवों या किसी प्रकार की संसद की बैठकों के लिए बना होगा। गढ़ के पूर्व में खुला शहर था जिसमें साधारण जनता रहती थी। लेकिन कालीबंगन में इसके चारों ओर भी चहारदीवारी के अवशेष मिले हैं। यह चौकोर था और योजना के अनुसार बनाया गया था। इसके बीच में एक चौड़ी सड़क उत्तर से दक्षिण को चलती थी। इसके समानान्तर पश्चिम की ओर एक ऐसी ही सड़क थी। इन दोनों सड़कों को समकोणों पर काटती हुई पूर्व से पश्चिम को

एक ओर सड़क जाती थी। यह सड़क शहर के दक्षिणी हिस्से में थी। दक्षिण से उत्तर को जाने वाली पश्चिमी सड़क उत्तर के किनारे पर पूर्व की ओर मुड़कर बीच वाली सड़क में मिल जाती थी। इन बड़ी सड़कों से अनेक रास्ते और गलियाँ निकल कर शहर को बहुत से मोहल्लों में बाँटती थीं। सड़कों की चौड़ाई १४ से ३३ फुट तक थी और छोटी से छोटी गली ४ से ६ फुट तक चौड़ी थी। इन सड़कों और गलियों में जमीन के नीचे नालियाँ थीं जिन्हें साफ करने के लिए थोड़ी-थोड़ी दूर पर आदमी के घुसने के लिए सूराख बने थे। इन नालियों के अलावा छोटी गलियों में गन्दा पानी सोखने के गड्ढे थे। वे या तो ईंटों के बने थे या बीच में बड़े-बड़े पक्के मटके रखकर बनाये गये थे। गलियों और सड़कों के किनारे या कोनों पर या चौराहों में पीपल के पेड़ होंगे जिन्हें लोग पूजते और सींचते थे। साथ ही पानी पीने और स्नान करने और पीपल सींचने के लिए कुएँ बने होंगे। अक्सर शिवलिंग भी स्थापित होंगे और सड़कों पर साँड़ घूमते होंगे जिन्हें लोग श्रद्धा से भोजन कराते होंगे। गलियों के किनारे लोगों के रहने के मकानों की कतारें थीं। इन मकानों में दहलीज और सहन और उसके चारों ओर कमरे होते थे जिनके रोशनदान और खिड़की बहुधा आर-पार खुलते थे। इनमें से एक गुसलखाना और एक पाखाना होता था। इनमें से गन्दे पानी की नालियाँ निकल कर बाहर पानी सोखने वाले गड्ढों में गिरती थीं या बड़ी नालियों में मिलती थीं। अक्सर पानी के निकास के लिए मिट्टी की नालियाँ लगायी जाती थीं। मकानों में कूड़ा डालने की जगह अलग होती थी और बहुतों में पानी के कुएँ भी बने थे। जीना चढ़कर दूसरी मंजिल पर जाया जाता था। बड़े आदमियों के मकान बड़े और छोटों के छोटे होते थे और कुली, कबाड़ी, कारीगर और दुकानदार बैरकों जैसे मकानों में रहते थे। इनमें दो-दो कमरे या एक-एक सहन और एक-एक कमरा होता था, पास ही भट्ठियाँ और काम करने के चबूतरे थे। जब आबादी का दबाव बढ़ा तो लोगों ने सड़कों को घेरना शुरू कर दिया। बाद में लोग शहरों में भट्ठे तक बनाने लगे।

इन शहरों की बनावट से अन्दाजा होता है कि ये लोग सादगीपसन्द और तड़क-भड़क के खिलाफ थे। लेकिन सादगी के साथ इन्हें सफाई का पूरा ध्यान था और उपयोगिता के साथ-साथ ये योजना और अनुशासन के पाबन्द थे। हालाँकि वे बेजा शान-शौकत के शौकीन न थे; उनकी जिन्दगी खासे आराम से गुजरती थी और उन्हें मुनासिब सजावट का काफी खयाल था। वे छोटी दाढ़ी रखते और बीच से मूँछों को बुरकवाते, सूती कपड़े पहनते, तिपत्ती के छापे या कढ़ाई के शाल ओढ़ते, गेहूँ और जौ का आटा चक्की में पीस कर खाने के सामान बनाते, नारियल, अनार, खरबूजे और मांस-मछली का इस्तेमाल करते थे। गाय, भैंस, भेड़, बकरी, सुअर आदि पालते; काँसे, ताँबे, पत्थर, मिट्टी के प्याले,

कटोरे, मटके, कलश, रकाबी, तश्तरी, पेंदीदार लम्बी नली की बेलियाँ और कई किस्म के खाने-पकाने के बरतनों का प्रयोग करते। उनकी स्त्रियाँ हाथों में कोहनी तक चूड़ियाँ पहनतीं, सोने-चाँदी, हाथीदाँत, सेलखड़ी आदि के बुन्दे, झुमके, कोके, दस्तबन्द, हार, तगड़ी आदि का प्रयोग करतीं, बालों को धागों और फीतों से बाँधतीं और साज-सज्जा के सामान, कंघे, शीशे, लेप, सुगन्ध आदि में रुचि रखतीं। उनके बच्चे गाड़ी, रथ, पशु-पक्षी के आकार के खिलौनों से खेलते, मुर्गे की शक्ल की सीटियाँ बजाते और पक्की मिट्टी के गिट्टों से चौपड़ या मोहरे वाले खेल खेलते। उनका यह सादा, सुचारु और समृद्ध जीवन मजबूत आर्थिक आधार पर टिका था। खेती-बारी और पशुपालन तरक्की पर थे, बाढ़ों को रोकने की व्यवस्था थी, सूद-बट्टा, उद्योग-धन्धा और वाणिज्य-व्यापार प्रगति पर था। लोथल में सीपी और चमकीले पत्थरों के मनके, घोंघे और शंख का सामान, हाथीदाँत की चीजें और ताँबे के औजार और बरतन बनाने के बड़े-बड़े कारखाने थे। वहाँ से यह सामान और सूती कपड़े जहाजों पर लदकर पश्चिमी एशिया जाते थे। जहाजों के आने-जाने के लिए एक झील और उस पर बना पुश्ता था। पास ही माल भरने के गोदाम थे। व्यापार का क्षेत्र विस्तृत था, खुशहाली और ईमानदारी काफी थी जिसकी वजह से पश्चिमी देशों के लोग इस देश को स्वर्ग समझते थे। वहाँ के साहित्य में इसे 'दिलमुन' नामक स्वर्ग का नाम दिया गया है।

इस संस्कृति के पीछे गहरी धार्मिक मान्यताएँ थीं। वहाँ मन्दिरों में पूजा करने का कोई साक्ष्य नहीं मिलता, लगता है वे लिंग को पूजते और पृथ्वीमाता की प्रतीक किसी देवी को मानते थे। इसके अलावा वे तीन मुख वाले उर्ध्वलिंग देवता के उपासक थे। कुछ लोग इसे पशुपति शिव मानते हैं लेकिन इसके चित्र में शिव के प्रिय वाहन नन्दी का न होना इस विषय में सन्देह उत्पन्न करता है। लगता है कि यह देवता ऋग्वेद (१०/९९/६) में वर्णित विश्वरूप त्वाष्ट्र है। इन लोगों में तीन, पाँच, सात और सोलह की संख्याएँ पवित्र मानी जाती थीं। उपर्युक्त देवता के तीन मुख सृष्टि के तीन तत्त्व मन, प्राण और वाक् के प्रतीक मालूम होते हैं जिन्हें विभिन्न परिकल्पनाओं द्वारा वेदों में प्रस्तुत किया गया है। दक्षिणी तुर्कमानिया में भी चाँदी की एक मोहर को तीन मुख वाले जीव की शक्ल दी गयी है जो सिन्धु-सभ्यता की आधारभूत मान्यता को व्यक्त करती है। इसी प्रकार पाँच, सात, सोलह की संख्याओं की पवित्रता को व्यक्त करने वाले अनेक चित्र और आकृतियाँ अनेक स्थानों से मिली हैं। इनमें टहनियों या पत्तों वाली पीपल की शाखाएँ सृष्टिक्रम के प्रतीक के रूप में पूज्य समझी जाती थीं। ये लोग किसी न किसी रूप में अग्निकृत्य भी करते थे। कालीबंगन के मकानों में कोयले आदि से भरे गड्ढे मिले हैं और एक टीले पर चबूतरे के ऊपर कुएँ और गुसलखाने के पास वेदियों की पंक्ति पायी

गयी है। लगता है कि यह यज्ञभूमि थी जहाँ यजमान ऊपर की मूँछ मुंडवाकर और बायें कन्धे पर पीपल के पत्तों के डिजाइन का शाल डालकर यज्ञ करते और अनेक छेदों वाले बरतनों में से सहस्रधार सोमरस वितरित करते थे। यज्ञ के बाद वे 'अवभृथ' नामक स्नान करते, जिसके लिए कुण्ड और तालाब बने होते थे। सुमेरी वृत्तों के अनुसार इनके उपास्य जल-देवता एन्की और ननसीकिल्ला थे जिनकी पहचान वरुण और सरस्वती से की जा सकती है। लोगों को परलोक में विश्वास था। वे मानते थे कि मरने के बाद मनुष्य की आत्मा दूसरे लोक में जाती है। अतः मुर्दे को या तो रस्मी तौर से कब्रों में दफनाया जाता था या उसे जलाकर उसकी भस्म या फूल कलश में रखे जाते थे। मुर्दे या भस्म के साथ पशु, पक्षी, मछली, मनके, कड़े, बरतन आदि चीजें भी रखी जाती थीं जिससे वे अगली दुनिया के सफर में उसके काम आ सकें। एक मिट्टी के बरतन के टुकड़े पर बकरे, गाय या बैल और कुत्ते की आकृतियाँ हैं जिससे शायद 'पंचौदन' बकरे की बलि की तरफ इशारा हो। सामान्य जनता को टोने-टोटके में विश्वास था और शायद बहुत सी मोहरें गण्डे-ताबीज का काम देने के लिए बनायी गयी हों।

सिन्धु सभ्यता के लोग पढ़े-लिखे थे लेकिन दुर्भाग्य से इनकी लिपि, जो दायें से बायें को लिखी जाती थी, अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। हाल ही में फिनलैण्ड के विद्वान् डॉ० अस्को पार्पोला, डॉ० सीमो पार्पोला, श्री सेप्पो जे० कोस्केन्निएमी और डॉ० पेण्टी आल्तो ने घोषणा की है कि यह लिपि प्राचीन द्रविड़ भाषा का साक्ष्य देती है। किन्तु श्री ब्रजबासी लाल ने इस मत की त्रुटियों की ओर संकेत करते हुए सिद्ध किया है कि यह एक दम काल्पनिक है। इसी तरह श्री एम० वी० एन० कृष्णराव और डॉक्टर फतेहसिंह के इसमें संस्कृत भाषा पढ़ने के प्रयास कल्पनाप्रसूत और असंगतिपूर्ण हैं। असलियत यह है कि अभी तक इस लिपि को पढ़ने का कोई ठीक ढंग नहीं निकल पाया है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, सिन्धु-सरस्वती का समाज वर्गीकृत था। इसमें ऊँच-नीच का भेद काफी गहरा था। साथ ही शहरी और देहाती का विरोध उग्र होता जा रहा था। शहरी लोग व्यवसायी, व्यापारी, सूदखोर और पैसाजोड़ थे। इनकी सारी समृद्धि देहात के लोगों की मेहनत पर टिकी थी। इसलिए एक समय ऐसा आया जब देहात के लोग इन शहरों की जनता के खिलाफ भड़क उठे और इनकी संस्कृति से ऊबने लगे। इसका प्रमाण शहरों के पतन और बढ़ते हुए देहातीपन से मिलता है। शहरों के बीच में भट्ठों का बनाना, नालियों की उपेक्षा, कच्चे छप्परपोश मकानों का रिवाज, मिट्टी के मनकों और कड़ों और घटिया पत्थरों के जेवरों का प्रयोग और धातुओं की वस्तुओं की कमी, बरतन बनाने की कारीगरी का ह्रास और कलाओं के स्तर की गिरावट इस बात को साफ तौर से जाहिर करती है कि देहाती जनता शहरों पर हावी होती जा

रही थी। यह वातावरण वेदों के उन भागों से मेल खाता है जिनमें देवताओं को शहरों में रहने वाले पणियों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए दिखाया गया है।

अब हम पश्चिमी भारत और पाकिस्तान से पूर्व की ओर चलकर गंगा की घाटी में पहुँचते हैं। वहाँ सिन्धु-सरस्वती की सभ्यता की समकालीन एक और संस्कृति थी जिसके विशेष लक्षण गेरुए रंग के मिट्टी के बरतन और ताँबे की वस्तुएँ हैं। इस संस्कृति के लोग पशु पालते और खेती करते थे। उनके मकान काफी बड़े होते थे जिनके फर्श में मिट्टी के बरतनों के ठीकरे जड़े जाते थे। मिट्टी के बरतनों में सामान भरने के बड़े मटके, तंग गर्दन के दस्तेदार कलश, ढकने, कटोरे आदि थे। इन पर बैल की आकृति और फूल-पत्ती की डिजाइन मिलती हैं। मिट्टी के कड़े, मनके, पहिये-जैसी चीजें और मनुष्यों की आकृति की वस्तुएँ, तकली या खेलने की गाड़ियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मनुष्य की ताँबे की आकृति, कुल्हाड़ियों के फलक और कड़े आदि महत्त्वपूर्ण हैं। हाल ही में बुलन्दशहर जिले में लाल किला नामक स्थान पर जो खुदाई हुई है उसमें मिले सामान की परीक्षा से पता चलता है कि यह संस्कृति १८८० ई० पू० के करीब मौजूद थी। चूंकि सिन्धु-सरस्वती की संस्कृति अठारहवीं शताब्दी ई० पू० में समाप्त हुई इसलिए इन दोनों संस्कृतियों को समकालीन मानना पड़ेगा।

दक्षिणी भारत में ब्रह्मगिरि के अलावा सगनकल्लु, पिकलीहाल, मास्की, तेक्कल-कोट, हल्लूर, उतनूर और कुपगाल आदि स्थानों पर जो खुदाई हुई है उससे पता चलता है कि लोग भेड़-बकरी आदि पशु पालते और खेती भी करते थे। यह संस्कृति तीन स्तरों में से गुजरी। पहले स्तर के लोग पत्थर को घिसकर कुल्हाड़ी के फलक बनाते थे। वे मिट्टी के बरतन भी हाथ से बनाते थे जो धूसर या ब्राउन होते थे। अक्सर धूसर बरतनों पर पकाने के बाद गेरुए रंग की पट्टियाँ डाली जाती थीं। मिट्टी की डाँठदार पशुओं की शक्लें भी बनायी जाती थीं और चट्टानों पर उनके चित्र भी खींचे जाते थे। अनाज पीसने के पत्थर खेती-बारी की परम्परा के परिचायक हैं। रेडियो कार्बन परीक्षणों के आधार पर इस संस्कृति का काल २३०० ई० पू० से १८०० ई० पू० निश्चित होता है। दूसरे स्तर में गारे के फर्श वाली गोल झोपड़ियाँ बनायी जाने लगीं, पत्थर की दस्तकारी की तरक्की हुई, सूराख वाले और टोंटीदार बरतन बनने लगे, काँसे और ताँबे की चीजों का इस्तेमाल होने लगा। यह काल १८०० ई० पू० से १५०० ई० पू० तक रहा। तीसरे स्तर में काँसे और ताँबे की चीजें बनाने की कला का और विकास हुआ हालाँकि पत्थर के फलक भी बनाये जाते रहे। चाक पर बनाये हुए महाराष्ट्र की जोर्वे शैली के बरतन काम में आने लगे। घोड़े और घुड़सवारी का रिवाज भी बढ़ा। यह काल १४०० ई० पू० से १०५० ई० पू० तक चला।

भारत के अन्य इलाकों में प्रान्तीय कला और उद्योग अनेक की शैलियाँ विकसित हुईं।

## भारत की वैदिक संस्कृति

वेद भारतीय संस्कृति की प्राचीनतम उपलब्धि है। वेद उस ज्ञान का नाम है जो संस्कृति के उषःकाल में चिन्तन, दर्शन और साक्षात्कार के क्षणों में ऋषियों के मानसपटल पर अवतीर्ण हुआ। इसका विस्तार असीम है। विष्णुपुराण के अनुसार इसके मन्त्रों की संख्या लाखों तक थी। परम्परा के अनुसार बाद में कृष्ण द्वैपायन व्यास ने ऋक्, यजुष्, साम और अथर्व संहिताओं के रूप में इसकी सामग्री का सम्पादन किया। ऋग्वेद के १०,५०० मन्त्र १,०१७ सूक्तों और १० मण्डलों में उपन्यस्त हैं। यजुर्वेद आकार में ऋग्वेद का-दो तिहाई है, इसमें अधिकतर गद्य है, कहीं-कहीं जो मन्त्र मिल जाते हैं वे ऋग्वेद से लिये हुए हैं हालाँकि उनके पाठ में भेद है। सामवेद ऋग्वेद से आधा है और पद्य में है। इसकी बहुत सी सामग्री भी ऋग्वेद से ली गयी है किन्तु इसे यज्ञों के क्रम से सज्जित किया गया है। अथर्ववेद भी ऋग्वेद से लगभग आधा है, इसके पहले दस काण्डों में मन्त्र हैं और बाद के दस में गद्य भाग भी है। इसका लगभग पाँचवाँ भाग ऋग्वेद से लिया गया है और पन्द्रहवाँ काण्ड उच्चतम दार्शनिक विचारों से भरा हुआ है।

वेद का पठन-पाठन मौखिक था। विद्वानों के सम्प्रदाय, जिन्हें चरण कहते थे, अपने-अपने ढंग से इसका पारायण करते थे। इससे विभिन्न पाठ-परम्पराएँ चल पड़ी थीं। इन्हें 'शाखा' कहते हैं। वेद के धार्मिक उपचार को समझाने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई। इनके दो भाग हैं, 'विधि' (नियम) और 'अर्थवाद' (आख्यानों, पुराणों और इतिहास द्वारा नियमों के अर्थ की व्याख्या)। प्रत्येक वेद के अपने-अपने 'ब्राह्मण' हैं, 'ब्राह्मणों' के परिशिष्ट 'आरण्यक' कहलाते हैं और उनके अन्तिम भाग 'उपनिषद्' हैं। इस समस्त साहित्य के अध्ययन की सुविधा के लिए शिक्षा (स्वर, ध्वनि), छन्द, निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष और कल्प नामक छः विद्याएँ हैं जिन्हें 'वेदांग' कहते हैं। कल्प के तीन विभाग हैं, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। यह विश्व का एक महान् आश्चर्य है कि इतना विशाल साहित्य मौखिक संक्रमण द्वारा अत्यन्त शुद्ध रूप में सुरक्षित रहा।

वैदिक साहित्य से जिस समाज का आभास मिलता है वह पितृसत्ता का था। उसमें संयुक्त परिवार की प्रथा थी और उसका कर्ता सर्वाधिकार-सम्पन्न था। स्त्री की अपेक्षा पुरुष का महत्त्व अधिक था किन्तु स्त्रियाँ भी विदुषी होती थीं और संध्या आदि करती थीं। उन्हें यज्ञ करने का अधिकार था (ऋग्वेद, ८।६१।१)। वे धन-

सम्पत्ति (पारिणाय्य) रख सकती थीं। भाई के न होने पर उन्हें पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त था। वे समाज—समितियों में खुली, बिना परदे के जातीं और भाग लेतीं और स्वतन्त्र रूप से रंगाई, कढ़ाई, बुनाई आदि का काम करती थीं।

आचरण की दृष्टि से लोगों को 'आर्य' या 'दास' कहा जाता था। जो श्रेष्ठ, उदात्त और सदाचारी थे, वे 'आर्य' कहलाते थे, जो शोषक, नृशंस और अत्याचारी थे उनके लिए 'दस्यु' या 'दास' शब्द का प्रयोग किया जाता था—वे निन्दा के पात्र समझे जाते थे और उन्हें 'कृष्णगर्भ' (काले रंग वाले), 'अनास' (नकटे), 'मृध्रवाच्' (अटपट बोलने वाले), 'शिश्नदेव' (व्यभिचारी) आदि गालियाँ दी जाती थीं। इन शब्दों को जातिवाचक मानना ठीक नहीं जँचता।

समाज के लोग 'विश्' कहलाते थे। इनमें ब्राह्मण, जिन्हें 'कारु', 'विप्र', 'कवि', 'वेधस्' आदि कहते थे, और क्षत्रिय, जिन्हें 'राजन्य' कहते थे, कुछ अलग और ऊँचे माने जाते थे। लेकिन कोई कर्म या व्यवसाय पैतृक नहीं था। मनुष्य अपनी रुचि के अनुकूल अपने-अपने धन्धे करते थे। कोई 'कवि' था तो उसका पिता 'भिषक्' था और उसकी माता पत्थर का काम करती या आटा पीसती थी। एक व्यक्ति प्रार्थना करता है कि वह राजा बने, या फिर ब्राह्मण बने, ऐसा भी न हो तो रईस आदमी हो (ऋग्वेद ३।४३।५)। काठक संहिता (३०।१) का कहना है कि किसी विद्वान् की जाति का पता लगाने की जरूरत नहीं है। शतपथ ब्राह्मण (१०।४।१।१०) कहता है कि श्यापर्ण सायकायन के कुछ पुत्र ब्राह्मण बने, कुछ क्षत्रिय और कुछ वैश्य। उपनिषद् का वाक्य है कि जो सत्य बोलता है वही 'ब्राह्मण' है (छान्दोग्य ४।४।१-२) और जो सांसारिक शोक से खिन्न है वही 'शूद्र' है (छान्दोग्य ४।१-३)। समय के साथ 'ब्राह्मण', 'क्षत्रिय' और 'वैश्य' ये तीन वर्ग रूढ हो गये और इनमें चौथा 'शूद्र' भी जुड़ गया। इन्हें एक दूसरे से पृथक् करने के लिए काल्पनिक रंगों के साथ नत्थी कर दिया गया और उन्हें 'वर्ण' कहने लगे। इस तरह ब्राह्मण का वर्ण सफेद, क्षत्रिय का लाल, वैश्य का पीला और शूद्र का काला मान लिया गया (महाभारत, शान्तिपर्व, १८८।११-१३)। इस तरह 'वर्ण' एक प्रकार का 'लेबिल' हो गया जिसके विभिन्न रंग विभिन्न वर्गों के प्रतीक और परिचायक हो गये। यह समझना ग़लत है कि इसका सम्बन्ध मनुष्य की त्वचा के रंग का या यह अलग-अलग जातियों (रेस) का द्योतक था।

लोग देहात में सादा जीवन बिताते, खेती-बारी करते और उद्योग-धन्धे चलाते थे। कुछ लोग शहरों में रहते थे लेकिन जब उनका शोषण ज्यादा बढ़ गया और उन्होंने अत्याचार शुरू कर दिया तो उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा और उनके विरुद्ध विद्रोह छेड़ दिया गया।

वेद में प्रस्तुत जीवन के आदर्श की विशेषता कर्मठता, समन्वय और अनुशासन है। उसमें संसार-त्याग और संन्यास की चर्चा तक नहीं है। विवाह के समय वर कामना करता है कि वह जीवन-पर्यन्त पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि से घिरा हुआ समृद्ध जीवन बिताये (ऋग्वेद १०।८५।३६)। उपनिषदों में ब्रह्म के जानने वाले और उसके दर्शन करने वाले जिन आचार्यों का जिक्र है वे सब पुत्र-पौत्रादि से घिरे हुए, सुखमय और ऐश्वर्य-पूर्ण जीवन बिताते हुए दिखाये गये हैं और इस कारण उन्हें 'महाशाल' कहा गया है। वैदिक जीवन का आदर्श उन्नति, प्रसन्नता और उत्साह है। यह महत्त्व की बात है कि वेद में 'नरक' और 'मोक्ष' आदि का बखेड़ा नहीं है।

वेदविद्या सृष्टिविद्या है। इसमें संसार को समझने का प्रयास है। इसके सामने विश्व एक प्रश्न है। और उसका उत्तर है इसमें व्याप्त एक तत्त्व। इस एक तत्त्व का कोई ख़ास नाम न लेकर यह उसे सिर्फ 'तदेकम्' (वह एक) कहता है (ऋग्वेद १०।१२९।२)। 'वह एक' अपनी सृजनात्मक प्रेरणा से (काम द्वारा) अपने आपको विश्व के विविध रूपों में प्रकट करता है। स्थिति और देश की दृष्टि से वह विश्व का 'स्कम्भ' (चौखटा) है और गति और काल की दृष्टि से वह विश्व की प्रक्रिया (काल) है। (अथर्ववेद १०।७-८; १९।५३-५४)।

स्रष्टा और सृष्टि में भेद नहीं है। स्रष्टा सृष्टि में व्याप्त है और सृष्टि स्रष्टा का रूप-विस्तार है (ऋग्वेद १०।४०।५)। जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती और निगल जाती है, जिस प्रकार भूमि में तरह-तरह की ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार जीवित मनुष्य के शरीर में केश और रोम पैदा होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से इस विश्व की सृष्टि होती है (मुण्डकोपनिषद् १।१।७; बृहदारण्यकोपनिषद् २।१।२०)। जिस प्रकार रथ की नाभि और नेमि में सारे अरे फँसे रहते हैं ऐसे ही ब्रह्म में सारे भूत, सारे देव, सारे लोक, सारे प्राण और सारी वस्तुएँ विद्यमान हैं (बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१५)।

स्रष्टा से सृष्टि का विकास एक से अनेक के निर्माण की क्रिया है। इस क्रिया के शुरू होते ही एक के तीन हो जाते हैं; वह मन, प्राण और भूत का रूप धारण कर लेता है (शतपथ ब्राह्मण, १४।४।३।१०)। इनके प्रतीक सोम, अग्नि और अन्न हैं। इनकी परस्पर क्रिया से जो विश्व के विकास का क्रम चलता है उसका नाम 'यज्ञ' है—उसे त्रयी विद्या भी कहते हैं।

मनुष्य और प्रकृति दोनों दिव्य हैं। ये समन्वय द्वारा विकास के पथ पर चलते हैं। इस समन्वय को 'ऋत' कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'सत्य' है। मनुष्य इसे विविध उपचारों द्वारा ग्रहण और आत्मसात् करता है। देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ और मनुष्ययज्ञ मानव जीवन के सार्वभौम, प्राकृतिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और सामाजिक

आयामों की अभिव्यक्तियाँ और परिपुष्टियाँ हैं। अन्य यज्ञ भी प्रतीकात्मक रूप से ऋत को अपने में उतारने के प्रयास हैं। इनसे जुड़े सोलह संस्कार मनुष्य के निरन्तर नियमन, अनुशासन और परिष्कार के सोपान हैं और सांस्कृतिक प्रक्रिया के विभिन्न स्तर हैं।

उपर्युक्त विचारों पर टिकी, उच्च नैतिक भावना पर स्थित, वैदिक संस्कृति सदा से भारतीय जीवन की प्राणशक्ति रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसके विषय में यह प्रश्न उठता है कि भारत की प्राचीन, पुरातत्त्व की खोजों से उद्धृत संस्कृतियों से इसका क्या सम्बन्ध है? प्रायः विद्वान् मानते हैं कि यह आर्यों की संस्कृति है जिन्होंने १८००–१७०० ई० पू० के लगभग बाहर से आकर सिन्धु-सरस्वती की सभ्यता को ध्वस्त किया। अतः कालक्रम से वैदिक संस्कृति को सिन्धु-सरस्वती की संस्कृति के बाद रखा जाता है। कुछ लोग तो इसे चित्रित धूसर बरतनों की संस्कृति मानते हैं जिसके अवशेष हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अनेक स्थानों पर मिले हैं और जिसका काल १००० ई० पू० के करीब या बाद का है। यहाँ इस उलझे हुए प्रश्न की चर्चा अभीष्ट नहीं है। इतना कहना काफी है कि प्राचीन भारतीय सामग्री से न तो इस बात का साक्ष्य मिलता है कि 'आर्य' शब्द किसी विशेष प्रजाति (रेस) के लिए प्रयुक्त होता था जो भारत में बसने वाले लोगों से भिन्न हो, न इस बात का संकेत मिलता है कि तथा-कथित 'आर्य' लोग, जो वैदिक संस्कृति के निर्माता हैं, कहीं बाहर से सप्त-सिन्धु प्रदेश में आये, और न यह बात सिद्ध होती है कि सिन्धु-सरस्वती की सभ्यता के दार्शनिक, धार्मिक और वैचारिक आधार वैदिक मान्यताओं के विपरीत थे। सिन्धु-सरस्वती की सभ्यता के लोगों के जिन विचारों का आभास उनकी मुद्राओं और अन्य सामग्री से मिलता है, जैसे पीपल की पवित्रता, तीन, पाँच, सात, सोलह की संख्याओं का महत्त्व और विविध रूपों में इनकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति, स्नान, अग्निकृत्य, परलोक की धारणा आदि, वे सब वैदिक मान्यताओं के समकक्ष हैं। अतः जब तक कोई पुष्ट और निर्णायक प्रमाण न मिले तब तक सिन्धु-सरस्वती की संस्कृति को वैदिक संस्कृति के प्रतिकूल मानना उचित प्रतीत नहीं होता। केवल कल्पना या पूर्व-निर्धारित अभि-निवेश या निष्प्रमाण मान्यता के आधार पर ऐसा समझ लेना ठीक नहीं लगता।

लगता है कि सरस्वती नदी से कैस्पीयन और अराल सागर को जोड़ने वाले समुद्र तक के विस्तृत प्रदेश में आरम्भ से ही हिन्दी-ईरानी लोग रहते थे। इस प्रदेश का उत्तरी भाग, जहाँ आजकल सारीकामिश की निचाई और उजबोई का सूखा क्षेत्र है और जिसमें प्राचीन काल में वक्षु नदी वेग के साथ बहती थी, 'ईरानवेज' कहलाता था। आबादी बढ़ने और सूखा पड़ने से वहाँ से लोग दक्षिण की ओर चले आये। 'अवस्ता'

में इस जन-संक्रमण की चर्चा है। इसी प्रकार इस इलाक़े में लोगों का आना-जाना, चलना-फिरना बराबर बना रहा है जो अक्सर आक्रमणों जैसा लगता है। इससे राजनीतिक व्यवस्थाओं में अन्तर पैदा होता रहा है, सामाजिक विधान भी परिवर्तित होता रहा है, किन्तु सांस्कृतिक परम्परा और मान्यताओं के स्वरूप में कोई मौलिक भेद नहीं पड़ा यद्यपि इसके स्थानीय रूपों में पर्याप्त विविधता मिलती है। इस क्षेत्र के स्वाभाविक सांस्कृतिक विकास ने ईरान, अफ़गानिस्तान, पाकिस्तान और उत्तरी भारत में जो रूप लिये उनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इसका एक रूप सिन्धु-सरस्वती की सभ्यता है। किन्तु कालान्तर में जब यह उपयोगितावादी, व्यावसायिक, अर्थपरायण, धन-संचय की मनोवृत्ति में परिणत हो शोषण और अत्याचार का पर्याय बन गयी तो लोगों ने इसका विरोध किया, जिसकी झलक ऋग्वेद के उन भागों में मिलती है जहाँ नगरों के लोगों के प्रति निन्दा और उनके ध्वंस पर हर्ष व्यक्त किया गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सांस्कृतिक परम्परा या मूल्यों और मान्यताओं के ठाट में कोई आमूल परिवर्तन हुआ हो या जगत् और जीवन के प्रति किसी ऐसी दृष्टि का आविर्भाव हुआ हो जो पहली विचारधारा के सर्वथा प्रतिकूल थी। यहाँ यह भी ध्यान में रखने की बात है कि वेद कोई स्थावर साहित्य नहीं है बल्कि काल की गति के साथ बढ़ता और फूलता-फलता हुआ वाङ्मय है (ऋग्वेद १।१।२, निरुक्त १।२०)। इसके विभिन्न भाग विभिन्न अवस्थाओं और व्यवस्थाओं के द्योतक हैं किन्तु उन सब में आधारभूत मान्यताओं की एकसूत्रता निहित है। इसलिए इसके कुछ भागों के उस ऐतिहासिक अवस्था के समकालीन होने से, जिसमें देहात के लोगों ने सिन्धु-सरस्वती की सभ्यता के नगरों और उनके निवासियों के विरुद्ध आवाज़ उठायी और संघर्ष छेड़ा, यह अनुमान लगाना ठीक नहीं है कि इसके सभी भाग उस युग की रचना हैं अथवा इसके मूल्यों और मान्यताओं का ढाँचा उसकी परिस्थिति की उपज है। असल में वेद एक अजस्र अविरल धारा के रूप में आरम्भ से ही चलता आया है, इसका प्रवाह विविध परिस्थितियों को व्यक्त करता रहा है, इसमें विभिन्न परिवर्तनों के प्रतिबिम्ब मिलते हैं, उनमें से किसी एक के साथ इसे नत्थी करना अनुचित है।

## चीन के शाङ और चू युग

परम्परा के अनुसार चीन का इतिहास बहुत पुराना है किन्तु ऐतिहासिक साक्ष्य शाङ युग से मिलना शुरू होता है। एक परम्परा के अनुसार यह युग १७६६ ई० पू० से ११२२ ई० पू० तक चला और दूसरी के अनुसार १५२३ ई० पू० से १०२७ ई० पू० तक रहा। इसके बाद चू राज्य के निवासी वू चाङ ने विद्रोह कर शाङ वंश

का शासन समाप्त कर दिया और चू वंश की नींव रखी। इस वंश का शासन २५६ ई० पू० तक रहा। इसके बाद छिन वंश आया जिसके राज्यकाल में सारे देश का एकीकरण हुआ।

आन-याङ की खुदाई से शाङ काल के समाज पर प्रकाश पड़ा है। वहाँ से मिट्टी के बरतन, काँसे का सामान, परोक्ष का ज्ञान प्राप्त करने की हड्डियाँ आदि मिली हैं। काँसे के सामान में हथियार और बरतन शामिल हैं। इन पर खुदी हुई रेखाओं और उभार के काम की डिज़ाइन हैं। उनमें से कुछ जानवरों की आकृति के हैं, एक हाथी की आकृति का है। परोक्ष को जानने की हड्डियाँ बहुतायत से मिली हैं। इन पर प्रश्न और उत्तर लिखे हैं। लिपि ऊपर से नीचे को है।

शाङ काल में युद्ध-कला की उन्नति हुई। रथ पर चढ़कर लड़ने का रिवाज बढ़ा। उत्तर के घुमन्तू लोगों का मुक़ाबला करने के लिए राज्य की शक्ति बढ़ी, जिसके प्रतीक बड़े-बड़े भवन हैं—इनमें से एक तो २६ फुट × ९२ फुट का है। फिर भी राजा के अधिकारों पर नियन्त्रण था। एक तो, उसके साथ एक मुख्य मन्त्री और खेती-बारी, सेना, सार्वजनिक कार्य, धार्मिक कृत्य, फौजदारी के कानून और घरेलू मामलों के छः मन्त्रियों की परिषद् काम करती थी। दूसरे, 'थिएन मिङ' (दिव्य आदेश) की विचारधारा यह संकेत करती थी कि उसकी सत्ता तभी तक है जब तक जनता उसके साथ हो। तीसरे पूर्वी इलाक़ों की अनेक रियासतें, इनकी संख्या १७७३ बतायी जाती है, बहुत कुछ स्वतन्त्र थीं।

शिकार, पशुपालन और खेती-बारी लोगों की जीविका के प्रमुख साधन थे। चू काल में खेती का काफी विस्तार हुआ और चावल, गेहूँ, मक्का और तरकारियाँ उगायी जाने लगीं। शुरू में भूमि पर क़बीलों का सामूहिक अधिकार था, बाद में परिवार खेती की इकाई बन गया, लेकिन सामूहिक कार्य की परम्परा 'चिङ थिएन' (कूप क्षेत्र) के आदर्श में जीवित रही। इसके अनुसार एक क्षेत्र में नौ बराबर के टुकड़े होते हैं, जैसे चीनी लिपि में कुएँ के लिए प्रयुक्त चिह्न में नौ भाग होते हैं। आठ परिवार बराबर के आठ टुकड़ों को अलग-अलग जोतते और उनकी पैदावार खुद रखते हैं, किन्तु बीच के नवें टुकड़े को वे सब मिलकर जोतते हैं और उसकी उपज से सरकारी लगान देते या सार्वजनिक कार्य करते हैं। हर टुकड़े का रक़बा १०० मू या १६.६६ एकड़ होता है अर्थात् पूरे 'कूप' का क्षेत्रफल ९०० मू या १५० एकड़ होता है। चार 'कूप' की एक बस्ती होती थी, चार बस्तियों का एक हलक़ा (छिड) होता था, चार हलक़ों का एक परगना होता था, चार परगनों का एक ज़िला होता था, और चार ज़िलों का एक 'तू' होता था। हर 'कूप' राज्य को अपनी पैदावार का नवां भाग देता था; हर हलक़ा

उसे एक घोड़ा और तीन पशु देता था; हर परगना एक रथ, चार घोड़े, बारह पशु, तीन कवचधारी योद्धा और बहत्तर सशस्त्र प्यादे सप्लाई करता था। यह वित्तीय और सैनिक व्यवस्था चार की संख्या पर आधारित थी किन्तु चू काल में दशमलव पद्धति चालू की गयी।

भूमि की तीन क़िस्में थीं—'त्जू' (एकवर्षीय भूमि), 'शिन' (द्विवर्षीय भूमि) और 'यू' (त्रिवर्षीय भूमि)। जिस भूमि की उर्वरता एक वर्ष में ख़त्म हो जाती वह पहली श्रेणी में आती, जिसकी दो वर्ष में वह दूसरी में, और जिसकी तीन वर्ष में, वह तीसरी में। पहली क़िस्म की भूमि को तीसरे साल जोता जाता, दूसरी क़िस्म की भूमि को हर दूसरे साल और तीसरी क़िस्म की भूमि को हर साल। पहली क़िस्म की भूमि ३०० मू (कच्चे बीघे) प्रति परिवार, दूसरी क़िस्म की २०० मू प्रति परिवार और तीसरी क़िस्म की १०० मू प्रति परिवार दी जाती। किसानों को हर क़िस्म की भूमि हर वर्ष बदलनी पड़ती जिससे उसकी उपज का लाभ सब को समान रूप से मिल सके। भूमि की अदला-बदली के साथ उन्हें अपने घर-बार भी बदलने और हटाने पड़ते।

उपर्युक्त भूमि-व्यवस्था एक आदर्श चित्र है। असल में इसके अनेक अपवाद थे। आठ-आठ परिवार केवल १०० मू भूमि जोतते थे जब कि बड़े आदमियों की जायदादों के विस्तार का ठिकाना नहीं था।

प्रशासनिक और सामाजिक व्यवस्था सामन्ती ढंग से चलती थी। सामन्तों के चार दर्जे थे। ये बाहरी प्रान्तों का प्रशासन करते थे। केन्द्र का प्रबन्ध 'ताई-फू' (छोटे सामन्त) के हाथों में था। इनमें मन्त्री भी शामिल थे। इन सब सामन्तों को एक विशेष नियुक्ति-समारोह में राजा स्वयं जागीरें देता था। राजा पितृ-मन्दिर के केन्द्रीय कक्ष में बैठता था। यज्ञ-मन्त्री प्रत्याशी को प्रस्तुत करता था। वह कक्ष की पैड़ियों पर खड़ा होता था। राजा ऊपर से नीचे पैड़ियों पर उतर कर पद और जागीर की घोषणा करता था। उसकी दायीं तरफ खड़ा हुआ इतिहासकार जागीर के विवरण की सनद सामन्त को देता था। फिर उसे जमीन, कपड़े, लाल जूते, रेशम के झण्डे, तीर-कमान, रथ, घोड़े, मक्का की शराब और यशब के राजदण्ड दिये जाते थे। राजदण्ड की लम्बाई सामन्ती पद के अनुकूल होती थी। इसके बाद सामन्त दो बार झुकता, अपने सिर को जमीन से छुआता, सनद और उपहार लेकर घर जाता और अपने पारिवारिक मन्दिर में पूजा-बलि करता था। राजा की मृत्यु पर या सामन्त के निधन पर इसी प्रकार का नियुक्ति-समारोह होता था। लेकिन बड़े सामन्तों के लिए यह नियुक्ति एक औपचारिकता मात्र थी।

राजा और सामन्त समाज के उच्चतम वर्ग थे। राजा राजधानी में और सामन्त

अपने-अपने प्रमुख स्थानों में रहते थे। राजधानी और इन प्रमुख स्थानों की विशेषता राजमहल, क्रीडोद्यान, शिकारगाह, खजाना, भण्डार, पितृ-मन्दिर, विविध देवताओं के मन्दिर और राजकर्मचारियों के निवास-स्थान थे। ये नगर के केन्द्रस्थल में विद्यमान थे। इनके चारों ओर जनता के मकान थे। इसके बाद सड़कें और बाजार आते थे। फिर चहारदीवारी और खाई थी। अभिजात वर्ग में बहुपत्नी-विवाह प्रचलित था। विरासत पहले भाई को पहुँचती थी फिर बड़े पुत्र को मिलने लगी। इस वर्ग के लोग योद्धा थे और उनमें वीरता और वफादारी की बड़ी कद्र थी। उनसे नीचे राजकर्मचारी और सैनिक थे। फिर किसान, कारीगर और व्यापारी आते थे। सबसे नीचे दास थे।

स्वतन्त्र किसान सामन्तों के शोषण से पिसे जा रहे थे। सामन्त 'न बोते थे न काटते थे', परन्तु 'हजार गोदाम और दस हजार सन्दूकों' के मालिक थे। हालाँकि किसान दासों से अच्छे समझे जाते थे तथापि उनकी हालत उनसे बेहतर नहीं थी। उस काल की कविता 'सातवाँ महीना' में उनकी दर्दनाक तसवीर खींची गयी है। इसलिए किसान प्रायः विद्रोह करते थे। इसलिए छठी सदी ई० पू० से उत्साही सामन्त किसानों को खुश कर अपनी शक्ति बढ़ाने लगे थे। अतः किसान गरीब होकर भी ताकतवर और महत्त्व-पूर्ण था।

यद्यपि किसान (नुङ फू) का दर्जा कमेरे (नुङ नू) से ऊँचा नहीं था, वह स्वतन्त्र था, जब कि दास, जो ज्यादातर युद्धबन्दी या दण्डित अपराधी थे, पण्यों की तरह क्रय-विक्रय के विषय थे। पाँच दासों को एक रेशम के गुच्छे, या एक घोड़े या १०० युआन के बदले रहन किया जा सकता था तो उनकी बाजारू कीमत सात खेतों के बराबर थी। स्वामी उनसे चाहे जैसा काम ले सकता था और उनका जीवन-मरण उसके हाथ में था। दास की औलाद भी दास होती थी।

समाज में व्यापारी का दर्जा नीचा था लेकिन बड़े शहरों के विकास के साथ-साथ उसका महत्त्व बढ़ रहा था और वह धन-समृद्धि का केन्द्र बनता जा रहा था, जिससे राजकाज में उसका महत्त्व बढ़ता जा रहा था। दस्तकारी और कारीगरी उन्नति की ओर चल रही थी, तकनीकी ज्ञान बढ़ रहा था, जैसा कि सड़कों, नहरों, तालाबों आदि के निर्माण से प्रकट होता है। विदेशों से सम्बन्ध कायम हो रहे थे और उनसे उपयोगी बातें सीखने की प्रवृत्ति पनप रही थी। पश्चिमी एशिया से बैलों द्वारा चलने वाला हल अपनाया गया था, मिस्र से मुर्दे को कफन में रखकर दफनाने का रिवाज आया था, भारत से शेर और स्वाती आदि भौगोलिक और सृष्टिविद्या सम्बन्धी शब्द लिये गये थे और स्तेपों से घुड़सवारी और कोट-पाजामे-बूट और पेटी, पिन, बकसुए आदि की पोशाक ग्रहण की जा रही थी। इस तरह लोगों का दृष्टिकोण विस्तृत होता जा रहा था।

नदी, पर्वत, नक्षत्र आदि के देवताओं की पूजा का रिवाज था, लेकिन सार्वभौम देवताओं, जैसे 'थिएन' (आकाश), 'ती', (पृथ्वी) और सम्राट् (शाङ ती) की उपासना भी चालू थी। पितृपूजा धार्मिक कृत्यों का आवश्यक अंग थी। लेकिन चीन में पुजारी-पण्डों का कोई अलग वर्ग नहीं था। वहाँ सदा से धार्मिक कृत्य प्रशासन का अंग रहा है। जो प्रशासक होता है वही धार्मिक कृत्य करता-कराता है। वस्तुतः प्रशासक, विद्वान् और धार्मिक कृत्य कराने वाले की एकता वहाँ की संस्कृति की विशेषता रही है।

चू काल के अन्तिम भाग में जीवन का संघर्ष और आवेश इतना बढ़ गया कि लोग नयी दृष्टियों से इस पर विचार करने लगे। फलतः विचार और दर्शन के 'शत-सम्प्रदाय' सामने आये। कुङ फू त्जु (कन्फ्यूशियस—५५१-४७६ ई० पू०) का विचार था कि सदाचार और गुण ही मनुष्य की महानता के मानदण्ड हैं, न कि जन्म या पद या धन। मेन्शियस् (३७२-२८६ ई० पू०) का कहना था कि मनुष्य प्राकृतिक दृष्टि से अच्छा है लेकिन सामाजिक परिस्थिति के कारण बुरा आचरण करता है। श्युन त्जु (२८६-२३६ ई० पू०) की धारणा थी कि मनुष्य प्राकृतिक दृष्टि से खराब है लेकिन शिक्षा, संयम और कला द्वारा ठीक किया जा सकता है। मो त्जु (४७०-३६१ ई० पू०) सार्वभौम प्रेम, विश्व-भ्रातृत्व और धार्मिक कृत्यों के बजाय लोक-कल्याण के कार्यों का समर्थक था। हुइ शर (३८०-३०० ई० पू०) और कुङ-सुन लुङ (३२०-२५० ई० पू०) निस्शस्त्रीकरण, शान्तिवाद और विश्व-प्रेम के प्रचारक थे। लाओ त्जु आदिम प्राकृतिकता का हामी था, चुआङ त्जु (३६६-२८६ ई० पू०) अहंकार, अभिनिवेश और संकीर्णता से मुक्ति प्राप्त करना सुखी जीवन का सार समझता था, और याङ चू (४४०-३६० ई० पू०) समाज को पाप और दुराचार का पुंज मानकर इससे हटने और बचने को महत्त्व देता था। शाङ याङ (मृ० ३३० ई० पू०) कठोर राजकीय कानूनों और नियन्त्रणों को अनिवार्य समझता था और हान फेइ त्जु (मृ० २३३ ई० पू०) अतीत को तिलांजलि देकर आगे की ओर देखना और अच्छी संस्थाओं, परम्पराओं और कानूनों के निर्माण द्वारा मनुष्य को समन्वय के सूत्र में बाँधना जरूरी मानता था। इस प्रकार विचारों में काफी लोच-लचक थी और दर्शन खुला और सहिष्णु था।

इस युग में चीनी साहित्य की शुरूआत हुई। इस क्षेत्र में भी धार्मिक और लौकिक कृतियों का भेद नहीं था। पाँच मूलग्रन्थ—'कविता की पुस्तक', 'इतिहास की पुस्तक', 'परिवर्तन की पुस्तक', 'वसन्त और शिशिर का वृत्त' और 'धार्मिक कृत्य की पुस्तक'—ये इस काल में लिखे गये चीनी साहित्य के मेरुदण्ड हैं। इस युग में चीनी कला का भी श्रीगणेश हुआ।

## स्तेप-प्रदेशों की हलचलें

हंगरी से मंचूरिया तक घास के मैदान हैं जिन्हें स्तेप कहते हैं। इनमें काफी भौगोलिक विविधता मिलती है। दक्षिणी रूस और पश्चिमी साइबेरिया में ये खेती-बारी और पशुपालन के योग्य हैं, किन्तु मध्य-एशिया और उससे पूर्व में ये रेतीले इलाके का रूप ले लेते हैं। इनमें विविध सांस्कृतिक परम्पराएँ विकसित होती रही हैं।

३००० ई० पू० के लगभग देन्यूब नदी की निचली घाटी से नीपर नदी तक और शायद उससे भी परे नवपाषाण युग का जीवन मिले-जुले खेती-बारी और पशुपालन के रूप में विकसित हुआ। दक्षिणी रूस में किएफ के निकट त्रिपोलये नामक स्थान पर उसके अवशेष मिले हैं। उनसे प्रकट होता है कि लोग गेहूँ, जौ और मक्का उगाते और पशु, भेड़, बकरी, सुअर आदि पालते और घोड़े रखते थे। बाद में ऊँट भी रखा जाने लगा। मछली पकड़ने का रिवाज था। ताँबे के कटुए, छल्ले, कड़े और मनके और बाद में फलक, कुदाल और खंजर भी बनाये जाते थे। सामान ढोने के लिए स्लेजनुमा गाड़ियाँ थीं—पहियेदार गाड़ियों का साक्ष्य नहीं मिलता और जानवरों से खिंचने वाले हलों का पता नहीं चलता। एक गाँव में २०० तक घर मिले हैं जो पाँच समान केन्द्रों वाली वृत्ताकार पंक्तियों में बने हैं। इनके फर्श चौकोर, दीवारें घास-मिट्टी या मिट्टी की, किन्तु बाहर से रँगी और चिती हुई, और छतें छप्पर की होती थीं। औसत दर्जे के मकान में दो कमरे होते थे, बड़े से बड़े मकान में पाँच कमरे मिले हैं। हर कमरे में दीवार से सटा चूल्हा था जो खाना पकाने और मकान को गर्म रखने के लिए था। इनके बराबर में मिट्टी की बेंचें थीं और पास ही चौकियाँ थीं जो शायद धार्मिक कृत्यों में वेदियों का काम देती हों। चक्की, घड़े, सुई, तकली आदि का प्रयोग होता था। स्त्रियों की आकृतियाँ भी मिली हैं। मिट्टी के बरतन हाथ के बने और लाल या नारंगी रंग के होते थे। कभी-कभी इन पर सफेद अस्तर देकर गहरे रंगों से तिरछी लकीरें खींच दी जाती थीं। यह संस्कृति करीब १७०० ई० पू० तक चली और चार दर्जों से गुजरी।

जब त्रिपोलये की संस्कृति अपने तीसरे दर्जे में थी तो काले सागर और कोह काफ की तरफ के इसके छोर के पास एक और किस्म का समाज उभर रहा था। ओदेस्सा के पास उसातोवो नामक स्थान पर इसके चिह्न मिले हैं, उनसे पता चलता है कि ये लोग धातु का अधिक प्रयोग करते और अपने मुर्दों को कोठरीनुमा कब्रों में दबाते थे। अभिजात वर्ग के व्यक्तियों के साथ नौकर-चाकर, पिछलगे और दास भी दफनाये जाते थे। जानवरों को अलग गड्ढों में दबाया जाता था। छोटे आदमियों, शायद किसानों को मामूली गड्ढों में दबाकर उनके ऊपर पट्टे रख दिये जाते थे। मिट्टी के बरतन त्रिपोलये की बिगड़ी हुई शैली के थे। कुछ पर रस्सी के निशान हैं। ताँबे की काफी चीजें बनायी जाती थीं।

घोड़े की प्रचुरता और सुअरों का अभाव बढ़ते हुए घुमन्तू जीवन का परिचायक है।

उसातोवो के दक्षिण और पूर्व में इससे मिलती-जुलती संस्कृति के अवशेष मिले हैं। ये लोग अपने मुर्दों को गेरुए रंग से रंगकर कोठरीनुमा कब्रों में दफनाते थे। लोगों के झुण्ड के झुण्ड एक ही जगह दफनाये जाते थे। अजोफ सागर के तट पर मारियोपोल नामक स्थान पर १२० बड़े आदमी और ६ बच्चे एक ही सामूहिक कब्र में दफनाये हुए मिले हैं। सरदारों की कब्रें सजधज के साथ बनायी जाती थीं। पशु, भेड़, बकरी और घोड़े पालने और मक्का उगाने का रिवाज था। आने-जाने की सुविधा के लिए गाड़ियाँ बनायी जाने लगी थीं। इनकी चर्चा आगे करेंगे।

इससे पूर्व की ओर साइबेरिया की तरफ अफनासीवो की संस्कृति मिली है। इन लोगों के अवशेष सिर्फ कब्रों में मिले हैं। ये कब्रें अण्डाकार या चौकोर गड्ढे खोदकर और उन पर पत्थर के पट्टे रखकर बनायी जाती थीं। कुछ कब्रें सामूहिक थीं और कुछ वैयक्तिक। इनमें पशुओं, भेड़-बकरियों और घोड़ों की हड्डियों के अलावा हड्डियों के औजार, सादे लाल बरतन और ताँबे की सुइयाँ और कुछ जेवर मिले हैं। इस संस्कृति का काल ३००० ई० पू० से १७०० ई० पू० तक है।

इससे अगली अवस्था को, जो १७०० ई० पू० के बाद चली, येइनीसेई नदी के किनारे अन्द्रोनोवो नामक स्थान के, जहाँ की खुदाई से इसके अवशेष मिले हैं, नाम पर अन्द्रोनोवो संस्कृति कहते हैं। यह पश्चिमी अल्ताई, सेमीरेचीए, अराल-प्रदेश और काजकस्तान के इलाके में फैली हुई थी। इसके खास अवशेष कब्रें हैं। इन लोगों में मुर्दे को दबाने और फूँकने दोनों का रिवाज था। ये लोग चपटी तली के भूरे कलसे बनाते और उन पर तिकोनों, स्वस्तिकों और अन्य ज्यामिति की शकलों की चीतनकारी करते थे। तीरों के कोने हड्डी या ताँबे के बनते थे। ताँबे के चाकू, खंजर और दराँतियाँ भी बनायी जाती थीं। सोने का काफी इस्तेमाल होता था। घोड़े और ऊँटों के अवशेषों से पता चलता है कि पशुपालन का बड़ा महत्त्व था, लेकिन ताँबे की दराँतियाँ और पत्थर के हल खेती-बारी का साक्ष्य देते हैं। बस्तियाँ बसाकर रहने का रिवाज चल पड़ा था।

धीरे-धीरे स्तेपों के समाज में ऊँच-नीच का भेद बढ़ता गया। ऊँचे वर्ग के लोग बड़ी सजधज और शान-शौकत से रहने लगे जिसका अन्दाजा उनकी कब्रों से किया जा सकता है। कोह काफ के उत्तर में कोबान नदी की घाटी में और इसकी शाखा ब्येलाया नदी के तट पर मैकोप में ऐसी कब्रें मिली हैं। मैकोप की कब्रें २३०० ई० पू० के करीब की हैं। इन कब्रों के फर्श पत्थर के टुकड़ों से जड़े हैं और दीवारें और छतें लकड़ी के शहतीरों से जड़ी हैं और उनके ऊपर लकड़ी के घटाटोप हैं। कब्र के अन्दर की जगह उत्तरी और दक्षिणी भागों में बँटी है और उत्तरी भाग के पश्चिमी और पूर्वी दो टुकड़े हैं। दक्षिणी भाग में

घुटने सिकोड़ कर और उत्तर की ओर सिर कर मुर्दे को रखा जाता था। उसका शरीर सोने के जेवरों से सजा होता और उसके पास सोने-चाँदी के डण्डे और बरतन और बैलों की आकृतियाँ और अन्य सामान रखा जाता। ये डण्डे शायद शामियाने के लिए हों जो उसके ऊपर ताना जाता था। दफनाते समय यह कफन का काम देता था। यह शेर और बैल की शक्लों के सोने के टिकलों से जड़ा होता और इसमें सोने के चक्र सिले होते। मुर्दे के पास ताँबे के हथियार रखे जाते। कब्र के बाकी दो भागों में से पूर्वी में स्त्री को दफन किया जाता और पश्चिमी में एक अन्य आदमी को । ये मृतक की पत्नी और सेवक मालूम होते हैं। नोवोस्वोबोदनाया में भी ऐसी ही कब्रें मिली हैं लेकिन वहाँ पर ये पत्थर की हैं—इनमें से एक की छत कैंची की है और दूसरी की सपाट। इनमें मुर्दों पर, और एक में दीवारों पर भी, गेरू छिड़का मिला है। इनमें एक में मुर्दे को काला समूर का कोट, उसके नीचे काली धारी का ऊँट के ऊन का लबादा और उसके भी तले लीनन की कमीज पहनायी गयी है जो इस युग की बढ़ी-चढ़ी कारीगरी का साक्ष्य देती हैं। इन कब्रों पर मेसोपोटेमिया की राजकीय कब्रों का गहरा प्रभाव मालूम होता है।

काले सागर और कैस्पियन सागर के बीच के इलाके के, जिसे ट्रांस-काकेशिया कहते हैं, इन लोगों के, निकटवर्ती प्रदेशों के लोगों और उनकी संस्कृतियों से गहरे सम्बन्ध थे। अक्सर व उनसे वस्तुओं का आदान-प्रदान करते, उन पर धावे कर लूटमार भी करते और कभी-कभी उनके इलाकों पर अपना शासन भी जमा लेते थे। दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में इनके कई दल एशिया खुर्द में बसने लगे। इनमें खत्ती (हिट्टीट) और लूवी प्रमुख हैं। इनके साथ एक और जाति या कबीला था जिसके लोग अपने नामों के साथ 'अश्शु' शब्द जोड़ते थे। इस सहस्राब्दी के मध्य में इनका प्रभाव घटा और एक और जाति के लोग आये जो अपने नामों के साथ 'मुवा' शब्द लगाते थे। उस काल में दक्षिणी और दक्षिण-पश्चिमी अनातोलिया में किजवत्ना (किलिकिया) के इलाके में कुछ लोगों ने नयी बस्ती बसायी। इन लोगों के नाम जैसे 'परिय-वन्नी', 'शुनशूर', 'पत्ततिश्शु' आदि आर्य शब्दों से बने मालूम होते हैं। उसी समय दक्षिण-पूर्वी अनातोलिया और उत्तरी मेसोपोटेमिया, अर्थात् हनीगलबात के इलाके में, मितन्नी लोगों की धाक जमी और वे स्थानीय हुर्री लोगों पर राज्य करने लगे। इनके राजाओं के कुछ नाम भी, जैसे 'किर्त', 'शुत्तर्न', 'पर्स-तातर', 'सौशतातर', 'अर्ततम', 'तुशरत्त' हिन्दी-ईरानी-जैसे लगते हैं। इनके अलावा शाम से मिस्र की सीमा तक इन लोगों के और जत्थे बस गये, जिन्हें मर्यन्नु (संस्कृत 'मर्य' पुरुष), कहते हैं। इनके नामों में 'तर्न', 'तातर', 'रात', 'रुत' आदि उत्तरपद मिलते हैं जो हिन्दी-ईरानी शब्दों के रूप हैं। ये सब लोग हिन्दी-ईरानी संस्कृति में निष्णात थे जिसका पुष्ट प्रमाण १४०० ई० पू० के करीब की मितन्नी राजा मत्तिऔजा और खत्ती

शासक शुब्बीलुलिउन के बीच लिखे गये एक सन्धिपत्र में उल्लिखित मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य के नामों से मिलता है। ये देवता इसी क्रम से ऋग्वेद (१०।१२५।१) में मिलते हैं। पॉल थीमे के विचार से इनके नामों के उल्लेख का अभिप्राय भी विशुद्ध रूप से वैदिक है। इससे स्पष्टतः सिद्ध होता है कि इन लोगों ने हिन्दी-ईरानी लोगों से अनेक बातें ग्रहण कीं जो यह जाहिर करती हैं कि इनका उनसे गहरा सम्बन्ध था। हो सकता है, इनमें उनकी कुछ शाखाएँ समा गयी हों।

स्तेप के इन लोगों की सांस्कृतिक देन काफी महत्त्वपूर्ण है। खास तौर से गाड़ी की रचना के विकास में इन्होंने बड़ा योग दिया। लगता है कि पूर्वी एशिया खुर्द में, वान झील से उत्तरी ईरान में र्डमिया झील तक के १२०० मील के प्रदेश में कहीं पहियेदार गाड़ी का जन्म हुआ। ३००० ई० पू० के करीब जमीन पर घिसटने वाली स्लेजनुमा गाड़ियाँ बनती थीं, जैसा कि सुमेरी नगर उरुक की इस काल की लिपि में इसके चिह्न से प्रकट होता है। किन्तु २७०० ई० पू० के लगभग पहियेदार गाड़ियाँ चल पड़ीं और सुमेरी कब्रों में मुर्दों के साथ गाड़ी जाने लगीं। इनके पहिये तीन टुकड़े जोड़कर बनाये जाते थे और इन्हें गधे खींचते थे। ऐसी गाड़ियाँ ट्रांस-काकेशिया में कुरा और अरक्सस नदियों की घाटियों में, जहाँ ३००० ई० पू० से २५०० ई० पू० तक खेती-बारी, पशुपालन और ताँबे का सामान बनाने वालों की देहाती संस्कृति विकसित हुई, मिली हैं। गुर्जी सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक (जार्जिया) के त्साल्का जिले के त्रियालेती स्थान पर तीन टुकड़े वाले पहियों की गाड़ी के अवशेष मिले हैं। वहाँ से ३५० मील उत्तर में कलमीक स्तेप के एलिस्ता प्रदेश की २४००-२३०० ई० पू० की कब्रों में भी ऐसी गाड़ियों के पहिये पाये गये हैं। आरमीनिया में सेवान झील के पास ल्खाशन के निकट छः गाड़ियाँ मिली हैं जिनके ऊपर चँदोवा ताना जाता था। इनमें से एक गाड़ी तो सत्तर हिस्सों से बनी है और इसमें हजारों गुज्जे लगे हैं। इसी स्थान से अरों वाले पहियों की हलकी गाड़ियाँ—रथ मिले हैं। इन गाड़ियों में घोड़े जुतते थे। इस किस्म की गाड़ियाँ दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध में खूब चलती थीं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि एक तख्ते के सपिण्ड पहियों की खुली गाड़ी ३००० ई० पू० के करीब सुमेर में बनी। इसके आधार पर तीन टुकड़ों के भारी पहियों की शामियानेदार गाड़ी ट्रांस-काकेशिया में तैयार हुई जो २५०० ई० पू० के करीब काफी चालू थी। इसकी रचना का बराबर विकास होता रहा और १५०० ई० पू० के बाद इसी इलाके में इसने अरों वाले पहियों के रथों का रूप ले लिया। बराबर घूमने, सामान ढोने आदि की जरूरतों ने इस विकास को तेज किया होगा और लकड़ी की मौजूदगी, घोड़ों की उपलब्धि और समतल एवं जमी भूमि ने इसे सम्भव बनाया होगा। जल्दी ही यह

चीज दुनिया भर में फैल गयी और शाङ-कालीन चीन तक इसका रिवाज हो गया।

दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में ट्रांस-काकेशिया के इलाके से ही घुड़सवारी का रिवाज शुरू हुआ। पन्द्रहवीं या चौदहवीं सदी ई० पू० की तेल-इलाफ के एक हुर्री खुदाई में घुड़सवार योद्धा की आकृति मली है। तेरहवीं सदी ई० पू० की लूरिस्तान से प्राप्त एक केशी मोहर पर घुड़सवार धनुषधारी का आकार बना है। ग्यारहवीं सदी ई० पू० में बाबुल का राजा नेबूचदनेजर घुड़सवारी का जिक्र करता है। १००० ई० पू० के करीब के काकेशिया की कुबात नदी की घाटी से मिले एक काँसे के पिन का सिरा एक सरपट दौड़ते हुए घुड़सवार की शक्ल का है। दूसरी ओर, चीन में ग्यारहवीं सदी ई० पू० की आनयाङ से प्राप्त एक शाङ-कालीन कब्र में एक आदमी के शव को जेवरों, हथियारों और एक घोड़े और कुत्ते के साथ दवाया गया है। यह कोई घुड़सवार शिकारी और योद्धा मालूम होता है। इस प्रकार घुड़सवारी का रिवाज पश्चिम से पूर्व तक फैल गया।

स्तेपों में जहाँ-कहीं खेती-बारी या मिले-जुले खेती और पशुपालन होते थे वहाँ बाद में निरा पशुपालन होने लगा और लोग घुमन्तू जीवन बिताने लगे। इस प्रकार घुमन्तू और स्थायी संस्कृतियों का अनवरत संघर्ष शुरू हो गया। मिनूसिन्स्क, कारागन्दा आदि स्थानों से इस परिवर्तन के साक्ष्य मिलते हैं। इससे संस्कृति के इतिहास को नये मोड़ मिले जिनकी चर्चा आगे की जायगी।

# दूसरा परिच्छेद

# एकता की ओर

## नये धार्मिक आन्दोलन

छठी सदी ई० पू० में एशिया के इतिहास ने तेजी से एकता की ओर कदम बढ़ाया। यह एकता राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, सभी स्तरों पर व्यक्त हुई। इसका श्रीगणेश धार्मिक आन्दोलनों से हुआ। यहाँ हम ज़रथुश्त्र, बुद्ध, महावीर, खुङ-फू-त्ज़ू और लाओ-त्ज़ू द्वारा चलाये गये धार्मिक और दार्शनिक मतवाद पर विचार करेंगे।

## ज़रथुश्त्र

ज़रथुश्त्र ('जरथ'—सुनहरा, 'उश्त्र'—प्रकाश) का जन्म ६२८ ई० पू० में मीदिया के रघा नामक स्थान पर, जो आजकल तेहरान का राय् नाम का उपनगर है, एक मग परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम पूरूशस्प और माता का नाम दुगधोवा था। शुरू से ही धार्मिक विषयों में रुचि होने के कारण उन्होंने विवाह नहीं किया और १५ वर्ष की आयु में एकान्त-वास आरम्भ किया जिसमें उन्हें दिव्य ज्ञान की ज्योति मिली। घर लौटने पर उन्होंने नये धर्म का प्रचार किया लेकिन लोगों ने उसमें रुचि नहीं दिखायी। सब जगह घूमते-घामते वे ख्वारज़्म (आजकल का खुरासान, पश्चिमी अफ़गानिस्तान और सोवियत रूस का तुर्कमान गणतन्त्र) पहुँचे। वहाँ का राजा विश्तास्प और उसके मन्त्री जामास्प और फ्रशओस्त्र उनके अनुयायी हो गये और उनके धर्म को बढ़ावा देने लगे। ५५१ ई० पू० में उन्हें खुद इसके लिए शहीद होना पड़ा।

ज़रथुश्त्र का युग स्थायी और घुमन्तू लोगों के संघर्ष से भरा था। अपनी रक्षा के लिए खेती-बारी और पशु-पालन से गुजारा करने वाले लोग स्थायी संगठन कर रहे थे। उनका आश्रयदाता विश्तास्प ख्वारज़्म के संघ का अन्तिम नेता था जिसे कुरुश् ने परास्त किया। इन प्रवृत्तियों के अनुरूप उन्होंने एक ओर अहुर्मज़्दा की अद्वितीय सत्ता और सार्वभौम आधिपत्य का प्रतिपादन किया और दूसरी ओर स्पेन्तामैन्यु (पुण्यात्मा) और अंग्रमैन्यु (पापात्मा) के विरोध का निरूपण किया।

ज़रथुश्त्र के मतानुसार अहुर्मज़्दा ही सारे विश्व का स्रष्टा है। सब कुछ उसी से आरम्भ होता है और उसी में लीन हो जाता है। वह अपने आपको छः रूपों में व्यक्त करता है जिन्हें अमेशा-स्पेन्ता कहते हैं—(१) अश-वहिश्त (वैदिक ऋत अथवा विश्व का नियमबद्ध विधान), (२) वोहु-मनो (पवित्र मन अथवा शुद्ध विचार अर्थात् प्रेम जो सृष्टि में ओत-प्रोत है), (३) क्षथ्र-वैर्य (क्रियाशक्ति और सृजनलीला जो सृष्टि की सक्रियता में व्याप्त है), (४) स्पेन्ता-आरमैती (पवित्रता और श्रद्धा जिससे धर्म का विकास होता है और जिसका भौतिक रूप पृथ्वी है), (५) हौरवतात (समग्रता और सम्पूर्णता जिसका प्रतीक जल है) और (६) अमेरेतात (अमरता जो वनस्पति जगत् में विद्यमान है और जीवनवृत्त से सम्बन्ध रखती है)। अहुर्मज़्दा के इन छः रूपों के अलावा एक और दैवी तत्त्व 'यजत स्रओशा' (संस्कृत 'शुश्रुषा') है जिसमें भक्ति, सदाचार और नैतिक जीवन के आदर्श सन्निहित हैं।

अहुर्मज़्दा से स्पेन्तामैन्यु की सृष्टि होती है। इसके अलावा एक और शक्ति अंगमैन्यु है। वास्तव में यह वह चुनौती है जो मनुष्य को स्पेन्तामैन्यु की ओर प्रवृत्त करती है। यह पुण्य प्राप्ति का एक साधन मात्र है और इसकी पराजय निश्चित है। इससे बचने और स्पेन्तामैन्यु की ओर झुकने के लिए मनुष्य को त्रिविध चर्या करनी चाहिए—'हुमत' (अच्छे विचार), 'हूख्त' (अच्छे वचन) और 'हुवर्श्त' (अच्छे कर्म)। अच्छे विचार, वचन और कर्म वे हैं जिनसे दूसरों को कष्ट न पहुँचे और सबका भला हो। मनुष्य अपना पथ चुनने में स्वतन्त्र है और फलतः अपने कर्म और भाग्य का खुद जिम्मेदार है।

जरथुश्त्र ने अग्नि और सूर्य की उपासना तो जारी रखी क्योंकि ये प्रकाशतत्त्व अहुर्मज़्दा के प्रतीक हैं, किन्तु पशुबलि का निषेध किया क्योंकि जीवहत्या सदाचार के विपरीत है। उन्होंने सफाई पर बड़ा जोर दिया, गन्दगी को पाप का पर्याय बताया, गृहस्थ जीवन में संयम और मधुरता, खेत-क्यार में मेहनत से काम करने, पूजा-यज्ञ में श्रद्धा और स्वच्छता बरतने और जीवन के प्रत्येक पक्ष में अच्छा आचार अपनाने पर बहुत जोर दिया।

जरथुश्त्र की शिक्षाएँ 'जिन्दावेस्ता' की गाथाओं में सुरक्षित हैं।

## गौतम बुद्ध

नेपाल की तलहटी के पूर्वी भाग में ६२३ ई० पू० में, कुछ आधुनिक विद्वानों के अनुसार ५६६ ई० पू० में शाक्यों के एक घराने में सिद्धार्थ गौतम का जन्म हुआ। उनके पिता शुद्धोदन एक खासे सम्पन्न जमींदार थे, लेकिन यह कहना गलत है कि वे राजसी ठाट से रहते थे। वास्तव में उनके गणतन्त्र में, जो कोसल के राजाओं के अधीन था, सभी

क्षत्रिय जमींदारों का दर्जा बराबर था। गौतम अपने युग की सभी कलाओं और विद्याओं के ज्ञाता थे लेकिन उनका स्वभाव विचारशील था। सोलह वर्ष की आयु में विवाह हो जाने पर भी उनकी मनन करने की आदत कम नहीं हुई, बल्कि बढ़ती ही गयी। जब वे अपने पिता के खेत में काम-काज देखने जाते तो अक्सर जामुन के पेड़ की ठण्डी छाया में बैठकर दुनिया की अच्छी-बुरी बातों पर विचार करते। खास तौर से उनके सगे-सम्बन्धियों में जो झगड़े-टण्टे चलते, शाक्यों और उनके पड़ोसी कोलियों में सिंचाई के लिए रोहिणी नदी का जल लेने पर जो छीना-झपटी होती, और जन्म और परम्परा पर निर्भर क्षत्रिय वर्ग को नये उभरते व्यापारी और कारीगर वर्ग से जो चुनौती सहन करनी पड़ती उससे उनके दिमाग की खलबली बहुत बढ़ी और उन्होंने घर-बार छोड़कर अपने युग की समस्या का हल खोजने का निश्चय किया। उनके घरवालों ने उन्हें बहुत समझाया लेकिन वे टस से मस न हुए और २६ वर्ष की आयु में घर छोड़, सिर मुँड़ा, भगवे कपड़े पहन सत्य की खोज में निकल पड़े। अनेक विद्वानों और तपस्वियों के पास रहकर और उनके मार्ग पर चलकर भी जब उन्हें तसल्ली न हुई तो उन्होंने खुद ही नेरंजना (वर्तमान नीलाजन) नदी के किनारे एक पेड़ के नीचे बैठकर छः साल तक कठोर तपस्या की। लेकिन इस पर भी वे जीवन के मर्म को न खोज पाये। अतः उन्होंने खाना-पीना शुरू किया और तरह-तरह के विचारों में लग गये। एक दिन नदी में स्नान कर, दोपहर का भोजन कर वे पीपल के पेड़ के नीचे ध्यान में लग गये। उसी रात को उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ, वे बुद्ध हो गये। वहाँ छः हफ्ते बिताकर वे बनारस गये और सारनाथ में उन्होंने अपना पहला उपदेश दिया जिसे 'धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त' कहते हैं। बहुत से लोग, जिनमें व्यापारी ज्यादा थे, उनके साथ हो गये। वहाँ से उरुवेला, राजगृह होते हुए और लोगों को उपदेश देते हुए वे अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु गये। उनके पिता, पत्नी, पुत्र आदि उनके धर्म में शामिल हुए। इसके बाद वे वर्षा ऋतु को छोड़कर बराबर घूमते और उपदेश देते रहे। पूर्व में अंग की नगरी चम्पा (वर्तमान भागलपुर) से पश्चिम में कुरुदेश (हस्तिनापुर-हरियाणा) तक और उत्तर में कपिलवस्तु से दक्षिण में कौशाम्बी (वर्तमान इलाहाबाद के निकट कोसम) तक उन्होंने पैंतालीस वर्षों तक निरन्तर यात्राएँ कीं। इस लम्बे अरसे में समाज के सभी वर्गों से उनका गहरा सम्पर्क हुआ। बिम्बिसार और प्रसेनजित जैसे राजा, पूर्ण और अनाथपिण्डक जैसे धनी व्यापारी, जीवक कौमारभृत्य जैसे चिकित्सक, सुनिध और वर्षकार जैसे राजकर्मचारी, चुन्द जैसे कारीगर, अंगुलिमाल जैसे डाकू और आम्र-पाली जैसी गणिका और अनेकानेक वर्गों और व्यवसायों के लोग उनके अत्यन्त निकट आये। उन्होंने लिच्छवियों का एका देखा तो शाक्यों और कोलियों की फूट भी सही, अजातशत्रु को अपने पिता की हत्या करते सुना तो विडुडभ को शाक्यों पर हमला करते

भी देखा, असंख्य नर-नारियों का सत्कार पाया तो कौशाम्बी के भिक्षुओं से अपमान भी सहा और देवदत्त के कठोर प्रहार भी झेले। अन्त में, अत्यन्त सक्रिय जीवन बिताकर ८० वर्ष की आयु में उन्होंने कुशीनगर में शरीर छोड़ा।

बुद्ध के काल में समाज में बड़ा परिवर्तन चल रहा था। क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के ढकोसलों पर कड़े प्रहार कर उनकी सत्ता को सख्त चुनौती दी। वैश्यों, व्यापारियों, उद्योगियों और दस्तकारों ने क्षत्रियों के जन्मसिद्ध गौरव और राजनीतिक एकाधिकार को बड़ी चोट पहुँचायी। शूद्रों, दासों, भृतकों, कमेरों आदि ने ऊँचे वर्गों की सामाजिक मान्यताओं और दार्शनिक स्थापनाओं का भण्डाफोड़ किया। उनमें से मंखली गोशाल, अजितकेश कम्बली, पूरण काश्यप, ककुद कात्यायन, संजय बेलट्ठीपुत्र जैसे क्रान्तिकारी विचारकों ने निकल कर सारे विचारों और विश्वासों के ढाँचे को हिलाने की कोशिश की। इस उथल-पुथल में बुद्ध ने दार्शनिक बारीकियों को छोड़कर मध्यम-मार्ग पर आश्रित सदाचार का उपदेश किया, क्योंकि उनकी दृष्टि में केवल इसी के द्वारा समाज के ढाँचे को आवश्यक तबदीलियों के साथ बनाये रखा जा सकता था।

बुद्ध जगत् और जीवन को मानकर चले। वे इस उलझन में नहीं पड़े कि मनुष्य अमर है या नश्वर, जीव और शरीर एक हैं या अलग, अर्हत् मृत्यु के बाद जीवित रहता है या नहीं। उन्होंने केवल दुःख का कारण खोजने और उसे दूर करने का उपाय ढूँढ़ा। उनका विचार था कि दुःख का कारण इच्छा का वह विकृत रूप है जिसे तृष्णा कहते हैं। इसे दूर करने के लिए काम-वासनाओं में लिप्त होना और काया को क्लेश देना इन दोनों के बीच का रास्ता अपनाना जरूरी है। यह बीच का रास्ता (मध्यम-प्रतिपत्) है—ठीक देखना, ठीक संकल्प करना, ठीक बात बोलना, ठीक काम करना, ठीक तरह से रोटी कमाना, ठीक प्रकार का धन्धा करना, ठीक विचार रखना और ठीक तरह से मन को समन्वित करना। इन आठ अंगों से बने इस मार्ग पर चलने से जो मन की सन्तुलित स्थिति पैदा होती है उसी का नाम निर्वाण है।

बुद्ध ने ठीक काम उसे बताया जिससे न खुद करने वाले को तकलीफ हो, न किसी और को। इसका निश्चय मनुष्य खुद अपनी समझ-बूझ से कर सकता है। मोटे तौर से हिंसा से बचना, चोरी न करना, काम और मिथ्याचार से दूर रहना, झूठ न बोलना और नशीली चीजों का प्रयोग न करना ठीक काम हैं। इन्हें पंचशील कहते हैं।

बुद्ध ने मनुष्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की और उसके व्यक्तित्व को रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का संघात सिद्ध किया। रूप में 'माइण्ड' (मानसिक तत्त्व) और 'मैटर' (भौतिक तत्त्व) दोनों शामिल हैं। इनकी मिली-जुली क्रियाओं में कारण-कार्य का नियम काम करता है।

बुद्ध ने कर्म पर, खास तौर से इसके चैतसिक पक्ष पर, बहुत जोर दिया। उनका मत था कि चित्त को सन्तुलित करने से और कामना और स्वार्थ का दृष्टिकोण छोड़ने से मनुष्य कर्म के कुप्रभाव से बच सकता है।

बुद्ध ने जाति-पाँति और जन्म पर निर्भर वर्ग-वर्ण-व्यवस्था का कड़ा विरोध किया और बेकारी, गुलामी और शक्ति-संचय की राजनीति को अच्छा नहीं समझा। अपने जमाने की गड़बड़ी और खलबली को दूर करने के लिए उन्होंने गणराज्य के बजाय एक सार्वभौम राजा का आदर्श प्रस्तुत किया, जो धर्म के मार्ग पर चलता हुआ अपने चरित्र से लोगों को प्रेरित करे और जिसे सेना और पुलिस की आवश्यकता न हो।

बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचार के लिए भिक्षुसंघ को भी जरूरी समझा।

## वर्धमान महावीर

महावीर का जन्म ६००—५९९ ई० पू० में वैशाली (वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ नामक स्थान) के एक मुहल्ले कुण्डग्राम (आजकल के वसुकुण्ड नामक गाँव) में ज्ञातृक नाम के एक क्षत्रिय परिवार में हुआ। उनकी रिश्तेदारी मगध और लिच्छिवियों के राजकुलों से थी। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार उनका विवाह कौण्डिन्य गोत्र की एक लड़की यशोदा से हुआ। उससे उनकी एक पुत्री प्रियदर्शना हुई। इस हरे-भरे परिवार में भी महावीर का मन उचाट रहता था। अतः उन्होंने घर-बार छोड़ने का विचार किया। माँ-बाप के जीते तो वे ऐसा न कर सके लेकिन उनके मरने पर बड़े भाई नन्दीवर्धन से आज्ञा लेकर वे तपस्या के लिए बाहर निकल गये। तेरह महीने बाद उन्होंने कपड़ों को भी बन्धन समझ कर उतार फेंका, फिर उन्होंने दीवार के घेरे में समाधि लगायी और दो वर्ष दो महीने की कठिन तपस्या के बाद भ्रमण आरम्भ किया। इसमें उन्हें बेहद तकलीफें बर्दाश्त करनी पड़ीं लेकिन उन्होंने तनिक भी परवाह न की। घूमते-घामते जृम्भिका ग्राम में ऋजुपालिका नदी के उत्तरी तट पर सामाग किसान के खेत में एक साल के पेड़ के नीचे उन्हें केवल ज्ञान (पूरा ज्ञान) प्राप्त हुआ। तब से तीस वर्ष तक उन्होंने निरन्तर समाज में अपने ज्ञान का प्रकाश और प्रचार किया। पूर्व में अंग—मगध से पश्चिम में थूणा (थानेसर) तक और उत्तर में कुणाला से दक्षिण में कौशाम्बी तक उनका और उनके अनुयायियों का कार्यक्षेत्र था। ७२ वर्ष की आयु में ५२७-२८ ई० पू० में पावा नाम के स्थान पर राजा हस्तिपाल के एक कर्मचारी के पास रहते हुए उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

महावीर ने जैन-दर्शन को स्फुट रूप दिया। उन्होंने बुद्ध की ही तरह सदाचार पर बहुत ज़ोर दिया, लेकिन उनकी आचार की धारणा भौतिक थी, जब कि बुद्ध उसके चैतसिक पक्ष को मानते थे। उनका विचार था कि कर्म को सिर्फ चित्त से निकालना

ही काफी नहीं है, उससे शरीर को अलग रखना भी ज़रूरी है। अतः उन्होंने कठोर तपस्या, शारीरिक साधना और इन्द्रिय-निग्रह का विधान किया। साथ ही उन्होंने बुद्ध की तरह आत्मा और शरीर की एकता या भिन्नता के प्रश्न को नहीं टाला, बल्कि उन्हें साफ तौर से एक दूसरे से भिन्न किन्तु सहवर्ती घोषित किया। उनके मत से ये दोनों 'कर्म' के माध्यम से जुड़े रहते हैं और इसे हटाकर एक दूसरे से अलग करना ही 'मोक्ष' है। लेकिन वे मनुष्य के निजी अध्यवसाय में विश्वास करते थे और ईश्वर, नियति, भाग्य आदि को नहीं मानते थे। उन्हें हठधर्मी भी पसन्द नहीं थी, जैसा कि उनके अनेकान्त-वाद या स्याद्वाद के सिद्धान्त से ज़ाहिर है।

जैन धर्म मानव-समानता (सामाइय) के सिद्धान्त पर टिका है और वर्ग और वर्ण के भेद से नफरत करता है और फलतः जन्म और जाति के विचार को बेकार समझता है। लेकिन इसका ज्यादा झुकाव उन लोगों की तरफ है जो हाथ से काम न कर शक्ति और प्रतिभा या परम्परा के बल पर अपना निर्वाह करते हैं। अतः ऊँचे दर्जे के क्षत्रिय या व्यापारी या उनके साथ लगे लोग ही इसके अनुयायी बन सके। यह किसान-मजदूरों के ज्यादा काम की चीज़ न बन सका। इसके द्वारा छठी सदी ई० पू० के अमीर लोगों की दिमाग़ी उधेड़-बुन और उससे उत्पन्न भगोड़ापन-जैसा ज़ाहिर होता है। पर इसमें शक नहीं कि यह एक काफी बड़े वर्ग को एक तार में बाँध सका।

## खुङ-फू-त्ज़ू (कन्फ्यूशियस)

हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि चू-काल के अन्तिम भाग की अव्यवस्था ने किस प्रकार लोगों के मन को व्याकुल कर उन्हें जगत् और जीवन पर फिर से सोचने पर मजबूर किया। इस लड़ाई-झगड़े के युग में सौ दार्शनिक मतों का विकास हुआ, जिनमें खुङ-फू-त्ज़ू (कन्फ्यूशियस) का मत प्रमुख है।

खुङ-फू-त्ज़ू का जन्म ५५१ ई० पू० में चीन के शानतुंग प्रान्त की लू नाम की रियासत में हुआ। वे एक अभिजात कुल की उस शाखा से सम्बन्धित थे जिसे पैतृक सम्पत्ति का कोई हिस्सा न मिल सका और जो दरिद्रता और दैन्य की अवस्था में पहुँच गया। जल्दी ही पिता की मृत्यु के कारण उन्हें अपने सीमित साधनों पर ही गुज़ारा करना पड़ा। किन्तु उन्हें अध्ययन-मनन में बड़ी रुचि थी और उनका मन कविता और संगीत में बहुत लगता था। साथ ही उनका दिमाग खुला और ज़िद और दुराग्रह से बहुत दूर था। अतः उन्होंने अपने युग की नब्ज़ को ठीक तरह पहचाना और उसके रोग को समझ कर उसका इलाज तलाश किया। कुछ समय के लिए उन्हें अपनी रियासत लू में नौकरी मिल गयी। वहाँ उन्होंने तरक़्क़ी भी की लेकिन उनके विचारों से वहाँ के शासक चौंक

गये जिससे उन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी। इस पर वे एक रियासत से दूसरी में घूमते रहे जिससे उन्हें कहीं अपने विचारों को कार्यान्वित करने का मौका मिल जाय, लेकिन हर जगह उन्हें नाकामयाबी का मुँह देखना पड़ा। फिर भी वे जोर-शोर से अपने विचारों का प्रचार करते रहे। उनके शिष्यों की संख्या तीन हज़ार तक पहुँच गयी। आखीर में वे लू वापस आ गये। वहाँ ४७६ ई० पू० में उनका शरीर पूरा हुआ। उनके विचार उनकी 'चर्चाओं' में सुरक्षित हैं।

खुङ-फू-त्जू को परलोक-सम्बन्धी या दार्शनिक विषयों में कतई रुचि न थी। प्रेतात्माओं का विषय चलने पर वे कहते थे, "हम अभी मनुष्यों की सेवा करना नहीं जानते, हम प्रेतात्माओं की सेवा के बारे में क्या जान सकते हैं" ? (चर्चाएँ, ७।२०)। मृत्यु के बारे में प्रश्न किये जाने पर उन्होंने कहा, "हमें अभी जीवन का पता नहीं है, हम मृत्यु के विषय में क्या कह सकते हैं ?" (चर्चाएँ, ११।११)। उनकी सारी खोज यह थी कि मनुष्य कैसे खुश रह सकता है। उनका निष्कर्ष यह था कि मनुष्य केवल सदाचार (यी) द्वारा प्रसन्न रह सकता है। उनका कहना था, "अच्छा आदमी सदाचार की ओर ध्यान देता है, छोटा आदमी सम्पत्ति की बात सोचता है" (चर्चाएँ, ४।११); "पहला यह विचार करता है कि क्या उचित है, दूसरे की यह धारणा होती है कि क्या लाभप्रद है" (चर्चाएँ ४।१६)।

सदाचार कोई अमूर्त भाव नहीं है। यह दैनिक व्यावहारिक आचार है। इसका लक्षण मानवीयता, सौजन्य और दूसरों के प्रति सद्भाव है। इसे 'रन' कहते हैं। इसका निर्णय केवल इस बात से होता है कि "दूसरों के लिए वैसा मत करो जैसा तुम चाहते हो कि दूसरे तुम्हारे लिए न करें" (चर्चाएँ १५।२३)। हर आदमी को अपने नाम के अनुरूप काम करना चाहिए; "शासक शासक जैसा आचरण करे, मन्त्री मन्त्री जैसा, पिता पिता जैसा और पुत्र पुत्र जैसा" (चर्चाएँ, १२।११)। अर्थात् हर आदमी को वह कर्तव्य निबाहना चाहिए जो उसके नाम और पद में सन्निहित है। कर्तव्य पूरा करते हुए फल का ध्यान मन से निकाल देना चाहिए क्योंकि फल प्रकृति (मिङ) के हाथ में है।

खुङ-फू-त्जू का सन्देश है कि "मनुष्य से प्रेम करो" (चर्चाएँ, १२।२२) और यह भाव पैदा करने के लिए मनुष्य को "शिक्षित करो" (चर्चाएँ, १३।६)। शिक्षा द्वारा उत्पन्न सदाचार और प्रेम ही मनुष्य के बड़प्पन का मानदण्ड है। इस दृष्टि से "चारों समुद्रों के बीच के भूखण्ड में रहने वाले सब आदमी भाई-भाई हैं" (चर्चाएँ, १२।५)।

खुङ-फू-त्जू सामाजिक व्यवस्था के परम समर्थक थे। इसलिए उन्होंने साम्मा-

जिक मूल्यों को मान्यता दी और विशेष रूप से राजा और प्रजा, पति और पत्नी, पिता और पुत्र, अग्रज और अनुज एवं मित्र और मित्र के पाँच सम्बन्धों की पुष्टि की और उनसे सम्बन्धित रस्म-रिवाज का समर्थन किया।

खुङ-फू-त्ज़ू ने प्रकृति और मनुष्य के सामंजस्य पर बहुत जोर दिया और इसे अनूदित करने के लिए आत्म-प्रशिक्षण (शिऊ-शेन शिऊ-ची) और संसार की व्यवस्था (चिह्-कुग्रो फिङ थ्यान-श्या) के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जिससे अन्दरूनी (नेइ) और बाह्री (वाह्) दुनिया में एकरूपता आ सके।

खुङ-फू-त्ज़ू के विचारों को पुराणपन्थियों और प्रगतिवादियों दोनों ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। वाङ छुङ (२७–१०० ई०), हो शियु (१२६–१८२ ई०), वाङ-फू-चिह (१६१६–१६६२ ई०) आदि ने इससे इतिहास के रेखात्मक विकास के सिद्धान्त की पुष्टि की है। वर्तमान काल में खाङ यू-वेई (१८५६–१६२७ ई०), तान स्यु-तुंग (१८६५–१८६८ ई०), ल्याओ फिङ (१८३५–१६३२ ई०) ने खुङ-फू-त्ज़ू के मत के प्रगतिवादी पक्ष पर बहुत जोर दिया है। लेकिन यह पुरानी रीति-रूढ़ि से इतना चिपक गया है कि साम्यवादियों को इसका निषेध करना पड़ा।

## लाओ-त्ज़ू

चीनी परम्परा के अनुसार लाओ-त्ज़ू (पुराने आचार्य)—इनका वैयक्तिक नाम तान था और पारिवारिक नाम ली—खुङ-फू-त्ज़ू के समसामयिक या उनसे कुछ बड़े थे, किन्तु आर्थर वेली और एच० एच० डब्स आदि आधुनिक विद्वानों का विचार है कि वे चौथी सदी ई० पू० या उससे भी कुछ बाद हुए। वे आधुनिक होनान प्रान्त के छू नाम के राज्य के निवासी थे और वहीं के शासक के यहाँ नौकरी करते थे। किन्तु इस ढंग के जीवन से ऊबकर उन्होंने नौकरी छोड़ दी और घर आ गये। किंवदन्ती है कि वे पश्चिम में घूमे और तुर्किस्तान सुध्द और भारत भी गये और अन्त में अपने निवास-स्थान पर आकर मरे। उनके विचार 'ताओ-ते-चिङ' नामक ग्रन्थ में संगृहीत हैं।

लाओ-त्ज़ू ने अपने समय की चुनौती का जवाब खुङ-फू-त्ज़ू से भिन्न दिया। खुङ-फू-त्ज़ू की तरह उन्होंने यह तो माना कि मनुष्य को प्रकृति का समन्वय आत्मसात् करना चाहिए किन्तु, उनके मत के विपरीत, यह कहा कि यह समाज के नियम और आचार के पालन करने से सम्भव नहीं है बल्कि उनके उल्लंघन से हो सकता है। उनके मत से अस्तित्व एक शाश्वत पद्धति (वू-मिङ) है, जिसमें सामंजस्य के साथ-साथ निरन्तर गति भी है। इसे 'ताओ' (दाओ) कहते हैं। मनुष्य को इसके साथ रहना है और इसके लिए उग्रता और अति को छोड़ना है और ज़बरदस्ती और बनावट से बचना है

जिनसे संस्कृति और शिष्टाचार का ढाँचा बना है (ताओ-ते-चिङ, अध्याय २६)। जीवन का आदर्श 'वू-वेइ' (कुछ न करना) अर्थात् ज़रूरत से ज्यादा न करना और क़ुदरती तरीक़े से रहना है । इन्द्रियों का घोर दमन भी अनावश्यक है, प्रत्युत प्राकृतिक ढंग से उनकी सन्तुष्टि करनी चाहिए।

लाओ-त्ज़ू के सिद्धान्त का राजनीतिक पहलू एक प्रकार की व्यक्तिपरक अराजकता है। चूँकि राज्य हिंसा और बल पर निर्भर है इसलिए इसका बहिष्कार ज़रूरी है। बन्धन और निषेध जितने कम होंगे, मनुष्य उतना ही सुखी होगा। समाज व्यक्तियों का समूह मात्र है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार रहने की सुविधा होनी चाहिए। चूँकि राज्य अनेक व्यक्तियों के हितों की अवहेलना कर कुछ को लाभ पहुँचाता है इसलिए वह शोषक और अन्यायी है। किन्तु जो हिंसा के बल पर जीता है वह उसी के द्वारा मरता भी है (ताओ-ते-चिङ, अध्याय ४२)। जहाँ से सेनाएँ निकलती हैं, वहाँ झाड़-झुण्ड ही रह जाते हैं (वही, अध्याय ३०)। अतः सैनिक विजय निन्दनीय है। श्रेष्ठ शासक वह है जो शस्त्रों को तिलांजलि दे। इस प्रकार लाओ-त्ज़ू का व्यक्तिवाद शान्तिवाद में परिणत हो जाता है।

एशिया में छठी सदी ई० पू० में जो उपर्युक्त विचारों के आन्दोलन चले उनसे सामाजिक और सांस्कृतिक एकता के युग का आविर्भाव हुआ, जिसकी चर्चा अब की जायगी।

## ईरान का हख़ामनीशी युग

सातवीं सदी ई० पू० में बखत्यारी पर्वतों की तलहटी के पास पर्शुमश् के इलाक़े में हख़ामनीश ने अपना राज्य कायम किया। इलाम और असुरिया की निरन्तर नोक-झोंक में उसे ऊपर उभरने का मौक़ा मिला। किन्तु उसके वंशज कुरुश (५५६-५३० ई० पू०) ने इस राज्य को सार्वभौम रूप दिया। उसने एशिया खुर्द और फिनिशी तट से सीर दरिया तक के सारे इलाके को अपने अधीन कर लिया, लेकिन विजित लोगों के साथ बड़ी नरमी और मुलायमियत का बर्ताव किया और सब देशों और प्रान्तों के रीति-रिवाजों का आदर किया। कुरुश के पुत्र कम्बुजीय ने मिस्र को जीता और लीबिया, सिरीन और बर्का के यूनानियों को अपने अधीन किया। उससे अगला शासक दारयवहुश (धारयद्वसु) (५२२-४८६ ई० पू०) इस वंश का गौरवशाली सम्राट था। उसने देश-व्यापी विद्रोह को दबाकर ५१८ ई० पू० के बाद गन्धार को जीता और दूसरी ओर दक्षिणी रूस के शकों के खिलाफ जंग छेड़ा और लौटते हुए थ्रेस और मकदूनिया पर कब्जा किया और समुद्री तट के यूनानी शहरों को अपने राज्य में मिला लिया। पर

उसकी दमन-नीति के कारण यूनानी नाराज़ हो गये और उन्होंने एक होकर उसके हमले का मुकाबला किया जिससे उसका यूनान को फतेह् करने का सपना पूरा न हो सका। उसके उत्तराधिकारी यूनान को जीतने की बराबर कोशिशें करते रहे, कभी-कभी उन्हें छोटी-मोटी सफलता भी मिलती रहीं, लेकिन मोटे-तौर से वे इस मामले में नाकामयाब ही रहे। बाद के हख़ामनीशी राजा आपसी झगड़े-टंटों में उलझे रहे और साथ ही बेतुके भोग-विलास से जर्जर हो गये जिससे यूनानी विजेता सिकन्दर महान् को ३३१ ई० पू० में इस वंश का वारिस बनने का मौका मिल गया।

हख़ामनीशी साम्राज्य में पश्चिमी एशिया के लोगों को शान्ति और सुरक्षा मिली। ये लोग असुरों के भयंकर अत्याचारों, खास तौर से ७४५ ई० पू० में तिलगथ-पिलेसर तृतीय की ध्वंस-लीला के आरम्भ से, और उसके बाद स्तेपों की घुमन्तू जातियों की धकापेल और मारधाड़ से बड़े सताये हुए थे। इसलिए जब कुरुश महान् जैसे सहिष्णु और सहृदय सम्राट् ने कम से कम सख़्ती और ज़ुल्म के साथ उनको एकता और शान्ति का आश्वासन दिया तो उन्होंने खुले दिल से उसका स्वागत किया। कुरुश ने पुराने राज्यों को बहुत कुछ जैसे का तैसा प्रान्तों का रूप दिया और उनके अन्दरूनी हालात में बहुत कम दखल दिया। लेकिन ५२२-२१ ई० पू० के भयंकर विद्रोह से इस व्यवस्था का थोथापन स्पष्ट हो गया। दारयवहुश को प्रमुख जातियों का संगठन तोड़ने के लिए और भावी विद्रोह की सम्भावना को खत्म करने के लिए उनके इलाक़ों को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटकर उनका अलग-अलग शासन चालू करना पड़ा। उसने साम्राज्य को प्रशासकीय और वित्तीय दृष्टियों से दो प्रकार की इकाइयों में बाँट कर केन्द्रीकृत शासन का सूत्रपात किया। हर इलाके में केन्द्र द्वारा नियुक्त क्षत्रप, सेनापति और कराधिकारी अपने-अपने विभागों का काम करते और एक दूसरे के काम पर निगाह् रखते थे। एक सचिव, क्षत्रप और सम्राट् के बीच की कड़ी का काम करता था। इसके अलावा सम्राट् के भेजे हुए निरीक्षक, जिन्हें 'सम्राट् की आँख' कहते थे, क्षत्रप और उसके अमले की देखभाल के लिए तैनात थी। ये फौज के साथ बिना सूचना दिये एकदम किसी भी प्रदेश में आ धमकते थे। हर साल सम्राट् के खास नुमाइन्दे और ख़बररसाँ हर प्रदेश का दौरा करते और सम्राट् को हर बात की खबर पहुँचाते थे। सम्राट् खुद अपने राजदरबार के साथ दौरे पर रहता था। मामूली से शक पर बड़े से बड़े अफसर को निकाल दिया जाता था। हर अफसर को नकद तनख्वाह मिलती थी। ज्यादा से ज्यादा एक तिहाई तनख्वाह रसद के रूप में दी जा सकती थी। फौज का इन्तज़ाम भी इसी प्रकार का था।

हख़ामनीशी युग में न्याय की व्यवस्था बहुत सुधरी। राज्य का कानून सब जगह् लागू था। सारे शाम में 'दात श शर्री' (राजा के क़ानून के अनुसार) की कहावत

चालू थी। हर सौदागर अपनी अलग से गारण्टी देने के बजाय क़ानूनी फर्ज पूरा करने का जिम्मेदार था। दारयवहुश ने नक्शेरुस्तम के अभिलेख में लिखा है कि जो कानून वह बनाता सब लोग उसे मानते थे (दाते त्य मना अवदिश् अदारिय्) । इस कानूनी एकरूपता को बनाये रखने के लिए एक सुनियोजित न्याय-व्यवस्था थी। सरकारी न्यायाधीश (दातबर) लोगों के मुक़दमों का फैसला करते, उनकी अपीलें सात न्यायविदों के उच्च न्यायालय में सुनी जातीं और उनकी तजवीजें सम्राट् के सामने पेश होती थीं। पराजित लोगों को अपना-अपना क़ानून मानने की आज़ादी थी। दावा पेश करते वक्त वादी को क़सम खाकर उसकी तसदीक़ करनी पड़ती थी। ज़मानत का क़ायदा था। सज़ाएँ सख्त थीं, लेकिन क़ानूनी जाब्ते का पूरा पालन होता था और रिश्वत को रोकने की पूरी कोशिश की जाती थी।

सुध्द से परे के शक देश से लगाकर अफ्रीका में हब्श तक और सिन्धु घाटी से लगाकर स्पर्दा तक के महान् साम्राज्य को एक सुव्यवस्थित शासन के सूत्र में बाँधने के लिए यातायात के साधनों और सड़कों पर बहुत ध्यान दिया गया था। साम्राज्य की राजधानी सूशा से शुरू होकर राजपथ आरबेला के तले दजला नदी को पार करता हुआ हर्रान के पास से गुजर कर स्पर्दा (सार्दिस) पर खत्म होता था। वहाँ से इसकी एक शाखा एफेसस तक पहुँचती थी। इसकी १६७७ मील की दूरी १११ पड़ावों में बँटी हुई थी। हर पड़ाव पर कारवाँसराय, सैनिक चौकी, डाक का दफ्तर, घुड़साल और दुकानें थीं। हर परसंग (३.४ मील) पर मील का पत्थर लगा था। डाक ले जाने वाले घोड़े हर पड़ाव पर बदले जाते थे जिससे सूशा से स्पर्दा तक एक हफ्ते से कम में ही खत-पत्तर पहुँच जाते थे। साधारण मुसाफिरों और व्यापारियों को एक सिरे से दूसरे तक पहुँचने में ९० दिन लगते थे। रास्ते में उनकी कड़ी तलाशी होती थीं। बीच-बीच में झण्डी और रोशनी के जरिए तार का काम भी किया जाता था। इस राजपथ के अलावा और भी बहुत सी सड़कें सूशा में मिलती थीं । सड़कों के मुलायम भागों को पक्का किया जाता था। गाड़ियों के लिए अलग खाँचे छुटे थे। लद्दू जानवरों के सुमों में ताँबे, चमड़े या घोड़े के बाल की तरनाल लगायी जाती थी, हालाँकि घोड़ों की लोहे की नालबन्दी का रिवाज नहीं चला था। खुश्की के रास्तों के अलावा हखामनीशी सम्राटों ने समुद्री मार्गों के विकास की ओर भी काफी ध्यान दिया। सिन्धु और काबुल के संगम के पास स्काइलक्स नाम के यूनानी के नेतृत्व में एक बेड़ा तैयार कराकर उसे मिस्र तक का समुद्री मार्ग खोजने के लिए भेजा गया। लाल सागर को नील नदी से जोड़ने के लिए एक नहर की योजना बनायी गयी। सतस्प नामक ईरानी ने जिब्राल्टर से परे तक की यात्रा की। यूनानी, फिनीशी और अरब नाविकों के जहाज ६०

से ८० समुद्री मील प्रतिदिन की रफ्तार से चलते और २०० से ५०० टन तक वजन के होते थे।

हखामनीशी साम्राज्य में तीन प्रकार के लोग रहते थे : (१) फारसी जो कर-मुक्त थे, (२) मातहत लोग जिनसे खराज लिया जाता था और (३) रियाया जिन्हें हर साल कर देना पड़ता था। कर 'तेलेन्त' के रूप में लिया जाता था। एक 'तेलेन्त' तीन हजार सोने के सिक्कों के बराबर होता था। एक सोने का सिक्का 'देरिक' (प्राचीन ईरानी 'दरी' सोना) पाँच डालर या, अवमूल्यन के बाद, ३७½ रुपये की कीमत का था। इसे जारी करने का अधिकार सिर्फ सम्राट् को था। चाँदी के सिक्के 'शेकेल' कहलाते थे। चाँदी और सोने की दरों का अनुपात १३⅓ : १ था। चाँदी और ताँबे के सिक्के क्षत्रप भी चला सकते थे।

हखामनीशी राज्य के प्रशासन, शान्ति और सुरक्षा से, विशेषतः यातायात के साधनों की उन्नति और नाप-तौल और सिक्कों की एकरूपता से आर्थिक विकास को बड़ा बढ़ावा मिला। शहरों में नये उद्योग उठने लगे। कपड़े, लबादे, पाजामे, जूते, फर्नीचर, सोने, चाँदी और काँसे के बरतन, जेवर और तेल-फुलेल का सामान बहुत कसरत से बनने और बिकने लगा। माँग बढ़ने से कीमतें भी बढ़ीं और सूद-बट्टे का धन्धा भी चमका। बाबुल में सातवीं सदी से एजीबी के वंशजों का बैंक चालू हुआ। इसकी बहुत सी शाखाएँ थीं। यह गिरवी-गाँठी, हुण्डी-पर्चे, सूद-बट्टे का काम करता और जमीन-जायदाद, पशु, दास और जहाजों में रुपया लगाता था। इसके पास लोग अपना-अपना धन जमा कराते और चैक काटकर उसका भुगतान लेते थे। ऐसा ही एक और प्रसिद्ध बैंक नीपूर में मुरश्शु और उसके पुत्रों का था। ४५५-४०३ ई० पू० से इसके कारोबार की दस्तावेज़ें मिलने लगती हैं जिनसे ज़ाहिर होता है कि यह ज़मीन के पट्टे-ठेके में ज्यादा दिलचस्पी रखता था। इसके पास मछली की तिजारत का एकाधिकार था। यह अपना रुपया नहरें खोदने, नालियाँ बनाने और खेती-बारी के लिए पानी देने के कामों में लगाता था। राज्य की ओर से खेत, क्यार, खान, कारखानों आदि पर कर लगा था। व्यापार पर चुंगी थी। कारीगरों और मज़दूरों का वेतन निश्चित था। बच्चे, औरत और आदमी की मजदूरी की दरें अलग-अलग थीं। वेतनों के साथ-साथ वस्तुओं के भाव भी नियत थे।

ईरानियों का शुरू से ही खेती पेशा था। कुछ भूमि पर राज्य का अधिकार था और कुछ लोगों की निजी सम्पत्ति थी। जमींदारों के बड़े-बड़े फार्म थे जिनपर कमेरे या दास काम करते थे। जमींदारों के लिए अपनी जमीनों पर रहना जरूरी नहीं था। मिस्र से प्राप्त अरामी लेखों से पता चलता है कि वहाँ अशमि नाम के ईरानी की बड़ी-बड़ी जाय-

दादें थीं लेकिन वह खुद ज्यादातर सूशा या बाबुल में रहता था। कुछ कर्मचारियों और सैनिकों को भी राज्य की ओर से जमीनें मिली थीं। इन्हें 'बग' कहते थे। अबकदी वृत्तों में इस प्रकार के पट्टों को इल्कू या कश्तू कहा गया है। छोटे काश्तकारों की अपनी जमीनें थीं। कुछ लोग मजदूरी पर भी काम करते थे; दास तो थे ही।

दारयवहुश ने भूमि का नया बन्दोबस्त कराया। इससे पहले यह कायदा था कि फसल बोने और काटने से पहले ही लगान का तखमीना कर दिया जाता था। इससे किसानों को बड़ी दिक्कत होती थी। इसे दूर करने के लिए उसने हर प्रान्त में पिछले सालों की उपज के औसत से जमीनों का सालाना लगान कायम कर दिया, जिसे 'बाजी' कहते थे। साथ ही उसने सिंचाई के साधनों पर काफी ध्यान दिया, नये पेड़-पौधे लगवाने के काम में बड़ी दिलचस्पी ली और जंगलों का विकास किया।

फारसी बड़े ताकतवर और खूबसूरत आदमी थे। वे सिर पर पगड़ी और बदन में कमीज, पायजामा और लम्बी आस्तीनों का दोहरा चोगा पहनते थे जिसे पेटी से बाँधा जाता था। पैरों में जूते या चप्पल पहनने का रिवाज था। आदमी दाढ़ी रखते और बालों में छल्ले डालते थे। तेल-फुलेल का बड़ा रिवाज था। चेहरे का रंग साफ करने के लिए क्रीम लगायी जाती थी। आँखों की चमक बढ़ाने के लिए ढेलों को रंगा जाता था। अमीर लोग माँग-पट्टी और पालिश-मालिश के लिए खास नौकर रखते थे। शराब पीने का बहुत रिवाज था। स्त्राबो ने लिखा है कि ईरानी शराब पीते-पीते ही महत्त्वपूर्ण निर्णय किया करते थे। शकों और मशकों की देखा-देखी ऐसे उत्सव चल पड़े थे जिनमें स्त्री और पुरुष मिलजुल कर शराब पीते और मजे उड़ाते थे। बाद में पंजाब में भी इनका रिवाज हो गया था। जुए और शिकार का भी लोगों को खास शौक था।

आम ईरानी खुशदिल और मेहमाननवाज़ थे। एक दूसरे से मिलने पर वे आ-लिंगन करते और मुँह चूमते थे। सफाई पर बड़ा जोर दिया जाता था और सड़क पर खाना-पीना, थूकना और सिनकना बुरा समझा जाता था। त्यौहारों पर लोग सफेद कपड़े पहन कर निकलते थे। गृहस्थ जीवन उत्तम माना जाता था। माँ-बाप बेटा-बेटी की शादी तय करते थे। भाई-बहिन, पिता-पुत्री और माता-पुत्र के भी विवाह सम्बन्ध हो जाते थे। अमीर लोग बहुत सी रखेल स्त्रियाँ रखते थे। जिस आदमी के कई लड़के होते उसे राज्य की ओर से इनाम मिलता था। गर्भपात के लिए मौत की सजा दी जाती थी। बड़े घरों में पर्दा था।

सात वर्ष की आयु में बच्चे की शिक्षा शुरू होती थी। ऊँची शिक्षा बीस से चौबीस वर्ष तक चलती थी। उच्च विद्यालयों की दिनचर्या सख्त थी। विद्यार्थियों के

लिए जल्दी उठ कर बहुत दूर दौड़ लगाना, बदमाश घोड़ों की सवारी करना, तैरना, शिकार खेलना, चोर-उच्चकों का पीछा करना, खेत में काम करना, फसल बोना, पेड़ लगाना, गर्मी और सर्दी में लम्बे मार्च करना और रूखा-सूखा खा कर रहना लाजमी था। अवेस्ता और टीका पाठ्यक्रम का प्रमुख अंग था। आयुर्वेद और कानून भी पढ़ाया जाता था और घुड़सवारी और तीरन्दाज़ी पर काफी जोर दिया जाता था। यद्यपि ईरानी स्वयं विज्ञान में दक्ष नहीं थे उन्होंने बाबुली और यूनानी वैज्ञानिकों को काफी प्रोत्साहन दिया जिससे गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद की बड़ी तरक्की हुई।

हखामनीशी अहुर्मज़्दा के नाम से एक ईश्वर की उपासना करते थे। वे समझते थे कि साम्राज्य की एकता को दृढ़ करने के लिए एक ईश्वर की उपासना जरूरी है। इसलिए उनके अभिलेखों में अहुर्मज़्दा के अलावा और किसी देवता का जिक्र नहीं आता। इस अहुर्मज़्दा के धर्म के पीछे एक राष्ट्रीयता की भावना थी। किन्तु यद्यपि राज-परिवार अहुर्मज़्दा की ही पूजा करता था, साधारण जनता, सूर्य (मिथ्र), चन्द्रमा (माह), पृथ्वी (जाम या अनाहिता), अग्नि (आतर), जल (अपाम् नपात्) आदि देवताओं को भी पूजती थी। बाद में अहुर्मज़्दा की पूजा के साथ मिथ्र और अनाहिता की उपासना भी शामिल हो गयी थी।

हखामनीशी युग में मन्दिरों में मूर्तियाँ नहीं होती थीं। उस वक्त का मन्दिर एक चौकोर इमारत होती थी जिसमें एक ही कमरा बना था। इसमें मग अग्नि रखते थे। इस तक पहुँचने के लिए सीढ़ी बनी थी। उनसे थोड़ी दूर पर वेदियाँ होती थीं जहाँ यज्ञ-याग किये जाते थे। पशुबलि का रिवाज था। सोमपान प्रचलित था। मग पुरोहित का काम करते थे। वे अच्छे-बुरे के द्वन्द्व में विश्वास करते और मुर्दों को पशु-पक्षियों के खाने के लिए फेंकते थे। किन्तु हखामनीशी सम्राटों के अभिलेखों में इन दोनों बातों का कोई खास संकेत नहीं मिलता।

हखामनीशी साम्राज्य ने पश्चिमी एशिया के विशाल भूखण्ड को एकता के सूत्र में बाँधा। विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के लोग एक धरातल पर आ गये। जातीय सम्पर्क से विचारों का जबरदस्त आदान-प्रदान और संस्कृतियों का महान् मेल-मिलाप हुआ। खास तौर से भारत और यूनान एक दूसरे के निकट आये। ५०० ई० के करीब मिलेतस के निवासी हेकातस ने भारतीय भूगोल पर लेख लिखे और क्नीदस के निवासी कतेसियस ने भारत पर एक पूरा ग्रन्थ लिखा। हेरोदोतस ने लिखा है कि एक बार दारयवहुश ने यूनानी और हिन्दुस्तान के कलतै लोगों की मुठभेड़ करायी। अरिस्तोक्सेनस के मतानुसार एथेन्स में एक हिन्दुस्तानी सुकरात से बात किया करता था। स्त्री-रोग सम्बन्धी ग्रन्थ में हिन्दुस्तान की बड़ी पीपल के योग से बनी हुई दवाइयों का जिक्र है।

अफ्लातू के 'तिमेयस' में वात, पित्त और कफ के भारतीय सिद्धान्त की काफी चर्चा है। उसका पुनर्जन्म का सिद्धान्त तो एकदम भारतीय है।

हखामनीशी युग में प्राचीन ईरानी भाषा मँज गयी थी। इस युग के अभिलेखों में सरलता, स्पष्टता, गरिमा और प्रवाह है। उस जमाने के अवेस्ता का रूप अब नहीं मिलता लेकिन कुछ लोगों का ख्याल है कि 'मिथ्र यश्त' उस युग की रचना है। उस युग में अरामी भाषा और लिपि का भी काफी विकास और प्रसार हुआ और यह मिस्र से हिन्द तक व्यापार-व्यवहार का माध्यम बन गयी।

हखामनीशी युग में नगर-निर्माण, स्थापत्य, शिल्प और चित्रकला की काफी उन्नति हुई। कुरुश का बसाया हुआ पर्सगद नाम का नगर एक विशाल सैनिक शिविर के नमूने पर था। इसकी चहारदीवारी के भीतर बाग-बगीचे, मन्दिर-महल आदि थे। सरकारी बाग के दरवाजे पर दो परदार बैल बने थे। खम्भों के ऊपर घोड़े, बैल, शेर और सींग वाले शेर की शक्ल के महराबों के दासे टिके थे। वहाँ की कला अनेक तत्त्वों का मुरक्कब है। इसमें असुरी शैली के परदार बैल, बाबुली नमूने की रंगामेज़ी और मिस्री प्रतीक शामिल हैं लेकिन सब को एक ऊँचे दर्जे की राष्ट्रीय शैली में पिरोया गया है।

दारयवहुश ने सूशा और पर्सिपोलिस में नये शहर बसाये और इमारतें बनवायीं। सूशा का राजमहल साम्राज्य की विशालता और विविधता का प्रतीक था। इसके स्थापत्य पर गहरा बाबुली प्रभाव था। इसका सभा-मण्डप (अपदान) छः-छः खम्भों की छः कतारों पर टिका था। इनकी ऊँचाई २० मीटर थी और उनके शीर्षों को बैलों के अगले धड़ों का रूप दिया गया था। मण्डप के उत्तर, पूर्व और पश्चिम में बारह-बारह खम्भों की तीन-तीन पंक्तियाँ थीं जिनपर सभा-भवन टिका था। ये खम्भे मण्डप के खम्भों से भिन्न शैली के थे।

पर्सिपोलिस का राजमहल सूशा के महल से भिन्न शैली का था। यह नोर्दिक ढंग की इमारत थी। क्ष्यार्श ने वहाँ 'सब जातियों' का महल बनवाया जिसमें 'सौ खम्भों का दरबार' था। इसकी दीवारों के खाँचों में उसने अपने आपको देवों और राक्षसों से युद्ध करते हुए अंकित कराया।

ईरानी कला में पशुओं की बड़ी सुन्दर आकृतियाँ मिलती हैं। तीन शेरों की आकृति का एक प्याले का स्टैण्ड विशेष रूप से आकर्षक है। काल्पनिक जानवरों की शक्ल के कलशों के दस्ते बड़े रोचक हैं। कुछ कलशों के दस्ते हंस या बत्तख के आकार के हैं जिन पर शक कला का प्रभाव स्पष्ट है।

इस कला पर राजकीय शक्ति और गौरव की स्पष्ट छाप है। अलौकिक और अजनबी पशुओं की आकृतियाँ साम्राज्य की रहस्यमयी शक्ति की प्रतीक हैं।

## पश्चिमी एशिया का हेलेनी युग

दारयवहुश और क्ष्यार्श के यूनान को जीतने के विफल प्रयत्नों की प्रतिक्रिया के रूप में मकदूनिया के शासक फिलिप और उसके पुत्र सिकन्दर ने ईरान को जीतने की ठानी। ३३४ ई० पू० में वह इक्कीस वर्ष का नवयुवक तीस हजार पैदल और पाँच हजार घुड़सवार लेकर दर्रेदानियाल के पास हखामनीशों से भिड़ गया। तीन युद्धों में ईरानी सम्राट् को मुँह की खानी पड़ी और सिकन्दर महान् हखामनीशी साम्राज्य का स्वामी बन गया। इसके बाद उसने पंजाब पर धावा बोल दिया, जहाँ मालवों से युद्ध करते हुए उसकी छाती में गहरा घाव लगा। उस वक्त तो उसकी जान बच गयी लेकिन उसे कमजोरी बेहद आयी और ३२३ ई० पू० में, बाबुल में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी। सिकन्दर ने ईरानी राजवंश में विवाह किया और अपने ८० सेनापतियों और १०,००० सैनिकों को ईरानी स्त्रियों से शादी करने पर मजबूर किया। इससे यूनानी-ईरानी सांस्कृतिक समन्वय को बल मिला।

सिकन्दर के आँख मींचते ही उसका साम्राज्य काफूर हो गया। उसके सेनापतियों ने बन्दर-बाँट शुरू कर दी। सेल्यूकस ने बाबुल और पश्चिमी एशिया में अपने पैर जमाये और अपने, अपने पिता, माता और पत्नी के नाम पर लगभग ६० शहर आबाद किये। सेल्यूकस के उत्तराधिकारी ज्यादा काबिल नहीं निकले, लेकिन उन्होंने ६५ ई० पू० तक पश्चिमी एशिया पर अपना आधिपत्य बनाये रखा। इसके बाद वहाँ रोमन राज्य कायम हो गया।

सेल्यूकी साम्राज्य ईरान की क्षत्रप-पद्धति पर व्यवस्थित था। किन्तु सेल्यूकी सम्राटों ने केन्द्रीय नियन्त्रण दृढ़ करने के लिए प्रान्तों के विभाग-उपविभाग कर दिये थे। इन्हें 'सत्रपी', 'इपार्की' और 'हिपार्की' कहते थे। 'हिपार्की' (जिला) 'स्तथमोइ' (क़िलाबन्द क़स्बे) नामक टुकड़ों में बँटी थी। हर 'स्तथमोस' के साथ गाँव लगे थे। 'सत्रपी' में 'सत्रप' दीवानी शासन सम्भालता और 'स्त्रेतेगोस' सैनिक मामलों की देख-भाल करता, किन्तु व्यवहार में, खासतौर से सीमावर्ती इलाकों में, एक ही व्यक्ति ये दोनों काम करता था। उनके नीचे 'इपार्क' होते थे, जिन्हें 'मेरिदर्क' भी कहते थे। फिर 'हिपार्क' और क्रमशः और कर्मचारी रहे होंगे जिनके बारे में साफ तौर से पता नहीं चलता।

सेल्यूकी सम्राटों ने अपने राज्य को व्यवस्थित करने के लिए यूनानियों के उपनिवेश कायम करने की सिकन्दर की नीति को अपनाया। इन उपनिवेशों में अवकाशप्राप्त सैनिकों और रंगरूटों को बसाया जाता था। इनके साथ इनकी जरूरतें पूरा करने के लिए देहात लगा होता था। हर उपनिवेशी को इसमें जमीन दी जाती थी जिसे 'क्लेरोस' कहते

थे। इसके बदले उसे जरूरत पड़ने पर फौज में काम करना पड़ता था। कुछ उपनिवेशों में, जैसा कि दूरा योरोपोस से प्राप्त लेखों से पता चलता है, बहुत से 'क्लेरोस' मिलाकर एक बड़ी इकाई में नत्थी कर दिये जाते थे, जिसका नाम 'हेकास' था। इसकी खेती सामूहिक रूप से कमेरों और दासों के जरिए होती थी।

सैनिक उपनिवेश को 'कोइनोन' कहते थे। इसकी चहारदीवारी होती थी, सड़कें और मोहल्ले सुनियोजित थे और प्रबन्ध के लिए निवासी अपने में से दण्डनायक चुनते थे। लेकिन यह नगर (पोलिस) से भिन्न था। नगर (पोलिस) प्रशासकीय और सांस्कृतिक इकाई था। यूनानी इसे केवल सार्वजनिक सुख-सुविधा का साधन ही नहीं समझते थे, वरन् देवता के रूप में इसकी पूजा करते थे। एसकाइलस के नाटकों में एथेन्स की देवी एथेने द्वारा अपनी माता की हत्या के अपराध के कारण एरिनाइस के सताये हुए ओरेस्तेस की मुक्ति की कथा में नगर-व्यवस्था द्वारा परिवार-पद्धति के अतिक्रमण की प्रक्रिया सन्निहित है। इससे यूनानी धर्म को नया स्वरूप मिला क्योंकि पुराने देवी-देवता नगर-देवताओं में घुलमिल गये। लेकिन साथ ही समष्टि का व्यष्टि पर पूर्ण आधिपत्य हो गया और समाज ने व्यक्ति को निगल लिया। अतः मनुष्य की आत्मा अपनी स्वतन्त्रता के लिए तड़प उठी, जैसा कि सोफोक्लीस की नायिका 'एन्तीगोन' के चरित्र और सुकरात के बलिदान से स्पष्ट है।

नगर (पोलिस) के यूनानी नागरिक 'नगर सभा' के सदस्य होते थे। इसके अलावा इससे छोटी उनकी एक परिषद् होती थी। परिषद् नगर के प्रबन्धकों और दण्ड-नायकों को नामजद करती और सभा उन्हें चुनती थी। इन प्रबन्धकों का काम व्यायाम-शाला, क्रीड़ास्थली और प्रेक्षागृह का निर्माण और प्रबन्ध आदि करना, नगरदेवता और अन्य देवताओं के मन्दिरों की सेवा-पूजा की व्यवस्था करना और नगर की सुरक्षा, सफाई, न्याय आदि करना था।

नगर में यूनानी जनता के अलावा देशी लोग भी रहते थे। वे जाति और देश के अनुसार अर्ध-स्वतन्त्र निगमों (कतोकिया) में व्यवस्थित थे, लेकिन उन्हें नगर-प्रबन्धकों के चुनाव में भाग लेने का हक़ न था। नगर में राज्य की ओर से 'एपिस्तेतस' नामक राज्यपाल भी रहता था। उसका मुख्य कार्य नगर की विविध जातियों में व्य-वस्था बनाये रखना था। साथ ही वह नगर और केन्द्रीय राज्य के सम्बन्ध की कड़ी का काम देता था, पर, जहाँ तक हो पाता, वह नगर के मामलों में बहुत कम दख़ल देता था।

हेलेनी नगरों की सुख-समृद्धि—खेलकूद, उत्सव-नाटक, राग-रंग—केवल वहाँ के निवासियों के लिए सीमित थी। स्त्रियों और किसानों को हेय समझा जाता था। किसानों की हालत गुलामों से भी ज्यादा ख़राब थी। हेलेनी जमींदारों का बोझ ईरानी सामन्तों

और पुरोहितों से कहीं ज्यादा था। सिद्धान्त रूप से सारी भूमि सम्राट् की सम्पत्ति मानी जाती थी। सेल्यूकी सम्राट् हखामनीशी राजाओं से एक कदम और आगे निकल कर अपने को देवता कहने लगे थे, उसका प्रभुत्व सर्वोपरि था। धर्म और दीन सब उसके अधीन थे। वह अपनी इच्छा से जमीन बाँटता था। किसी के वारिस न होने पर जमीन उसके पास वापस हो जाती थी।

नगरों के साथ देहाती इलाका लगा होता था जिसमें नागरिकों की जमीनें थीं, जिन्हें उनकी ओर से किसान, कमेरे और दास जोतते थे। ये किसान आदि जमीन से बँधे थे और उसके साथ ही उनकी बदली होती थी। सेल्यूकी सम्राटों ने किसानों की हालत कुछ सुधारने की कोशिश की, उनके लिए अलग दण्डनायक और न्यायाधीश नियुक्त किये, उन्हें पैतृक अधिवासी के हक़ देने की व्यवस्था भी की, लेकिन उनकी दशा में कोई खास सुधार न हो सका।

हेलेनी युग में नगरों को एक दूसरे से जोड़ने के लिए सड़कों और राजमार्गों का विस्तृत जाल बिछाया गया। इन पर चलने वाले मुसाफिरों को सड़कों के नक्शे और निर्देशिकाएँ दी जाती थीं और उनके ठहरने का अच्छा इन्तजाम था। चोर-उचक्कों से बचाव के लिए जहाँ-तहाँ फौजी दस्ते तैनात थे। जब से त्राजन (९८-११७ ई०) ने नील नदी को लाल सागर से जोड़ने वाली नहर का उद्धार कराया तब से व्यापार की बढ़ोत्तरी के कारण इन सड़कों की रौनक और भी बढ़ गयी।

शामी व्यापार भूमि की उपज और उद्योगों की निकासी पर निर्भर था। भारत के जंगी हाथी, खनिज पदार्थ, कीमती पत्थर, काली मिर्च और अन्य मसाले, चीन का रेशम, मिस्र का नमक, पेपिरस (लिखने के लिए छाल), क्षौम और सूती वस्त्र, काँच का सामान और शराबें बड़ी मात्रा में बिकती थीं। शामी, लेबनानी, फिलस्तीनी और ईराकी व्यापारी मालामाल हो गये और गॉल और स्पेन तक फैल गये।

यूनानी धर्म बर्बर नेताओं की आकृति-प्रकृति वाले ओलिम्पिक देवी-देवताओं की पूजा पर निर्भर था। बाद में नगर-राज्यों के उत्कर्ष से नगर-देवताओं का माहात्म्य बढ़ गया। एशिया में आने पर यूनानियों ने वहाँ के धर्मों की बहुत सी बातें ग्रहण कीं और वहाँ के देवी-देवताओं को अपने देवी-देवताओं से मिलाना शुरू कर दिया।

यूनानी संस्कृति का विशिष्ट लक्षण मानववाद है। पाँचवीं सदी ई० पू० में अबदेरा के निवासी प्रोतेगोरस ने कहा था, "मनुष्य सब पदार्थों का मानदण्ड है"। ट्वायनबी का मत है कि हेलेनी संस्कृति के मानववाद के प्रभाव से बौद्ध धर्म ने महायान का रूप धारण किया और यहूदी धर्म ईसाइयत में परिणत हुआ। यद्यपि इस धार्मिक विकास में हेलेनी संस्कृति के अतिरिक्त और भी अनेक तत्त्व क्रियाशील थे, तथापि इसकी देन

से इन्कार नहीं किया जा सकता।

एशियाई प्रभाव के कारण हेलेनी जगत् में स्तोइक दर्शन को प्रोत्साहन मिला। पार्थव विजय के काल में दायोजेनेस के शिष्य आर्केदेमस ने सेलूकिया में एक स्तोइक सम्प्रदाय जारी किया जिसकी परम्परा बहुत समय तक चली। प्राच्य प्रभाव के कारण नव-अफ्लातूनी दर्शन को भी नया मोड़ मिला।

हेलेनी युग का दार्शनिक और सामाजिक चिन्तन आदर्श नगर (यूतोपिया) की कल्पनाओं से सम्बन्धित था। अतः उस युग में अनेक यूतोपिया लिखे गये जिनमें सामाजिक एकता और समानता का भाव व्यक्त किया गया। मकदूनिया के राजा कसन्दर के सभासद यूहेमेरस ने हिन्द महासागर के काल्पनिक द्वीप 'पंचाइया' का वर्णन किया जहाँ मकान और बगीचे तो वैयक्तिक थे किन्तु बाकी सब चीज़ें सार्वजनिक उपभोग के लिए थीं। किसान सिपाहियों और पुरोहितों का पोषण करते, किन्तु कोई भी अप्रसन्न न था और न किसी को ज़्यादा काम करना पड़ता था। इयाम्बूलस ने भी ऐसे ही एक द्वीप की चर्चा की जहाँ सूर्यनगर के निवासी रहते थे। उनके बीबी-बच्चे सामूहिक थे। किसी को कोई काम नहीं करना पड़ता था। 'मिलिन्दपन्हो' नामक बौद्ध ग्रन्थ के दूसरे भाग में धार्मिक और बुद्धिमान लोगों के जिस आदर्शनगर की कल्पना की गयी है उस पर भी यूनानी यूतोपिया-साहित्य की छाप नज़र आती है। वास्तव में यह साहित्य और दर्शन तात्कालिक सामाजिक विषमताओं की प्रतिक्रिया का परिणाम है।

यूनानियों ने बाबुल पहुँच कर ज्योतिष का अध्ययन किया। दूरा योरोपोस की खुदाई से बहुत सी जन्मपत्रियाँ निकली हैं जिनसे पता चलता है कि यूनानियों को ज्योतिर्विद्या से गहरी दिलचस्पी थी। अनेक यूनानी इस विद्या को सीखने के लिए यूनान से बाबुल आते थे। इनमें से बहुत से खल्दी कहलाये। दूसरी सदी में इरीथ्रियन सागर के तटवर्ती सेलूकिया के निवासी सेल्यूकस ने हिप्पार्कस के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए सामोस के अरिस्तार्कस् के इस वाद का समर्थन किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, हालाँकि समुचित गणित का ज्ञान न होने से वह यह न मालूम कर सका कि पृथ्वी का घेरा दीर्घवृत्त नहीं बल्कि गोल है। उसने फारस की खाड़ी के ज्वारभाटे का अन्वेषण कर यह पता लगाया कि यह चन्द्रमा के प्रभाव के कारण है। अपनी खोज के सम्बन्ध में वह आकर्षण शक्ति के सिद्धान्त के निकट तक पहुँच गया। यूनानी माध्यम से बाबुली ज्योतिष भारत आयी। वराहमिहिर ने 'बृहत्संहिता' (२/१५) में ज्योतिष के ज्ञान के कारण यवनों को म्लेच्छ होते हुए भी ऋषियों के समान पूज्य बताया है।

ज्योतिष के अतिरिक्त आयुर्वेद और यन्त्रशास्त्र में भी यूनानियों की बड़ी ख्याति

थी। 'महाभारत' में यवनों को सर्वज्ञ बताया गया है और एक पुरानी कथा में बक्त्र और तक्षशिला के यवन वैद्यों द्वारा अन्धों को नेत्रज्योति दिये जाने की चर्चा है। कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि यवन मिस्त्री हवाई जहाज बना सकते थे।

रोमनकाल में बेरुत ज्ञान-विज्ञान, विशेषतः कानून के अध्ययन, का केन्द्र बन गया। सेप्तीमियस सेवेरस (१९३–२११ ई०) द्वारा संस्थापित वहाँ के विश्वविद्यालय ने पेपीनियन और उलापियन नामक प्रसिद्ध न्यायशास्त्रियों को जन्म दिया। इनकी कृतियाँ जस्तीनियन की संहिताओं में सुरक्षित हैं। परगामुम में अत्तलुस (२४१–१९७ ई० पू०) के पुत्र युमिनस (१९७–१५९ ई० पू०) ने एक विशाल पुस्तकालय स्थापित किया जिसमें २,००,००० पत्रावलियाँ सुरक्षित थीं। इससे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई।

यूनानी साहित्य-प्रेमी थे। अतः हेलेनी युग में काफी साहित्य लिखा गया। कविता के अतिरिक्त इतिहास-लेखन की काफी उन्नति हुई। टार्न का विचार है कि सिकन्दर के काल से राजा और साधु के वार्तालाप लिखने की शैली चली। मीनान्दर के राज्यकाल में इसके नमूने पर उसकी और नागसेन की प्रश्नोत्तरी लिखी गयी। इसके आधार पर बाद में 'मिलिन्दपन्हो' नाम का पालि ग्रन्थ लिखा गया। यह यूनानी ग्रन्थ बाद में सिकन्द्रिया पहुँचा और वहाँ इसके अनुकरण पर 'स्यूदो-अरिस्तेअस' नाम का ग्रन्थ तैयार हुआ, जिसमें तोलेमी द्वितीय और उसके चार मन्त्रियों की चर्चाएँ हैं।

जहाँ कहीं यूनानी गये, अपने नाटक और प्रेक्षागृह जरूर साथ ले गये। बाबुल की खुदाई में प्रेक्षागृह के अवशेष मिले हैं। प्लूतार्क ने लिखा है कि सूशा में यूरीपीदीस और सोफोक्लीस के नाटक खेले जाते थे। भारत में भी सोफोक्लीस के नाटकों का रिवाज मालूम होता है। पेशावर के निकट एक गुलदान का खण्ड मिला है जिस पर सोफोक्लीस के नाटक का वह दृश्य अंकित है जिसमें हेमोन, क्रियोन से एन्तीगोन के जीवन की भीख माँगता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि भारतीय नाटक यूनानी नाटकों के अनुकरण हैं किन्तु संस्कृत नाटकों की शैली और पद्धति यूनानी नाटकों से इतनी भिन्न है कि एक के दूसरे पर प्रभाव को सिद्ध करना कठिन है। इतना जरूर मालूम होता है कि भारतीय नाटक पहले नट और कुशीलव आदि शूद्र जातियों की जीविका के विषय थे, ऊँची जातियों के लोग इन्हें खेलना निषिद्ध समझते थे पर यूनानी प्रेरणा से ये साहित्य का अभिन्न अंग बन गये और बड़े-बड़े साहित्यिक इनके लिखने और खेलने में भाग लेने लगे।

यूनानी शहर वर्गाकार अथवा आयताकार होता था। इसके बीचोबीच दो सड़कें पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण को जाती थीं। शहर के केन्द्र में ये एक दूसरे

को काटती थीं जिससे उस चौराहे पर खड़ा हुआ आदमी चारों दिशाओं में उनके किनारे पर बने प्रवेशद्वारों को देख सके। इसमें यूनानी ढंग के प्रेक्षागृह, मन्दिर, राजभवन, मूर्तियाँ आदि आकर्षण के केन्द्र थे। पेत्रा, पलमीरा, हेलियोपोलिस के विशाल मन्दिरों की स्तम्भावलि आज तक पर्यटकों के मन को लुभाती है। परगामुम में अत्तलुस के पुत्र युमनिस का बनवाया हुआ ज़ियस का मन्दिर और मरणासन्न गॉल की पाषाण-प्रतिमा, जो शारीरिक आकृति के चित्रण और मनोभावों के दिग्दर्शन की दृष्टि से अप्रतिम है, हेलेनी कला के सुन्दर नमूने हैं। इस कला के प्रभाव से पहली सदी ई० पू० के करीब गान्धार कला का जन्म हुआ जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

## भारत का नन्द-मौर्य युग

छठी सदी ई० पू० में गंगा की घाटी में खेती-बारी और उद्योग-धन्धों का काफी विकास हुआ जिससे आर्थिक और सामाजिक जीवन को नया मोड़ मिला। छोटे-मोटे दल-कबीले सोलह महाजनपदों में संगठित हो गये जिनमें कुछ गणतन्त्रीय पद्धति पर चले और कुछ में एकतन्त्रीय शासन का विकास हुआ। लेकिन आर्थिक विकास की गति ने इस राजनीतिक ढाँचे को पीछे धकेल कर साम्राज्यशाही एकता का रास्ता साफ कर दिया। बिम्बिसार के अंग-विजय से अशोक के कलिंग-विजय तक राजनीतिक एकीकरण का क्रम बराबर चलता रहा। ५१८ ई० पू० के करीब दारयवहुश द्वारा गन्धार और सिन्ध को हखामनीशी राज्य में मिलाये जाने और ३२६-२५ ई० पू० में सिकन्दर के पंजाब पर हमले से इस प्रक्रिया को नयी प्रेरणा मिली। उधर पूर्वी भारत में दण्डनीति और अर्थशास्त्र की नयी विद्या के विकास ने इसे तेज किया। कोसल के राजा पसेनदी (प्रसेनजित्) के मन्त्री दीर्घ चारायण और मगध के राजा अजातसत्तु (अजातशत्रु) के मन्त्री वर्षकार ने अर्थविद्या, राजनीति और शासन-विधि को धर्मशास्त्र से अलग करने के कार्य को बढ़ावा दिया। इस वातावरण में इस विद्या के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त सामने आये और उनसे सम्बन्ध रखने वाले सम्प्रदाय विकसित हुए। औशनस् सम्प्रदाय केवल दण्डनीति के ही अध्ययन के पक्ष में था और बीस अमात्यों की मन्त्रि-परिषद् और कठोर दण्ड-विधान में विश्वास रखता था। बार्हस्पत्य सम्प्रदाय दण्डनीति के साथ-साथ वार्त्ता (अर्थशास्त्र) के अध्ययन पर भी जोर देता था, सोलह अमात्यों की मन्त्रि-परिषद् का समर्थक था और दण्ड देने में मध्यम मार्ग का हामी था। मानव सम्प्रदाय दण्डनीति और वार्त्ता के साथ त्रयी (वेद) के अध्ययन का अनुमोदन करता था, बारह अमात्यों की मन्त्रि-परिषद् को बेहतर समझता था और मुलायम दण्ड-विधान का मानने वाला था। कौटिल्य अन्य विद्याओं के साथ आन्वीक्षिकी (सांख्य, योग, लोकायत) के अध्ययन को भी जरूरी समझते थे और मन्त्रि-

परिषद् या दण्ड-विधान के विषय में 'जैसा मौका देखो वैसा करो' की नीति को अच्छा समझते थे। भारद्वाज नीति और धर्म को ढकोसला मान कर काम और क्रोध को श्रेष्ठ गुण समझते थे और चतुर मन्त्री को यह सलाह देते थे कि जब राजा मरने के नजदीक हो तो खुद उसकी जगह गद्दी सम्भाल ले (अर्थशास्त्र, ५।६।२५-३१)। इस प्रकार राजनीति और अर्थव्यवस्था एक धर्म-निरपेक्ष रूप लेती जा रही थीं और राजा और शासक यह सोचने लगे थे कि देश की दरिद्रता को दूर करने के लिए यज्ञ-याग छोड़कर किसानों को बीज आदि देना, व्यापारियों को पूँजी देना और लोगों को रोजगार देना जरूरी है (दीघ-निकाय के 'कूटदन्तसुत्त' और 'चक्कबत्तीसी हनादसुत्त')। इस चिन्तन-पद्धति को आजकल की भाषा में हम 'सेक्युलर' कह सकते हैं। नन्द और मौर्य साम्राज्य इसी के परिणाम थे।

छठी सदी ई० पू० में भारतीय समाज में एक जबरदस्त परिवर्तन चल रहा था। ब्राह्मण वर्ग को क्षत्रिय चुनौती दे रहे थे और इन दोनों को वैश्य और शूद्र मिलकर मात दे रहे थे और अपने पेशों की ओर खींच रहे थे। खेती, उद्योग और व्यापार के विकास से वैश्य और शूद्र घुलमिल कर एक होते जा रहे थे और इनमें जातिगत भेद के बजाय आर्थिक वर्गीकरण हो रहा था, जिससे धनाढ्य गृहपति कुटुम्बी और श्रेष्ठी निर्धन दास, भृतक और कर्मकरों से जुदा हो रहे थे। यदि काशी भारद्वाज नामक ब्राह्मण जमींदार पाँच सौ हलों की खेती करता और कोसल का धनञ्जय सेठ अपनी पुत्री विशाखा के जहेज़ में हलों, फालियों और अन्य खेती के औजारों से भरी ५०० गाड़ियाँ देता, तो पुत्र राजगृह के सुमन के खेत पर नौकरी करता और छुट्टी के दिन भी, त्यौहार में शामिल न हो, हल-बैल लेकर काम पर जाता जिससे अगले दिन के दाने-दलिए का प्रबन्ध कर सके। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी सुविधानुसार अपने पेशे बदलते क्योंकि मनुष्य के सामाजिक दर्जे का निर्णय जन्म-जाति से न होकर उसकी आर्थिक स्थिति से होता। इस तथ्य को उस युग के महान् विचारक कौटिल्य ने इस सूत्र में बाँधा कि 'अर्थ ही प्रधान है, और धर्म और काम की जड़ है' (अर्थ एव प्रधानः, अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति) (अर्थशास्त्र, १।७।६-७)।

व्यवसाय के अनुसार मनुष्य का सामाजिक वर्ग निर्धारित करने की प्रवृत्ति मौर्य काल में इतनी बढ़ी कि यूनानी प्रेक्षक मेगेस्थनीस ने भारतीय जनता को रूढ़िगत चार वर्णों के बजाय सात वर्णों में बँटा पाया। ये वर्ग हैं—दार्शनिक, किसान, चरवाहे, कारीगर और व्यापारी, सिपाही, निरीक्षक और शासनधर। ये वर्ग पैतृक रूप से अपने-अपने व्यवसाय पर जमे थे और अपने-अपने में ही शादी-विवाह करना पसन्द करते थे। लेकिन यह बात कि ये वर्ग व्यवसायपरक थे अर्रियन के इस कथन से जाहिर है कि कोई भी व्यक्ति दार्शनिक वर्ग में शामिल हो सकता था अगर वह उसकी कठोर चर्या का पालन कर सके।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, छठीं सदी ई० पू० में सेठ-साहूकारों के बड़े-बड़े फार्म

बन रहे थे जिनपर अनेक दास-कमेरे काम करते थे। इनके मुकाबले में गरीब किसान पिसा जा रहा था और मजदूरी से गुजारा करने पर मजबूर हो रहा था। किन्तु राज्य की शक्ति के विकास के फलस्वरूप देहात के जीवन पर शासन का अंकुश भी लगता जा रहा था। धर्मसूत्रों से पता चलता है कि गाँव का मुखिया भी राज्य द्वारा नियुक्त होता था। कौटिल्य के समय तक खेती पर राज्य का काफी नियन्त्रण हो गया था। उन्होंने चार प्रकार की भूमि-व्यवस्था की चर्चा की है—(१) राज्य की भूमि जिसका प्रबन्ध सीताध्यक्ष करता था। इस पर दास, मजदूर और अपराधों के दण्ड में सजा भुगतने वाले कैदियों से काम लिया जाता था। खाद, बीज आदि का वहुत बारीकी से ध्यान रखा जाता था। इसकी उपज को 'सीता' कहते थे। (२) राज्य की ओर से बसायी गयी नयी बस्तियाँ और आबादियाँ जिनमें नौतोड़ भूमि खेती के लिए लोगों को दी जाती थी। ऐसे गाँवों में सौ से पाँच सौ तक परिवार रहते थे। ये सब खेतीपेशा लोग होते थे। इन्हें जमीनें लगान पर सिर्फ जिन्दगी भर के लिए (ऐकपुरुषिकानि) दी जाती थीं। लेकिन वे अगर उन्हें जोत-बो न सकें तो उनके पट्टे खत्म समझे जाते थे। ऐसी सूरत में या तो वे जमीनें दूसरों को दी जाती थीं या सीताध्यक्ष के महकमें में आ जाती थीं। पर अगर किसान अपनी मेहनत से जमीन तोड़े तो उसे बेदखल नहीं किया जाता था और उसे बीज, बैल और तकावी भी मिलती थी जिन्हें वह आराम से अदा कर सकता था। देहात में साधु-संन्यासियों के विहार-आराम बनाने पर पाबन्दी थी और नटों, नचनियों, बाजीगरों, गवैय्यों, बक्कड़ों और स्वाँगियों के घुसने की मनाही थी जिससे किसानों के काम में बाधा न पड़ सके। (३) पहले से चले आ रहे गाँवों में लोगों की अपनी-अपनी जमीनें थीं। वे उनके पूरी तरह मालिक थे। वे उनपर खुद काश्त करते थे, ऐसी दशा में उन्हें 'क्षेत्रिक' कहते थे पर उन्हें शिकमियों को भी बँटाई या लगान पर दे सकते थे, जिनके लिए 'उपवास' शब्द चालू था। वे अपनी जमीनों को बेच भी सकते थे लेकिन शर्त यह थी कि वे उन्हें अपने ही स्तर के आदमी को बेचें यानी लगान देने वाले को ही बेचें न कि माफीदार को। जमीनों की पैमाइश और बन्दोबस्त बड़ी होशियारी से होता था। इसका रिकार्ड 'गोप' रखता था जिसकी देखरेख में पाँच गाँव होते थे। लेकिन लगान वसूल करने का काम 'प्रदेष्टा' करता था। लगान उपज का छठा भाग था, लेकिन यह चौथाई और तिहाई तक हो सकता था। इसके अलावा 'बलि' (नक़द अबवाब), 'कर' (अतिरिक्त लगान), 'उदकभाग' (आबपाशी), 'विवीत' (चरागाही), 'रज्जु' (आबादी का लगान), 'चोररज्जु' (पुलिस के प्रबन्ध का टैक्स), 'सेनाभक्त' (फौज का भोजन), 'उत्संग' (राजकुमार के जन्म पर भेंट), 'औपायनिक' (भेंट) आदि अन्य बहुत से टैक्स चालू थे। कुछ गाँव ऐसे थे जिनके निवासियों से लगान और अन्य करों के बजाय बेगार

ली जाती थी। इन्हें 'विष्टि' कहते थे। यह सारा महकमा 'समाहर्ता' के अधीन था। (४) 'ब्रह्मदेय', वे जमीनें जो ब्राह्मणों को दी जाती थी, रहन-बै नहीं की जा सकती थीं। मौर्य-काल में, जैसा कि मेगेस्थनीस ने लिखा है, यह नया सिद्धान्त चालू किया गया कि सब भूमि राज्य की है श्रौर किसान किरायादार की हैसियत से हैं। राज्य की मिलकियत के एवज़ में उन्हें उपज का चौथाई भाग श्रौर इसके अलावा एक नकद लगान (बलि) सरकारी खजाने में जमा करना पड़ता था। अशोक के रूम्मिनदेई-स्तम्भ-लेख में भाग श्रौर बलि इन्हीं दो करों का जिक्र है जिससे मालूम होता है कि मौर्य शासन ने श्रौर सब करों का झमेला हटाकर यही कर रखे थे। 'भाग' को उन्होंने चौथाई कर दिया था श्रौर 'बलि' जो था वही रखा था। बीच में जमींदारों या इजारादारों का कोई मतलब नहीं था। जागीरों का सवाल नहीं था क्योंकि सरकारी अफसरों को नकद तनख्वाहें मिलती थीं। किसानों को फौज में भर्ती नहीं किया जाता था। फौज को सख्त हिदायत थी कि उनके खेतों को कोई नुकसान न पहुँचाए। उनके काम में बेकार की दखलअन्दाजी मना थी। राज्य की श्रोर से अनाज के बड़े-बड़े गोदाम रखे जाते थे, जैसा कि सोहगोरो श्रौर महास्थान के लेखों से ज़ाहिर है, जिससे जरूरत पड़ने पर अकाल का मुकाबला किया जा सके। इसलिए मेगेस्थनीस ने लिखा है कि भारत में अकाल नहीं पड़ते।

छठी सदी ई० पू० में उद्योग-व्यापार की अभूतपूर्व उन्नति हुई। कारीगर श्रौर दस्तकार अठारह श्रेणियों में संगठित हो गये जिनके अलग-अलग कस्बे या गाँव या बड़े शहरों में मोहल्ले श्रौर बाजार थे श्रौर अपने-अपने चुने हुए या परम्परागत मुखिया (जेट्ठक) होते थे। इन्हें रुपया देने का काम श्रौर इनके माल को बाहर बेचने का काम सेठ-साहूकार (सेट्ठी) करते थे। ये लोग पाँच-सौ छकड़ों के कारवाँ बनाकर श्रौर अपने निजी सुरक्षा-दल संगठित कर सार्थवाहों के नेतृत्व में कश्मीर श्रौर गन्धार से सोपारा श्रौर तामलुक तक की यात्रा करते थे। वहाँ से उनका माल जहाजों द्वारा पश्चिम में बाबुल श्रौर पूर्व में सुवर्णभूमि तक ले जाया जाता था। इस व्यापार से यह सेट्ठी-वर्ग मालामाल हो गया था श्रौर अपनी शान-शौतक से राजा-महाराजाश्रों को मात देने लगा था। बिम्बिसार के राज्य मगध में जोतिय, जटिल, मेण्ढक, पुण्णक श्रौर काकबलिय नामक करोड़पति सेठ थे। मेण्ढक का पुत्र धनञ्जय कोसल में बस गया था। उसकी पुत्री विशाखा श्रावस्ती के सेठ मृगार के पुत्र पुण्यवर्धन से ब्याही थी। यह शादी इस शान की हुई कि राजा प्रसेनजित् भी इसमें शामिल हुए श्रौर सभी लोग दंग रह गये। यह वर्ग, जिसके विभिन्न स्तर 'महासेट्ठी', 'सेट्ठी', 'अनुसेट्ठी' आदि उपाधियों से प्रकट है, श्रेणियों पर छा गया श्रौर उनके धन्धों पर हावी हो गया।

राज्य शक्ति के विस्तार के साथ-साथ इस आर्थिक कार्य-कलाप पर शासन का

नियन्त्रण बढ़ा। 'न्यग्रोध जातक' से पता चलता है कि श्रेणियों के झगड़े तय करने के लिए राजा 'भाण्डागारिक' को नियुक्त करता था। यह श्रेणियों के कार्य में राज्य के हस्तक्षेप का प्रमाण है।

कौटिल्य पूरी अर्थ-व्यवस्था को राज्य के अधीन करना चाहते थे। वे यह मानकर चले कि बनिये और कारीगर, बाजीगरों और भिक्षुओं की तरह, चोर न कहलाते हुए भी असल में चोर हैं और राजा को उनसे देश की रक्षा करनी चाहिए (अर्थशास्त्र, ४।१)। अतः उन्होंने इन वर्गों पर तरह-तरह की पाबन्दियाँ लगायीं, काफी उद्योग-धन्धे तो राज्य के अधीन करने की व्यवस्था की, व्यापारियों का मुनाफा देशी माल पर ५ प्रतिशत और विदेशी पर १० प्रतिशत निश्चित किया, सूद की दर आमतौर से १५ प्रतिशत सालाना निर्धारित की जो कुछ खास जोखिम के मामलों में ६० प्रतिशत तक भी हो सकती थी, माल को बाजार में लाने से पहले इसके दाम तय करने और इस पर चुंगी लेने, जो मोटे तौर से लागत का १।१० थी और कुछ किस्म के कपड़ों पर तथा सब्जी और फूलों पर १।२५ से १।६ तक अदलती-बदलती थी, का विधान बनाया, अमीर आदमियों को जासूसों और गणिकाओं द्वारा मरवा कर उनका धन हड़पने की नीति अपनायी और इस प्रकार समाज से कंजूस और फजूलखर्च लोगों को खत्म करने का इरादा किया (मूलहरतादात्विककदर्यांश्च प्रतिषेधयेत्) (अर्थशास्त्र २।९; २।३६)। साथ ही उन्होंने मजदूरों और नौकरों के अधिकार कानून द्वारा सुरक्षित किये, उन्हें सौदे-मुहादे का हक दिया और उनका वेतन न देने पर स्वामियों को वेतन का पाँच गुणा दण्ड देने का विधान बनाया। खास तौर से उन्होंने दास-प्रथा को उखाड़ने का प्रयास किया। वे यह मान कर चले कि आर्यों में दास भाव नहीं होना चाहिए (न त्वेवार्यस्य दासभावः) और इसलिए उन्होंने छोटे दर्जे के शूद्र कहलाने वाले लोगों के नाबालिग़ बच्चों को बेचना या गिरवीं रखना अपराध घोषित किया। जो दास पहले से चले आ रहे थे उनके सुधार के लिए भी उन्होंने अनेक कानून बनाये। यदि कोई व्यक्ति कर्ज या जुर्माना अदा न कर सकने के कारण दास हो जाय तो उसके रिश्तेदारों को उसे छुड़ाने का हक़ दिया गया। यदि दासी के गर्भ से स्वामी के कोई सन्तान हो जाय जो वह और उसकी सन्तान, और यदि वह न चाहे तो उसके भाई-बहिन, स्वतन्त्र माने जाते थे। स्वामी दास को गन्दे कामों में नहीं लगा सकता था, न उसे शारीरिक दण्ड दे सकता था और न उसकी बेइज्जती कर सकता था। दास अपने फालतू वक्त में मेहनत-मजदूरी से धन कमा सकते थे और उनकी सन्तान को उसका उत्तराधिकार प्राप्त था। इससे जाहिर है कि दास कुछ समय के लिए स्वतन्त्र माने जाते थे। इन सब नियमों का उद्देश्य वैयक्तिक सम्पत्ति वाले बड़े आद-मियों की सत्ता को कमज़ोर करना था। मौर्यों ने इस दिशा में आगे कदम बढ़ाये। सब

से पहले, जैसा मेगेस्थनीस के लेख से पता चलता है, उन्होंने दास-प्रथा को बिल्कुल खत्म किया और देशी-विदेशी सभी दासों को मुक्त किया, जो कुछ बचे-खुचे रह गये, उनको मजदूरों के साथ जोड़कर उनके साथ अच्छा व्यवहार करने की व्यवस्था की। दूसरे, जैसा मेगेस्थनीस फिर लिखता है, उन्होंने सूद-बट्टे का रिवाज खत्म किया और तीसरे, राजधानी में शासन चलाने वाली पाँच-पाँच सदस्यों की छः समितियों में से तीन को व्यापार-वाणिज्य और तुला-मान तथा बने हुए सामान की सरकारी बिक्री और बिकने वाली वस्तुओं पर लागत की १/१० चुंगी लेने का अधिकार दिया। इस प्रकार वैयक्तिक सम्पत्ति के नियन्त्रण से और कठोर शासन और कानून लागू करने से लोग सादगी और कमखर्ची से रहने लगे, चोरी बहुत कम हो गयी और किवाड़ों में ताला-कुंजी लगाना जरूरी नहीं रह गया।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मौर्यकालीन सुख-शान्ति का श्रेय न्याय-व्यवस्था को भी है। छठीं सदी से ही यह धारणा जम रही थी कि राजा को कानून बनाने का पूरा हक़ है। कौटिल्य ने इस मतवाद को आगे बढ़ाया और समस्त शासन को शासन के सूत्र में पिरोने के लिए नये-नये कानूनों की परिकल्पना की। जैसे रास्ता चलने वाले मुसाफिरों का यह फ़र्ज कायम किया कि वे देखभाल करें कि चौकियों पर किस व्यापारी ने अपने माल पर चुंगी नहीं दी है, गणिकाओं, चिकित्सकों, होटल वालों पर यह दायित्व रखा कि अजनबी, सन्दिग्ध, घायल और खर्चीले आदमियों की सूचनाएँ राज्य को दें, हर आदमी के लिए अपने मकान में आग बुझाने का सामान रखना आवश्यक बताया और किसी के घर में आग लगने पर उसे लेकर न पहुँचने वाले को दण्ड देने का विधान बनाया और धोबियों को अपने कपड़ों पर गदा का चिह्न लगाने का आदेश दिया जिससे उनकी अलग पहचान हो सके और वे लोगों के कपड़ों को खुद पहनने के काम में न ला सकें। साथ ही उन्होंने दीवानी के मुकदमों की सुनवाई के लिए तीन-तीन 'धर्मस्थों' (न्यायविदों) और तीन-तीन 'अमात्यों' (पेशकारों) की अदालतें (धर्मस्थीय) कायम करने की व्यवस्था की और फौजदारी के मामलों की जाँच और निर्णय के लिए तीन-तीन 'प्रदेष्टाओं' या 'अमात्यों' के 'कण्टकशोधन' नामक कार्यालय चलाने का विधान बनाया। सब की अपीलें राजा तक पहुँचती थीं जो खुद इस काम के लिए काफी समय देता था। सजाएँ सख्त थीं लेकिन अशोक के समय तक दीवानी और फौजदारी दोनों का जाब्ता और कानून सब जातियों और वर्गों के लोगों के लिए समान हो गया था।

छठीं सदी ई० पू० से भारत में जो सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन चल रहा था उसके अनुरूप ही धर्म का दृष्टिकोण भी बदला। ऊपर कहा जा चुका है कि गौतम बुद्ध ने अपने युग की सभी प्रवृत्तियों का समन्वय कर मध्यम मार्ग की गवेषणा की।

उनके विचार में भिक्षु और उपासक दोनों को विमुक्ति का समान अधिकार था (संयुत्त-निकाय ५।४१०) लेकिन उनकी मृत्यु के बाद कुछ भिक्षुओं ने उनके धर्म को अपने वर्ग तक ही सीमित करने की कोशिश की। इस आशय से राजगृह में प्रथम बौद्ध संगीति की गयी, जिसमें स्थविरवादी दृष्टि से बुद्ध-वचन का सम्पादन हुआ। किन्तु इससे उपासक और कुछ भिक्षु असन्तुष्ट थे। उन्होंने अपनी अलग संगीति की और अपनी तरह से बुद्ध की शिक्षाओं का संग्रह किया। उनके मत को महासांघिक कहते हैं। वैशाली के भिक्षुओं ने दस मत प्रस्तुत किये, जिनमें से एक यह भी था कि भिक्षु को धन-सम्पत्ति रखने का अधिकार है, और मथुरा के निवासी महादेव ने पाँच स्थापनाएँ सामने रखीं जिनमें भिक्षुओं के अज्ञान और अपवित्रता का भण्डाफोड़ किया गया। इन विचारों से प्रभावित होकर 'उत्तरापथक' सम्प्रदाय के बौद्धों ने घोषित किया, मनुष्य सांसारिक जीवन व्यतीत करता हुआ भी अर्हत्त्व प्राप्त कर सकता है (कथावत्थु, १।२६७)। उधर कौटिल्य ने यह नियम बनाया कि जो बीबी-बच्चों का प्रबन्ध किये बिना भिक्षु बने या स्त्रियों को प्रव्रजित होने की प्रेरणा दे उसे दण्ड दिया जाय। यही नहीं उन्होंने भिक्षुओं की गिनती उन लोगों में की जो चोर न कहलाते हुए भी असल में चोर हैं। लेकिन इससे यह अनुमान करना ठीक नहीं है कि वे कट्टर ब्राह्मण थे और उन्हें अन्य धार्मिक सम्प्रदायों से ग्लानि थी। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने वैदिक धर्म के मानने वाले वानप्रस्थियों और संन्यासियों (आश्रमी) और अन्य सम्प्रदायों (पाषण्ड) के साधुओं को एक ही जगह मिल-जुल कर रहने की अनुमति दी (अर्थशास्त्र, ३।१६), शहरों और कस्बों में 'पाषण्डवास' की व्यवस्था की और धर्मशालाओं में 'पाषण्डपथिकों' के ठहरने पर रोक नहीं लगायी (अर्थ शास्त्र, २।३६)। वास्तव में कौटिल्य धर्म को, चाहे वह वैदिक हो या अवैदिक, राज्य शासन और समाज-व्यवस्था की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने 'देवता-अध्यक्ष' के विभाग का विवरण देते हुए लिखा है कि वह मन्दिरों और मूर्तियों का उपयोग लोगों से रुपया ऐंठने के लिए करे। यह बात कि मौर्यों ने धन कमाने के लिए देवताओं की मूर्तियों का उपयोग किया पतंजलि के लेख से सिद्ध होती है। अतः स्पष्ट है कि इस काल में धर्म के प्रति लोगों की दृष्टि ऐहिक और लौकिक थी जिसे सेक्युलर कहा जा सकता है।

अशोक ने कलिंग को जीत कर अपने साम्राज्य का पूरा विस्तार कर लिया। इसके बाद और कोई विजय करने की सम्भावना न थी। इसलिए उन्होंने अपना सारा ध्यान आन्तरिक व्यवस्था और संगठन की ओर दिया। इतने बड़े राज्य में सब से बड़ी जरूरत भावनात्मक एकता और विचारों के समन्वय की थी। इसके लिए अशोक ने, बहुत सोच-समझ कर, बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं को अपनाया जो 'मज्झ' और 'सम्म' पर आधारित थीं। लेकिन ऐसा करते हुए उन्होंने अन्य धर्मों और सम्प्रदायों के लोगों को

कतई ठेस नहीं पहुँचायी। उनके लेखों में ब्राह्मणों और श्रमणों दोनों के लिए सम्मान प्रकट किया गया है और समान रूप से दोनों की सुख-सुविधा का ध्यान रखा गया है। उनमें सब सम्प्रदायों के लोगों को एक दूसरे की दृष्टि को समझने और आपसी सम्पर्क बढ़ाने और प्रेमभाव से रहने की हिदायत की गयी है, साथ ही सब देवताओं को एक दूसरे से समन्वित करने की कोशिश की गयी है (या इमाय कालाय जम्बुदिपस्सि अमिस्सा देवा हुसु ते दाणि मिस्सा कटा)। छोटे-मोटे अन्धविश्वासों से सम्बन्धित रस्म-रिवाज को बेकार समझते हुए भी अशोक ने पारिवारिक जीवन को सुचारु रूप से चलाने पर जोर दिया। खास तौर से उन्होंने लोगों की हालत सुधारने और उनके आराम के साधन जुटाने की नीति को अपने राज्य का आधार बनाया। यही नहीं, इस नीति के आधार पर अपने पड़ोसी देशों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध क़ायम करने की योजना बनायी। इस प्रकार अशोक का 'धम्म' मौर्य साम्राज्य की आन्तरिक एकता और सुव्यवस्था की विचारधारा थी। इसमें उस युग के समस्त सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सूत्र मिल गये थे। इसे किसी सम्प्रदाय के साथ नत्थी करना गलत है।

प्राग्मौर्य और मौर्य काल साहित्य की उन्नति की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। इस काल में वैज्ञानिक और पारिभाषिक साहित्य खूब फला-फूला। नन्द युग में सिन्धु नदी के किनारे शलातुर गाँव के निवासी पाणिनि ने संस्कृत का प्रसिद्ध व्याकरण 'अष्टाध्यायीसूत्र' लिखा। इस पर व्याडि ने बहुत बड़ी टीका तैयार की जिसे 'संग्रह' कहते हैं। बहुत से विषयों पर दक्षिण के रहने वाले कात्यायन उर्फ़ वररुचि ने पाणिनि से मतभेद प्रकट करते हुए 'वार्त्तिक' लिखे। पाणिनि के मत का समर्थन पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' में किया। इनका कार्य क्षेत्र पुष्यमित्र शुंग या उनके किसी वंशज की राजधानी पाटलिपुत्र रहा होगा। इस प्रकार पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि, जो क्रमशः उत्तर-पश्चिम प्रदेश, दक्षिणी भारत और पूर्वी इलाके के रहने वाले थे, संस्कृत भाषा के देशव्यापी प्रसार के प्रतीक हैं। व्याकरण की तरह अर्थशास्त्र और दण्डनीति पर मौलिक चिन्तन हुआ और भारद्वाज, विशालाक्ष, पाराशर, पिशुन, कौणपदन्त, बाहुदान्तिपुत्र वातव्याधि आदि ने इस विषय पर ग्रन्थ लिखे। इस विद्या को लेकर मानव, औशनस और बार्हस्पत्य सम्प्रदाय चल पड़े। इस महान् साहित्य को तक्षशिला के अध्यापक विष्णुगुप्त चाणक्य 'कौटिल्य' या 'कौटल्य' ने अपने प्रसिद्ध 'अर्थशास्त्र' में गुम्फित किया। यह मौर्य साम्राज्य की स्थापना से कुछ पहले की रचना है और इसमें एक नियमित या नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था का सैद्धान्तिक विवरण है। इसके कुछ विचार स्वभावतः मौर्य शासन में मिल जाते हैं, किन्तु इसे मौर्य राजव्यवस्था का वर्णन मान लेना गलत है। यह काल काव्य-साहित्य की सृष्टि के लिए भी प्रख्यात है। इसकी प्रसिद्ध कृति

वररुचि का काव्य 'कण्ठाभरण' है जो अब नहीं मिलता। ययाति, यवक्रीत, प्रियंगु, सुमनोत्तरा, वासवदत्ता आदि की कथाओं को लेकर अनेक आख्यान और आख्यायिकाएँ लिखी गयीं। काव्य के विस्तार का परिचय बिन्दुसार और अशोक के समकालीन पिंगल के 'छन्दशास्त्र' से मिलता है। नाट्य और नृत्य के सम्बन्ध में शिलाली और कृशाश्व ने 'नटसूत्र' लिखे। कहा जाता है कि सुबन्धु ने एक नाटक में उदयन और वासवदत्ता के कथा के बीच में बिन्दुसार का वृतान्त जोड़ा। यह कृति अब उपलब्ध नहीं है।

संस्कृत के साथ-साथ लोकभाषाएँ भी विकसित हुईं। गौतम बुद्ध ने अपनी शिक्षाएँ 'मागधी' में दीं और अपने अनुयायियों को अपनी-अपनी भाषाओं का प्रयोग करने की अनुमति दी। फलतः मागधी में उनकी शिक्षाओं का संग्रह हुआ जिसके कुछ संकेत अशोक के लेख में मिलते हैं। उनके मत को लेकर बाद में जो सम्प्रदाय चले उनका विपुल साहित्य भी मागधी में लेखबद्ध हुआ। बाद में इसे मध्यदेश की गढ़ी हुई साहित्यिक भाषा में, जिसे 'पालि' कहते हैं, अनूदित कर दिया गया। अशोक के समकालीन मोग्गलिपुत्त तिस्स के 'कथावत्थु' में अनेक बौद्ध मतमतान्तरों की चर्चा के सम्बन्ध में वाद-विवाद किया गया है। यह इस भाषा का सुन्दर निदर्शन है। जैन लोगों ने भी अपने शास्त्र को लोकभाषा में ही सम्पादित किया। बाद में इसे जिस गढ़ी हुई भाषा में ढाला गया उसे 'अर्धमागधी' कहते हैं।

मौर्य काल भारतीय कला के इतिहास में काफी महत्त्व रखता है। इस कला में दृढ़ता और उच्चता, शक्ति और ओज, विस्तार और विश्वास है। इसके दो विभाग हैं: महाकाय यक्षों और यक्षियों की मूर्तियाँ और सपिण्ड पत्थर की लाटें, उनके शीर्ष, जँगले, स्तूप, चैत्य आदि। यक्षों और यक्षियों की मूर्तियाँ शक्ति और विशालता के पुंजीभूत रूप हैं और चिकनी चमकदार लाटों के ऊँचे शीर्ष साम्राज्य के दिव्य गौरव का सन्देश देते हैं। खास तौर से सारनाथ की लाट का शीर्ष बेजोड़ है। इसमें उलटे कमल पर टिके फलक पर हाथी, घोड़ा, साण्ड और शेर भागते दिखाये गये हैं। इनके बीच-बीच में चार चक्र हैं। फलक के ऊपर चार दहाड़ते हुए शेर बनाये गये हैं। ये साम्राज्य की प्रभुसत्ता और चक्रवर्तित्व के परिचायक हैं। इनके ऊपर एक बड़ा चक्र था जो अब टूट गया है। यह चक्र सक्रिय और गतिशील धर्म को प्रकट करता था। इस प्रकार इस शीर्ष से प्रकट होता है कि मौर्यों की शक्तिशालिनी राज्यश्री धर्म की प्रेरणा से लोकरंजन में रत थी। साथ ही इससे अशोक का रूप भी निखरता है जिसमें चक्रवर्ती और योगी के आदर्श मिल कर एक हो गये थे। इसके अतिरिक्त यह बुद्ध-मूर्ति का पूर्वरूप है, शेर सिंहासन के प्रतीक हैं और चक्र बुद्ध का। शक्ति के गतिमान और सुनियन्त्रित रूप की ऐसी अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। साँची और भरहुत के स्तूप यद्यपि बाद में पूरे हुए फिर भी वे इस युग की सृजन क्रिया के पूरक

अंग ही हैं। उनके भीतर के विशाल स्तूप, उसके चारों ओर सपिण्ड पत्थरों के जँगले और तोरण और उनपर खुदे फूल-पत्तियों के वातावरण में पशु-पक्षियों से घिरे गाते-बजाते आनन्द करते हुए युवक-मिथुन, यक्ष-नाग और देवता समस्त विश्व को एकत्र करते से प्रतीत होते हैं। धौली में चट्टान को तराश कर बनाया गया हाथी मनुष्य द्वारा प्रकृति को साधने के असीम साहस का साक्ष्य देता है।

## चीन का चिन्-हान् युग

चान कुओ (४८०-२२२ ई० पू०) काल की अफरा-तफरी से तंग आकर लोगों ने एकता की जरूरत महसूस की। जब यह काम आपसी समझौते से न हो सका तो यह लाजमी हो गया कि कोई एक ताकतवर राज्य और सब को जीत कर तलवार के जोर से एकता कायम करे। उत्तर-पश्चिमी छोर पर वाई नदी की घाटी में स्थित चिन् राज्य इस काम के उपयुक्त सिद्ध हुआ। वहाँ के शासक चेङ ने २२१ ई० पू० में सारे चीन का एकीकरण कर चिन् साम्राज्य की स्थापना की और शिह् ह्वाङ ती की उपाधि धारण की।

जिस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य के परामर्श से केन्द्रित शासन और नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था का सूत्रपात किया इसी तरह शिह् ह्वाङ ती ने अपने मन्त्री ली स्सु की सलाह से सामन्ती स्वायत्तता को समाप्त कर कठोर केन्द्रीकरण और नियोजन की शुरुआत की। उसने सब रियासतों को खत्म कर सारे देश को ३६ प्रान्तों में और हर प्रान्त को जिलों (श्यान) में बाँटा, हर प्रान्त में दीवानी के मामलों का राज्यपाल (शू) और सैनिक प्रशासक (च्युन-वेइ) और उनमें तालमेल रखने वाला अफसर (च्यान-यू-शिह) नियुक्त किये, १,२०,००० सामन्ती परिवारों को, उनके सैनिक हटा कर, राजधानी में सरकारी अफसरों की देखरेख में बसने पर विवश किया, असंख्य लोगों से जबरन बेगार लेकर सड़कें, नहरें, महल और दीवारें—१४०० मील लम्बी बड़ी दीवार को जोड़ने में ३,००,००० आदमी लगे—बनवायीं और इस प्रकार सब लोगों को शासनतन्त्र से जोड़ दिया। साथ ही उसने बाट-पैमानों, लिपि और सिक्कों को एकरूप किया, विपक्षी साहित्य का सफाया कराया, असंख्य ग्रन्थों को जलवाया, सरकार के आलोचकों को परिवार सहित निर्मूल कराया और गुप्तरूप से बातचीत करते लोगों को खुले बाजारों में फाँसी दिलवायी। आतंक के साथ-साथ शोषण भी चरम सीमा पर पहुँचा। लगान की दर उपज का दो-तिहाई कर दी गयी। गाँवों की आधी जनता को पकड़ कर सीमा की रक्षा के लिए भेजा गया और शेष से कोड़े की मार द्वारा कठिन बेगार ली गयी। लोग कराहने और चीखने लगे। विद्रोह और विप्लव की ज्वाला धधक उठी। बीस वर्ष बाद ही लुई-ची नाम के एक साधारण वर्ग के व्यक्ति ने चिन् राज्य का तख्ता पलट कर हान् राज्य की नींव रखी

और नरमी तथा उदारता का शासन जारी किया।

शुरू में हान् सम्राटों की नीति केन्द्रीय शासन और वैयक्तिक रियासतों को समन्वित रखना रही। लेकिन वू-ती (१४०-८७ ई० पू०) के विजय और प्रसार के कार्यक्रम से, जिसके फलस्वरूप चीनी साम्राज्य उत्तर में मंचूरिया और कोरिया से दक्षिण में क्वेइचो और युन्नान तक फैला और पश्चिम में तारिम घाटी की ओर अग्रसर हुआ, आर्थिक आवश्यकताएँ बहुत बढ़ीं जिनके कारण नियोजन और नियन्त्रण की प्रक्रिया को सख्त करना पड़ा। अतः नमक, लोहे और शराब के इजारों को दृढ़ करना पड़ा, गाड़ियों और कश्तियों पर कर लगाये गये, मुद्रा को केन्द्रीकृत कर इसके दाम गिराये गये, मूल्यों पर पाबन्दी लगायी और फाटक बन्द किया गया और कारीगरों और सौदागरों से सम्पत्ति का विवरण प्राप्त कर उसका क्रमशः ४.७५% और ६.५०% भाग जब्त किया गया। इस तरह आर्थिक समस्या कुछ समय के लिए सुलझी लेकिन बेइमान अफसरों की बन आयी। वे लोगों को लूट कर मालामाल हो गये और उन्होंने बड़ी-बड़ी जायदादें और रियासतें पैदा कर लीं। भावों के मुकाबले और करों के भार से किसान पिसने लगे और जमीनें बेच कर या तो गुलाम बनने लगे या डाके डालने लगे।

इस बढ़ती हुई गड़बड़ को वाङ-माङ (६-२३ ई०) ने ठीक करने की कोशिश की। सबसे पहले उसने भूमि का राष्ट्रीयकरण कर उसे लोगों में बाँटा और उन सब परिवारों को, जिनके पुरुष-सदस्यों की संख्या आठ से कम थी लेकिन जिनकी भूमि एक चिङ यानी ६०० मू (एक मू=१/६ एकड़=एक कच्चा बीघा=१/३ पक्का बीघा) अर्थात् तीन सौ पक्के बीघे या डेढ़ सौ एकड़ से ज्यादा थी, अपनी फालतू जमीनें नौ पीढ़ियों तक के अपने रिश्तेदारों और उनके न होने पर शहरों और देहात के लोगों को देने पर मजबूर किया। इसके अलावा, जैसा मौर्यों को करना पड़ा था, उसने बड़े जमींदारों की ताकत खत्म करने के लिए सब गुलामों को आजाद किया और आदमियों के बेचने और खरीदने पर कड़ी पाबन्दी लगायी। किन्तु इस बारे में उसे पूरी सफलता न मिल सकी। तीन वर्ष बाद १७ ई० में उसे इस आदेश को वापस लेना पड़ा। फिर भी इसे रोकने के लिए उसने गुलाम रखने वाले पर हर गुलाम के हिसाब से ३६०० सिक्कों का कर लगाया। इसके अलावा उसने अफसरों और कर्मचारियों पर व्यवसाय-कर लगाया, उनकी तनख्वाहों में कटौती की और उन्हें अपने वेतन का ४/५ भाग सैनिक कार्यों के लिए देने पर बाध्य किया; सूदखोरों को कमजोर करने के लिए २% तक की सस्ती दरों पर, और अक्सर बिना सूद ही, लोगों को कर्ज देने की व्यवस्था की और चमड़े के सिक्के चालू किये; हाथ पर अनाज खरीद कर गोदामों में भरने और बाद में नियन्त्रित दामों पर लोगों के फसल बेचने की व्यवस्था की; लेकिन सरकारी भ्रष्टाचार के कारण ये सब उपाय असफल हुए

श्रौर इनसे लोगों की मुसीबतें घटने के बजाय बढ़ीं। वाङ-माङ के बाद गद्दी के लिए झगड़े चले श्रौर पहले हान् वंश का एक खान्दानी ख्वाङ वू-ती के नाम से राजा बना। उसके बाद से हान् वंश का राज्य शुरू हुआ जो २५ ई० से २२० ई० तक रहा। ख्वाङ वू-ती के उत्तराधिकारी मिङ-ती (५७-७५ ई०) ने तारिम घाटी को जीत कर केस्पीयन सागर के तट तक साम्राज्य का विस्तार किया। उसके बाद फिर अफरा-तफरी मची श्रौर लड़ाकू सरदार श्रौर जनखे हावी हो गये।

चिन् श्रौर हान् युग में चीनी समाज में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पुराना अभिजात वर्ग खत्म हो गया श्रौर उसकी जगह एक नया जमींदार श्रौर व्यापारी वर्ग उभरा। यह वर्ग सामान्य जनता से निकला लेकिन इसने अपनी अलग सत्ता कायम कर ली श्रौर अक्सर राज्य की केन्द्रीयकरण की नीति में रुकावटें पैदा कीं। वू-ती (१४०-८६ ई० पू०) के राज्यकाल में उन्हें विशेष अधिकार मिल गये श्रौर रुपया देकर बेगार से माफी हासिल करने का हक़ हो गया। नमक श्रौर लोहे के ठेके भी खुङ-चिन जैसे सौदागरों को दिये जाने लगे। लेकिन उनके भ्रष्टाचार से तंग आकर सम्राट को यह नीति छोड़नी पड़ी। उसने उद्योगपतियों पर सम्पत्ति-कर लगाया, व्यापारियों को जमीनें खरीदने की मनाही की श्रौर उनके रेशम पहनने श्रौर घोड़े पर चढ़ने पर भी पाबन्दी लगायी। राज्य का इरादा व्यापारियों को जमींदारों से अलग रखना था।

जबकि राज्य व्यापारियों के प्रति क्रूर था उसका रवैय्या जमींदारों के प्रति नरम था। अतः उसने जमींदारों पर, जो उपज का आधा किसानों से लगान के रूप में लेकर केवल तीसवाँ हिस्सा मालगुजारी के रूप में देते थे, कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाया। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि लोगों ने उद्योग-व्यापार से रुपया खींच कर जमीनों में लगाना शुरू किया। इससे बड़े जमींदारों का वर्ग ऊपर आया। उसने खेती-बारी में बड़ी तरक्की की श्रौर लहसुन, प्याज, सरसों, नील, श्रंगूर, खरबूजे आदि की खेती बड़े पैमाने पर चालू की। इनमें से बहुत सी चीजें व्यापार के ही काम की थीं। इसलिए जमींदार फिर से व्यापार की श्रोर प्रवृत्त हुए। इस तरह जमींदार श्रौर व्यापारी को एक दूसरे से अलग रखने की राज्य की नीति विफल हुई।

हान् काल में दो प्रकार के बड़े परिवार थे : राजाश्रों, रानियों श्रौर जनखों से सम्बन्धित श्रौर बड़े अफसरों श्रौर स्थानीय अमीरों से निष्पन्न। ये परिवार नौकरों श्रौर कमेरों से खेत जुतवाते श्रौर गुलामों से उद्योग चलवाते थे। नौकरों श्रौर गुलामों का अनुपात १० : १ था। इन परिवारों के लोग धन-समृद्धि में खेलते थे। वे लम्बी झोकली आस्तीनों वाले ढीले वस्त्र पहनते, रथों में बैठ कर दावतों में जाते, बाज़ रखते श्रौर उनसे शिकार खेलते, नट-बादियों के तमाशे देखते, पुतलियों के खेल, छाया नाटक, रस्साकशी,

नाच, गाने और कुत्तों, साँड़ों और मुर्गों की भिड़न्त का आनन्द लेते। इनमें से अनेक अकाल में मनमाने भाव पर अनाज बेच कर बेतुका नफा कमाते और उससे अफसरों के चुनाव पर प्रभाव डालते और प्रशासन को अपने पंजे में रखते। अपने अधिकारों को बनाये रखने के लिए उन्होंने राज्य की ओर से व्यक्तियों को 'खुली-छूट' देने के सिद्धान्त का प्रसार किया। लिङ-आन (मृ० १२२ ई० पू०) के समय की कृति 'ह्वाइ-नान त्जू' ने घोषणा की कि "शासक की कुशलता इसमें है कि वह बिना कुछ किये राजकाज चलाये और बिना कुछ बोले आदेश जारी करे"।

अक्सर बड़े परिवारों में प्रतिस्पर्धा चलती थी। बाद को हान् युग में रानियों और जनखों से सम्बन्धित बड़े परिवार एक गुट में आ गये जिसका नाम 'अपवित्र' पड़ा और राजाओं एवं बड़े जमींदारों और कर्मचारियों से सबन्ध रखने वाले परिवार दूसरे गुट में आ गये जिसे 'पवित्र' कहने लगे। शास्त्री और आचार्य वर्ग और विद्वन्मण्डली के सदस्य 'पवित्र' गुट के साथ हो गये किन्तु 'अपवित्र' गुट वालों ने शासनतन्त्र को अपने साथ कर उन्हें बड़ी संख्या में १६६ और १६९ ई० में गिरफ्तार करा दिया। इस प्रकार के झगड़ों-टण्टों से राज्य की शक्ति क्षीण हो गयी और यह पतन की ओर चल पड़ा।

बड़े परिवारों के विकास से और खेती और उद्योग के उनके हाथ में आ जाने से साधारण जनता की मुसीबत और तकलीफ बढ़ गयी। खास तौर से आजाद किसान पिस गये और कमेरे बनने लगे। बहुतों ने टोटे की तंगी के कारण डकैती शुरू की। ज्यादातर लोग सरकारी भत्ते और खैरात पर गुजारा करने लगे। १०७-१२६ ई० में लोयाङ में खैरात पाने वाले लोगों की संख्या किसानों से सौ गुना ज्यादा थी। सम्राट् हो के ज़माने में करीब-करीब हर प्रान्त के लोगों को खैरात की जरूरत थी। लेकिन इतनी बड़ी मात्रा में खैरात का इन्तजाम करना सरल नहीं था। त्सुइ-यिन ने ८९-१०६ ई० में लिखे अपने 'सट्टेबाज़' नामक लेख में किसानों की दर्दनाक हालत और उनके प्रति बड़े आदमियों की नफरत की रोंगटे खड़े कर देने वाली तस्वीर खींची।

परेशानी और तकलीफ से तंग आकर लोग जुर्म और डकैती पर आमादा हो गये। उनके झुण्ड के झुण्ड 'लाल भौं' और 'पीली पगड़ी' जैसे विद्रोही आन्दोलनों में शामिल हो गये जो 'ताओ (दाओ) वाद' का आश्रय लेकर देश भर में उभर रहे थे। इन आन्दोलनों ने लूटमार का जो ताण्डव मचाया उससे भयंकर बर्बादी हुई और हान् साम्राज्य का शीराजा बिखर गया।

इन दिक्कतों के होते हुए भी हान् काल में काफी आर्थिक उन्नति हुई और उद्योग-व्यापार फूले-फले। पनचक्की और लोहे की ढलाई के उद्योग ने और लद्दू जानवरों की छाती पर पट्टा बाँधने के रिवाज ने आर्थिक जगत् में क्रान्ति पैदा की। चीनी मिट्टी के

बरतन बनाने का धन्धा चीन का राष्ट्रीय उद्योग बन गया। कागज के ईजाद और रेशम के विकास ने संस्कृति और व्यापार को नया मोड़ दिया। युन्नान के आड़ू और नाशपाती (इन्हें संस्कृत में 'चीनानी' और 'चीन राजपुत्र' कहते हैं) और हाथ में लेकर चलने की चौकोर बाँस की छड़ियाँ और सीसा, कपूर, दारचीनी आदि दूर-दूर तक नामी हो गये। दक्षिणी और मध्य-एशिया से व्यापार काफी बढ़ा।

हान् युग की सुख-समृद्धि का अन्दाजा आबादी की बढ़ोत्तरी से किया जा सकता है। २ ई० के करीब जन-संख्या ५,९५,९४,९७८ थी। अगले पचास वर्षों में यह दुगुनी हो गयी। वाङ-माङ के समय की गड़बड़ी से इसमें कुछ कमी हुई लेकिन जल्दी ही यह फिर बढ़ने लगी। शहरों की भीड़-भाड़ का तो ठिकाना न रहा। इससे प्रशासन और खूराक की समस्या भी पेचीदा हुई।

हान् युग विचारों और विश्वासों के सामंजस्य का काल है। इसके दर्शन का मूलमन्त्र आकाश, पृथ्वी और मनुष्य का एकीकरण है। इसके अनुसार ये तीनों मिलकर एक दूसरे के पूरक होते हैं। इनका एक अन्योन्याश्रित त्रिक है। श्युन-त्ज़ू के अनुसार, "आकाश (इससे अभिप्राय विश्व की प्राकृतिक व्यवस्था है) में ऋतुएँ हैं, पृथ्वी में खनिज पदार्थ और उत्पादन क्षमता है और मनुष्य के पास प्रशासन और नियमन है : इन तीनों के मेल से काम चलता है"। तुङ-चुङ-शू के शब्दों में ये तीनों आपस में इस तरह हैं जैसे शरीर में हाथ और पैर और अन्य अंग। इस प्रकार आकाश (विश्व की प्राकृतिक व्यवस्था) और मनुष्य का सहयोग और सहवर्तित्व (श्यान रन शियाङ यिङ) जगत् का आधारभूत सिद्धान्त है।

चीनी विचारधारा के अनुसार प्रकृति और समाज, धर्म और राजनीति, उपचार और शिक्षा, अतीत और वर्तमान एक अवयवी के अंगों के समान एक दूसरे से जुड़े हैं। चीनी भाषा में राजा के लिए जो चिह्न है उसमें तीन पड़ी लकीरें एक खड़ी लकीर से जुड़ी है जिसका आशय यह है कि वह आकाश, पृथ्वी और मनुष्य को आपस में जोड़ने वाली कड़ी है। उसे धर्म, अर्थ और काम का समन्वय करने वाला कहा जा सकता है।

प्रकृति 'यिन' (स्थिति) और 'याङ' (गति) नाम की शक्तियों द्वारा कार्य करती है, मनुष्य 'शिङ' (उदात्त भाव) और 'छिङ' (तामसी वृत्ति) द्वारा व्यवहार में रत होता है। 'शिङ' और 'छिङ', अर्थात् सात्विक और तामसिक वृत्तियों को समन्वित करने का साधन 'च्याओ' (शिक्षा और संस्कृति) है।

प्रकृति में पाँच तत्त्व हैं : लकड़ी, धातु, अग्नि, जल और मिट्टी। संस्कृत व्यक्ति (च्युन-त्ज़ू) में पाँच गुण हैं : 'रन' (मनुष्यता), 'यी' (सदाचार), 'ली' (औचित्य), 'चिह' (बुद्धिमत्ता) और 'शिन' (आस्था)। इस प्रकार प्रकृति और मनुष्य समानान्तर

हैं और इन दोनों की प्रवृत्ति शुभ के विस्तार की ओर है।

जैसे प्रकृति और मनुष्य एक दूसरे के पूरक हैं इसी तरह मनुष्य और समाज एक दूसरे पर आश्रित हैं। मनुष्य में उपर्युक्त पाँच गुण (छाङ) हैं तो समाज के तीन सूत्र (काङ) हैं—राजा-प्रजा का सम्बन्ध, पिता-पुत्र का सम्बन्ध और पति-पत्नी का सम्बन्ध। इन दोनों 'काङ-छाङ' के मिलने से, नीति का आदर्श बनता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हान् युग के चीनी विचारकों ने विश्व, समाज और मनुष्य को एक नैतिक समन्वय में ग्रथित किया जिसकी प्रवृत्ति मंगल के विकास की ओर है।

चीनी लोग प्रायः परम्परावादी हैं किन्तु हान् युग में बहुत से प्रगतिवादी भी हुए। वाङ छुङ (२७-१०० ई०) का विचार था कि हान् युग चू युग से श्रेष्ठ है। हो शिङ (१२९-१८२ ई०) ने ७२२-६२७ ई० पू० के युग, ६२६-५४२ ई० पू० के युग और ५४१-४८१ ई० पू० के युग को क्रमशः अव्यवस्था, शान्ति के आगमन और सार्वभौम शान्ति के युग सिद्ध करते हुए इतिहास की रेखात्मक प्रगति पर जोर दिया। इसी प्रकार अन्य विचारकों ने प्रगतिवादी विचार प्रकट किये।

चीनी विचारधारा मूलतः प्रकृतिवादी है। चीनी लोग मानते हैं कि विश्व में व्यवस्था और नियम है और यह अपने क्रम से चलता है। जब हम इस व्यवस्था और नियम को आत्मसात् कर उसके अनुरूप चलते हैं तो हम सुख पाते हैं और जब हम इसके विपरीत आचरण करते हैं तो हमें कष्ट होता है। यह कहना गलत है कि बिना कुछ किये हुए सिर्फ किसी आदमी या राजा की अच्छाई या बुराई से ही हमें सुख या दुख मिलता है।

प्राकृतिक व्यवस्था में विश्वास होने के कारण चीनियों ने प्रकृति को समझने की अनेक कोशिशें कीं। हान् युग में प्रकृति के विषय में दो सिद्धान्त थे: चाङ हेङ (७८-१३९ ई०) का 'हुन श्यान' (दीर्घवृत्तीय विश्व) का सिद्धान्त, जिसके अनुसार आकाश एक अण्डे के समान है और पृथ्वी इसकी ज़र्दी की तरह है, और वाङ छुङ (२७-१०० ई०) का 'काइ श्यान' (भूमध्यरेखीय विश्व) का सिद्धान्त, जिसके अनुसार आकाश एक छतरी के समान है और पृथ्वी एक उलटी तश्तरी की तरह है। इन विचारों के आदान-प्रदान से ज्योतिष और गणित में नयी खोजें हुईं और सूरज और पानी की घड़ियों का आविष्कार और पचांग का प्रतिपादन हुआ। भूगोल, भूगर्भशास्त्र, वनस्पति और जन्तु विज्ञान आदि के क्षेत्रों में भी काफी विकास हुआ।

हान् युग शिक्षा के प्रसार और प्रसिद्ध परीक्षा-पद्धति के आरम्भ के लिए प्रख्यात है। १२४ ई० पू० के करीब वू-ती ने राजकीय विश्वविद्यालय की शुरुआत की। उस

समय इसमें ५० छात्र थे, लेकिन पहली सदी ई० पू० के उत्तरार्ध में उनकी संख्या ३,००० हो गयी और बाद के हान् युग में ३०,००० तक पहुँच गयी। उस समय इसमें २४० इमारतें और १,८५० कमरे थे। इसके स्नातक सरकारी पदों पर लगाये जाते थे। कन्फ्यूशियसी विचारधारा का मौलिक सिद्धान्त यह था कि गुण का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं है और इसके आधार पर ही मनुष्य का सामाजिक महत्त्व निर्धारित होता है। यही सिद्धान्त चीनी शिक्षा और उसपर निर्भर राज्यशासन की ललाटलिपि बना। पर हान् युग में सिफारिश भी काफी चली और इन क्षेत्रों में बड़े परिवारों का प्रभुत्व बना रहा।

हान् युग साहित्यिक गतिविधि के लिए प्रख्यात है। १९१ ई० पू० में विचारकों पर से पाबन्दी उठा ली जाने पर इस काम में गर्मी आयी। ५१ ई० पू० और ७९ ई० में विद्वानों की बड़ी सभाओं में शास्त्रों का पाठ निश्चित हुआ; १७५ ई० में उसे पत्थर की तख्तियों पर खुदवा कर राजधानी में लगवाया गया। भूगोल और इतिहास के लेखन में भी काफी प्रगति हुई। से-मा-च्यान ने सब से पहला जनता का इतिहास लिखा। काव्य के क्षेत्र में 'फू' का विकास हुआ। इसमें भाषा के प्रवाह, छन्द के सौष्ठव और ज्ञान के प्रदर्शन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इनमें राजा, उसके कर्मचारियों और पिट्ठुओं पर फब्तियाँ कसी जाती थीं और विद्वानों की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया जाता था। इस साहित्य के लेखकों में सेमा श्याङ-रन, श्युन छिङ, चिया-ई और तुङ छुङ-शू के नाम उल्लेखनीय हैं।

हान् युग में कला के क्षेत्र में नवीन शैली का समावेश हुआ। पत्थर की खुदाई का काम शुरू हुआ। सुध्द और बक्त्र के घोड़ों और नागों का चित्रण और आपस में गुंथी हुई शाखाओं वाले वृक्षों का अंकन इस काल की कला की विशेषता है। काँसी के काम, यशब की खुदाई, रेशम की बुनाई, लाख की पच्चीकारी और रत्नों की तराशी की कलाएँ भी काफी पनपीं। पश्चिमी एशिया के शकों की कला के नमूने पर चीतों, हरिणों, बैलों, घोड़ों और अन्य जानवरों की आकृतियों पर आधारित शैलियों का प्रचुर प्रचलन हुआ। इस युग की कला में यथार्थता, ओज और शक्ति के दर्शन होते हैं।

## तीसरा परिच्छेद

# मध्य एशिया की आँधी

### शक, ह्यूङ-नू और हूण

मंचूरिया से हंग्री तक फैले घास के मैदान जिन्हें स्तेप कहते हैं, एशिया के इतिहास में विशेष महत्त्व रखते हैं। इनमें काफी पुराने ज़माने से अनेक जातियों और कबीलों के लोग, अपने ढंगर-ढोर और साज-सामान लिये, चारे और पानी की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहे हैं। इस घूमने-फिरने में वे स्थायी समाजों के लोगों से बहुत सी बातें सीखते आये हैं और उन्हें बहुत सी बताते रहे हैं। ख़ास तौर से एक समाज की बातें दूसरों तक पहुँचाने में और विचारों और वस्तुओं के आदान-प्रदान में उनका बड़ा हाथ रहा है। जन्म से ही घुमन्तू और शिकारी होने के कारण एक ओर उनमें मजबूती, बहादुरी और दिलेरी रही है तो खुली जगहों में रहने और साफ हवा में साँस लेने से दूसरी ओर उनके दिलों और दिमागों में ताज़गी और चौड़ाई रही है। उन्होंने समय-समय पर सैनिक संगठन बनाकर स्थायी समाजों को चोटें पहुँचायी हैं तो उनके ढलते और गिरते शरीरों में ताकत और फुरती के इन्जेक्शन लगाकर उनका कायाकल्प भी किया है। पिछले परिच्छेद में हमने जिन साम्राज्यों का जिक्र किया है उनमें जब ढीलापन आया, क्योंकि समृद्धि आलस्य का कारण बनती है और सुख-शान्ति शिथिलता पैदा करती है, तो मध्य-एशिया के इन लोगों ने उन्हें झकझोर कर उनमें नयी चेतना उत्पन्न की और उनके समाजों और संस्कृतियों को नयी दिशाएँ दीं।

स्तेप के प्रदेश को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। पामीर और थ्यान-शान पर्वत के पश्चिमी अंचल इनका विभाजक स्थल है। इनके पश्चिम में हंग्री तक एक भाग है और पूर्व में गोबी तक दूसरा। इस पूर्वी भाग को भी थ्यान-शान पर्वत दो भागों में बाँटते हैं—दक्षिणी भाग तारिम नदी की घाटी है और उत्तरी भाग जुंगारिया का मैदान। ये दोनों भाग मंगोलिया में पहुँच कर एक हो जाते हैं। इस प्रकार स्तेप-प्रदेश में एकरूपता के साथ-साथ विविधता भी मिलती है जिसके फलस्वरूप अनेक जातियों और बोलियों के लोग घूमते-फिरते, आपस में मिलते-जुलते और लड़ते-भिड़ते, बहुत कुछ एक ढंग के समाज

और एक किस्म की संस्कृति का निर्माण करते हैं।

आधुनिक पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज से पता चला है कि शिकारी और फल-मूल बटोरने के जीवन के बाद मनुष्य ने खेती-बारी शुरू की और उसके बाद घुमन्तू पशु-पालन पद्धति अपनायी। जहाँ जलवायु के प्रभाव से खेती-बारी के बजाय प्राकृतिक चारे के आधार पर पशुओं को चराना और उनके मांस और दूध से अपना जीवन बिताना अधिक सुविधाजनक था वहाँ मनुष्य ने विशेष रूप से इस पद्धति को अपनाया। ईसा से लगभग १००० वर्ष पूर्व दक्षिणी रूस में किम्री लोगों का जोर हुआ। ये लोग कोह काफ (कॉकेशस) के आर-पार के इलाके से हंग्री तक फैले हुए थे। इनकी नस्ल ईरानी थी। ये घुड़सवारी में चतुर थे। इनका विधान सामन्ती ढंग का था और उनके सरदार बड़ी शान-शौकत से दफनाये जाते थे। उनके पूर्व में उसी नस्ल के और घुमन्तू लोग थे जिन्हें शक कहते हैं। इस शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है। जी० रॉलिन्सन के अनुसार इससे 'घुमन्तू', 'यायावर' का बोध होता है, एच० डब्ल्यू० बेले के मत से इसका अर्थ 'शक्तिशाली' या 'मनुष्य' है, ओ० जेमेरेन्यी का विचार है कि यह शब्द या तो 'चलने', 'बहने' या 'भागने' के लिए प्रयुक्त होता है या 'धनुर्धर' के लिए इस्तेमाल किया जाता है, ई० डी० फिलिप्स इसका अर्थ 'बारहसिंगा' बताते हैं और सिद्ध करते हैं कि इस पशु को दिव्य मानने के कारण या उस प्रदेश से विशेष सम्बन्ध रखने के कारण, जहाँ यह कसरत से पाया जाता है, ये लोग इस नाम से पुकारे जाने लगे। शकों की नस्ल के बारे में भी काफी मतभेद है—कुछ विद्वान् उन्हें तातार या मंगोल मानते हैं, कुछ स्लाव, कुछ ईरानी और कुछ उग्री-अल्ताई। किन्तु शक भाषा के बचे-खुचे शब्दों के आधार पर और उनके चेहरे-मोहरे को देखते हुए यही मानना उचित है कि वे मूलत: ईरानी थे लेकिन स्तेप के पूर्वी छोरों पर और लोगों से मिलने के कारण उनकी आकृति मंगोलों जैसी हो गयी। हेरोदोतस ने उनके अनेक कबीलों का ज़िक्र किया है। भारतीय ग्रन्थों में उनके देश को 'शाकद्वीप' कहा गया है जिसकी पहचान सीर दरया से वोल्गा और दोन नदियों तक के इलाके से की गयी है। इसमें सारा ईरानी जगत् शामिल हो जाता है। इसमें रहने वालों को भविष्यपुराण (१।१३९) में मग, मगग, गानग और मन्दग कहा गया है और महाभारत (६।१२।३३) में मग, मशक, मानस और मन्दग बताया गया है। 'मग' ईरानी पुरोहित वर्ग का नाम है तो 'गानग-मगग' से 'गोग-मेगोग' या 'याजूज-माजूज' का बोध होता है, जो इंजील और कुरान के अनुसार मध्य एशिया के घुमन्तू आक्रमणकारियों के द्योतक थे, और 'मन्दग' ईरानी जाति 'माद' (मोढ) का नाम मालूम होता है। इस तरह शकों में स्थायी और घुमन्तू दोनों प्रकार के ईरानियों को गिनाया गया है।

पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोजों से शकों के समाज और संस्कृति पर काफी रोशनी पड़ती

है। काले सागर के इलाके में उनके तीन क्षेत्र मिले हैं : (१) बग और नीपर नदियों की निचली घाटियाँ, (२) जंगली स्तेप की बस्तियाँ और (३) अज़ोक सागर के पूर्व में और कुबान नदी के उत्तर के सिन्दी और मेश्रोते प्रदेश। दनीपर के कामेंस्कोए के पहाड़ी क़िले के अवशेषों से पता चलता है कि वहाँ शक लोहारों और कारीगरों की बस्ती थी। ओदेसा के उत्तर-पूर्व में वारवारोका के पहाड़ी क़िले की खुदाई से प्रतीत होता है कि वहाँ शक लोग घर बसाकर रहते थे और उनके घरों में चूल्हे, चिमनी और अनाज भरने की कोठियाँ होती थीं। बग के किनारे की शिरोकाया बाल्का की बस्ती में चौकोर मकान मिले हैं जिनमें अनाज की कोठियाँ और भाड़-भट्टियाँ पायी गयी हैं। इनसे ज्ञात होता है कि शक दस्तकारी और खेती-बारी की तरफ चल पड़े थे। लेकिन उनका अभिजात वर्ग शिकार और युद्धविद्या को पसन्द करता था। उनके घुड़सवार धनुर्धर धनुष, काँसी या लोहे के भल्लों से जड़े वाणों, छोटी लोहे की तलवारों और बड़ी-बड़ी लोहे की नोकों से लैस छः फुट के बल्लमों से लड़ते थे। उन्हें लड़ाई के अलावा शराब का भी शौक था। मरने पर उन्हें सजधज के साथ दफनाया जाता था। शवयात्रा में आगे-आगे झण्डेवाले चलते थे। उनके पीछे गाड़ी में मृतक का शव रखा होता था। गाड़ी के ऊपर चार खम्भों पर चन्दोवा तना रहता था। इनमें पशुओं और दानवों की सोने की आकृतियाँ लगी रहती थीं और घंटियाँ टकी होती थीं। उसके पीछे मृतक की पत्नियाँ, नौकर और ज़ीन-कसे घोड़े चलते थे और उनके बाद रोते-पीटते लोगों का समूह चलता था। शोक प्रकट करने के लिए चेहरे को पीट-पीट कर या चाकू-छुरों से गोद कर घायल कर दिया जाता था। कालिदास ने 'रघुवंश' (४।६८) में बाल्हीदेश (बक्त्र) में वंक्षु (आमू दरया या ऑक्सस) के किनारे पर रहने वाले हूणों में इस प्रथा का उल्लेख किया है। लगता है कि उत्तरी भारत में जो स्याँपे में शरीर को पीटने-छेतने का रिवाज है वह इन्हीं लोगों से आया है। जब शवयात्रा क़ब्रिस्तान में पहुँचती तो मृतक को, अर्थी समेत, पूरी पोशाक में, कब्र के बिचले कक्ष में, पूर्व की ओर मुँह कर रखा जाता था। उसके हथियार, बरतन, खाने-पीने का सामान पास में रखा जाता था। उसकी पत्नियों, नौकरों और साइसों को गला घोंट कर मार कर और घोड़ों के सिरों को कुल्हाड़ी से छेतकर कब्र के बराबर के कक्षों में रखा जाता था। लगता है कि सती की प्रथा तभी से चली। क़ब्र के फर्श पर सुन्दर गलीचे बिछाये जाते थे और उसकी दीवारों पर भड़कीले रंगों के जरी की कढ़ाई के नमदे चिपकाये जाते थे। सारांश यह है कि क़ब्रों को शाही खमों के नमूनों पर बनाया जाता था, क्योंकि विचार यह था कि मरने के बाद भी व्यक्ति किसी न किसी रूप में रहता है और उसे उन सब चीजों की जरूरत पड़ती है जो जीवनकाल में चाहिए थीं। शकों की ये कब्रें क्रीमिया, तामान प्रायद्वीप, दनीपर और कुबान नदियों की घाटियों से लेकर अल्ताई पर्वत में पाजीरिक तक मिली हैं।

मध्य एशिया में शकों का जमाव केस्पियन सागर से पामीर और पश्चिमी थ्यान-शान तक था। ख्वारज़्म के इलाके में इनका खास केन्द्र था। जाना-दरिया की घाटी में आपसिआके, कुवान-दरिया के काँठे में तुखार, कुवान-दरिया और सीर-दरिया के दोआब के निचले भाग में औगासी और इन्कार-दरिया के इलाके में सकरौके रहते थे। ये शक निरे घुमन्तू नहीं थे, बल्कि जम कर रहने वाले खेती पेशा लोग थे। व्येल्स्क और कामेन्स्क में उनकी स्थायी बस्तियाँ मिली हैं। चिरिक-रबात और बाबीशमुल्ला में भी उनके निवास स्थान पाये गये हैं। इनसे पता चलता है कि वे खेती करने वाले, सिंचाई में निपुण, कारीगर और दस्तकार और नगर बनाने वाले थे। उनके घर गोल होते थे जिनके भीतर लकड़ी लगी होती और छतें खम्भों पर टिकी होती थीं। शहरों के चारों ओर दोहरी दीवारें और उनमें मीनारें बनायी जाती थीं। दीवारों के बीच में खाईं होती थी। शहर के बीच में किला होता था। एक शहर में गुम्बज वाला मकबरा भी मिला है। शहरों के निकट देहाती बस्तियाँ थीं जिनमें किसान और कारीगर रहते थे। लेकिन नदियों के वहाव के अदलने-बदलने से लोगों को अपना घर-बार और साज-सामान जल्दी से एक जगह से दूसरी जगह ले जाना पड़ता था। इससे ऐसा लगता था कि वे खानाबदोश हैं। उनका सामाजिक ढाँचा अभिजात वर्गों पर टिका था जिनके नीचे सामान्य लोग और गुलाम होते थे। आदिम साम्यवादी प्रथाओं के साथ-साथ सामन्ती विधान और दास-पद्धति भी उनमें पायी जाती थी।

केस्पियन सागर के उत्तरी तट से बल्कश झील तक यदि एक रेखा खींची जाय तो इसके दक्षिण में शक और उत्तर में सरमती मिलेंगे। शकों की तरह सरमती भी ईरानी नस्ल के थे। वे पूर्व से पश्चिम तक एक लम्बे इलाके में फैले हुए थे। पाँचवी सदी ई० पू० में वे यूराल पर्वत और दोन नदी के बीच वोल्गा नदी के इर्द-गिर्द रहते थे और अगली सदी में दक्षिणी रूस में धँस आये थे। यूराल पर्वत के दक्षिणी छोर पर छाकालोफ के निकट उनकी जो क़ब्रें मिली हैं उनसे पता चलता है कि उनका जीवन शकों के मुकाबले में ज्यादा सादा था। उनमें घुमन्तूपन अधिक था और घुड़सवारी का काफी शौक था। उन्होंने सबसे पहले रिकाब की ईजाद कर घुड़सवारी और युद्धविद्या को नया मोड़ दिया। रिकाब में पैर रखकर जब सवार जीन पर बैठता है तो वह मजबूती से सँभला रहता है और घोड़े पर भी ज्यादा जोर नहीं पड़ता और उसकी हरकत में आसानी होती है। इससे सरमती घुड़सवार और जातियों के घुड़सवारों के मुकाबले में ज्यादा प्रभावशाली साबित हुए और उन्होंने शकों को हराकर दक्षिणी रूस और पूर्वी योरोप में अपना सिक्का जमाया और दूसरी तरफ सुघ्द्, बक्त्र, ख्वारज़्म में अपना असर कायम किया जिसका ज़िक्र आगे किया जायगा।

सरमतियों के असर से रिकाब का रिवाज सारी दुनिया में फैला। चीन में पहली सदी और चौथी सदी ई० पू० के बीच घोड़े की बाँयी ओर रिकाब लगाने की प्रथा चली जिससे उस पर चढ़ने में सुविधा हो। हूणों के विरुद्ध लड़ने वाले सेनापति हो छू-पिङ की मूर्ति में, जो दूसरी सदी के अन्त में या तीसरी सदी के शुरू की है दोनों तरफ की रिकाब मिलती है। तब से चीन में इसका रिवाज आम हो गया। वहाँ से चौथी सदी में यह कोरिया पहुँचा और पाँचवी में जापान। भारत में रिकाब जैसी चीज़ साँची और मथुरा की मूर्तियों में मिलती है जो ईसवी सन् से पहली है। तीसरी सदी ई० के एक लोटे पर अंकित दो घुड़सवारों की आकृतियों पर भी रिकाब पायी जाती है। हर्ष के राज-कवि बाणभट्ट ने सातवीं सदी में 'उरोबध्रारोपित चरणायुगल' शब्द के प्रयोग द्वारा रिकाब की ओर संकेत किया है। बारहवीं सदी में सोमेश्वर ने अपने 'मानसोल्लास' में सोने के 'पादाधार' (रिकाब) की चर्चा की है। लेकिन लगता है कि भारत में रिकाब का रिवाज आम नहीं हुआ जिससे तुर्कों के मुक़ाबले में राजपूत घुड़सवार कमज़ोर रहे। पश्चिम में यद्यपि चेरतोमलीक से प्राप्त एक कलश पर अंकित मूर्ति में ज़ीन से निकलते हुए रिकाब दिखाये गये हैं, यूनानी और रोमन जगत् में इनका कभी रिवाज नहीं हुआ, बाइज़ेन्तियम के सम्राट मोरिस (५८२-६०२ ई०) के युद्ध सम्बन्धी एक ग्रन्थ में इसका सब से पहला योरोपियन उल्लेख मिलता है।

रिकाब शुरू में रस्सी या चमड़े की बनती थी, बाद में लोहे की बनने लगी। मध्य एशिया से जो सब से पुरानी लोहे की रिकाब मिली है वह छठी सदी ई० की है। पंजीकन्द से एक सातवीं सदी की रिकाब मिली है। सातवीं सदी में अल-मुहल्लब ने इन्हें अरब फौज में जारी किया। लोहे की रिकाबों ने युद्ध विद्या को एक बिलकुल नया मोड़ दिया और तुर्कों को अजेय बना दिया।

रिकाब के अलावा सरमतियों ने धनुष-बाण के बजाय भाला, लम्बी तलवार और छल्लेदार कवच को अपनाकर अपनी युद्ध-शक्ति को और भी बढ़ाया। उनके कुछ क़बीलों में स्त्रियाँ भी पुरुषों की भाँति योद्धा थीं। जब तक कोई कन्या किसी शत्रु का वध न कर लेती उस समय तक कोई उससे विवाह न करता था। तीफलीस से आठ मील ज़ेमो-आवचाला से प्राप्त एक योद्धा स्त्री की क़ब्र से पता चलता है कि उनके समाज में स्त्रियों का कितना महत्त्व था। लगता है कि इसी से 'स्त्रीराज्य' की परिकल्पना फैली। सारांश यह है कि सरमतियों की युद्ध-कुशलता ने उन्हें मध्य एशिया में अजेय बना दिया, जिससे एशिया भर को उनका लोहा मानना पड़ा।

सरमती लोगों के अनेक क़बीले थे। पश्चिम में इनके इयाजीगी, रोक्सोलानी, सिराकी और अओरसी नाम के क़बीलों का उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वानों का

विचार है कि आधुनिक रूसी लोग शक-सरमतियों की सन्तान हैं। पूर्व में इन्हें एलैन, श्रोसत, आस, असि, अर्शि (ऋषिक), यू-ची आदि कहते थे। भारत में आने वाली कुषाण जाति इन्हीं से सम्बन्धित थी।

स्तेप के पूर्वी छोरों पर, ख़ास तौर से पश्चिमी गोबी श्रौर मंगोलिया में, एक श्रौर जातियों का समूह था जिसे ह्यूङ-नू कहते हैं। इनमें उन लोगों के पुरखे शामिल थे जो बाद में तुर्क कहलाये। शायद उनमें मंगोल तत्त्व भी हों। असल में उस समय तुर्क श्रौर मंगोल नाम अज्ञात थे। कुछ ऐसा भी साक्ष्य मिलता है कि उनमें ईरानी लोग भी पाये जाते थे। उदाहरण के लिए चीनी सरदार हो छू-पिङ के घोड़े के पैरों तले जिस ह्यूङ-नू को कुचला जाता हुआ दिखाया गया है उसके ईरानियों जैसी पूरी मूँछें श्रौर भरी हुई दाढ़ी है। इसके अलावा चीनी ग्रन्थ 'चिन-शू' के अनुसार सेनापति शर-मिन ने ३४६ में जिन ह्यूङ-नू को मारने का आदेश दिया उनके लम्बी नाकें श्रौर भरी हुई दाढ़ियाँ बतायी गयी हैं। ये लक्षण ईरानियों के हैं न कि तुर्कों या मंगोलों के। कुछ विद्वानों के अनुसार हून (ह्यूङ-नू) शब्द ही ईरानी भाषा का है। श्रोतो मेन्शन-हेल्फन इसे अवस्ता के 'हूनरा' (चतुरता) श्रौर 'हूनरवन्त' (चतुर) से निकला मानते हैं।

तीसरी सदी ई० पू० के उत्तरार्ध में ह्यूङ-नू ने श्रोरख़न नदी के किनारे अपनी राजधानी क़ायम की। इनके सबसे बड़े सरदार को शान-यू कहते थे। उसकी उपाधि के साथ छेङ-ली (तान्ग्री) शब्द जुड़ा था जो बाद में आकाश के देवता के लिए प्रयुक्त होने लगा। इससे पता चलता है कि वह अपनी दिव्य शक्ति श्रौर स्वरूप का दावा करने लगा था। उसके नीचे दो सरदार थे जिनकी उपाधि थू-खी (दो ग्री—स्वामी भक्त) थे। उनके शिविर केरुलन नदी श्रौर खान्गाई पर्वत पर थे। उनके नीचे कू-ली, सेनापति, राज्यपाल, ताङ-हू, कू-तू, हजार सैनिकों के अध्यक्ष, सौ सैनिकों के नेता श्रौर दस सैनिकों के नायक होते थे। इस वर्गीकृत व्यवस्था से ह्यूङ-नू की शक्ति बहुत बढ़ गयी।

इन ह्यूङ-नू ने लचकीले धनुष की ईजाद कर, जिसके दोनों किनारों पर हड्डी जुड़ी होती थी, श्रौर सर्राते हुए बाण का प्रयोग शुरू कर युद्ध विद्या को एक नया मोड़ दिया। इससे उनकी शक्ति बहुत बढ़ गयी श्रौर कोरिया से अल्ताई तक श्रौर चीन की सीमा से बाइकाल झील के परे तक के इलाके पर उनका शासन जम गया।

ह्यूङ-नू या उनके मातहत लोगों की संस्कृति का अन्दाज़ा नदी के किनारे नोइन-ऊला पर्वत पर स्थित उनकी क़ब्रों से लगाया जा सकता है। इनकी संख्या २१२ है श्रौर इनके तीन समूह हैं। हर क़ब्र में ५ मीटर लम्बा लकड़ी के लट्ठों से छपा एक कमरा होता था। इसके भीतर ३ मीटर लम्बा एक श्रौर कमरा होता था। इसमें लकड़ी के ताबूत में मृतक को रखा जाता था। कमरों की दीवारों, छतों श्रौर फर्शों पर रेशम,

नमदे और ऊनी चीजें लगायी जाती थीं। एक नमदे पर चीनी शैली के अजदहों, कछुओं और मछलियों के डिज़ाइन मिलते हैं और कुछ पर ईरानी और आरमीनी चेहरे अंकित पाये जाते हैं और यूनानी और रोमन नमूने दिखायी देते हैं। ख़ास तौर से तीन जोड़ी थैलेनुमा पाजामे, दो लम्बी आस्तीन के ज़नाने लबादे, एक रेशम की टोपी उनके पहनावे पर रोशनी डालती है। इन क़ब्रों से प्राप्त वस्तुओं से पता चलता है कि स्तेपों में कोई भी जाति और लोगों से बिलकुल अलग-थलग नहीं रह सकी। एक का प्रभाव दूसरे पर गहराई से पड़ा।

मध्य एशिया के लोगों में, विशेषतः शकों में, समाज के तीन वर्ग, योद्धा-शासक, पण्डे-पुरोहित और कृषक और चरवाहे थे, जैसा कि बेंवनिस्त ने सिद्ध किया है। योद्धा-शासक बसे हुए शहरों या गाँवों में रहना पसन्द नहीं करते थे, वरन् घोड़ों पर और गाड़ियों में घूमते और डेरे-तम्बुओं में रहते थे। लेकिन उन्हें तड़क-भड़क और शान-शौकत रुचती थी। उनके घोड़ों के साज़ सोने की जड़ाई से जगमगाते थे और तम्बुओं में कढ़ाई और कसीदे के नमदों और गलीचों की रौनक़ रहती थी। वे घोड़ों पर चलते पर उनकी औरतें और सामान गाड़ियों में चलता था। ये गाड़ियाँ १० फुट लम्बी और ९ फुट ऊँची होती थीं। इनमें ६½ फुट व्यास के चार पहिये होते थे, चालक के लिए एक उभरा हुआ आसन होता था और काले नमदे का घटाटोप लगा रहता था। शक शरीर पर जानवरों की आकृतियों के डिज़ाइन खिचवाते और नोकीले टोपे, पेटी से बँधे अचकन और चोग़े, पाजामे और पूरे बूट पहनते थे। उन्हें ज़ेवरों का काफी शौक था। वे मांस और दूध का भोजन करते और शराब के शौकीन थे। उनमें एक ही चषक से अपने-अपने खून की बूँदें मिलाकर इकट्ठे शराब पीना दोस्ती का निशान माना जाता था। कूल-ओबा से इस तरह एक चषक से शराब पीते हुए दाढ़ी-मूँछों वाले भारी-भरकम शकों का चित्र मिला है। उनकी कला में जानवरों की आकृतियों के डिज़ाइन प्रमुख हैं। ये आकृतियाँ यथार्थ नहीं होतीं। इनमें कल्पना का पुट भी होता है। लेकिन इनमें ओज और गति की प्रमुखता रहती है। ज़ेवरों के अलावा, हथियारों, बरतनों, साज़ के हिस्सों आदि में इस कला के ख़ास नमूने मिलते हैं। वे पृथ्वी, आकाश, सूर्य और जल के देवताओं की पूजा करते थे। उनके वंशज स्लावों में सूर्य के त्यौहारों पर लाल पूए खाना शुभ माना जाता था।

स्तेपों में जातियों की स्थिति ऐसी है कि यदि एक कोने पर कुछ हलचल हो जाय तो एक के बाद दूसरी सभी जातियाँ चलायमान हो जाती हैं। पहली सहस्राब्दी ई० पू० में इसके पूर्वी छोर पर ह्यूङ-नू इधर-उधर बिखरने और फैलने लगे। उन्होंने चीन में मारधाड़ कर बड़ा नुक्सान किया। इसपर सम्राट सुआन (८२७–७८१ ई० पू०)

ने उनपर करारे वार कर उन्हें पश्चिम की ओर भगा दिया। पश्चिम की ओर धकापेल करते हुए उन्होंने और जातियों की उखाड़-पछाड़ शुरू की। इसके साथ ही ८०० ई० पू० के लगभग स्तेप में भयानक सूखा पड़ गया। अतः सारे मध्य एशिया में भगदड़ मच गयी। वंक्षु के उत्तर में रहने वाले मशक शकों से भिड़ गये और वे पूर्वी किम्रियों पर टूट पड़े। किम्री दारियल दर्रे से होकर उरार्तू में घुस पड़े, शकों का एक भाग दक्षिणी रूस में पहुँच गया और दूसरे ने असुरिया पर धावा किया। ईरान और भारत में भी शकों के हमले हुए। पाणिनि के व्याकरण में 'कन्थ' आदि शक शब्द मिलते हैं। पंचालों में जो सोमक थे वे शक होमवर्का की याद दिलाते हैं।

लगभग ८०० वर्ष बाद फिर इसी इतिहास ने अपने को दोहराया। ह्यूङ्-नू सरदार माओ-तुएन (२०६—१७४ ई० पू०) ने पश्चिमी कान-सू में यू-ची (शक) क़बीलों को हराया और उसके पुत्र लेओ-शाङ (१७४—१६१ ई० पू०) ने उन्हें उत्तरी गोबी के पार पश्चिम की ओर खदेड़ दिया। अपने कुछ लोगों को नान-शान पर्वत के दक्षिण में छोड़ कर, उनका बड़ा भाग इली नदी की घाटी और इस्सीक-कुल झील के आसपास जा पहुँचा। वहाँ रहने वाले शकों से उनकी भिड़न्त हुई। उनके एक क़बीले गू-ज़ुर (वू-सुन) ने, जो गूजरों के पुरखे थे, उन्हें वहाँ से निकाल कर और पश्चिम की ओर धकेल दिया। अतः वे सीर-दरिया को पारकर सुघ्द में घुसे और वंक्षु के पार वाख़ान, बदख़्शाँ, चितराल और काफिरिस्तान के इलाके में, जिसे चीनी लोग ता-ह्यिा कहते थे, बस गये। वहाँ से उन्होंने शकों को उखाड़ कर इधर-उधर फैलने और ख़ास तौर से भारत में घुसने पर मजबूर कर दिया। इस प्रकार इन घुमन्तू जातियों की खलबली और धकापेल से ईरान, भारत और चीन में काफी तबदीली हुई और पुराने साम्राज्यों के बजाय नयी व्यवस्थाएँ सामने आयीं।

## ईरान का पार्थव युग

घुमन्तू शक जातियों का दाहा नामक दल ख़ुरासान की पहाड़ियों के उत्तर के मैदानों में घूमता रहता था। इनमें तीन जातियाँ शामिल थीं। उनमें से एक का नाम पर्णी था। इन पर्णी लोगों में से ही पार्थव निकले। २५० ई० पू० के लगभग पर्णी जाति के घुमक्कड़ और लड़ाकू दल केस्पियन पार के इलाक़े से ईरान की ओर बढ़ने शुरू हुए। इन्होंने बख्त्री और सेल्युकी यूनानियों से कड़ी टक्कर ली। १६० और १४० ई० पू० के बीच इनके राजा मिथ्रदात प्रथम ने असुरिया और बाबुल से लगाकर हेरात और सीसतान तक के सारे इलाक़े को जीतकर ईरान में एक संगठित और सुदृढ़ राज्य क़ायम किया और दजला के किनारे तेसीफोन में इसकी राजधानी बनायी। उसी के नामराशि

एक और राजा मिथ्रदात द्वितीय ने मर्व, हेरात और सीसतान पर कब्जा कर पार्थव राज्य को वंक्षु तक मिला दिया। लेकिन उसके मरते ही गिरावट शुरू हुई। आरमीनिया का शासक स्वाधीन हो गया, अफ़ग़ानिस्तान में वनान नाम के एक सरदार ने अपनी अलग हुकूमत क़ायम कर ली, रोमन सम्राटों ने ईरान को जीतने के मन्सूबे बनाये। ५३ ई० पू० में रोमन और पार्थव सेनाओं में कारहे की रणभूमि पर भयंकर युद्ध हुआ। यह इतिहास का एक निर्णायक युद्ध माना जाता है। इसमें पार्थवों की विजय ने सिद्ध कर दिया कि घुड़सवार सेना के मुक़ाबले में पैदल सेना बेकार है। इससे रोमन लोगों ने भी घुड़सवार दस्ते भरती करने शुरू कर दिये। रोमनों और पार्थवों का संघर्ष बड़ा लम्बा चला, लेकिन रोमन ईरान को कभी जीत न पाये। उनका सिकन्दर के साम्राज्य को फिर से बनाने का सपना टूट कर रह गया।

पार्थव युग को ईरान और पश्चिमी एशिया के इतिहास का संक्रान्ति-काल कहा जा सकता है। कई सदियों के संघर्ष के बाद एशिया से यूनानियों का आधिपत्य ख़त्म हुआ और इसके साथ ही उस युग की सामाजिक अवस्था बदलनी शुरू हुई। हेलेनी, यूनानी-रोमन, व्यवस्था का आधार, नगर-राज्यों की परम्परा और पद्धति, टूटने लगी और आपसी फूट से लड़खड़ाते हुए नागरिकों ने सार्वभौम राज्य की आवश्यकता महसूस की।

पार्थव राज्य में घुमन्तू क़बीलाशाही का बोलबाला था। उसके अन्तर्गत १८ रियासतें थीं। इनमें से ११ ऊँची मानी जाती थीं और सात नीची। इनमें से कुछ को अपने सिक्के तक चलाने का अधिकार था। इनके अलावा बहुत सा प्रदेश क्षत्रपों के हाथों में था। ये क्षत्रप ऊँचे सामन्ती परिवारों से सम्बन्धित थे और उनके अधिकार पैतृक थे। बड़े सामन्तों की अपनी-अपनी सेनाएँ थीं। इनके गुट बनते रहते थे। उनकी एक सभा भी थी जो राजा की ताजपोशी को मंजूर करती और अक्सर उन्हें नामज़द भी करती थी। इनकी आपसी गड़बड़ से राज्य में काफी खलबली रहती थी।

पार्थव समाज चार वर्गों और श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। त्रोगस पोम्पे के कथन के अनुसार समाज में सब से ऊँचा दर्जा राजा का था। इसके बाद सामन्तों का दर्जा था। इनके हाथ में सेना की कमान और शासन की बागडोर थी। इनमें से हर एक के साथ अनुयायी और पिछलगे रहते थे। जस्तिन ने इन्हें 'सर्वितियोर' कहा है। ये सब लोग घोड़ों पर चढ़ कर युद्ध करते थे। सब से नीचे दास होते थे। जस्तिन ने इनके लिए 'सर्वि' शब्द का प्रयोग किया है। ये कभी आज़ाद नहीं हो सकते थे। इन्हें घुड़सवारी का हक़ नहीं था और ये पैदल ही युद्ध करते थे।

पार्थव लोगों को घुड़सवारी का बड़ा शौक़ था। जस्तिन ने लिखा है कि वे

घोड़ों पर बैठ कर ही सलाह-मशविरा करते, व्यापार-वाणिज्य करते और सब काम करते थे। वास्तव में उन्होंने घुड़सवारी की कला को बहुत तरक्की दी। उन्होंने घोड़े को सवार समेत कवच से लैस करके ऐसा युद्ध-यन्त्र तैयार किया जो उस काल में अजेय था। उनके कवचधारी घुड़सवार (केतेफ्रेक्त) की शक्ति ५३ ई० पू० के कारहे के युद्ध में प्रकट हुई, जब उनके दस्तों ने रोमन पैदलों की पंक्तियों (फाँलाँक्स) को चकनाचूर कर दिया। उसी ज़माने में घोड़ों के सुमों में तरनाल लगाने का रिवाज चला, हालाँकि यह कहना कठिन है कि इसकी शुरुआत पूर्व से हुई या पश्चिम से। इससे घुड़सवारी की कला और युद्ध में इसकी क्षमता में अभूतपूर्व उन्नति हुई। पार्थव घुड़सवार, 'केते-फ्रेक्ती' (ऊँचे वर्ग के घुड़सवार) और 'सगित्तारी' (निचले वर्ग के घुड़सवार), दोनों ओर ताक कर निशाना लगा सकते थे। उनका तरीका यह था कि दुश्मन के हमले के सामने वे पीछे लौट जाते और फिर बराबरी में से या पीछे से घूम कर मार करते। उनके अचानक और करारे हमलों से दुश्मन की फौज में खलबली मच जाती। लेकिन, जैसा कि रोमन-पार्थव युद्धों से ज़ाहिर है, पार्थव सेना बचाव में जितनी सशक्त थी, वार में उतनी सक्षम न थी।

पार्थव शासक यूनानी संस्कृति के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने बहुत कुछ हेलेनी जीवन-शैली को अपनाया। पुरातत्त्व की खोजों से उनके बहुत से शहर मिले हैं जिनसे इस बात की पुष्टि होती है। अश्क़ाबाद से १८ किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में प्राचीन नीसा और अर्वाचीन नीसा नाम के उस काल के दो शहरों का पता चला है। वहाँ के राज-महलों के हाल-कमरों की सजावट और शानशौकत पार्थव राजाओं की समृद्धि और शौक़ीनी का साक्ष्य देती है। एक बड़े वर्गाकार हाल-कमरे में हाथी दाँत का सामान मिला है। इनमें कुछ गिलास और प्याले, जिनके किनारों पर यूनानी आख्यान चित्रित हैं, बड़े महत्त्व के हैं। वहाँ से प्राप्त मनुष्य के आकार की कुछ मूर्तियों से, जो ख़्वारज़्म में तोपराक काला, सुर्खकोतल में कुषाण देवकुल और शामी और निमरूद दाग़ की मूर्तियों से मिलती-जुलती हैं, पता चलता है कि पार्थव समाज में मृत राजा की पूजा का रिवाज चल पड़ा था। प्राचीन नीसा के शराब के गोदाम में लगभग दो हज़ार से ऊपर अभिलेख भी मिले हैं। ये करों की रसीद नहीं हैं वरन् पंजीकरण के वृत्त हैं। इनमें आये हुए नाम ईरानी हैं और उनमें से अधिक ज़रथुस्त्री हैं। इस नगर में यूनानी ढंग का प्रेक्षागृह और रंगमंच भी मिला है।

पार्थव युग में समाज का आर्थिक ढाँचा बदलना शुरू हुआ। सामूहिक सम्पत्ति के बजाय वैयक्तिक सम्पत्ति का रिवाज बढ़ने लगा। ज़मीन-जायदाद की ख़रीद-बेच होने लगी। जमीनों के सौदों के अलावा गिरवी-गाँठी, हुण्डी-पर्चे और सूद-बट्टे का

भी रिवाज बढ़ा। दूरा-योरोपोस से जो यूनानी भाषा के लेख मिले हैं उनसे कर्ज़ लेने-देने के मुहादों पर रोशनी पड़ती है। इस युग में पुराने ढर्रे की दास-प्रथा ढीली पड़ रही थी और कर्मकारों की व्यवस्था ज़्यादा उपयोगी होती जा रही थी। इससे उत्पादन की प्रक्रिया में परिवर्तन हुआ जिसका रूप सासानी काल में निखरा। इसकी चर्चा आगे की जायगी।

पार्थव काल की वित्त-व्यवस्था के बारे में ज़्यादा पता नहीं चलता, लेकिन ऐसा लगता है कि उस काल में दो कर—भूमिकर (तस्क़ा) और व्यक्तिकर (केरोगा)—रहे होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि सामन्त, सैनिक, पुरोहित, पण्डे और राजकर्मचारी व्यक्ति-कर से मुक्त थे। घाट उतरने पर भी कर था, माल के यातायात पर चुंगी थी, दास, नमक आदि की तिजारत पर टैक्स था। बेगार का काफी रिवाज था।

पार्थव राजाओं ने सड़कों और घाटों की देखरेख पर काफी ध्यान दिया, रेगिस्तानी इलाक़ों में सड़कों के किनारे कुएँ और सराय बनवायीं, सड़कों और उनपर चलने वाले यात्रियों और सार्थों की रक्षा के लिए विशेष पुलिस तैनात की और डाक लाने और ले जाने का अच्छा इन्तज़ाम किया। उनके ज़माने में उद्योग-धन्धों की काफी तरक्क़ी हुई और बड़े-बड़े फार्म बन जाने से खेती-बारी को काफी बढ़ावा मिला। उस काल के व्यापार की उन्नति का अन्दाज़ा इस बात से किया जा सकता है कि पार्थव राजाओं के सिक्के वोल्गा नदी के तट पर, काकेशस में, चीनी तुर्किस्तान में और बहुत सी अन्य जगहों पर मिले हैं।

धर्म के मामले में पार्थव बड़े लचीले थे। वे अहुर्मज़्दा, मिथ्र और अनाहिता के उपासक थे, लेकिन अन्य स्थानीय देवी-देवताओं की पूजा पर भी कोई रोकटोक नहीं थी। सिक्कों पर यूनानी देवी-देवताओं के चित्र मिल जाते हैं। भारतीय पार्थव राजाओं के सिक्कों पर शिव, इन्द्र, लक्ष्मी, यक्षी, नन्दी आदि की आकृतियाँ पायी जाती हैं। बाद में पार्थवों ने बौद्ध धर्म में काफी दिलचस्पी दिखायी। उनके युग में यहूदियों को धर्म के विषय में पूरी स्वतन्त्रता थी। सासानी काल की कट्टरता तो उन्हें छू भी नहीं पायी थी।

पार्थव शरीर से हृष्ट-पुष्ट और भड़कीले कपड़ों और ज़ेवर के शौकीन थे। उनके भरे हुए चेहरे, पूरी दाढ़ी-मूँछ और गठीले बदन कलाकृतियों में दिखायी देते हैं। आम तौर से वे पाजामे पहनते और घुटनों को छूता हुआ लम्बा शानदार कोट पहनते जिस पर जवाहरात जड़े होते थे। सब से ऊपर कन्धों पर वे लबादा डालते थे। कोट को धातु के छोटे चौपारों या जानवरों की शक्ल के टिकलों से बनी हुई पेटी से बाँधने का रिवाज था। पाजामों की कन्नी पर घुण्डी या बटनों की पंक्ति होती थी। पेलमीरा के इलाके में पाजामे को पंजे के ऊपर बाँधने का रिवाज था। औरतें पैरों तक लटकने

वाले कुरते और ऊपर कोट या लबादे पहनती थीं। सब कपड़े रंगीन और जड़ाऊ होते थे और उन पर तरह-तरह के बेल-बूटे कढ़े होते थे।

पार्थव युग में यूनानी भाषा काफी बोली और समझी जाती थी। लोगों को यूनानी नाटक देखने का शौक़ था। पश्चिम में शामी भाषा का रिवाज था। भाट, कवि और गायक (गोसान) राष्ट्रीय महाकाव्य में अनेक वीररस प्रधान और सामन्ती प्रथा से अनुप्राणित अंश जोड़ रहे थे। इनकी कृतियों द्वारा यूनानी हिरेक्लीस के क़िस्से और शक रुस्तम के कारनामे राष्ट्रीय काव्य के अंग बन गये। हाल ही में रुस्तम के आख्यानों के अंश सुद्धी भाषा में चीनी तुर्किस्तान में मिले हैं। इनसे इस बात की पुष्टि होती है कि रुस्तम का कथानक शकों की देन है। पार्थव लोग बाद की परम्पराओं में 'पहलवान' कहलाये। इनसे सम्बन्धित वीर-आख्यान विभिन्न रूपों में ईरानी साहित्य में बच रहे हैं।

कला की दृष्टि से पार्थव युग का काफी महत्त्व है। सेल्यूकी काल में कला की तीन शैलियाँ प्रचलित थीं: (१) हेलेनी कला (२) यूनानी-ईरानी कला और (३) ईरानी कला। श्लुमबर्जे जैसे कलाविदों का विचार है कि फरात से गंगा तक हेलेनी काल के अन्त में जो यूनानी-ईरानी कला-शैली फैली हुई थी उसीसे पार्थव कला का विकास हुआ, किन्तु धिर्शमान ने सिद्ध किया है कि इस कला के विकास में बृहत्तर ईरान की देशी परम्पराओं का गहरा हाथ था। पार्थव नगर-विन्यास और वास्तुशिल्प पर घुमन्तू जीवन-शैली का बड़ा प्रभाव पड़ा। पार्थव नगर यूनानी नगरों की तरह चौकोर नहीं थे, बल्कि घुमन्तू लोगों के शिविरों की तरह वृत्ताकार थे। इनकी किलाबन्दियों की दीवारें टेढ़ी-मेढ़ी, उभरी-सिकुड़ी होती थीं जिससे बचाव के वक्त खास हिस्सों पर जोर दिया जा सके। पार्थव मकान तम्बुओं के नमूने पर बने होते थे। उनकी विशेषता ईवान थी। ईवान के प्रायः तीन कक्ष होते थे, बीच में बड़ा हाल और इर्द-गिर्द बग़लियाँ। इन मकानों में चूने का काफी प्रयोग होता था। सजावट के लिए मकान के सामने की तरफ ताकियों में चेहरे लगाये जाते थे। मूर्तिकला में पूर्वी और पश्चिमी नमूनों का मिश्रण हुआ। हिरेक्लीस का चेहरा ईरानी वृत्रघ्न के चेहरे से मिला दिया गया। ये चेहरे सामने की ओर रहते थे और उनकी रेखाएँ स्पष्ट थीं। इनमें गोल-मटोल अंग और साफ-सुथरे आँख-नाक काफी महत्त्व के हैं। यह परम्परा लूरिस्तान की घुमन्तू कला से ली गयी मालूम होती है। इस काल में चित्रकला ने भी काफी तरक्क़ी की। इसमें रंगों की तड़क-भड़क और दृश्यों की पूर्णता और स्पष्टता प्रमुख है। पार्थव काँसी, सोने और मिट्टी की अच्छी चीज़ें बनाते थे। जानवरों की आकृति बनाने का बड़ा रिवाज था। पार्थव कला का असर दूर-दूर तक पड़ा।

## भारत का शक-कुषाण युग

पहले अनुच्छेद में हमने यू-ची लोगों के सीर-दरया और आमू-दरया (वंक्षु) को पार कर चितराल, बदख़्शाँ और पूर्वी बक्त्र में बसने की बात कही है। दक्षिणी ताजिकिस्तान में बिशकन्द नदी की घाटी में तुल्ख़ार, अरुकतौस और क़ोक़-कुम क़ब्रिस्तान की खुदाई से और पूर्वी तुर्कमेनिस्तान में आमू-दरया (वंक्षु) के दक्षिणी किनारे पर बाबाशोफ नामक स्थान से इन लोगों के बहुत से अवशेष मिले हैं जिनसे पता चलता है कि इन्होंने बस्तियों से बाहर और खेती-बारी के इलाक़ों को नुक़सान पहुँचाये बिना अपने आवास क़ायम किये। महाभारत (२।२७।२६) में उन्हें 'ऋषिक' और 'परमर्षिक' कहा गया है और अफगानों (लोह) और बदख़्शाँ के ईरानी लोगों (परमकाम्बोज) के पड़ोस में बताया गया है। ये 'ऋषिक' और 'परमर्षिक' शब्द 'यू-ची' और 'ता-यू-ची' के समकक्ष हैं और इनका अर्थ 'सफेद' है। मध्य एशिया में शुरू से ही यह प्रथा रही है कि अभिजात शासक वर्ग को 'सफेद' और सामान्य शासित जनता को 'काला' कहा जाता है। भारतीय 'वर्ण' की परिकल्पना भी इसी विचारधारा पर आधारित मालूम होती है। अतः सभी उच्च वर्ग अपने आपको 'सफेद' कहते थे। 'ऋषिक' 'अर्जुन' आदि शब्द इसके द्योतक हैं।

यू-ची (ऋषिकों) के इस संक्रमण से मध्य-एशिया में बड़ी उथल-पुथल हुई। शकों ने बक्त्र के यूनानी राज्य को उखाड़ दिया। यह राज्य पंजाब तक फैला हुआ था। इसके शासकों ने, जैसे १५० ई० पू० के क़रीब देमेत्रियस द्वितीय ने, मथुरा और पाटलिपुत्र तक धावे किये। उनका राजा मेनान्दर बौद्ध साहित्य में 'मिलिन्द' के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध आचार्य नागसेन से उसकी बातचीत 'मिलिन्द पन्हो' नामक पालि-ग्रन्थ में संगृहीत है। लगता है कि वह वही यवनाचार्य मीनराज है जिसने ज्योतिष का ग्रन्थ 'वृद्धयवनजातक' लिखा। उसके उत्तराधिकारियों को शकों के हमलों का सामना करना पड़ा। उनकी एक शाखा मर्व और हेरात होती हुई सीसतान में बस गयी जहाँ से जैन आचार्य कालक ने उन्हें मालवा पर हमला कर वहाँ के गर्दभिल्ल राजा को हटाने के लिए बुलाया, और दूसरी शाखा उत्तरी पहाड़ी मार्गों से कश्मीर-कापिशी (की-पिन) में धँस आयी और वहाँ से पंजाब और उत्तरी भारत को रौंदने लगी। उनका राजा मोग (मेवकी) ४८–३३ ई० पू० में उत्तर-पश्चिम भारत का सार्वभौम शासक था और उसने 'राजाधिराज' की उपाधि धारण की। उसके वंशज भारत में मुरुण्ड कहलाये। किन्तु पार्थव के एक नेता वनान ने उन्हें दबा लिया। कुछ अरसे तक पंजाब में पार्थव शासन रहा। इस वंश का राजा गुन्दफर्न (विन्दफर्न) ईसाई कथानकों में प्रसिद्ध है। उसके ज़माने में ईसाई प्रचारक सन्त तामस भारत आया। उसी युग में सुघ्‌दी लोग,

जिन्हें 'चूलिक' या 'शूलिक' कहते थे पंजाब में बस गये। इनके वंशज आजकल के 'सुल्की', 'सुल्गी', 'सूद' आदि हैं। उस काल के व्यापारी जगत् में इनका बड़ा मान था।

यू-ची लोगों ने ता-हिया को पाँच रियासतों में बाँट रखा था। ३०-२८ ई० पू० के कुछ बाद उनमें एक रियासत के लोग, जिन्हें कुषाण कहते थे, और चारों पर हावी हो गये। उनके नेता कुजूल कदफिस ने काबुल—कापिशी पर अधिकार कर पार्थव राज्य का अन्त कर दिया। उसके सिक्कों पर उसे जो मुकुट पहने हुए दिखाया गया है वह रोमन सम्राट ऑगस्तस (२७ ई० पू०-१४ ई०) के मुकुट के समान है। उसके पुत्र वीमा कदफिस ने उत्तरी भारत को जीता और सोने के सिक्के जारी किये। वह शिव का भक्त था। उसकी ओर से भारत में जो प्रशासक काम करता था, उसने 'सोतर मेगस' के नाम से सिक्के चलाये। वीमा के बाद पहली सदी ई० के अन्तिम चरण में कनिष्क गद्दी पर बैठा। हालाँकि उसकी तिथि के बारे में विद्वानों में गहरा मतभेद है किन्तु आम तौर से यही माना जाता है कि उसका राज्यकाल ७८ ई० से शुरू होता है जो शक संवत् का पहला वर्ष है। उसने काफी दूर तक के इलाके जीते। तिब्बती अनुश्रुतियों के अनुसार उसने साकेत और पाटलिपुत्र तक धाक जमायी। उसके समय के अभिलेख मथुरा, श्रावस्ती, कौशाम्बी और सारनाथ में मिले हैं। कौशाम्बी में घोषिताराम की खुदाई से लयक, जुवासक, उझक, खुणक आदि व्यक्तियों द्वारा दिये गये दान का साक्ष्य मिलता है जो साफ तौर से शक हैं। सारनाथ से महाक्षत्रप खरपल्लान और क्षत्रप वनस्पर के लेख मिले हैं जो शुद्ध बख्त्री नाम हैं। कुषाण सिक्के गाजीपुर और गोरखपुर में ही नहीं उड़ीसा तक में मिलते हैं। दक्षिण में नर्मदा घाटी तक कुषाणों के आधिपत्य का सबूत मिलता है। एक पश्चिमी ग्रन्थ में कनिष्क (सन्दनस) के कल्याण पर कब्जा करने का उल्लेख है जिससे शातवाहन राज्य में आने वाले यूनानी जहाज पहरे के साथ भड़ौंच की ओर मुड़ने लगे थे। एरण की खुदाई से हमुगम, वलाक, दास, सऊम आदि के सिक्के मिले हैं जो शायद शक थे। काशिका में ऋषिक और महर्षिक को साथ-साथ रखा गया है। सिलवें लेवी तो यहाँ तक मानते हैं कि कुषाण द्रविड़ देश तक पहुँचे पर एफ० डब्ल्यू० टॉमस इससे सहमत नहीं हैं। इस प्रकार उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत का काफी हिस्सा ही कनिष्क के साम्राज्य का भाग नहीं बना, उसने पामीर को लांघ कर तारिम घाटी की रियासतों में भी अपना सिक्का जमाना चाहा। फलतः वहाँ के कुछ राजकुमार बंधक के रूप में उसकी राजधानी लाये गये। उनके लिए उसने एक इलाक़ा नियत किया जिसे चीनमुक्ति कहते हैं। कहते हैं कि उन्होंने भारत में आडू और नाशपाती का प्रचलन किया जिन्हें चीन से लाये जाने के कारण संस्कृत में 'चीनानी' और 'चीनराजपुत्र' कहा जाता है। किन्तु अन्त में उसे चीनी सेनापति पान-छाओ से हार माननी पड़ी। कुषाण साम्राज्य की उत्तरी सीमा

आमू नदी (वंक्षु) के दक्षिणी किनारे पर पामीर पर्वत, हिस्सार की पहाड़ी और बैसुन पहाड़ तक ही रही। पर सुघ्द, ख्वारज़्म और उरार्तु और क्रीमिया तक उनका गहरा प्रभाव रहा जैसा कि तिरमिज़, ताली-बार्जू, अयाज़-काला, अरिन-बर्द, नेयापोलिस आदि की खुदाई से ज़ाहिर होता है। इतना बड़ा इलाका शायद ही कभी किसी एक साम्राज्य के असर में रहा हो।

कनिष्क के बाद वझेष्क गद्दी पर बैठा। फिर हुविष्क का राज्य हुआ। उसके साथ ही कनिष्क द्वितीय राज्य करता था। या तो उनमें बँटवारा हुआ या उन्होंने मिलकर राज्य किया। इसके बाद वासुदेव राजा बना। तब कनिष्क तृतीय और वासुदेव द्वितीय गद्दी पर बैठे। तीसरी सदी में ईरान में सासानी वंश के क़ायम होते ही कुषाण साम्राज्य उनके असर में आ गया। उनके युवराज 'कुशानशाह' की उपाधि धारण करने लगे। उधर पंजाब में शाक, शलिद और गदहर वंश के राजाओं ने अपनी छोटी-छोटी रियासतें क़ायम कर लीं। चौथी सदी में कुषाण सम्राट को समुद्रगुप्त के सामने सिर झुकाना पड़ा।

शक-कुषाण काल में भारतीय समाज में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। विदेशियों के आगमन और शासन से परम्परागत समाज का ढांचा हिल गया। इसकी वर्ण और वर्ग व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी। ब्राह्मण लोग क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का काम करने लगे। उनमें से कुछ नाई तक का धन्धा अपनाने लगे। अनेक दास हो गये। इसके विपरीत नाई ब्राह्मण बनने लगे (महाभारत ८।४५।६-७)। अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय सब शूद्रों का काम करने लगे (महाभारत ३।१६०।१७-१८)। सारा समाज एकवर्ण हो गया (वही, ३।१६०।४२)। सब लोग एक तरह रहने-सहने लगे, एक जैसे कपड़े पहनने लगे और एक प्रकार के आचार-विचार अपनाने लगे (युग पुराण ६६-१००)। उस काल के ग्रन्थ 'अंगविज्जा' में 'बंभ-खत्त', 'खत्त-बंभ', 'बंभ-वेस्स', 'वेस्स-बंभ', 'बंभ-सुद्द', 'सुद्द-बंभ', 'खत्त-वेस्स', 'वेस्स-खत्त', 'खत्त-सुद्द', 'सुद्द-खत्त', 'वेस्स-सुद्द', 'सुद्द-वेस्स', 'सुद्द-बंभ' और 'बंभ-सुद्द' (पृ० १०२) का जिक्र मिलता है जिससे सिद्ध होता है कि चारों वर्णों के लोग आसानी से अपने धन्धे और पेशे बदलने लगे थे जिससे समाज में बड़ी लोच और लचक पैदा हो गयी थी। लोगों का मेल-मिलाप और शादी-विवाह का सम्बन्ध इतना गहरा हो गया था कि यह कहना कठिन हो गया था कि अपने को ब्राह्मण कहने वाला कोई व्यक्ति ब्राह्मणी के ही गर्भ से जन्मा है या किसी और के (अश्वघोष कृत 'वज्रसूची', पृ० १, ३)। इस घोर सामाजिक क्रान्ति को पुराणों और महाभारत में 'युगक्षय' का नाम दिया गया है।

किन्तु इस भयंकर सामाजिक उथल-पुथल के पीछे एक व्यापक आर्थिक परिवर्तन छिपा था। शक-कुषाण काल में एशिया के अनेक देशों के आपसी सम्पर्क के बढ़ने से उद्योग धन्धों,

वाणिज्य-व्यापार और कला-तकनीकी में इतनी प्रगति हुई कि उत्पादन और वितरण की प्रक्रियाओं में आमूल तबदीली हुई। मिट्टी हटाने के लिए एक चौड़ा खुदाल काम में लाया जाने लगा। हल और कसी के फलके चौड़े होने लगे। कुछ दराँतियाँ मुड़वा फलके की होने लगीं, कुछ के फलके सीधे और दस्ते मुड़वा होने लगे। लोहे के उद्योग ने खास तरक्की की। भारत का लोहा और फौलाद रोम तक जाने लगा। लोहे के औजारों की मदद से जंगल और बंजर तोड़ने का काम तेजी से शुरू हुआ। नदी के किनारे की भूमि हलों तले आ गयी (महाभारत ३।१६०।२३)। चरागाह और तालाब और नशेब की जमीनों में भी खेती होने लगी (वही, ३।१६०। २७)। जमीन तोड़ने का काम इतने ज़ोर से चला कि लोगों ने दूध देने वाली गायों और छोटे बछड़ों को भी हलों में जोतना शुरू कर दिया। मनुस्मृति (१०।४४) के इस आज्ञापन से कि जो कोई जमीन तोड़ेगा वही उसका मालिक बनेगा, इस काम में और ज़्यादा तरक्की हुई। जमीन के अलावा बाग़-बगीचे और ताल-पोखरे भी निजी सम्पत्ति माने जाने लगे (वही ८।२६४)। खेती का रूप औद्योगिक और व्यापारिक हो गया। सब जगह खाने-पीने की चीजों की तिजारत होने लगी (अट्टशूला जनपदाः) (महाभारत ३।१६०।५२) जो उस जमाने के लिए नयी बात थी। गेहूँ और जौ के अलावा तरह-तरह की विदेशी फसलें उगायी जाने लगी। नये पेड़-पौधों, फलों और तरकारियों का रिवाज हो गया। अखरोट (पारसी), अनार (संस्कृत 'दाड़िम', फारसी 'दुलिम'), हींग (संस्कृत 'हिंगु', फारसी 'अंगु', कूची-शक 'अंकुवा'), माजूफल (संस्कृत 'माजूफल', फारसी 'माजू'), जीरा (संस्कृत 'जीरा', फारसी 'ज़ीरा'), बादाम (संस्कृत 'वाताम', फारसी 'बादाम'), तरबूज (संस्कृत 'तरम्बुज', फारसी 'तरबूज़') आदि बहुत सी चीजें ईरान से आकर भारतीय खेती-बारी और खान-पान के अंग बन गयीं।

खेती-बारी की उन्नति के साथ-साथ इस युग में उद्योग-धन्धों का भी काफी विकास हुआ। इस काल की रचना 'मिलिन्दपन्हो' में सोना, चाँदी, सीसा, लोहा और टीन के कारीगरों का अलग-अलग उल्लेख है। लोहे के उद्योग ने तो खास तौर से तरक्की की। हिन्दुस्तान से काफी फौलाद रोम जाता था। यूनानी भाषा में इस विषय पर एक पुस्तक भी लिखी गयी। मार्कस ऑरेलियस ने इस वस्तु के आयात पर विशेष कर लगाया। तक्षशिला में लोहे में कार्बन मिलाने की विधि, जिसे पृष्ठ दृढ़ीकरण या सीमेन्टीकरण कहते हैं, प्रचलित थी। दक्षिण में कार्बनीकरण की एक विशेष पद्धति बहुत दिनों तक चालू रही। भंड़ौंच से ताँबा काफी मात्रा में बाहर जाता था। ताँबे में जस्त मिलाकर पीतल बनाया जाता था। काणिक्याला स्तूप में एक पीतल का बक्स मिला है। बंगाल की मलमल, पश्चिमी भारत के 'मोनाके', 'मोलोचीने' और 'सगमेतोगीने' नामक कपड़े और उज्जैन

और तगर की चीजें दूर-दूर तक नामी थीं। इन कपड़ों की रंगाई बड़ी पक्की होती थी। काँच का सामान भी बढ़िया बनता था। सिरकप (तक्षशिला) से बहुत सी काँच की वस्तुएँ मिली हैं। बनारस हाथीदाँत के काम के लिए मशहूर था। कारीगर और दस्तकार अपने-अपने धन्धों के अनुसार श्रेणियों और निगमों में संगठित थे। इनकी अपनी 'निगम सभाएँ' थीं। ये बैंकों का काम भी करती थीं। इनके पास लोग अपनी रकमें जमा करते थे। शिलालेखों में जुलाहों, कुम्हारों, तेलियों, अरहट बनाने वालों, ठठेरों, बाँस का काम करने वालों और आटा पीसने वालों तक की श्रेणियों के पास रुपया जमा करने का उल्लेख है जिससे पता चलता है कि उद्योग-धन्धों की साख कितनी बढ़ी-चढ़ी थी।

उद्योग-धन्धों की उन्नति व्यापार के विकास के साथ नत्थी थी। देशी व्यापार के अलावा विदेशी व्यापार तरक्की पर था। रोमन सम्राटों ने पार्थव राजाओं की खटपट के कारण कुषाण शासकों से दोस्ती की थी। कुषाणों के द्वारा पूर्व का माल—चीन का रेशम और भारत के कपड़े, मसाले, धातुएँ और अन्य सामान—रोम जाता था। मानसून की खोज से मिस्र और भारत की यात्रा सरल और सुगम हो गयी थी। मिस्र से व्यापारी जुलाई में चलकर ४० दिन में मालाबार पहुँच जाते थे और वहाँ ३ महीने रह कर दिसम्बर में वापस लौट जाते थे। हिन्दुस्तानी दक्षिणी अरब, मिस्र, हब्श और पश्चिमी जगत् में वसने लगे थे तो यूनानी, रोमन, गॉथ और पश्चिमी योरोप के लोग पश्चिमी और दक्षिणी भारत में अपनी बस्तियाँ बसाने लगे थे।

पोन्डीचेरी के पास अरिकमेदू में और नागार्जुनीकोण्डा के पास रोमन बस्ती मिली है और नासिक, कन्हेडी और जुन्नार की गुफाओं में पश्चिमी लोगों के अनेक अभिलेख पाये गये हैं। भारत से रोमन जगत् में शकर, नील, चिरायता, इलायची, काली मिर्च, अदरक, खटाई, कटहल, केला, गोंद, नारियल आदि मसाले और खुशबूदार चीजें उल्लेखनीय हैं। कालीमिर्च के बिना तो योरोप के लोगों की रोटी ही गले तले नहीं उतरती थी। इसलिए इसका एक नाम 'यवनप्रिय' पड़ गया। रेशम, सूती और ऊनी कपड़े, लकड़ी और हाथीदाँत का सामान, लाख, सीपी, शंख, कछुए का खोल और मोती आदि रत्न भी भारत से रोम जाते थे। इनके अलावा भारतीय पशु-पक्षियों जैसे हाथी, गेण्डे, शेर, चीते, कुत्ते, बन्दर, तोते, मोर की वहाँ अच्छी खासी माँग थी। इन चीजों के बदले में रोमन जगत् से टीन, सीसा, मूँगा, पुखराज, मैनसिल, बारीक कपड़े, काँच के बर्तन, शराब, सुहागा, सुन्दर लड़के-लड़कियाँ आदि भारत आते थे लेकिन ज्यादातर इनकी कीमत सोने और चाँदी के सिक्कों में चुकायी जाती थी। प्लीनी के अन्दाजे के अनुसार रोम से हर साल दस करोड़ सेस्तर्स (करीब ८,००,००० पौण्ड) भारत, चीन और अरब आता था। उसके अनुसार भारतीय वस्तुएँ रोम जाकर अपने मूल्य से सौ गुने भाव पर बिकती थीं। रेशम सोने के

बराबर तुलकर बिकता था। इस तिजारत के कारण कुषाण सम्राट वीमा ने रोम के ओरेई के बराबर १२३.३ ग्रेन का सोने का सिक्का चलाया था। उसके और उसके उत्तराधिकारियों के राज्य में सोने और चाँदी के सिक्कों में वही १ : १२ का अनुपात रहा जो रोमन जगत् में चालू था। किन्तु 'पेरीप्लस' के लेखक के अनुसार भारत में चाँदी महँगी और सोना सस्ता था। रोमन सम्राटों की नीति सिक्कों का वजन घटाने की थी तो कुषाण सम्राटों की उनका वजन जैसे का तैसा रखते हुए उनमें खोट मिलाने की। यह बात कि कुषाण सिक्के दूर-दूर तक विनिमय के माध्यम थे, इस तथ्य से पुष्ट होती है कि उनका एक संग्रह अबेसीनिया में देब्रा दामो में मिला है और कुछ जर्मनी और गॉल तक में पाये गये हैं तो अनेक कोष सुग्द और ख़्वारज़्म में मिले हैं। साथ ही रोमन सिक्के कितनी दूर तक फैले थे यह इससे सिद्ध होता है कि वे भारत में इलाहाबाद से विजगापटम तक ६८ स्थानों पर मिले हैं और नीरो का एक सिक्का सुग्द में तिरमिज से ३० किलो-मीटर उत्तर में खैराबाद के टीले की खुदाई से निकला है। भारत में सोने के सिक्के के लिए रोमन शब्द 'दीनार' अपना लिया गया। कुषाणों की टकसालों में रोमन सिक्के ढालने वाले काम करते थे जिसके कारण उनके आकार-प्रकार रोमन मुद्राओं से मिलते हैं। हुविष्क के सिक्कों पर रोम की नगरदेवी 'रोमा' की आकृति तक अंकित है।

इस औद्योगिक, व्यापारिक और आर्थिक प्रगति के फलस्वरूप भारत में वैयक्तिक सम्पत्ति और स्वतन्त्रता का सिद्धान्त जम गया। राजा लोग किसी की जमीन को मूल्य देकर ही ले सकते थे। राजा को दिया जाने वाला कर उसका रक्षा करने का वेतन समझा जाता था (नारदस्मृति १८।४८; मनुस्मृति ८।३९)। वे आपत्कालीन विशेष कर लगाने, बेगार लेने और चन्दा वसूल करने से हिचकते थे। किसी को उसकी मर्जी के खिलाफ गुलाम बनाना भी बुरा समझा जाता था (याज्ञवल्क्यस्मृति २।१८२)। राजा स्थानीय मामलों में दखल नहीं देते थे। राजतन्त्र विकेन्द्रीकरण पर निर्भर था। राजाधिराज के नीचे राजा, महाक्षत्रप और उनके नीचे क्षत्रप बहुत कुछ स्वतन्त्र-से होते थे। राजा के साथ 'सामन्त' शब्द भी चल पड़ा था (अश्वघोष कृत 'बुद्धचरित' २८।५८) जो बाद में जागीरदारी प्रथा का द्योतक बन गया। इस प्रकार व्यक्तिवाद, विकेन्द्रीकरण, अर्थपरायणता, सम्पत्ति-संचय, भौतिक विकास और समानता की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही थीं। लक्ष्मी और कुबेर की पूजा का प्रचार-प्रसार इनकी ओर संकेत करता है।

उपर्युक्त परिस्थितियों में धर्म के प्रति लोगों की दृष्टि समन्वयमूलक और असाम्प्रदायिक हो गयी। कुषाण राजाओं के सिक्कों पर अनेक धर्मों के देवी-देवताओं की आकृतियाँ मिलती हैं। यूनानी-रोमन देवता ज़ियस, हिरेक्लीस, हेलिओस, सेलीनी,

यूनानुस, हेफेस्तस, रोमा अपने मौलिक रूप में मिलते हैं। मिस्री देवी सिरापिस भी राजदण्ड और पाश लिये दिखायी देती है। ईरानी देवताओं में मिहिर, अर्दविक्ष, माओ, मनओबगो, अथशो, फर्रो, ओरलग्नो, ओआनिन्द, लुहरास्य आदि प्रमुख रूप से अंकित हैं। भारतीय देवताओं में शिव, गणेश, विष्णु, कार्त्तिकेय सिक्के ढालने वालों के अभीष्ट हैं। बुद्ध का सबसे पहला स्पष्ट अंकन कनिष्क के सिक्कों पर मिलता है हालाँकि कुछ लोग मानते हैं कि मोग की मुद्राओं पर भी उसका अंकन है। अक्सर कई देवी-देवताओं को मिला दिया गया है। जैसे नाना, अनाहिता, आर्तेमिस और उमा एक जैसी हो गयी हैं। इस प्रकार प्राचीन वीर और युद्ध-देवता जैसे हिलेक्लीस, वृत्रघ्न, स्कन्द-कार्त्तिकेय, प्रकृति के रूप, जैसे सूरज, चाँद, अग्नि, बिजली, हवा, पानी के देवता, लौकिक जीवन की उपलब्धियों के प्रतीक, जैसे विजय, यश और धन के देवता, सार्वभौम देवी-देवता जैसे ज़ियस, अहुर्मज़्दा, शिव, नाना, उमा और साथ ही नगरदेवता और उनके स्थानीय रूप इन सिक्कों पर स्थान प्राप्त कर धार्मिक सहिष्णुता और सामंजस्य का साक्ष्य देते हैं। यह वातावरण सिक्कों पर ही नहीं मिलता, साहित्य में भी दिखायी देता है। उदाहरण के लिए उस काल की कृति 'अंगविज्जा' (पृ० ८९) में भारतीय देवी-देवताओं के अतिरिक्त 'अपला' (पल्लास), 'ऐराणि' (इरीन), 'मिस्सकेसी' (अरते-मिस), 'सालीमालिनी' (सेलीनी) और 'अनादिता' (अनाहिता) की चर्चा मिलती है। भारतीय लोगों को इन विदेशी देवी-देवताओं में रुचि थी तो विदेशियों को भारतीय धर्मों में श्रद्धा थी। इन सबके योग से महायान, शैव, वैष्णव आदि विश्वधर्मों का विकास हुआ जिनकी चर्चा अगले परिच्छेद में की जायगी।

शक-कुषाण काल में राजा को देवता मानने की विचारधारा चल पड़ी। ये राजा चीनी उपाधि 'देवपुत्र' (थिएन-त्ज़ु) ईरानी उपाधि 'शाहानुशाही' (शाहन्शाह), रोमन उपाधि 'कैसर' (सीज़र) और भारतीय उपाधि 'महाराज' और 'राजाधिराज' धारण कर अपने सार्वभौम प्रभुत्व की घोषणा करते थे। इनके सिक्कों पर इनके शरीर को बादलों में से उभरते हुए, इनके कन्धों में से आग की लपटें निकलती हुई और इनके चेहरों को चौकोर चौखटों में दिखाया गया है। अक्सर विजयश्री नीके को अपने हाथ से उनके सिरों पर राजमुकुट रखते हुए दिखाया गया है। राजा की दिव्य उत्पत्ति के सिद्धान्त को बौद्ध ग्रन्थ 'सुवर्णप्रभासोत्तमसूत्र' में प्रतिपादित किया गया है। यह भारतीय राजनीतिक चिन्तन में एक नया मोड़ है।

शक-कुषाण काल में भारतीय साहित्य की धाराओं और विधाओं में युगान्तरकारी परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन का प्रतीक कनिष्क का समकालीन अश्वघोष है। उसके लिखे हुए 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' महाकाव्य, 'सारिपुत्र प्रकरण' नाटक, 'वज्र-

सूची' शीर्षक व्यंगपूर्ण विवाद, 'महायानसूत्रालंकार' नामक दर्शन ग्रन्थ लौकिक संस्कृत साहित्य के प्रथम निदर्शन हैं। उससे पहले के इन शैलियों के ग्रन्थ अभी तक नहीं मिले हैं। हो सकता है इनके विकास के पीछे अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों का वह वातावरण हो और विदेशी प्रभावों की वह प्रेरणा हो जो शक-कुषाण काल की विशेषता है। सिलवें लेवी ने सिद्ध किया कि भारतीय नाटकों की बहुत सी शब्दावली शक-कालीन अभिलेखों से ली गयी है। असल में इनमें 'शकार' नामक पात्र शक प्रभाव की स्पष्ट छाप है। वैसे तो संस्कृत नाटक भारत की अपनी उपज हैं और उनमें और यूनानी नाटकों में इतने अन्तर हैं कि उन्हें उनकी नकल नहीं कहा जा सकता परन्तु भारत में साहित्यिक ढंग से सबसे पहले नाटक शक-कुषाण काल ही में लिखे गये जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इन्हें यूनानी नाटकों से प्रेरणा मिली जिनका भारत में प्रचलन पेशावर से प्राप्त एक कलश पर अंकित सोफोक्लीस के नाटक 'एन्तीगोन' के एक दृश्य से सिद्ध होता है। अश्वघोष ने इसी प्रेरणा से अपनी साहित्यिक प्रतिभा नाटक के माध्यम से प्रकट की होगी और भास, कविपुत्र, सौमिल्ल और बाद में कालिदास ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया होगा। साहित्य के इन रूपों के अलावा कुछ अन्य विधाओं का भी विकास हुआ, जैसे साहित्यिक पत्र लिखने की शैली पनपी। मातृचेट द्वारा कनिष्क को लिखा गया पत्र और नागार्जुन द्वारा सातवाहन राजा को लिखा गया पत्र इस शैली के अच्छे नमूने हैं। इसके अलावा स्तोत्र लिखने की पद्धति इस काल में काफी चली। इस क्षेत्र में भी मातृचेट का नाम उल्लेखनीय है। दक्षिण में सातवाहन काल में प्राकृत साहित्य की काफी श्रीवृद्धि हुई।

साहित्य की तरह कला में भी नयी विधाओं का सूत्रपात हुआ। कौशाम्बी की खुदाई से निकला कुषाण-कालीन प्रासाद नयी शैली का उत्तम नमूना है। इनमें तीन ब्लॉक हैं—पूर्वी, पश्चिमी और उनके बीच का। ये तीनों गैलरियों से जुड़े हुए हैं। उनमें सपाट छतों के बजाय डाटों और मेहराबों का प्रयोग मिलता है। ये मेहराबें कई नमूनों की हैं—खण्डयुक्त, किंचिद्दीर्घवृत्तीय, और चतुष्केन्द्रिक। यह खण्डयुक्त मेहराब ऐसा ही है जैसा ख़्वारज़्म में जानबस काला की खुदाई से मिला है। इन्हीं डाटों और मेहराबों से बाद में शिखर का विकास हुआ जो भारतीय मन्दिरों की विशेषता है। यह कुषाणकाल की महत्त्वपूर्ण देन है। इस स्थापत्य में विविध रूपों और आकारों के पाषाण-खण्डों और ईंटों का मिला-जुला प्रयोग होता था और इसमें विशालता और विस्तार पर खास जोर दिया जाता था। संघाराम आयताकार बनने लगे थे। ये चहारदीवारियों से घिरे होते थे। इनमें आँगन के चारों ओर बरामदे और कमरे होते थे। आँगन के बीच में पूजा के लिए स्तूप बना होता था। भोजन करने का कमरा अलग था। बैठक का सामूहिक कक्ष भी बड़ा होता था। यह इमारत अपने आप में एक अलग इकाई होती थी। मध्य एशिया में दक्षिणी

ताजिकिस्तान में अजीना-तेपे की खुदाई से जो संघाराम निकला है उसकी बनावट इसी ढंग की है। उत्तर-पश्चिमी भारत में भी इसी प्रकार के संघाराम मिले हैं। बाद में यह आम इमारतों का नमूना बन गया। नगर-निर्माण पर भी विदेशी विचारों का काफी प्रभाव पड़ा। इस काल में बना तक्षशिला का सिरकप नगर आयताकार मोहल्लों का समूह था। समकोणों पर एक दूसरे को काटती हुई सीधी सड़कें इसे व्यवस्थित भागों में बाँटती थीं। एक ऊँचे एक्रोपोलिस में शासक वर्ग रहता था और निचले नगर में बुर्जुवा वर्ग अपना काम-धन्धा चलाता था। मूर्तिकला में गान्धार शैली का विकास विशेष महत्त्व रखता है। पहले फूशे आदि विद्वानों का विचार था कि यह कला यूनानी-रोमन संस्कृति की देन है, किन्तु अब श्ल्युमबर्जे और पूगाचेनकोवा आदि ने सिद्ध किया है कि इसके पीछे बक्त्री कला की परम्परा है। खलचायान, दालबर्जिन-तेपे, तिरमिज़ और ऐरताम से इस कला के निदर्शन मिले हैं। इसने गान्धार कला को जन्म देकर भारतीय कला में एक नये युग का श्रीगणेश किया। इसकी एक विशिष्ट देन बुद्ध-मूर्ति का विकास है जिसने आढ्यता और आध्यात्मिकता को एक सूत्र में बाँध दिया। इस काल की मूर्तियों को मध्य एशिया, की वेश-भूषा में दिखाया गया है। असल में इस काल में प्राचीन भारत की बिना सिली धोती, चादर, दुपट्टा के बजाय सिले हुए कुरता-कोट (संस्कृत 'कुरतऊ', अंगविज्जा 'कोतवक', फारसी 'काबा', मंगोल 'उर्तऊ'), सुत्थन (पाजामा) (संस्कृत 'सुक्थण', 'सन्थन', 'स्वस्थगण', खोतानी-शक, 'सूथम्न', 'सोम्सतम्नि'), पेटी (संस्कृत 'चक्रश', अवस्ता 'चख्रो', हिन्दी 'चपरास'), बूट जूते (संस्कृत 'खपुसा', फारसी 'क़फ्स', खरोष्ठी-शक 'कवजी' 'कोवजी') और नोकदार टोपी का रिवाज चल पड़ा था। गुप्तकाल में यह भारत की राष्ट्रीय वेश-भूषा बन गयी थी। कुषाण काल में इसका अंकन शुरू हुआ। कौशाम्बी से प्राप्त झुकी हुई मूर्तियाँ—ढोलिए, दोहरी घुण्डी के शिरोवेष्ठन वाली स्त्रियाँ, भारी छातियों वाली देवियाँ और नोकदार टोपियों वाले मनुष्य—इस काल की खास निशानियाँ हैं। चमकीली सुराहियाँ, घण्टीनुमा नौतले बर्तन, गहरे खुले प्याले और उनके कुण्डलीनुमा दस्ते और उनपर काटमकाटे, उलटे तिकोनों आदि के डिजाइन मध्य एशिया के बर्तनों की याद दिलाते हैं। जेवरों में भारी सोने के कड़े-टड्डे, जिनकी शकलें जानवरों जैसी हैं और लाल की जड़ाई के आभूषण शकप्रभाव को व्यक्त करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शक-कुषाण काल भारतीय इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। इसमें भारतीय जीवन और संस्कृति का जितनी गहराई से और देशों से सम्बन्ध हुआ उतना पहले कभी नहीं हुआ था। इसके फलस्वरूप भारत एक ओर चीन के सम्पर्क में आया तो दूसरी ओर रोमन जगत् के। एक ओर यहाँ के लोग दक्षिणी-पूर्वी एशिया के द्वीपों में अपनी बस्तियाँ बसाने लगे तो दूसरी ओर अरब, हब्श, मिस्र में अपने केन्द्र खोलने

लगे और रोम और पश्चिमी-उत्तरी योरोप से सम्बन्ध क़ायम करने लगे। यह महत्त्व की बात है कि बेग्राम (कापिशी) (काबुल के पास) की खुदाई से निकले एक ही प्रासाद के विभिन्न कक्षों से चीन के बने हुए लाख के प्याले, मिस्र और शाम में तैयार किये हुए काँच के बर्तन, पाश्चात्य कारीगरों के बनाये हुए काँसी के कटोरे और भारत में निर्मित हाथी दाँत के फलक प्राप्त हुए हैं। ऐसा लगता है कि यह प्रासाद तात्कालिक विश्व संस्कृति का संग्रहालय हो, जिसका समन्वित विकास कुषाण काल की विशेषता थी।

## चीन का 'पाँच बर्बर जातियों' का युग

हान साम्राज्य के पतन के बाद चीन में अव्यवस्था फैल गयी। अतः ह्यूङ-नू, चिएह, शिएन-पेइ, ती और छिआङ नाम के अर्धघुमन्तू लोगों ने, जिन्हें चीनी इतिहासकारों ने 'पाँच बर्बर जातियाँ' कहा है, चीन में घुसपैठ कर वहाँ अपने राज्य कायम कर लिये। ह्यूङ-नू के सरदार (शान-यू) हू-छू-त्सियुआन (१९५-२१६ ई०) ने शान्सी प्रान्त में फिङ-याङ में अपनी राजधानी कायम की और ३०८ में उसके एक उत्तराधिकारी लिङ-युआन ने अपने आपको चीन का सम्राट घोषित कर पेइ-हान राजवंश की नींव रखी। उसके पुत्र लिङ-त्सुङ (३१०-३१८) ने ३११ में लोयाङ पर और अगले वर्ष छाङ-आन पर कब्जा कर चीन में वही काम किया जो रोम में अत्तीला ने किया। ३५२ में मंगोलों की शिएन-पेइ जाति ने ह्यूङ-नू शासन का अन्त कर अपनी सत्ता जमायी। लेकिन उनके कुनबे-क़बीलों के सरदारों में भयानक मारकाट मची जिससे अनेक राजवंश धूप-छाँह की तरह आये-गये। इस पर तुर्क जाति के थो-पा प्रबल हो गये और उनके सरदार थो-पा कुएइ (३८६-४०९) ने वेइ राजवंश की स्थापना की। इसका राज्य छठी सदी तक चला। इसके बाद सुइ राजवंश के प्रवर्तक वेन-ती ने उत्तरी और दक्षिणी चीन को एक राष्ट्रीय साम्राज्य में बाँध दिया।

लगभग चार सौ वर्ष के इस अर्धघुमन्तू लोगों के आक्रमण-अधिकार के आवर्तन-प्रत्यावर्तन में जो मारकाट, छीना-झपटी और अफरा-तफरी मची उससे समाज और संस्कृति में बड़ी तबदीली हुई। उत्तरी चीन में देशी कृषिप्रधान समाज और मध्य एशिया के घुमन्तू और अर्धघुमन्तू लोगों की पशुपालन प्रधान अर्थव्यवस्था का सम्मिश्रण हुआ और दक्षिण में चीनी जीवन-पद्धति और याओ, ताइ और युएह आदि देशी जातियों की संस्कृति का मेल-मिलाप हुआ। फलतः चीनियों ने घुमन्तू लोगों की बहुत सी बातें अपनायीं। १२२ ई० पू० के एक कानून द्वारा चीनी घुड़सवारों के लिए पाजामे पहनना अनिवार्य कर दिया गया। कोट, पेटी, पाजामे और बूट की पोशाक चीनी सेना में आम हो गयी। इसके अलावा सोने के आभूषणों से जड़ी घुमन्तू ढंग की टोपियाँ, धातु के जोड़ों और कटुओं से

टकी चमड़े की पेटियाँ और परों के गुच्छे पहनने का रिवाज फैल गया। रिकाब, कवच, घोड़े के साज, हथियार आदि मध्य एशिया के ढंग के हो गये।

घुड़सवार सेना के प्रचलन से यूरोप में योद्धा वर्ग, सामन्ती संस्था और शौर्यपरक संस्कृति को प्रोत्साहन मिला। वहाँ एक घोड़ा और उसके साथ के हथियार ख़रीदने के लिए बीस बैलों का मूल्य लगता था। ७६१ में एक आदमी को एक घोड़ा और तलवार मोल लेने के लिए अपनी पैतृक जमीन और गुलाम बेचना पड़ा। इससे युद्धविद्या सामान्य जनता की चीज न रहकर एक विशेष वर्ग का धन्धा बन गयी। जो वर्ग सम्पत्तिशाली और धनाढ्य था वही योद्धा के साधन जुटा सकता था। इससे सामन्ती वर्ग और व्यवस्था की उन्नति हुई। चीन में भी घोड़ों के भाव को देखते हुए—हान काल में मध्य एशिया के घोड़ों की, विशेषत: फरगना के घोड़ों की वहाँ बड़ी कीमत थी—यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि बहुत कुछ ऐसा ही हुआ होगा।

गड़बड़ी और खलबली के जमाने में जमींदार परिवारों ने अपने बचाव के लिए निजी फौजें रखना और क़िलाबन्द रियासतें बनाना शुरू कर दिया। साधारण किसान, खुद अपना बचाव न कर सकने के कारण, अपनी इच्छा से इन जमींदारों के 'पू-छू' (पिछलगे) बन गये। अक्सर ऐसा भी हुआ कि जमींदारों ने जबरन किसानों के खेतों पर कब्जा कर उन्हें अपने मातहत कर लिया। ये जमींदार और उनके मातहत (पू-छू) किलों और गढ़ों से सुरक्षित रियासतों में रहते। ये किलाबन्द रियासतें सुरक्षा के संस्थान होने के अलावा उत्पादन के केन्द्र भी होते। अतः इनमें सैनिक और आर्थिक व्यवस्थाओं का एकीकरण होता। ये अपने आप में पूरी इकाइयाँ होतीं और इनमें स्थानीयता का भाव इतना गहरा होता कि वस्तु-विनिमय से ही काम चल जाता, धन की जरूरत ही न पड़ती।

समय के साथ-साथ राजकीय अफसरों को भी वेतन के बजाय भूमि और उससे लगे किसान (पू-छू) दिये जाने लगे। छिन राजवंश के काल में प्रथम श्रेणी के अफसरों को ५० छिङ (१ छिङ=१०० मू=१६ २/३ एकड़) भूमि और उसके साथ लगे ५० किसान परिवार तक, दूसरी श्रेणी के अफसरों को ४५ छिङ भूमि और उसके साथ लगे ५० किसान परिवार तक, तीसरी श्रेणी के अफसरों को ४० छिङ भूमि और १० किसान परिवार तक और इसी तरह घटते-घटते नवीं श्रेणी के अफसरों को १० छिङ भूमि और १ किसान परिवार तक देने का रिवाज चला। इससे अफसर और जमींदार एक ही रंग में रंग गये।

जो व्यक्ति अपनी इच्छा से या जबरदस्ती से 'पू-छू' (मातहत) बन जाता था उसे सरकार को कोई कर नहीं देना पड़ता था। अतः काफी लोग जमींदारों या अफसरों के

'पू-छू' बन गये। इससे सरकार को कर देने वालों की संख्या १५६ ई० में ५,६४,८६,८५६ से घट कर छिन काल में १,६१,६३,८६३ रह गयी। इसका अर्थ यह है कि केन्द्रीय सरकार छायामात्र रह गयी।

दक्षिणी चीन में भी उत्तर से गये लोगों ने इसी प्रकार की रियासतें कायम करना शुरू कर दिया।

इस स्थानीयता की प्रवृत्ति का मुकाबला करने के लिए थो-पा शासकों ने कुछ महत्त्व के कदम उठाये। उन्होंने ४८६ में कर और बेगार की चोरी को रोकने के लिए पाँच-पाँच परिवारों (लिन) के समूहों को 'लिन-चाङ' नाम के अफसर के अधीन किया, पाँच-पाँच 'लिनों' (पाँच-पाँच परिवारों के समूह) के समूहों को, जिन्हें 'ली' कहते थे, ली-चाङ नाम के अफसर के अधीन किया, और पाँच-पाँच 'ली' (पच्चीस-पच्चीस परिवारों के समूह) के समूहों को, जिन्हें 'ताङ' कहते थे, ताङ-चाङ नाम के अफसर के अधीन किया। इसके बाद भूमि की व्यवस्था और उत्पादन की पद्धति को ठीक करने के लिए उन्होंने 'चुन-थिएन' (समान-वितरण-पद्धति) अपनायी। इसके अनुसार कम से कम १५ वर्ष की आयु के प्रत्येक वयस्क को ४० मू (१ मू=कच्चा बीघा) 'खुली ज़मीन' दी गयी, जिसे वह अपने जीवनकाल तक रख सकता था और जिसपर उसे अनाज की शक्ल में नित्य लगान देना पड़ता था, और २० मू 'शहतूत की भूमि' दी गयी, जिसमें उसके लिए ५० शहतूत के पेड़, ५ खजूर के पेड़ और ३ और पेड़ लगाने लाजमी थे और जिसका लगान उसे रेशम के थानों के रूप में देना पड़ता था लेकिन जिसे वह अपने बेटे-पोतों के लिए छोड़ सकता था। इस व्यवस्था में औरत को मर्द से आधी ज़मीन मिलती थी। इस व्यवस्था को कामयाब करने के लिए भूमि और जनसंख्या का पूरा सर्वेक्षण किया गया लेकिन हालात इतने खराब थे कि इस काम में आंशिक सफलता ही मिल सकी।

भूमि की समान-वितरण-पद्धति से समाज का वर्गीकरण निखर गया। सब से बड़ा सामन्ती अभिजात वर्ग था। उसके नीचे सामान्य जनता आती थी। उसमें 'लिआङ-मिन' ऊँचे वर्ग के स्वतन्त्र किसान थे उन्हें स्वतन्त्र मनुष्यों जैसे सब अधिकार थे। 'छिएन-मिन' सामान्य लोग थे और पूर्णतः या अंशतः अस्वतन्त्र थे। उनमें कई दर्जे थे। 'त्सा-हू' वे परिवार थे जिन्हें कुछ सेवाएँ सौंपी गयी थीं। इनमें चरवाहे, डाक लाने-ले-जाने वाले, भट्ठों पर काम करने वाले, शकुनों की पहचान करने वाले, चिकित्सक और संगीतज्ञ आदि शामिल थे। इनसे निचले 'फान-हू' होते थे। वे परम्परागत राज्य के सेवक थे। उन्हें साल में तीन महीने राज्य की सेवा करनी पड़ती थी। इसका उन्हें वेतन मिलता था। वे कृषि-मंत्रालय के अधीन थे। वहीं से उन्हें सब जगह बाँटा और भेजा जाता था। उन्हीं के बराबर का दर्जा 'पू-छू' यानी अभिजात वर्ग के लोगों के मातहतों और पिछलगों

का था। उनके नीचे 'नू' (गुलाम) थे जो या तो राज्य की या निजी तौर से लोगों की सम्पत्ति माने जाते थे। सामान्य लोगों के ये दर्जे एक दूसरे से अलग-थलग रखे जाते थे। इनके अपने-अपने कानून थे। इन्हें अपने दर्जे के बाहर के लोगों से शादी-विवाह करने की मनाही थी। उनको जो ज़मीनें मिलती थीं उनका अनुपात भी दर्जे के अनुसार था। जैसे 'छिएन-मिन' वर्ग के व्यक्ति की ज़मीन 'लिआङ-मिन' वर्ग के व्यक्ति की भूमि से आधी होती थी। इस प्रकार भूमि की व्यवस्था और समाज का वर्गीकरण एक दूसरे के साथ नत्थी हो गया।

इस युग में चीन का विदेशों से सम्बन्ध बढ़ा। २२६ में रोमन एशिया से छिन-लुन नामक एक व्यापारी के चीन आने के फलस्वरूप वू के राज्य के शासक ने दस जोड़ी बौने वहाँ भेजे। इसके ५ वर्ष बाद उस राज्य के शासक ने फू-नान (दक्षिणी कम्बोदिया और कोचिन चीन) लिन-यी (चम्पा) और थाङ-मिङ (उत्तरी कम्बोदिया) से राजनीतिक सम्बन्ध कायम किये। १५ या २० वर्ष बाद उसने हिन्द-सागर की खोज के लिए एक जहाज़ी बेड़ा भेजा। उसने सौ से ऊपर देशों और द्वीपों का पता लगाया। ४५१ के करीब चीनी जहाज़ लंका और फरात नदी तक पहुँचने लगे।

पश्चिम में मंगोलिया, तारिम घाटी, सुघ्द, बक्त्र और ईरान के चीन से गहरे सम्बन्ध हुए। इन देशों के दूत व्यापारी और भिक्षु चीन में आने लगे और अपने साथ चमेली, नरगिस, अनार, बादाम, अंजीर, जैतून, तरबूज, मोर, घोड़े आदि के अलावा बौद्ध ग्रन्थ और सिद्धान्त भी चीन लाने लगे। व्यापार और बौद्ध धर्म के समन्वय से बौद्ध विहार धर्मप्रचार, कल्याण कृत्य और उद्योग-वाणिज्य के केन्द्र बन गये। व्यापारी विहारों को बैंक और गोदामों के रूप में प्रयुक्त करने लगे। विहारों की अपनी ज़मीनें और जायदादें हो गयीं और किसान उनके लगानदार होने लगे। विदेशी शासकों ने बौद्ध धर्म का आश्रय लेकर स्थानीय ज़मींदारों की ताक़त को तोड़ने की कोशिश की तो व्यापारियों ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क का माध्यम बनाया और साधारण जनता ने इसे आशा और आस्था का स्रोत समझा। इस विषय की चर्चा अगले परिच्छेद में विस्तार से करेंगे।

बाह्य देशों के सम्पर्क से चीन में वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति के द्वार खुले। फेइ-शिङ (२२४–२७१) ने १ इंच=१२५ मील के पैमाने पर देश का नक्शा बनाया। फा-शिएन (३१४-४६२) ने मध्य एशिया, भारत, लंका और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों का यात्रा विवरण लिखा। ताओवादियों ने कीमिया और ज्योतिष के परीक्षण किये और इनके दौरान में गोला बारूद और चुम्बकीय क़ुतुबनुमा की खोज की। इस युग में जो अनेक यन्त्रों की ईजाद हुई उनमें एक पहिए का ठेला, पनचक्की, उन्नत क़िस्म

की खड़ियाँ और कोयले से गर्मी पैदा करने का रिवाज प्रमुख हैं। घुड़सवारी में रिकाब के रिवाज से सफर और युद्ध में सुविधा हो गयी। पालकीनुमा कुर्सियों ने दरबारों और अफसरों की शान बढ़ा दी। अनेक तरकारियाँ, दानेदार सब्जियाँ और मछली खाने का रिवाज बढ़ा। चाय की खोज एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। जेचुआन के एक अफसर की जीवनी में, जिसकी मृत्यु २७३ में हुई, चाय का सब से पहला उल्लेख मिलता है। इसका प्रयोग दक्षिणी और मध्य चीन तक सीमित था, हालाँकि वाङ-शू (४६४–५०१) आदि उत्तरी अफसरों की जीवनियों में भी इसकी चर्चा मिल जाती है। आठवीं और दसवीं सदियों के बीच यह उत्तरी चीन का प्रिय पेय बन गयी और उसी काल में तिब्बत में भी प्रयुक्त होने लगी। ८५१ के बाद अरबों को इसका ज्ञान हुआ और १२०० के बाद बौद्ध भिक्षुओं ने जापान में इसका प्रचलन किया। बौद्धों में यह शराब के बदले में इस्तेमाल की जाती थी। कालान्तर में यह चीन के नाम के साथ जुड़ गयी। मध्यकाल में चीन को 'केथे' कहते थे। इसी से चाय के प्रयुक्त शब्द, फ्रान्सीसी 'थे' अंग्रेज़ी 'टी', निकले हैं। चाय के अलावा चीनी मिट्टी की खोज इस युग की प्रमुख उपलब्धि है।

इस युग में कला और साहित्य में नयी प्रवृत्तियों का विकास हुआ। साहित्य रूढ़ि और परम्परा के बन्धन से निकल कर प्राकृतिकता और व्यक्तिवाद के ज्यादा नज़दीक आया। थाओ युआन-मिङ (३६५-४२७) और शिएह लिङ-युन (३८५-४३३) उस युग के प्रकृति के अनुपम चितेरे हैं जिनमें स्वतन्त्र जीवन की सुगन्ध मिलती है। उनमें शान्ति, सूनापन और स्वतन्त्रता का भाव व्याप्त है। इसके अलावा साहित्य की एक दूसरी धारा वीर-आख्यानों और रोमान्तिक कथानकों से सम्बन्धित थी। 'सान-कुओ-चर-येन-ई' (तीन राज्यों के रोमांस) में, जो मिङ काल की रचना है, इस युग का वीर-काव्य सुरक्षित है। चीनी अनुवादों में जो घुमन्तू लोगों का साहित्य बच रहा है उसमें घोड़े की पीठ पर बैठ कर गाये जाने वाले गीत, प्रमुख हैं। बौद्धों ने भारतीय ग्रन्थों का, ख़ासतौर से जातक की कहानियों का, चीनी अनुवाद कर साहित्य को नयी दिशा दी।

साहित्य की तरह कला में भी नयी प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। प्रकृति-चित्रण की धूम मची। चिड़ियों, चूहों आदि के चित्र बनने लगे। स्थापत्य और मूर्ति-शिल्प पर बौद्ध विचारों की छाप पड़ी। ३६६ में यात्रियों ने तुन-हुआङ की गुफाएँ खोदनी शुरू कीं जिनकी संख्या अगले हज़ार वर्षों में ४०० तक पहुँची। इनमें प्लास्टर की मूर्तियाँ बनायी गयीं और उन्हें भित्ति चित्रों से सजाया गया। और स्थानों पर भी गुफाएँ, मूर्तियाँ, चित्र आदि बहुतायत से बनाये गये। इनमें गति की तीव्रता के अलावा आध्यात्मिक गम्भीरता भी मिलती है। छठी सदी के बाद भारतीय प्रभाव सीधा हो गया लेकिन चीनी कलाकारों ने ऐन्द्रिकता के साथ नियन्त्रण के भाव को भी नत्थी किया।

इस अध्ययन से स्पष्ट है कि मध्य एशिया की आँधी से एशियाई संस्कृति में नया कम्पन और स्पन्दन पैदा हुआ जिससे गले-सड़े डाल-टहनी टूट गये और नयी कोपलें फूटना शुरू हो गयीं। विभिन्न देशों के लोगों के विचारों और भावनाओं को जो झटके लगे उनसे उनमें नयी धार्मिक चेतना जगी और उनके सम्पर्क और सम्बन्धों में जो व्यापकता आयी उससे उसे सार्वभौम रूप मिला। अगले परिच्छेद में हम इस प्रक्रिया का अध्ययन करेंगे।

## परिच्छेद ४

# विश्वधर्म-चेतना

### ईसाइयत

साम्राज्यों के उत्थान-पतन और सम्बन्ध-सम्पर्क के विस्तार से जो सांस्कृतिक परिवर्तन और सामाजिक उथल-पुथल हुए उन्होंने मनुष्य को क्षेत्रीय और लौकिक दृष्टियों से ऊपर उठाकर एक सार्वभौम और पारभौतिक धरातल तक पहुँचाया। इससे विश्व-धर्म-चेतना का अभ्युदय हुआ। यहाँ हम इसके आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पक्षों पर विचार करेंगे।

प्राचीन भारतीय सिद्धान्त है कि जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म बढ़ता है तो भगवान् अवतार लेते हैं। इसे इतिहास-दर्शन का रूप देते हुए आर्नोल्ड जोज़फ ट्वायनबी ने कहा है कि जब 'सभ्यताएँ' विघटित होती हैं और 'सार्वभौम साम्राज्य' टूटते हैं तो 'उच्च धर्मों' की प्रतीति होती है। लगभग दो हज़ार वर्ष पहले एशिया इसी स्थिति से गुज़रा।

पश्चिमी एशिया शुरू से ही संस्कृतियों का संगम और साम्राज्यों का मिलन-स्थल रहा है। इनके संघर्षों और सम्पर्कों के फलस्वरूप इस प्रदेश के निवासियों की दृष्टि में विस्तीर्णता और गम्भीरता पैदा हुई। उन्हें एक ओर विश्व की विशालता और एकता का अनुभव हुआ और साथ ही इसके चलायमान रूपों को देखते हुए उनके पीछे और उनसे ऊपर एक परोक्ष सत्ता का आभास हुआ जो उनका संचालन और नियमन करती है। इससे विश्वधर्मों का जन्म हुआ जो स्थानीय रीति-रिवाजों और आचार-विचारों से ऊपर एक सार्वभौम नैतिक विधान और आध्यात्मिक साधना पर आधारित थे।

पश्चिमी एशिया में जो बौद्ध और ब्राह्मण बस्तियाँ थीं उनके असर से थेरापोते और एसीन जैसे सम्प्रदाय उभर रहे थे जिनके अनुयायी संन्यास, ध्यान, शाकाहार, ब्रह्मचर्य और एकान्त जीवन में विश्वास करते थे। हाल ही में मृत सागर के पास जो लेखपट्ट मिले हैं, जिन्हें 'डेड सी स्क्रोल' कहते हैं उनसे एसीन सम्प्रदाय के आचार-विचार पर काफी प्रकाश पड़ता है। इनसे पता चलता है कि क़ुमरान में इन लोगों का अड्डा था

और वे सदाचार के उपदेशक मसीहा के आगमन में विश्वास करते थे। उनमें वैयक्तिक सम्पत्ति को हेय समझा जाता है, जो कुछ किसी के पास होता वह उसे सामूहिक कोश में जमा करता था, और ऊँच-नीच का कोई खास भेद नहीं था। यही विचार ईसाइयत में पल्लवित हुए।

ईसू मसीह का जन्म ४ ई० पू० के क़रीब फिलिस्तीन के गेलीली प्रदेश में नज़ारथ के एक ग़रीब किन्तु बड़े बढ़ई परिवार में हुआ। ६ ई० में, जब ईसू १० वर्ष के थे, वहाँ के मछुओं, चरवाहों और कारीगरों ने रोम के शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। हालाँकि उनकी शिक्षा नहीं के बराबर थी, वे लिखना-पढ़ना बिल्कुल नहीं जानते थे और दर्शन की बारीकियों से अपरिचित थे, पर उनकी वृत्ति अत्यन्त धार्मिक थी, वे यहूदी धर्म की संकीर्णता के विरोधी थे, उन्हें पण्डे-पुरोहितों और धनिक वर्गों का अहंकार और अत्याचार खलता था और वे निर्धन और निरक्षर लोगों की दरिद्रता से द्रवित थे। उन दिनों एसीन सम्प्रदाय के एक साधु जॉन बेप्टिस्ट से उनकी भेंट हुई। उसने उनके मन में धर्म गुरु बनने की प्रेरणा पैदा की और उन्होंने, उसकी हत्या पर, धर्म-प्रचार शुरू कर दिया। लेकिन यहूदी उनके बहुत खिलाफ थे। उनसे बचने के लिए वे गेलीली के समुद्र-पार के पहाड़ी इलाक़े में चले गये और वहाँ से समुद्र के किनारे-किनारे जोर्डन की घाटी में पहुँचे और वहाँ से फिर गेलीली वापस आये लेकिन नज़ारथ नहीं गये। इन यात्राओं में उन्होंने पापियों, विदेशियों और निर्धन लोगों की संगत की और प्राय: एकान्त में ध्यान-मनन किया। इस प्रवास में उनके कुछ शिष्यों ने, विशेष रूप से पितर ने, उन्हें मसीहा घोषित कर दिया। इसका लोगों को बड़ा इन्तज़ार था। लेकिन साथ ही यह मान्यता थी कि मसीहा यहूदियों का राजा होगा और येरूशलम पर राज्य करेगा। इसलिए ईसू को भी 'पासोवर' के अवसर पर, जब यहूदी मिस्र की ग़ुलामी से छूटने की यादगार का त्यौहार मना रहे थे, येरूशलम जाना पड़ा, जिससे वे वहाँ ईश्वर के राज्य की घोषणा कर सकें। वहाँ पहुँच कर उन्होंने खुलेआम अपने आप को मसीहा घोषित किया और यहूदियों के राजनीतिक और आर्थिक भ्रष्टाचार की आलोचना की और उन्हें प्रायश्चित करने, सदाचार का मार्ग अपनाने और ईश्वर के राज्य में शामिल होने का निमन्त्रण दिया। पण्डे और पुरोहित तो उनसे नाराज़ थे ही, साधारण जनता भी उनके खिलाफ हो गयी क्योंकि उनके यह कहने पर कि अगर वे 'मसीहा' हैं तो रोमन लोगों को फिलस्तीन से निकालें। उन्होंने कहा, "जिन चीज़ों का अधिकारी क़ैसर (रोमन सम्राट्) है उन्हें क़ैसर को दो और जिन चीज़ों का अधिकारी ईश्वर है उन्हें ईश्वर को दो"। 'पासोवर' के दिन उन्होंने अपने शिष्यों के साथ एक गुप्त बैठक में दावत की और उसके फौरन बाद शहर छोड़ दिया। किन्तु यूदा के नेतृत्व में पुलिस

की एक टुकड़ी ने उन्हें घेर लिया और प्रमुख पुरोहित के सामने पेश किया। उसके सामने भी ईसू ने अपने 'मसीहा' होने के दावे को दोहराया। अतः उन्हें रोमन प्रशासक पाइलेत की अदालत में ले जाया गया और उनके लिए मृत्युदण्ड की माँग की गयी। लोगों की बात मान कर पाइलेत ने उन्हें क्रूश पर मेखों में जड़कर मारने की सजा सुनायी। २९ ई० को उन्हें इस प्रकार मृत्युदण्ड दिया गया।

ईसू मसीह मानव मात्र को एक समझते थे। उनकी दृष्टि में यहूदी और ग़ैर-यहूदी का भेद बेकार था। वे सभी को भगवान् की सन्तान होने के कारण बराबर मानते थे। किन्तु उन्हें छोटी और निचली श्रेणियों के शोषित और दलित लोगों से ख़ास लगाव था। साथ ही समृद्ध और सम्पत्तिशाली वर्गों से विरक्ति थी। प्रेम, सहिष्णुता, सदाचार और परोपकार का भाव उनकी शिक्षाओं में कूट-कूट कर भरा है। उनका मत था कि देश, वेश, भाषा, भूषा के भेद के बिना सब का भला चाहना और करना ही अपनी भलाई का रास्ता है। सदाचार के मार्ग पर चलने के लिए किसी पण्डे, पुजारी, पुरोहित की जरूरत नहीं है और न किसी शास्त्रीय विधि-विधान की आवश्यकता है। दूसरों के सुख के लिए स्वयं कष्ट सहना, दूसरों के कल्याण के लिए यातना भुगतना, दूसरों के लाभ के लिए अपना बलिदान करना ईश्वर के निकट पहुँचना है क्योंकि उसने मनुष्य-मात्र की मुक्ति के लिए ईसू मसीह के रूप में अपनी क़ुर्बानी की है।

भगवान से प्रेम करने का अर्थ अपने पड़ोसी की सेवा करना है। 'मैथ्यू' (२२/३७–४०) में लिखा है, "तू अपने प्रभु भगवान् को आत्मा, मन और हृदय से प्यार करेगा, यह प्रथम और सबसे प्रमुख आदेश है। और दूसरा इसी के समान है; तू अपने पड़ोसी से ऐसे ही प्यार करेगा जैसे अपने से। इन दो आदेशों पर सारा धर्म निर्भर है।" 'जॉन' (४/२०) का कहना है, "जो अपने भाई से प्यार नहीं करता जिसे उसने देखा है, वह भगवान् से कैसे प्यार कर सकता है; जिसे उसने देखा नहीं है।" इस प्रकार मानवता की सेवा करना—पड़ोसी से ही प्रेम न करना, शत्रु से भी प्रेम करना—भगवान् की भक्ति का अभिन्न अंग और मूर्तरूप है (ल्यूक ६।२०-३८)। अर्थात् भगवद्भक्ति एक सामाजिक कृत्य है जो बड़े-छोटे, ऊँचे-नीचे की अपेक्षा नहीं रखता।

ईसाई धर्म दुखी-दरिद्र जनता को, जो जीवन के संग्राम से हतोत्साह है और जिसे लौकिक संघर्ष निष्फल प्रतीत होता है, परलोक के सुख और त्राण से स्पन्दित करता है। उसका यह घोष कि "तुम निर्धनो! धन्य हो, क्योंकि ईश्वर का राज्य तुम्हारा ही है" निष्प्रभ हृदयों में आशा की किरण पैदा करता है। और साथ ही उसकी यह चेतावनी कि "अमीरो! तुम पर खेद है क्योंकि तुम्हारे सुख समाप्त हो चुकेहैं, भरे पेटवालो तुम पर खेद है; क्योंकि तुम भूखों मरोगे" तात्कालिक अर्थ-व्यवस्था पर कटु प्रहार

है। इस प्रकार शान्ति और सहिष्णुता का वाहन होते हुए भी ईसाइयत क्रान्ति का मूलमन्त्र है।

ईसाइयत के अनुसार ईश्वर की एक सत्ता है किन्तु उसके तीन रूप हैं—पिता, पुत्र और पवित्रात्मा। ईश्वर ने मनुष्य को पूर्ण बनाया किन्तु आदम ने ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन किया जिसके कारण समस्त मानव जाति उससे दूर हो गयी और उसका पतन हो गया। अपने और मनुष्य के सायुज्य को फिर से स्थापति करने के लिए ईश्वर ईसू के रूप में मनुष्य बना। ईसू एक ही समय ईश्वर भी था और मनुष्य भी। इस विषय में नेस्तोरियस के मत को मानने वाले नेस्तोरी ईसाई मानते हैं कि ईसू सिर्फ मनुष्य था और सीरिल के मत को मानने वाले मोनोफिज़ाइत ईसाई मानते हैं कि वह केवल ईश्वर था। ईश्वर ने ईसू के रूप में मनुष्य बनकर कष्ट सहा और अपना बलिदान किया जिससे समस्त मानवता के पापों का प्रायश्चित हो सके। वह ईसू के रूप में पृथ्वी पर फिर आयगा, मृतप्राणी कब्रों से उठ खड़े होंगे, पुण्यात्माओं की मुक्ति होगी और पापी सदा के लिए नरक में जायँगे।

ईसाइयत के शुरू के प्रचारक हेलेनी-संस्कृति में डूबे हुए यहूदी थे। ये शाम, फिनिशिया और एशिया खुर्द के शहरों में चक्कर लगाते थे। बाद में इन्होंने रूम सागर के तटवर्ती प्रदेश में घूमना शुरू किया। येरूशलम, अन्तिओक, एफेसस, स्मिरना, थिस्से-लोनीका, कोरिन्थ आदि शहर इनके प्रचार के केन्द्र बने। इस धर्म को सबसे पहले निर्धन मज़दूरों और गुलामों ने अपनाया। सन्त पॉल के पत्रों में जिन व्यक्तियों के नाम आये हैं उनमें अधिकतर गुलाम हैं। शहीदों की तालिका में ब्लेन्दीना और फ़ेलीसीतास नामक गुलाम-स्त्रियों की चर्चा है। इस प्रकार ईसाइयत सबसे पहले रोमन-साम्राज्य के सब से निचले और घटिया दलित-शोषित लोगों में फैली।

शुरू के ईसाई संगठन आपसी सहयोग और सहायता के माध्यम थे। इनके द्वारा ग़रीबों और बीमारों की सेवा का काम चलता था। एक कोश ऐसा था जिससे गुलामों को छुड़ाया जाता था। इन संगठनों के सदस्य सरकारी ओहदों से इन्कार करते थे। उन्हें युद्ध से घृणा थी और वे सैनिक सेवा से बचते थे। वे राज्य या राजा की पूजा की निन्दा करते और सम्राट् की वेदी पर रत्ती भर भी गुग्गल जलाना पाप समझते थे। मूर्ति-पूजा का विरोध करने के कारण कुछ लोग उन्हें 'अनीश्वरवादी' (एथीस्ट) कहने लगे थे। उन्हें सामान्य सामाजिक प्रथाएँ, मनोरंजन, खेल-तमाशे, सर्कस-नाटक, शादी-विवाह बुरे लगते थे। बढ़िया कपड़े और ज़ेवर पहनना और शान-शौकत से रहना उनकी दृष्टि में हेय था। इससे उद्योग-व्यापार में बाधा पड़ी। फलतः इनसे सम्बन्ध रखने वाले लोगों ने इसका विरोध किया। एफेसस के चाँदी के काम करने वालों ने इसके विरुद्ध

दंगे-फसाद किये। इस प्रकार ईसाइयत ने प्रचलित व्यवस्था को कड़ी चुनौती दी।

ईसाइयत सामाजिक और आर्थिक बन्धनों को व्यर्थ समझती थी। इसके संगठनों में स्वामी और दास का समान दर्जा था। ओरीजेन का कहना था कि जाति और सम्पत्ति के विभेद पाप की निशानियाँ हैं। सन्त ऑगस्तीन का विचार था कि सामाजिक वर्ग का विकास पाप का परिणाम है। जॉन क्रिसोस्तोम की धारणा थी कि स्त्री की पुरुष के प्रति दासता, सेवक की स्वामी के प्रति दासता और सब मनुष्यों की राज्य के प्रति दासता नैतिक भ्रष्टाचार से निकली है। ईसाइयों ने दस्तकारों को हेय बताया, व्यापारियों की निन्दा की, सट्टे-फाटके को घोर अपराध घोषित किया और सूदखोरी की कटु आलोचना की। ४१५ ई० में पिलेजियस ने यह मत प्रकट किया कि अमीरों की मुक्ति तभी हो सकती है जब वे सब प्रकार की सम्पत्ति का त्याग कर दें। कुछ लोग इस हद तक तो नहीं गये लेकिन उन्होंने यह माना कि अमीर भगवान् द्वारा नियुक्त सम्पत्ति का रक्षक (ट्रस्टी) मात्र है और ग़रीब उसका पेन्शनर।

रोमन साम्राज्य के पतन-काल में, जब नगरों की दरिद्र जनता ईसाइयत की ओर झुक रही थी, अभिजात वर्गों के लोग भी संक्रान्ति की भवँर में थे। कुछ लोग पतन की प्रक्रिया के कारण आन्तरिक विरक्ति अनुभव कर रहे थे और नये धर्म की ओर प्रवृत्त हो रहे थे, तो कुछ इसके संगठनों में शामिल हो अपनी राजनीतिक शक्ति बढ़ा रहे थे। कालान्तर में ईसाइयत ने इन बड़े आदमियों के वर्गों से समझौता कर लिया।

ईसाइयत का प्रचार एशिया के काफी बड़े भाग पर जल्दी ही शुरू हो गया। जब पीटर रोम गया और पॉल ने शाम और यूनान में काम शुरू किया तो सन्त टॉमस ने उत्तरी और दक्षिणी भारत में और सन्त बार्थोलोम्यो ने पश्चिमी भारत में इसका प्रचार शुरू किया। उन्हीं दिनों ईरान में भी इसका श्रीगणेश हुआ। धीरे-धीरे मध्य एशिया में भी ईसाइयों के अड्डे जम गये। तुर्फान की निचाई में जर्मन पुरातत्त्व-मण्डलों को अनेक ईसाई पाण्डुलिपियाँ मिली हैं। ६३५ ई० में मध्य एशिया से आ-लो-पेन नामक ईसाई चीन की राजधानी पहुँचा और तीन वर्ष बाद उसे थाङ् सम्राट् ने एक मठ खोलने की इजाज़त दी। इस प्रकार ईसाई मत सब जगह फैल गया।

## मानी धर्म

तीसरी सदी ईसवी में एक नये विश्व धर्म का आविर्भाव हुआ जिसे मानी धर्म कहते हैं। इसके प्रवर्तक मानी का जन्म २१५ या २१६ ई० में आधुनिक बग़दाद के दक्षिण में कूथा नहर के निकट बरोमिया या मरदिनु नाम के गाँव में हुआ। उसके पिता 'पातक'

या 'फातक' (अरबी 'फुत्ताक') का सम्बन्ध ईरान के अर्शक राजवंश से था जिसने २५० ई० पू० से २२६ ई० तक ईरान पर राज्य किया। कुछ कारणों से फातक ने अपनी जन्म-भूमि हमादान छोड़कर बेबीलोनिया में तेसीफोन के पास के एक गाँव में रहना शुरू किया और इरफानी लोगों के एक सम्प्रदाय में दीक्षा ली। इस वातावरण में उसके पुत्र शुराइक़ ने, जो बाद में मानी कहलाया—यह शब्द 'माना' (शोभनीय) या 'म्नाहीम' (सुखद) से निकला मालूम होता है—ज़रथुस्त्री, ईसाई, इरफानी, बारदेसानी और मारसियोनी धर्मों के सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन किया। २३ या २४ वर्ष की आयु में, सासानी सम्राट् अर्दशीर प्रथम के राज्यकाल के अन्तिम वर्ष में (२४१ई०में) उसने अपने आपको 'फारक़लीत' घोषित किया, जो हज़रत ईसू की भविष्यवाणी के अनुसार उनके बाद आने वाले पैगम्बर का नाम था, और अपने स्वतन्त्र धर्म का प्रवचन और प्रचार प्रारम्भ कर दिया। किन्तु इसके तुरन्त बाद, शायद ज़रथुस्त्री पण्डों के विरोध के भय से, वह समुद्री मार्ग से बाबुल से मकरान और भारत आया। उत्तरी भारत में उसे भारतीय धर्मों, विशेषतः बौद्ध धर्म, का परिचय मिला। वहीं शायद उसने अपना ग्रन्थ 'शापूरक़ान' लिखा जिसका आशय ईरान के नये सम्राट् शापूर प्रथम को अपनी राजनीतिक स्थिति के विषय में निश्चिन्त करना था। इसके बाद उसने खुरासान की यात्रा की और वहाँ से वह ईरान पहुँचा। सम्राट् शापूर ने उसकी बड़ी इज्जत की और उसे अपना धर्म फैलाने की इजाज़त दी। इसपर उसने उत्तर-पश्चिमी ईरान में रोमन साम्राज्य की सरहद तक और उसके भीतर भी अपने धर्म का प्रचार किया। लगता है कि उसके समन्वयमूलक धर्म के द्वारा सासानी प्रशासन को अपनी सार्वभौम सत्ता दृढ़ करने और स्थानीय विचारधाराओं को खत्म करने की सम्भावना दिखायी दी। किन्तु इस धर्म के निराशापरक दृष्टिकोण के पीछे पददलित जनता का अपार असन्तोष छिपा था। इसकी संन्यास और भौतिक त्याग की नीति दुखी-दरिद्र लोगों के मूक विरोध और असहयोग की परिचायक थी। इसके मतों और सिद्धान्तों में दास प्रथा पर आधारित समाज की खलबली भरी थी जिसने मज़दकी साम्यवाद के भयंकर क्रान्तिकारी आन्दोलन को जन्म दिया। अतः यह स्वाभाविक था कि ईरानी अभिजात और सम्पत्तिशाली वर्ग मानी धर्म से रुष्ट हो गये और शापूर प्रथम के राज्यकाल के आखरी भाग में उसका विरोध करने लगे। शापूर के उत्तराधिकारी, बहराम प्रथम के राज्यकाल में यह विरोध पूरे जोर से भभक उठा और मानी को कारागार में डाल दिया गया और उसे तरह-तरह की तकलीफें पहुँचायी गयीं जिनसे २७ फरवरी २७७ को उसकी मृत्यु हो गयी। किन्तु इससे मानी धर्म दब नहीं सका।

मानी धर्म द्वैतवाद पर आधारित है। इसके अनुसार प्रकाश-जगत् और अन्धकार-जगत् एक दूसरे से भिन्न हैं। तीन तरफ से ये अलग हैं लेकिन एक तरफ से एक दूसरे के

साथ मिलते हैं। इनके अधिपति अलग-अलग हैं। इनमें सतत द्वन्द्व चलता रहता है जिसके परिणामस्वरूप सृष्टि का निर्माण हुआ है। इसमें प्रकाश और अन्धकार के तत्त्व मिले हुए हैं। धर्म की साधना का लक्ष्य यह है कि कठोर तपस्या और कर्मों के त्याग द्वारा प्रकाश के कणों को अन्धकार के बन्धन से छुड़ाया जाये। मानी के अनुयायियों का विश्वास था कि अन्त में प्रकाश अन्धकार से स्वतन्त्र हो जायगा। उस समय भौतिक जगत् का अन्त होगा। धरती और आसमान के बन्धन टूट जायँगे, अन्तिम अग्निकाण्ड में जब गोचर पदार्थ जल कर खत्म हो जायँगे। इसे ध्यान में रखते हुए मानी के विरोधी कहते थे, "यह व्यक्ति लोगों को दुनिया के नाश की सलाह देने आया है।"

मानी धर्म का नैतिक दृष्टिकोण उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि के अनुसार भूत-जगत् में फैले अन्धकार के बन्धन से प्रकाश के कणों को मुक्त करने के लक्ष्य पर आधारित है। कठोर तपस्या, त्याग और अपरिग्रह द्वारा कर्मों का क्षय करना और आत्मा को भौतिक बन्धनों से छुड़ाना इसका उद्देश्य है। यह विचारधारा बहुत कुछ जैन मान्यताओं और और साधनाओं से मिलती है। यह सात सिद्धान्तों पर निर्भर है जिन्हें 'सात मुद्राएँ' कहते हैं। इनमें से चार आध्यात्मिक हैं और तीन भौतिक। तीन भौतिक 'मुद्राएँ', अर्थात् 'मुख-मुद्रा' (अशुभ वचन से बचना), 'हस्तमुद्रा' (अशुभ कर्मों से बचना) और 'हृदय-मुद्रा' (अशुभ भावना या वासना से बचना), वाणी, शरीर और मन का पूर्ण निग्रह और नियन्त्रण कर उन्हें अशुभ से शुभ की ओर अग्रसर करने की चेष्टा पर निर्भर है। ये तीनों आचार ज़रथुस्त्री धर्म के 'हूख़्त', 'हूवर्श्त' और 'हूमत' के सिद्धान्तों के समान हैं। इनका व्यावहारिक रूप साधुओं और श्रावकों के लिए भिन्न था। साधुओं के लिए व्यापार-व्यवसाय, धन-संग्रह, भोग-वासना, मांस खाना, मद्य पीना, पशुओं या वनस्पति को हानि पहुँचाना, विवाह करना, सन्तान उत्पन्न करना और परिवार बढ़ाना वर्जित था। वे एक दिन के भोजन और एक वर्ष के कपड़ों से अधिक अपने पास कुछ नहीं रख सकते थे। उनके लिए निरन्तर चारिका (सफर) करना और लोगों को सद्धर्म का उपदेश देना अनिवार्य था। किन्तु श्रावकों के लिए नियम इतने सख्त नहीं थे। वे अपना दुनियावी कारोबार करते और कामधन्धों में लगे रहते थे। वे मांस भी खा सकते थे लेकिन अपने हाथ से जानवर को नहीं मारते थे। वे विवाह करते थे किन्तु उन्हें सादा जीवन बिताने और संसार में ज्यादा आसक्ति न रखने की हिदायत थी। साधुओं की सेवा-शुश्रूषा करना उनका परम धर्म था। दान देना, व्रत रखना और प्रार्थना करना सबका कर्तव्य था। महीने में सात दिन व्रत किया जाता था और रात-दिन में चार बार प्रार्थना की जाती थी। प्रार्थना से पहले स्नान करना, और जहाँ जल न हो वहाँ रेत से शरीर शुद्ध करना, जरूरी था। प्रार्थना में बारह बार मत्था टेका जाता था।

मानी धर्म में देश, जाति, वर्ण, वर्ग, सम्पत्ति, संस्कृति आदि के भेद नहीं थे। उनकी दृष्टि में मानव-मात्र समान था। मानी अपने सब अनुयायियों को सम्बोधित करते हुए इस प्रकार अपना प्रवचन शुरू किया करते थे : "मेरे बच्चो, मेरे भाइयो, मेरे अंगो, मेरे प्यारो................"।

मानीधर्म के उपासनागृहों में मूर्तियाँ नहीं होती थीं। इनके पाँच अंग होते थे—पुस्तकालय, प्रवचनगृह, चिकित्सालय, भोजनालय और प्रार्थना-कक्ष। लेकिन आवास के लिए कमरे नहीं होते थे, क्योंकि साधुओं और सन्तों को एक जगह जम कर रहने की मनाही थी। जादू-टोने-टोटके पर कड़ी पाबन्दी थी और दिखावे और पाखण्ड को बुरा समझा जाता था। झूठ, क़त्ल, चोरी, व्यभिचार और लिप्सा को सबसे बड़ा पाप माना जाता था। भगवान्, उसके प्रकाश, उसकी शक्ति और उसकी प्रज्ञा में श्रद्धा रखना सबके लिए आवश्यक था।

मानी सम्प्रदाय का संगठन बड़ी सतर्कता से किया गया था। इसमें छः दर्जे (श्रेणियाँ) थीं : (१) 'एरपाद' (अरबी, 'इमाम', चीनी, 'फा-चू'), वह स्पेन से चीन तक फैले हुए सारे संघ का नेता होता था। (२) फरीस्तगान (पह्लवी, 'ह्लेबतगान', चीनी, 'आ-फू-यिन-सा', अरबी, 'मुअल्लिमून')—इनकी संख्या १२ थी और ये नेता के आदेश के अनुसार अपने-अपने प्रान्तों के खुसम्प्रदायों की व्यवस्था करते थे। (३) खुरोह्वान (अरबी, 'मुशम्मसून', चीनी, 'हू-लू-ह्वान')—ये ७० या ७२ थे और धर्म का प्रवचन और प्रचार करते थे। (४) अर्घवानगान साहपासक (अरबी 'किस्सीसून', चीनी 'न्गो-ह्वान-किएन साई-पो-साई')—ये अपने-अपने जिलों के सम्प्रदायों का प्रबन्ध करते थे। (५) देनावर (अरबी, 'सिद्दीक़ून', चीनी 'त्सियुअन-किएन')—ये साधु-सन्त थे और नित्य भ्रमण करते और धर्मदेशना करते थे। (६) नियोशगान (अरबी 'सम्माऊन', चीनी, 'थिङ-चो')—श्रोता या श्रावक, ये मानी धर्म को मानने वाले लोग थे जो अपना दुनियावी कामधन्धा करते और दान, व्रत, पूजा आदि द्वारा अपना धार्मिक कर्तव्य पूरा करते थे।

मानी धर्म में उस समय के सभी प्रधान धर्मों—ज़रथुस्त्री, ईसाई, नव-अफलातूनी, बौद्ध आदि का समावेश और समन्वय था। मानी ने खास तौर से ज़रथुस्त्री और ईसाई सिद्धान्तों को मिलाने की कोशिश की। पर उसके सिद्धान्तों पर बौद्ध धर्म की गहरी छाप है। उसका पूर्वी रूप तो बौद्धमत से काफी मिलता-जुलता है। मार अम्मो, जो मध्य एशिया में मानी धर्म का प्रचारक था, के ग्रन्थों में, जो पार्थव भाषा में हैं, बौद्ध शब्दावली, जैसे 'बुद्ध शाक्यमुनि', 'श्रमण', 'निर्वाण', 'भिक्षु', 'मैत्रेय' आदि का काफी प्रयोग है। सुघ्दी ग्रन्थों में बौद्ध परिभाषाओं की भरमार-सी है। सुघ्दी व्यापारी प्राचीन काल में दूर-दूर तक फैले हुए थे। उनके माध्यम से मानी धर्म भी काफी फैला और उसमें निहित बौद्ध

परिभाषाओं का प्रचार हुआ। यह महत्त्व की बात है कि 'बोधिसत्त्व' का रूप 'बूदासफ', जो पश्चिमी जगत् में फैला, सुघ्दी भाषा का ही है। मध्य-फारसी ग्रन्थों में मानी को, 'बोधिसत्त्व' और उसकी मृत्यु को 'निर्वाण' कहा गया है। तुर्की भाषा के एक ग्रन्थ में उसे 'हमारे पिता मानी बुद्ध' के रूप में सम्बोधित किया गया है। चीन के कान-सू प्रान्त की सीमा पर तुन-ह्वाङ नामक स्थान से जो मानी धर्म का ग्रन्थ मिला है वह एकदम बौद्ध सूत्र जैसा लगता है। उसमें मानी को तथागत कहा गया है और बुद्धों और बोधिसत्त्वों की काफी चर्चा है। उसी स्थान से 'खुवास्तुआनिफ्त' नाम का एक और ग्रन्थ मिला है जो बौद्ध 'पातिमोक्ख'से बहुत मिलता-जुलता है। इसमें पापों की स्वीकृति का विधान है और सारी शब्दावली और परिभाषा बौद्ध है। इसमें ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और सत्य पर जो ज़्यादा जोर दिया गया है उस पर बौद्ध पंचशील का गहरा असर मालूम होता है। मानी धर्म के साहित्य में कहीं बौद्ध धर्म का विरोध नहीं मिलता।

मानी धर्म शुरू से ही प्रचारात्मक था। वह समस्त ज्ञात विश्व को अपना क्षेत्र मानता था। अतः मानी के समय से ही इसके प्रचार की परम्परा काफी विस्तृत रही। ईरान के अलावा समस्त पश्चिमी एशिया, अफ्रीका में मिस्र और तूनिस, यूनान में यूनान और रोम तक इसकी धूम मच गयी। ३१२ में पोप मिलतियादीस के काल में रोम में इसकी मजबूत शाख कायम हो गयी। ३२५ में सम्राट् कोन्सतेनताइन ने मूसोनियन या स्त्रातेगियस को इसके विषय में विवरण तैयार करने के लिए नियुक्त किया। कुछ दिन वह यही सोचता रहा कि इसे या ईसाइयत को राष्ट्रधर्म घोषित करे। ३५४ में प्वातिए के निवासी हिलारी ने सूचना दी कि मानी धर्म दक्षिणी फ्रांस के आकीतेन नामक प्रदेश में प्रबल हो रहा है। उन्हीं दिनों प्रसिद्ध ईसाई सन्त ऑगस्तीन ने इस धर्म में दीक्षा ली, किन्तु बाद में उसने ईसाइयत को अपनाया। ३८० में स्पेन में प्रिस्कीलियन को मानी का अनुयायी होने के आरोप में मार डाला गया। उसी समय मीलान में सिम्माकस ने इस धर्म के समर्थन में एक ग्रन्थ लिखा। ४०४ में अन्तियोक की एक महिला जूलिया ने गाजा के लोगों को इस धर्म में दीक्षित किया और फिलोन ने सिनाई के इलाक़े में इसका प्रचार किया। ४४३ में पोप लियो प्रथम (४४०-४६१) ने लिखा कि रोम में काफी मानी धर्मावलम्बी हैं और छठी सदी में पोप ग्रिगोरी प्रथम (५६०-६०४) ने लिखा कि अफ्रीका, सिसली और कालाब्रिया में काफी मानीवादी हैं। इस तरह दमन और अत्याचार के बावजूद मानी धर्म पश्चिमी जगत् में बना रहा और ईसाइयत से इसका लम्बा संघर्ष रहा। आज तक बलकान के बोगोमिल आदि सम्प्रदायों पर इस धर्म का गहरा असर है।

पश्चिमी जगत् की तरह पूर्वी एशिया में भी मानी धर्म का काफी प्रचार हुआ। पाँचवी सदी में यह तुर्किस्तान में फैला और छठीं सदी में बहुत से तुर्कों ने इसे अपनाया।

सातवीं सदी में यह चीन पहुँचा। ६६८ में मानी को लाओ-त्जु का अवतार बताया गया और 'हुवा-हू-किङ' नामक ग्रन्थ में इस मत का प्रतिपादन किया गया। ६६४ में अफ्तादान (फो-तुओ-तान) नामक प्रचारक 'दोबूननामग' शीर्षक ग्रन्थ लेकर काशगर, कूचा और क़ाराशहर होता हुआ चीन पहुँचा और ७०० में इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद हुआ। ७१६ में तुख़ारिस्तान के राजा ती-शो ने मानी धर्म के एक आचार्य को चीनी सम्राट् की सभा में भेजा और सिफारिश की कि उसे मन्दिर बनाने की इजाज़त दे दी जाय। दो वर्ष के अन्दर मानी धर्म 'मिङ-क्याओ' (प्रकाश का धर्म) के नाम से चीन में चालू हो गया। ७३१ में शाही हुक्म से इस धर्म के ग्रन्थ पह्लवी से चीनी में भाषान्तरित किये गये। इसके मन्दिर और उपासनागृह बनने लगे। ७६२ में एक चीनी बागी ने उइग़ुर तुर्कों के क़ाग़ान से मदद माँगी। उसके बुलावे पर तुर्कों ने थाङ साम्राज्य की पूर्वी राजधानी पर कब्जा कर लिया। वहाँ मानी धर्म के एक अधिकारी से उनकी भेंट हुई। उसके असर से उनके क़ाग़ान ने मानी धर्म ग्रहण किया और मंगोलिया जाकर इसे राष्ट्रधर्म घोषित किया। ७६० और ७८० के बीच में जुई-सी आदि विद्वानों ने इस धर्म के ग्रन्थों का तुर्की अनुवाद किया। उइग़ुरों के प्रभुत्व के कारण यह मंगोलिया और चीन में ८४०-४१ तक सर्वोपरि रहा। लेकिन ८४३-४५ में चीन में इसका दमन शुरू हुआ। फिर भी चीन पर इसकी गहरी छाप रही। इसके द्वैतवादी सिद्धान्त के प्रभाव से चीन के शाकाहारी सम्प्रदायों का जन्म हुआ, जो पूर्वी और दक्षिणी प्रान्तों में, काफी जोर-शोर से फैले। मध्य एशिया में तो यह इस्लाम के आने तक तुर्कों का लोकधर्म रहा और नेस्तोरी ईसाइयत से इसकी होड़ रही।

इस्लामी जगत् में भी मानी के मानने वाले बचे रहे। वहाँ उन्हें 'ज़िन्दीक़' कहते थे। आठवीं सदी में मानी धर्म का इतना जोर था कि खलीफा अल-मेहदी ने 'साहिब-अज़्-ज़नादिक़ा' नामक एक खास अफसर इसलिए नियुक्त किया कि वह मानी के उसूलों को मानने वालों को खोज-खोज कर सजा दे। कुछ लोग ऐसे थे जो बाहर से मुसलमान थे लेकिन अन्दर से मानी धर्म को मानते थे। उन्हें खास तौर से दण्ड देने की हिदायत थी। अन्-नदीम ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'फिहरिस्त' में इन लोगों की लम्बी सूची दी है। कुछ लोगों को शक था कि खलीफा अल-मामून भी अन्दर से मानी धर्म में विश्वास रखता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि एशिया के विश्व धर्मों में मानी धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह उस सामाजिक प्रक्रिया की शान्त अभिव्यक्ति थी जिसका क्रान्तिकारी रूप मज़दकी आन्दोलन में स्फुटित हुआ।

## शैव, वैष्णव और पौराणिक धर्म

शैव धर्म काफी पुराना लोकधर्म है। शिव की परिकल्पना में द्रविड, निषाद, किरात आदि अनेक जातियों की भावनाओं का समावेश है। यह धर्म जाति-पाँति के भेद-भाव को तोड़ कर सारी मानवता को एक करना चाहता था। महाभारत के शान्तिपर्व में में जो दक्ष और शिव की कथा आयी है उसमें शिव को यह कहते हुए दिखाया गया है कि उसका धर्म वर्णाश्रम के विपरीत है और समस्त विश्व में मानव मात्र के कल्याण के लिए है :

अपूर्वं सर्वतोभद्रं विश्वतोमुखमव्ययम् ।
वर्णाश्रमकृतैर्धर्मैर्विपरीतं क्वचित् समम् ।।

(महाभारत, १२, २८४, १२१-२४)

इसीलिए कट्टर लोग शैवों से नफरत करते थे जैसा कि 'स्मृतिचन्द्रिका' (२। ३१०) में उद्धृत इस आदेश से ज्ञात होता है कि 'पाशुपतों' को छू लेने मात्र से नहाना और कपड़े धोने चाहिए और कापालिकों को स्पर्श करने से इनके अलावा प्राणायाम भी करना चाहिए।

शैव धर्म को लकुलीश ने पाशुपत सम्प्रदाय में संगठित किया। वायु, कूर्म और लिंग पुराणों से पता चलता है कि जिस जमाने में वासुदेव कृष्ण उत्तरी भारत में अपना धर्म फैला रहे थे उसी समय पश्चिमी भारत में कायावरोहण नामक स्थान पर लकुलीश का जन्म हुआ। उनके विचार 'पाशुपत सूत्र' में मिलते हैं। इससे पता चलता है कि लकुलीश शिव को समस्त सृष्टि का कारण मानते थे। उन्हें 'पति' कहते हैं। उनका 'कार्य' जीवात्मा है जिसका नाम 'पशु' है। यह 'पशु' २३ भौतिक तत्त्वों के जाल में जकड़ा हुआ है जिनके लिए 'कला' या 'पाश' शब्द का प्रयोग होता है। लेकिन इसका एक गुण 'विद्या' भी है जिससे यह 'कलाओं' या 'पाशों' से छुटकारा पाता है। इस मुक्ति के लिए इसे 'विधि' के अनुसार 'व्रतों' का पालन करना पड़ता है और 'द्वारों' से गुजरना होता है। 'व्रतों' में राख पर लेटना, शरीर पर राख लपेटना, हँसना, गाना, नाचना, हुडुक्कार की आवाज करना, मन्त्र जपना और पूजा करना शामिल हैं। 'द्वारों' में जागते हुए भी सोते-से लगना (क्राथन), लकवा मारे हुए की तरह गात को हिलाना (स्पन्दन), चलते हुए लड़खड़ाना (मण्डन), कामोद्दीपक मुद्राएँ बनाना (शृंगरण), पागलों जैसा असामाजिक व्यवहार करना (अवितत्करण) और ऊटपटांग बकना (अवितद् भाषण) सम्मिलित हैं। इन अजीब चर्याओं के पीछे सामाजिक विद्रोह की भावना छिपी है। जब समाज वर्णों और वर्गों के झगड़े-जंजाल में फँसा हुआ था और मनुष्य को इससे छुड़ाने के प्रयत्न जारी थे तो पाशुपतों ने भी इसकी तरफ धक्कामार रवैय्या अपनाया और इसके गर्वीले शिष्टाचार को चुनौती देने के लिए अशिष्ट बातों का प्रचार किया। 'पाशुपत सूत्र' के व्याख्याकार

कौण्डिन्य ने स्पष्ट लिखा है कि इस आचार का उद्देश्य ब्राह्मणों का विरोध करना था (अव्यक्तप्रेतोन्मत्ताद्यं ब्राह्मणकर्माविरुद्धं कर्म)।

सार्वजनिक भावना के कारण शैव धर्म काफी दूर तक फैला। ईसवी सन् के आसपास उत्तरी भारत में शकों, पह्लवों और कुषाणों के आने से इसकी विशेष उन्नति हुई। उनके माध्यम से यह मध्य एशिया में पहुँचा। हाल ही में रूसी तुर्किस्तान में पंजीकन्द में त्रिशूलधारी, कृत्तिवास, नीलवर्ण, नटराज शिव का चित्र मिला है। महाभारत के (६।१२।२६) के एक पाठ से पता चलता है कि शाकद्वीप (ईरानी जगत्) में शिव की पूजा प्रचलित थी। फिरदौसी ने 'शाहनामा' में तूरान के नेता अफरासियाब के साथ 'शंकल' का भी जिक्र किया है (बगुर्रीद शंकल ब-पेश-ए-सिपाह) जो शंकर ही मालूम होता है। उधर दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में शैव धर्म का बड़ा प्रसार हुआ। जिस प्रकार प्राचीन यूनान में प्रवासी लोग नये उपनिवेशों में अपने पुराने नगरों से अग्नि ले जाया करते थे और उससे वहाँ नयी अग्नि जलाते थे, इसी प्रकार भारतीय लोग अपने साथ शिव-लिंग ले जाते थे, जो उनके आदिम नगरों या प्रदेशों के शिव-लिंग का प्रतीक होता था और उनकी नयी बस्तियों का संरक्षक माना जाता था। कालान्तर में यह शिव नये हिन्दू राज्यों का इष्टदेवता बन जाता था। इसके साथ प्रवासियों के आदिम ऋषियों, जैसे अगस्त्य, कौण्डिन्य, भृगु आदि का एकीकरण हो जाता था, इसके अंश का राजाओं में संक्रान्त होना मान लिया जाता था और इसकी पूजा-उपासना के लिए ब्राह्मण नियुक्त किये जाते थे। कम्बुजदेश (कम्बोदिया) में प्रत्येक राजा सुमेरु पर्वत के आकार का प्रासाद खड़ा कराकर उसपर शिव-लिंग की स्थापना कराता था। शिव और राजा को समान माना जाता था। चम्पा में यह विश्वास था कि शिव-लिंग में से निकल कर राजा के रूप में अवतीर्ण होता है। अतः राजा का नाम शिव के साथ जुड़ जाता था। मलाया प्रायद्वीप में बूजांग नदी की घाटी में दस शिव-मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। जावा में शिव के मन्दिरों में दढ़ियल और पेटू भट्टारगुरु अगस्त्य की मूर्ति भी स्थापित की जाती थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शैव धर्म मध्य एशिया से दक्षिण-पूर्वी एशिया तक बहुत तेजी और जोर से फैला।

शैव धर्म की तरह वैष्णव धर्म का दृष्टिकोण भी सार्वभौम था। यह धर्म वेद के बन्धन से मुक्त और वर्णाश्रम व्यवस्था से स्वतन्त्र था। इसे मानने वाले वृष्णियों को ब्राह्मणों से घृणा थी जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के एक उल्लेख से स्पष्ट है। इसके विचार से मानव-मात्र एक था : ब्राह्मण और शूद्र, उच्च और नीच, धर्मात्मा और पापी, देशी और विदेशी सभी भगवान् की दृष्टि में शुद्ध थे। इसलिए भागवत पुराण (२।४।१८). में लिखा है कि किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्वस, आभीर, सुम्ह, यवन, खश और

दूसरे बहुत से पापी लोग भगवान् का आश्रय लेकर शुद्ध हो जाते हैं। गीता में कहा गया है कि पण्डित लोग ब्राह्मण, चाण्डाल, गऊ, हाथी और कुत्ते को एक दृष्टि से देखते हैं; जाति का सम्बन्ध कर्म से है न कि जन्म से।

६०० ई० पू० से पहले वासुदेव कृष्ण ने वैष्णव धर्म को, जिसके अंकुर वैदिक काल में छिपे थे, नया रूप दिया। पाणिनि के संस्कृत व्याकरण के एक सूत्र (४।३।९८) पर पतंजलि के भाष्य से यह अनुमान होता है कि कृष्ण क्षत्रिय नहीं थे। महाभारत के सभापर्व (४२।१; ४१।६) में शिशुपाल उन्हें दास और गोप कहता है। लगता है, वे किसी छोटी जाति, शायद चरवाहों से सम्बन्ध रखते थे। मथुरा के इलाके में उनकी जाति का बड़ा जोर था। वहाँ से उनकी जाति को पश्चिमी भारत में गुजरात जाना पड़ा। उन दिनों उत्तरी-भारत में काफी उथल-पुथल थी। कौरव गिरते जा रहे थे। उनके विरोधी पाण्डव, जिनमें विदेशी तत्त्व भी दिखायी पड़ते हैं, उभर रहे थे। इन्होंने उनके धर्म को अपनाया और बढ़ावा दिया। गीता की समन्वय दृष्टि ने इसे ऊँचा नैतिक और दार्शनिक आधार दिया। धीरे-धीरे यह धर्म पांचरात्र मत में समा गया। पांचरात्र शब्द शतपथ ब्राह्मण (१३।६।१) में नारायण के उस सत्र के लिए आया है जो पाँच रात तक चला और जिससे सृष्टि का विकास हुआ। इस विकास क्रम में भगवान् के पाँच रूपों का संकेत है। वैष्णवों ने इन रूपों को पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा कहा है। उनका मत है कि भगवान् वासुदेव अपनी इच्छा और शक्ति से, जिसका नाम 'सुदर्शन' है, क्रमशः इन पाँच रूपों में प्रकट हुए। इससे इसे पांचरात्र कहते हैं।

पांचरात्र मत से समस्त सृष्टि का बीज 'पौरुषी रात्री' (प्रलय) के रूप में भगवान् वासुदेव में सिमटा हुआ है। उसकी इच्छा-शक्ति, क्रिया-शक्ति और भूति-शक्ति के जाग्रत होने पर ज्ञान, ऐशवर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज ये छः गुण बने। इनमें ज्ञान और बल, ऐश्वर्य और वीर्य, और शक्ति और तेज के तीन जोड़े हैं। इन जोड़ों को 'व्यूह' कहते हैं। इन तीन 'व्यूहों' का नाम 'संकर्षण', 'प्रद्युम्न' और 'अनिरुद्ध' है। ये क्रमशः कृष्ण के बड़े भाई बलराम, उनके पुत्र और पौत्र के नाम हैं। इनके ऊपर वासुदेव व्यूह है। इन चार व्यूहों से १६ उपव्यूह बनते हैं, फिर उनमें से ४ विद्येश्वर निकलते हैं। ये सब मिलाकर वासुदेव की २४ मूर्तियाँ होती हैं। इसके बाद भगवान् अपने आपको प्रकृति के विविध रूपों में प्रकट करता है। ये उसके 'विभव' हैं। इन्हें 'अवतार' भी कहते हैं। इनकी संख्या असीम है। 'विश्वक्सेन-संहिता' के अनुसार आम का पेड़ तक भगवान् का अवतार है। वैष्णव धर्म भक्ति पर आधारित है और श्रद्धा पर बहुत जोर देता है।

पांचरात्र धर्म इन्द्रिय-निग्रह पर बहुत जोर देता है। कुछ संहिताओं के अनुसार, जैसे 'परम संहिता' (१।३९-४०) 'विष्णुतन्त्र', 'विष्णुसंहिता' आदि के मत से, इसका

नाम 'पांचरात्र' इस कारण पड़ा है कि पाँच महाभूत या उनके गुण आत्माओं के लिए पाँच रात्रियों के समान हैं। अविद्या के कारण वे इनमें लीन और इनमें आसक्त रहते हैं। जब इनमें उनकी आसक्ति छूट जाती है तो ये रात्रियाँ दूर हो जाती हैं और वे मुक्त हो जाती हैं।

शैवधर्म की तरह वैष्णव धर्म भी अपने सार्वजनिक रूप के कारण दूर-दूर तक फैला। ईसवी सन् के आसपास भारत में बसे अनेक विदेशियों ने इसे अपनाया। यूनानियों, शकों और कुषाणों ने इसमें खासी दिलचस्पी दिखायी। उस काल में इसका ईरानी और बृहत्तर ईरानी जगत् से सम्पर्क हुआ। महाभारत के शान्तिपर्व के महानारयणीय पर्व में नारद मुनि के क्षीरोद सागर (केस्पीयन सागर) के पार श्वेतद्वीप (रूसी प्रदेश जिसे राकद्वीप भी कहते हैं) में जाकर नारायण-हरि की उपासना करने का जिक्र मिलता है। वहाँ लिखा है कि उस इलाके में उसे गौर वर्ण के मुनि नारायण की भक्ति करते हुए मिले। ये लोग मानस जप और सूक्त, सुमत और सुकृत के सिद्धान्तों में विश्वास करते थे और उनमें पशुबलि की मनाही थी। पश्चिमी पामीर में दारशाई नामक स्थान से रूसी पुरातत्त्ववेत्ता बर्नश्ताम ने एक शिलालेख खोज निकाला है जो भीतरी एशिया का सबसे पुराना खरोष्ठी लेख है और जिस पर जे० हारभाता ने 'नारायण की जय हो' पढ़ा है। पूर्वी तुर्किस्तान के खोतानी-शक ग्रन्थों में 'नारायण-बुद्ध' की चर्चा है और सुघ्दी बौद्ध ग्रन्थों में 'नारायण देव' का उल्लेख मिलता है। मध्य एशिया की तरह दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी वैष्णव धर्म का काफी असर पड़ा। कम्बुज देश के राजा जयवर्मा (४७५-५१४) की पत्नी कुलप्रभादेवी का नीअक ता दम्बंग देक का शिलालेख विष्णु की स्तुति से शुरू होता है। उसके पुत्र गुणवर्मा ने चक्रतीर्थस्वामी विष्णु के चरणचिह्न स्थापित कराये जैसा कि प्रोसात प्राम लोवन के अभिलेख से ज्ञात होता है। सातवीं सदी के बासेत के अभिलेख में 'पांचरात्र' के विद्वानों की चर्चा है (पंचरात्रार्थ चंचूनां पंच भौतिक वेदिना)। चम्पा में सातवीं सदी में वैष्णव धर्म के प्रचार के चिह्न मिलते हैं। मलाया में विष्णुवर्मा राजा की मुद्रा मिली है जिसके नाम पर वैष्णव धर्म की स्पष्ट छाप है।

ईसवी सन् के बाद की सदियों में भारतीय समाज में एक जबरदस्त उथल-पुथल हुई जिसकी चर्चा पिछले परिच्छेद में की जा चुकी है। इससे पुराने वैदिक धर्म और उससे सम्बन्धित सामाजिक व्यवस्था को बड़ा धक्का लगा। अतः उसने अपने दृष्टिकोण को बदल कर एक नया सार्वजनिक रूप धारण करने की कोशिश की। इससे पौराणिक धर्म का जन्म हुआ।

पुराणों की दृष्टि समन्वयात्मक और सार्वजनिक थी। इनमें आख्यानों और कथानकों के माध्यम से सब मतमतान्तरों को संगृहीत किया गया है और उन्हें सार्वभौम रूप

दिया गया है। यद्यपि पुराणों में भारतवर्ष को कर्मभूमि और पुण्यभूमि कहा गया है फिर भी उनके लेखकों की दृष्टि समस्त ज्ञात विश्व और उसमें बसने वाले प्राणिमात्र पर है। साथ ही उनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्म और मोक्ष का सुन्दर सामंजस्य है। विद्या-प्राप्ति के बाद विवाह करना, गृहस्थ जीवन बिताना, लोक-संग्रह के काम करना हर आदमी का कर्त्तव्य है। घर छोड़ना, संन्यास लेना और दुनिया को बुरा समझना ठीक नहीं है। लोक-जीवन में 'साधारण धर्म' और 'स्वधर्म' का संयोग आवश्यक है। 'साधारण धर्म' में अहिंसा, क्षमा, शम, दम, दया, दान, शौच, सत्य, तप, ज्ञान शामिल हैं (पद्म पुराण २।६६।५; अग्नि पुराण १६१।१७; कूर्म पुराण २।६५-७; गरुड़ पुराण २२१।२४)। इनमें अहिंसा सर्वोपरि है। इसमें सब धर्मों का सार है। इसका अर्थ यह है कि दूसरों के लिए ऐसा मत करो जैसा तुम अपने लिए नहीं चाहते (पद्म पुराण १।५६।३३)। अहिंसा के साथ सत्य जुड़ा हुआ है। सत्य वह है जिससे प्राणियों का भला होता है (अग्नि पुराण ३७२।७)। इस प्रकार पुराणों की दृष्टि कर्म प्रधान, लौकिक और नैतिक है।

पुराणों ने शैव और वैष्णव आदि लोकधर्मों को अपनाना शुरू किया, किन्तु शिव और विष्णु को सबसे बड़े देवता मानकर वैदिक देवताओं के साथ मिलाया। फलतः वेद के अव्यय, अक्षर और क्षर पुरुष पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, शिव नामक तीन देव हो गये और वेदकाल की अनेक दार्शनिक धारणाएँ और परिभाषाएँ पौराणिक कथानकों में समा गयीं। जैसे वेद की त्रिधामविद्या (ऋग्वेद, १।२२।१६) विष्णु के वामनावतार की कथा में परिणत हो गयी, वेद की दक्ष-अदिति-विद्या (ऋग्वेद, १०—७२) ने पुराणों की दक्ष यज्ञ विध्वंस की कथा का रूप ले लिया, वेद की अग्निचयनविद्या (यजुर्वेद ११।१८) मत्स्य पुराण (अध्याय १४५-१५६) के कुमारजन्म-वृत्तान्त में विलीन हो गयी और वेद की चित्र शिशु विद्या या अग्निरूप विद्या मार्कण्डेय पुराण के रौद्रसर्ग (५२।१-६) की अष्टमूर्ति विद्या की अंग बन गयी। इस प्रकार पुराणों में पुराने वैदिक विचारों को नये शैव और वैष्णव विश्व धर्मों का चोला पहनाने की कोशिश की गयी। यह समझना कठिन है कि पुराण-धर्म वेद-धर्म के प्रतिकूल है।

विचारों के सामंजस्य के अलावा पुराणों ने आचारों के समन्वय की ओर भी कदम बढ़ाया। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म को फिर से बैठाने की कोशिश की और शैव और वैष्णव धर्मों को इसके साँचे में ढाल दिया। विष्णु पुराण (३।८।६-११) में राजा सगर के यह पूछने पर कि विष्णु की पूजा कैसे करनी चाहिए और्व ने उत्तर दिया, "वही व्यक्ति परमेश्वर की पूजा कर सकता है जो अपने वर्ग और आश्रम सम्बन्धी कर्त्तव्यों को पूरा करता हो"। किन्तु साथ ही पुराणों ने महायान बौद्ध धर्म के महाकरुणा और लोकमंगल के आदर्शों को आत्मसात् किया। मार्कण्डेय पुराण (१५।५६) में विदेह के राजा विपश्चित की

कथा में शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार (३।७-६) से मिलते-जुलते विचार प्रकट किये गये हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पुराणों में वेद, शैव और वैष्णव धर्म और महायान बौद्ध धर्म को समन्वित करने की चेष्टा की गयी। इनका सबसे बड़ा काम यह है कि ईसवी सन् के बाद भारतीय समाज और संस्कृति में जो भेद की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी इन्होंने उसे हटाकर समन्वय का प्रतिपादन किया। फलतः शक-कुषाण काल की गड़बड़ी गुप्त काल के शान्त समन्वय में बदल गयी। धर्म और संस्कृति के सारे सूत्र बिखरने से बचकर एकत्र हो गये, पुराने और नये का मेल हो गया, रूढ़ि और परम्परा सुधार और विरोध की विचारधारा में घुल गयी।

पुराणों का समन्वित धर्म भारतीय संस्कृति का वाहन बन दक्षिण-पूर्वी एशिया पहुँचा। कम्बुजदेश के राजा भववर्मा के सम्बन्धी सोमशर्मा के वेआल कान्तेल के अभिलेख से पता चलता है कि उसने त्रिभुवनेश्वर और सूर्य का एक मन्दिर बनवाया और उसमें रामायण, महाभारत और पुराण रखवाये और उनके नित्य पाठ और प्रवचन की व्यवस्था की। दक्षिण-पूर्वी एशिया की कला, साहित्य और संस्कृति पर इन ग्रन्थों का अमिट प्रभाव है। कम्बुज, लाओस, जावा और बाली से इन ग्रन्थों के स्वतन्त्र संस्करण मिले हैं। आज तक वायाङ नामक कठपुतली के तमाशों में इन ग्रन्थों की कथाओं की प्रधानता है।

पुराणों का धार्मिक समन्वय का भाव दक्षिण-पूर्वी एशिया में विशेष रूप से पल्लवित हुआ। वहाँ शिव, विष्णु और बुद्ध का एकीकरण हुआ जिससे शिव-विष्णु, शिव-बुद्ध, बुद्ध-विष्णु आदि देवताओं की पूजा का रिवाज बढ़ा। कम्बुजदेश (कम्बोदिया) की रामायण 'रामकीर्ति' में राम और बुद्ध को एक दूसरे से समन्वित किया गया है। बोरोबुदूर (वरभूधर) के स्तूप-मन्दिर में ललितविस्तर, रामायण और महाभारत के कथानक समानान्तर अंकित मिलते हैं। जावा में सिंहसारी काल के मन्दिरों के एक हिस्से में प्रज्ञापारमिता, मंजुश्री और तारा की मूर्तियाँ मिलती हैं तो दूसरे भाग में गणेश, शिव-लिंग, भट्टारगुरु, नन्दीश्वर, महाकाल और दुर्गा की प्रतिमाएँ पायी जाती हैं। इस युग के राजा विष्णुवर्धन (१२४८-१२६८) को जागो में बोधिसत्त्व के रूप में दफ़नाया गया और दूसरे स्थान पर शिव के रूप में उसकी अन्त्येष्टि की गयी। १३६५ में प्रपंच कवि के लिखे हुए 'नगरकृतागम' महाकाव्य में एक मन्दिर का उल्लेख है जिसका निचला भाग शिव की पूजा के लिए सुरक्षित था और उपरले तल्ले में अक्षोभ्य की पूजा होती थी। यह सामंजस्य दक्षिणी एशिया की संस्कृति का प्राण था।

## महायान बौद्ध धर्म

गौतम बुद्ध ने जिस धर्म का व्याख्यान किया उसमें भिक्षु और उपासक दोनों

निर्वाण के अधिकारी माने गये (मज्झिमनिकाय, १, पृ० ४८३; संयुत्तनिकाय, ५, पृ० १३४, २४४)। उन्होंने स्पष्ट कहा कि विमुक्ति के विषय में भिक्षु और उपासक में कोई अन्तर नहीं है (संयुत्तनिकाय, ५, पृ० ४१०)। त्रपुष और भल्लिक आदि लगभग २० उपासकों ने बिना भगवे कपड़े पहने 'अमृतनिष्ठा' प्राप्त की (अंगुत्तरनिकाय ३, पृ० ४५१)। किन्तु बुद्ध के मरते ही भिक्षुओं ने अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करना शुरू कर दिया और अपने ढंग से राजगृह की प्रथम संगीति में बुद्धवचन को प्रस्तुत किया। इससे उपासक बौखलाये और उन्होंने राजगृह के पास अपनी अलग संगीति की और अपनी दृष्टि से बुद्धवचन का सम्पादन किया। भिक्षुओं द्वारा प्रस्तुत बौद्ध धर्म का रूप महास्थिरवादी कहलाया और उपासकों द्वारा उपस्थित रूप महासांघिक। धीरे-धीरे भिक्षुओं में भी ढीलापन और आरामतलबी आ गयी। कुछ लोग जमीन-जायदादें तक रखने लगे। वैशाली में दूसरी संगीति हुई जिसमें इन्हें निकाल दिया गया। इन्होंने फौरन ही अपनी अलग महासंगीति कर अपने शास्त्रों को व्यवस्थित किया (दीपवंस, ५।३०-३८)। इस उधेड़-बुन में कुछ आजाद खयाल के बौद्धों ने मथुरा के रहने वाले एक आचार्य महादेव के नेतृत्व में अपना संगठन बनाया और लकीर के फक़ीर स्थविरों पर गहरे आरोप लगाये। महादेव की पाँच बातें (पंचवस्तु) ये थीं: (१) भिक्षु अपवित्र होता है क्योंकि उसे स्वप्न-दोष होते रहते हैं, (२) वह अक्लिष्ट अज्ञान में ग्रस्त रहता है, (३) उसके मन में कांक्षा रहती है, (४) वह दूसरों की सहायता पर आश्रित रहता है, और (५) प्रत्येक व्यक्ति दु:ख का उच्चारण कर 'मार्ग' में पदार्पण कर सकता है। इन विचारों को महासांघिक, पूर्वशैल, बहुश्रुतिय, चेतिय और हैमवत सम्प्रदायों के बौद्धों ने अपनाया और वसुमित्र, परमार्थ, श्वान-चाङ आदि के अनुसार सम्राट् अशोक ने भी इसका समर्थन किया। कोसम, सांची और सारनाथ के अभिलेखों में अशोक द्वारा भिक्षुओं को धमकाने की चर्चा है कि यदि वे संघभेद की अपनी नीति से बाज़ न आयँगे तो उन्हें संघ से निकाल कर गृहस्थ जीवन बिताने पर मजबूर कर दिया जायगा। उस ज़माने में उत्तरापथ के बौद्धों ने, जिनके सम्प्रदाय का नाम उत्तरापथक था, यह स्पष्ट घोषणा की कि गृहस्थी और उपासक अपना लौकिक कामधन्धा करते हुए भी अर्हत्त्व प्राप्त कर सकते हैं और इसके लिए उन्हें घरबार छोड़ने की जरूरत नहीं है (कथावत्थु, १, पृ० २६७)।

गृहस्थियों और उपासकों का यह आन्दोलन कुषाणकाल में, विशेष रूप से कनिष्क के राज्यकाल में, खोतान और उत्तर पश्चिमी भारत में, महायान बौद्धधर्म के आविर्भाव के रूप में व्यक्त हुआ। हाजीमे नाकामूरा आदि कुछ विद्वानों का विचार है कि महायान की उत्पत्ति दक्षिणी भारत में हुई किन्तु 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' (५३।५७४, जायसवाल, एन इम्पीरियल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० ४२) में स्पष्ट लिखा है कि कनिष्क

(तुरुष्क) के राज्यकाल में

महायानाग्रधर्मं तु बुद्धानां जननीस्तया
प्रज्ञापारमिता लोके तस्मिन् देशे प्रतिष्ठिता।

उसके पुत्र के काल में बौद्धों ने पुष्कलावती (पखोली) में ज़ोर-शोर से महायान का प्रचार शुरू कर दिया। आचार्य नागार्जुन के 'महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र' अथवा 'उपदेश', जिसे कुमारजीव ने ४०४ में चीनी में भाषान्तरित किया, और जिसमें 'महायान' को 'बुद्धयान' कहा गया है, की सारी पृष्ठभूमि कुषाणकालीन उत्तरापथ की है। पाँचवी सदी के शुरू में चीनी यात्री फा-श्यान ने खोतान और उसके पास के कोकुयार के इलाक़े में महायान के प्रभाव का जिक्र किया जब कि और सब जगह हीनयान का जोर था। सातवीं सदी में श्वान-चाङ की यात्रा के समय तक महायान ने उड्डियान, यारक़न्द, शाकल, तक्षशिला, कपिश, गजनी आदि में हीनयान के बहुत से ठिकानों को घेर लिया। यदि उसके द्वारा दिये गये तथ्यों पर विचार किया जाय तो उन इलाक़ों में जहाँ कुषाणों का राज्य था महायान के १६३८ विहार और ४१,३८० अनुयायी थे, जब कि पूर्वी भारत में उनके मठ १५३ और अनुयायी २१,७५० थे और दक्षिणी-कोसल में उनके मठ १०० और अनुयायी १०,००० थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि महायान का विशेष सम्बन्ध कुषाणकालीन उत्तर-पश्चिमी भारत और खोतान प्रदेश से था। वहाँ उस युग में जो व्यापारिक, औद्योगिक और लौकिक समृद्धि का ज्वार आया उसने बौद्धधर्म को सार्वभौम रूप देकर महायान में परिणत कर दिया।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, महायान ने भिक्षुओं की श्रेष्ठता और महत्ता को कड़ी चुनौती दी और उपासकों और गृहस्थियों को बढ़ावा दिया। यह महत्त्व की बात है कि महायान के 'वैपुल्यसूत्र' भिक्षुओं को सम्बोधित कर नहीं कहे गये हैं, बल्कि कुलपुत्रों और कुलपुत्रियों के नाम प्रस्तुत किये गये हैं। २२ बोधिसत्त्वों में १६ गृहस्थी बताये गये हैं। 'राष्ट्रपालपरिपृच्छा' आदि ग्रन्थों में भिक्षुओं पर फबतियाँ कसी गयी हैं और उनकी खासी खिल्ली उड़ायी गयी है। 'पंचविंशतिसाहस्रिका' में संघ के प्रति आसक्ति (संघनिश्रयदृष्ट्यभिनिवेश) को बुरा बताया गया है। इस प्रकार धर्म के दरवाज़े सामान्यगृहस्थियों के लिए खोल दिये गये हैं और उनमें घुसने के लिए घरबार छोड़कर भिक्षु बनना ज़रूरी नहीं बताया गया है।

महायान की चर्या भिक्षुओं द्वारा प्रचारित आचार से भिन्न है। भिक्षु अपने वैयक्तिक निर्वाण के लिए चेष्टा करता है, किन्तु महायानी प्राणिमात्र के कल्याण के लिए यत्नशील है। भिक्षु का आदर्श अर्हत्त्व, बुद्धत्व और निर्वाण है, किन्तु महायानी का लक्ष्य लोकसेवा, सार्वभौम सुख और सार्वजनिक त्राण है। भिक्षु अपनी साधना के

फलस्वरूप निर्वाण में प्रवेश करता है, किन्तु महायानी निर्वाण के द्वार पर पहुँच कर भी वहाँ से वापस दुनिया में लौट आता है जिससे वह दुःखी-दरिद्र प्राणियों की सेवा कर सके और उन सबको साथ लेकर निर्वाण में प्रवेश करे। महायानी की यही कामना है कि मैंने जो कुछ शुभ और पुण्य किया है उससे सब प्राणियों का दुःख दूर हो, मैं अपने समस्त भावों, भोगों और सुखों को निस्पृह भाव से प्राणिमात्र के लाभ के लिए अर्पित करता हूँ :

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभं।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ।।
आत्मभावाँस्तथा भोगान् सर्वत्र्यध्वगतं शुभम् ।
निरपेक्षस्त्यजाम्येष सर्वसत्त्वार्थसिद्धये ।।

(शान्तिदेव कृत 'बोधिचर्यावतार, ३।६-१०)

अतः उसकी आकांक्षा है कि मैं वह चिकित्सक बन जाऊँ जो रोगियों का दुःख दूर करे, वह ओषधि बन जाऊँ जो उनके शरीर में जाकर उनके कष्ट का निवारण करे, वह भोजन बन जाऊँ जो भूखों की क्षुधा मिटाये, वह जल बन जाऊँ जो प्यासों की तृषा बुझाये, वह निधि बन जाऊँ जो ग़रीबों की दरिद्रता हटाये :

ग्लानानामस्मि भैषज्यं भवेयं वैद्य एव च।
तदुपस्थायकश्चैव यावद् रोगापुनर्भवः ।।
क्षुत्पिपासाव्यथां हन्यामन्नपान प्रवर्षणैः ।
दुर्भिक्षान्तरकल्पेषु भवेयं पानभोजनम् ।।
दरिद्राणां च सत्त्वानां निधिः स्यामहमक्षयः।

(बोधिचर्यावतार, ३।७-९)

उसका मत है कि दूसरों के लिए अपना सब कुछ त्यागना ही निर्वाण है (सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थी च मे मनः) (बोधिचर्यावतार, ३।११)। इस प्रकार वह देव, मनुष्य, असुर, गन्धर्व, राक्षस, पशु, पक्षी सब की भलाई के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर करने के लिए हर वक्त तैयार है। उसका विचार है कि निर्वाण वैयक्तिक हो ही नहीं सकता, वह जब भी होगा समस्त प्राणिमात्र का सामूहिक रूप से होगा। जब तक एक प्राणी भी संसार के दुःख में है उस समय तक यदि शेष सारे प्राणी भी निर्वाण के निकट पहुँच जायँ तो वे उसे न पा सकेंगे। इसलिए अपने निर्वाण के लिए चेष्टा करने का अर्थ सभी प्राणियों को इसकी ओर ले चलने की कोशिश करना है। महायान की यह विश्वव्यापी दृष्टि इसे सार्वभौम मानवीयता का वाहन सिद्ध करती है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से महायान की नैतिकता एक दूसरे ढंग की हो गयी है। दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा नामक छः पारमिताओं की साधना और

करुणा, मुदिता, मैत्री और उपेक्षा का आचरण विनय के विधि-निषेध से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये। कर्म का चैतसिक रूप उसके भौतिक रूप से ज्यादा महत्त्व पा गया। जिन कर्मों से हीनयान के अनुसार भिक्षु को संघ से निकाला जाता है, वे यदि दूसरों की भलाई के लिए किये जायँ तो महायान उन्हें पाप का कारण नहीं मानता। 'बोधिसत्त्वभूमि' (पृ० १६५-१६६) में कहा गया है कि दूसरों के कल्याण के लिए यदि बोधिसत्त्व कोई ऐसा कर्म भी करे जो देखने में बुरा हो तो उससे उसे पाप नहीं चढ़ता बल्कि उसका पुण्य होता है। 'पंचविंशतिसाहस्रिका' (पृ० १८) का कहना है कि बोधिसत्त्व पाप और पुण्य के विचार को छोड़कर शीलपारमिता की साधना कर सकता है। नागार्जुन 'उपदेश' (पृ० १६३) में कहता है कि 'शून्य-समाधि' में प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए पाप और पुण्य का प्रश्न नहीं उठता। इस प्रकार कर्म का निर्णय उसके पीछे छिपी भावना के आधार पर होता है। अतः नियमों का पालन या उल्लंघन अपने आप में कोई खास महत्त्व नहीं रखते।

'महायान' में बुद्ध के तीन रूप माने गये हैं–निर्माणकाय (मानव रूप), सम्भोगकाय (ऐतिहासिक, आदर्श या बोधिसत्त्वरूप) और धर्मकाय (सार्वभौम या विश्वमय रूप)। इनमें लोक की दृष्टि से बोधिसत्त्वरूप प्रमुख है और दर्शन की दृष्टि से धर्मकाय रूप। बोधिसत्त्व वह है जो स्वयं निर्वाण के द्वार तक पहुँच कर वापस लोक में लौट आता है जिससे वह सब प्राणियों को निर्वाण तक ले जाने का प्रयास कर सके। अतः उसकी चर्या का आरम्भ 'महाकरुणा' या विश्वप्रेम से होता है (महाकरुणारम्भा देवपुत्र बोधिसत्त्वानां चर्या सत्त्वाधिष्ठाना) (बोधिचर्यावतार पंजिका, पृ० ४८७)। वह रोज़ तीन बार वन्दना, पूजना, पापदेशना (पापों को मानना), अनुमोदना (दूसरों की भलाई में खुश होना), अध्येषणा (बुद्ध से धर्म-प्रचार की प्रार्थना), बोधिचित्तोत्पाद (बोधि की उत्पत्ति) और परिणमना (अपने समस्त पुण्य को प्राणिमात्र के सुख के लिए अर्पित करना) कहता है (धर्म संग्रह, १४, भद्रचरी प्रणिधान ५।४-१२; शिक्षासमुच्चय पृ० १७१ पर उद्धृत उपालिपरिपृच्छा)। उसका प्रातिमोक्ष इस प्रकार है: "मैं अमुक नाम का व्यक्ति, जिसने बोधिचित्त उत्पन्न किया है, अनन्त जगत् के सब प्राणियों को अपनी माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्र, पुत्रियाँ, नाती मानता हूँ. . . अब से मैं षट्पारमिताओं की जो भी साधना करूँगा वह सब; सब प्राणियों के हित, सुख और कल्याण के लिए होगी" (बोधिसत्त्व प्रातिमोक्ष सूत्र, सम्पादक न० दत्त, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग ७, १९३१, पृ० २७५)।

महायान ने ऐसे बोधिसत्त्वों की एक नयी दुनिया बनायी है। इनमें कुछ प्रमुख हैं। अमिताभ अपनी पत्नी (शक्ति) पाण्डरा के साथ सुखावती नामक स्वर्ग में रहता

है। वह श्रद्धापूर्वक अपना नाम लेने वालों को एकदम अपने स्वर्ग में बुला लेता है। इसके लिए किसी और काम की जरूरत नहीं है। अवलोकितेश्वर या पद्मपाणि अपनी पत्नी तारा के साथ अकनिष्ठ स्वर्ग में रहता है और समस्त प्राणिजगत् को, घोर नरक (अवीचि) तक के निवासियों तक को अपनी असीम करुणा से अभिसिंचित करता है। वैरोचन अपनी शक्ति मारीची के साथ प्रकाश फैलाता है और मंजुश्री ज्ञान का प्रसाद देता है और समन्तभद्र या चक्रपाणि परोपकार का उपदेष्टा है। इनके अलावा अक्षोभ्य या वज्रपाणि अपनी शक्ति लोचना के साथ, रत्नसम्भव या रत्नपाणि अपनी शक्ति मामकी के साथ, अमोघसिद्धि या विश्वपाणि अपनी शक्ति वज्रधात्वेश्वरी के साथ और महा-स्थाम आदि अन्य बोधिसत्त्व विभिन्न रूपों में लोक-कल्याण में रत हैं। अन्तिम बोधिसत्त्व मैत्रेय आगामी मसीहा है जो तुषीत स्वर्ग में बैठा हुआ लोक में आने की प्रतीक्षा कर रहा है और अपने हँसते हुए मुख से सब की एकदम मुक्ति और निर्वाण का आश्वासन दे रहा है। इस प्रकार ये बोधिसत्त्व अनन्त सुख, सौन्दर्य, ज्योति और आनन्द के पुंज हैं। इनमें से कुछ पर ईरानी मान्यताओं की छाप प्रकट होती है।

बोधिसत्त्वों की पूजा करना, उन्हें पुष्प, पत्र, फल, जल, नैवेद्य चढ़ाना और उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करना महायानी की धार्मिक चर्या है। इससे बुद्ध की मूर्ति बनाने का रिवाज चला। ७८ ई० में कनिष्क के गद्दी पर बैठते ही यह फैसला किया गया। इसके २ वर्ष बाद ८० ई० में कौशाम्बी में बोधिसत्त्व की मूर्ति बनायी गयी और अगले साल सारनाथ में ऐसी ही मूर्ति खड़ी की गयी। इन मूर्तियों में महापुरुष, चक्रवर्ती और योगी के लोकमान्य आदर्शों का समावेश किया गया। बाद में आभूषणों को हटाकर बुद्ध की मूर्तियाँ बनायी जाने लगीं। इससे एक ओर ईश्वरवाद का ठाठ जम गया और दूसरी ओर कला को बड़ी प्रेरणा मिली। साथ ही इसमें सरसता का स्रोत फूट पड़ा जिसने साहित्य को नयी दिशाएँ दीं और अश्वघोष के काव्यों और नाटकों के माध्यम से, इसके विशुद्ध रूप का श्रीगणेश किया गया। लगे हाथों दर्शन के जगत् में क्रान्ति हुई। नागार्जुन का शून्यवाद, असंग का विज्ञानवाद, दिग्नाग का न्याय और अन्य सिद्धान्त शुद्ध दार्शनिक चिन्तन को बहुत आगे ले गये। संक्षेप में आचार-विचार के प्रत्येक क्षेत्र में एक नये युग का आविर्भाव हुआ। ऐसा लगा कि एशिया में दूसरा धर्मचक्र प्रवर्त हो रहा हो (अथ खलु सम्बहुलानि देवपुत्र सहस्राणि अन्तरिक्षे किलकिलाप्रक्ष्वेडितेन चैलविक्षेपान् अकार्षुः द्वितीयं बतेदं धर्मचक्रवर्तनं जम्बूद्वीपे पश्याम् इति चावोचन् (अष्टसाहस्रिका, पृ० २०३)। भारत, नेपाल, तिब्बत, मध्य एशिया, चीन, कोरिया, जापान, जावा, सुमात्रा, कम्बुजदेश आदि में इसका जयघोष गूँजने लगा।

## मध्य एशिया में बौद्ध धर्म

अशोक के समय से मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का प्रचार शुरू हुआ। कन्दहार में उसका यूनानी और अरामी लिपियों में जो अभिलेख मिला है उससे इस दिशा में इस धर्म की प्रगति का साक्ष्य मिलता है। बेग्राम (काबुल-कापिशी) के पहले स्तर (तीसरी-दूसरी सदी ई० पू०) की खुदाई से मिट्टी के टुकड़े पर एक खरोष्ठी अभिलेख में एक बौद्ध नाम आया है। ईरानी ग्रन्थ 'वीदेवदात' में तीन बार 'बूइती' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो एच० डब्ल्यू० बेली के मतानुसार 'बुद्ध' शब्द से निकला है। पाली ग्रन्थ 'महावंस (२९।२९) में लंका के राजा दुट्ठगामनि के राज्यकाल में महास्तूप को उत्सव में शामिल होने के लिए 'पल्लवभोग्ग' से ४,६०,००० भिक्षुओं के साथ महादेव और अलसन्द से ३०,००० भिक्षुओं के साथ योनमहाधम्मरक्खित के आने का उल्लेख है। यहाँ 'पल्लवभोग्ग' से पह्लव या पार्थव देश का अभिप्राय मालूम होता है जैसा सिलवें लेवी का मत है। कुषाणकाल में तुखारिस्तान में बौद्ध धर्म गहराई से फैला। कनिष्क ने कुण्डलवनविहार में जो चौथी बौद्ध संगीति की उसमें तुखारिस्तान के भिक्षु घोषक ने भाग लिया। उसने 'अभिधर्म विभाषा' पर एक टीका लिखी। उसका 'अभिधर्मामृत' ग्रन्थ इस विषय की अनूठी रचना है। वैभाषिकों का जो पाश्चात्य सम्प्रदाय बालीदेश (बल्ख) में फैला उसका सम्बन्ध उसी से मालूम होता है। तरमित (तिरमिज़) के तुखारी आचार्य धर्ममित्र ने इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों को तुखारी भाषा में अनूदित किया। लगता है कि इस मत के सम्पर्क और प्रभाव से खोतान और उसके आसपास महायान का आविर्भाव हुआ। इसके अलावा महासांघिक और सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय भी पश्चिमी तुखारिस्तान में फूले-फले जैसा कि कारा-तेपे से प्राप्त खरोष्ठी अभिलेखों से प्रकट होता है।

पुरातत्त्व के साक्ष्य से बौद्ध धर्म के प्रसार की प्रक्रिया पर काफी रोशनी पड़ती है। वंक्षु के किनारे पर तिरमिज़ से १७ किलोमीटर ऊपर, एरताम में एक बौद्ध संघाराम के खण्डहर मिले हैं। वहाँ चौकोर कच्ची ईंटों का एक स्तूप भी मिला है। खास तिरमिज़ में कारा-तेपे में एक बहुत बड़े बौद्ध केन्द्र का पता चला है और गुफाओं के ८ समूह पाये गये हैं। मिट्टी के बरतनों के टुकड़ों पर ब्राह्मी, खरोष्ठी और कुषाण लिपियों में जो लेख खुदे हुए हैं उनमें लोगों के दान का जिक्र है। ब्राह्मी और कुषाण दोनों लिपियों में पाये गये एक लेख में बुद्धशिर नाम के एक प्रचारक का उल्लेख है। सुरख़ान दरया के इलाक़े में दालवर्ज़िन-तेपे से अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। मर्व में ग्यौर-काला से एक स्तूप और विहार मिला है। विहार के दरवाजे के सामने बुद्ध की एक विशाल मूर्ति थी। उत्तरी तुख़ारिस्तान में वक्ष की घाटी में अजीना-तेपे से एक बहुत बड़ा संघाराम मिला है जो

मूर्तियों और चित्रों से भरपूर है।

आठवीं सदी में कोरिया के यात्री हुई-छाओ ने लिखा कि तुखारिस्तान में राजा, उमरा और सामान्य जनता सब त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) के भक्त हैं और वहाँ बहुत से भिक्षु और विहार हैं। वहाँ की राजधानी बल्ख का नवविहार तो दूर-दूर तक मशहूर था। तिरमिज़ से ३० किलोमीटर के फासले पर जंग-तेपे से चीड़ की छाल पर लिखे बौद्ध ग्रन्थ के पन्ने मिले हैं। यह विनय का अंश मालूम होता है। इसकी भाषा संकर संस्कृत और लिपि ब्राह्मी है। मर्व के पास से ३०० ताड़पत्रों से अधिक का एक बड़ा ग्रन्थ निकला है जिसमें 'सुत्तविभंग' आदि ग्रन्थ शामिल हैं। मध्य एशिया के विविध स्थानों से प्राप्त बौद्ध ग्रन्थों में 'सद्धर्मपुण्डरीक' 'काश्यपपरिवर्त', 'शार्दूलकर्णावदान', 'संघाटसूत्र' धर्मशरीर', 'नगरोपमसूत्र' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें 'महायान महा-परिनिर्वाण सूत्र' विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि इसका मूल अभी और कहीं से नहीं मिला है। इन ग्रन्थों से पता चलता है कि तुखारिस्तान में हीनयान और महायान दोनों मिल-जुल कर फूल-फल रहे थे।

तुखारिस्तान की तरह सुग्द (फ़रगाना) और सेमीरेचिये (सप्तनद) में भी बौद्ध धर्म गहराई से फैला। सुग्द में सानाज़ार की घाटी से बौद्ध भवनों के निशान मिले हैं। वहाँ के कुछ स्थाननाम बौद्ध केन्द्रों की याद दिलाते हैं, जैसे समरकन्द से दक्षिण-पूर्व में स्थित 'सन्दजरफगान' नाम का स्थान 'संघाराम' का सूचक मालूम होता है। समरकन्द और बुखारा के 'नौबहार' दरवाज़े भी बौद्ध विहारों के परिचायक से लगते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि 'बुख़ारा' शब्द ही 'विहार' से निकला है लेकिन भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह ठीक नहीं जँचता। पंजीकन्द, बरख़्शा और बालालिक-तेपे से प्राप्त कला के अवशेषों पर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है, हालाँकि और धर्मों का असर भी मालूम होता है। फरग़ना में क़ुवा में कच्ची ईंटों का एक बौद्ध मन्दिर मिला है। इसमें विशालकाय बुद्ध मूर्तियाँ थीं जिनके टुकड़े मिले हैं। सेमीरेचिये (सप्तनद) में तोकमाक नगर से ८ किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम में अक-बेशीम नामक स्थान पर एक बौद्ध मन्दिर का विहार मिला है। यह मन्दिर आयताकार था। इसके पास ही एक वर्गाकार मन्दिर और विहार मिला है। वहाँ की मूर्तियाँ विशेष रूप से आकर्षक हैं। बोधिसत्त्व की मूर्ति का एक सिर तो बहुत ही रोचक है। इसकी बनावट हड्डा से प्राप्त बुद्ध-शिरों जैसी है। इसके अलावा चू नदी की घाटी में क्रास्नोरेचेंस्की नामक गाँव के पास से एक बहुत बड़ी बौद्ध इमारत मिली है जिसमें एक बहुत बड़ी लेटी हुई बुद्ध-मूर्ति पायी गयी है।

बक्त्र, सुग्द और सेमीरेचिये की तरह तारिम घाटी (चीनी तुर्किस्तान या सिन-क्याङ) भी बौद्ध धर्म से आप्लावित था। वहाँ पश्चिम से पूर्व को दो मार्ग जाते

थे जो चीन की सीमा पर स्थित तुन-ह्वाङ में मिल जाते थे। दक्षिणी मार्ग पर पश्चिम से पूर्व को सारिकोल में १० संघाराम और ५०० भिक्षु, वू-शा में १० संघाराम और १००० भिक्षु, काशग़र में कई सौ संघाराम और १०,००० भिक्षु, खोतान में १०० से अधिक संघाराम और ५,००० भिक्षु, निया और एन्देरे में सम्पन्न बौद्ध केन्द्र, चल्मदान में १०० बौद्ध परिवार, और शान-शान (क्रोरैना) में ४,००० भिक्षु थे। उत्तरी मार्ग पर पश्चिम से पूर्व को अक्सू (भरुक) में १० संघाराम और १,००० भिक्षु, पूरे कूचा में बौद्ध विहार जैसा वातावरण, काराशहर (अग्निदेश) में १० संघाराम और २,००० भिक्षु और तुर्फान में शाहीमहल के पास एक बहुत बड़ा संघाराम था। आधुनिक पुरातत्त्व सम्बन्धी अनुसन्धान से इनमें से बहुत से स्थानों के निशान मिले हैं। खोतान के करीब दन्दान-ओइलीक में एक काफी बड़ी बस्ती मिली है और रावाक में एक बहुत बड़ा स्तूप खड़ा है। इससे आगे, जहाँ नीया नदी रेत में समाती है, एक बड़ा नगर मिला है। चारलीक के पास मीरान में बौद्ध इमारतों का समूह है। उत्तरी मार्ग पर मरलबाशी के निकट श्यान-शान की तलहटी में तुमशुक में बौद्ध मन्दिर मिले हैं। कूचा के पास सुबाशी और दुलदुर-आखूर के बड़े बौद्ध केन्द्रों के अवशेष हैं। कूचा के निकट ही किज़िल, कुमतुरा और किरिस की हज़ार गुफाएँ हैं जिन्हें मिङ-ओई कहते हैं। कोराल और काराशहर के बीच शोर-चूक में एक पुराने किलाबन्द शहर के खण्डहरों में अनेक मन्दिरों और क़ब्रिस्तानों के चिह्न हैं। तुर्फान के नशेब में दो पुराने शहर मिले हैं—इनमें से खोचो बहुत समय तक युइग़ुरों की राजधानी रहा। इसके पास बेज़ेकलीक के अवशेष उल्लेखनीय हैं। चीन की सीमा पर तुन-ह्वाङ की गुफाएँ तो विश्वविख्यात हैं ही।

इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से पता चलता है कि पहिली दूसरी सदी से सातवीं-आठवीं सदी तक लगभग ५०० वर्ष तक मध्य एशिया के प्रायः प्रत्येक भाग में बौद्ध धर्म का बोलबाला रहा। उस समय इस भूखण्ड में संस्कृतियों का संगम और व्यापार की वृद्धि हो रही थी। स्थानीय अन्धविश्वासों की संकीर्णता एक सार्वभौम नैतिक व्यवस्था और मूल्यों के विधान को जगह दे रही थी। अतः विश्वधर्म तेज़ी से फैल रहे थे और इसमें बौद्ध धर्म सब से आगे था। इस प्रचार-प्रसार में इसकी अद्‌भुत् समन्वय की भावना और सामंजस्य की शक्ति ने विशेष योग दिया। फलतः मध्य एशिया में इसने बहुत कुछ अपने को स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप ढाल लिया। वहाँ के खरोष्ठी लेखों से पता चलता है कि वहाँ भिक्षु विवाह-शादी कर घरबारी जीवन बिताते और दुनियावी धन्धे और सरकारी कामकाज करते थे। प्रातिमोक्ष के दिन किसी गलती के कारण उनके लिए एक रेशम का थान देना काफी था। उत्सवों और यात्राओं के अवसरों पर, जब मूर्तियों का जुलूस निकलता, तो वे खूब सजधज और बाजे-गाजे से खुशी प्रकट करते

और श्रद्धा दिखाते थे। स्थापत्य, मूर्तिशिल्प और चित्रकला में उन्हें गहरी दिलचस्पी थी। दूसरे धर्मों की बातों को बौद्ध धर्म से मिलाना उन्हें बड़ा रुचता था। अफ़ग़ानिस्तान में बामियान की कला में बुद्ध को मिथ्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है और अष्टबुद्धों और अष्टभगों–मिहिर, निक्षुभा, राज्ञी, दण्डनायक, पिंगल, राज्ञ, स्त्रौष और ईश गरु-मतत–को मिला दिया गया है। दन्दान ओइलकी में चार भुजा वाला एक बोधिसत्त्व दाढ़ी-मूँछ वाले ईरानी योद्धा-सामन्त—सम्भवतः रुस्तम—के रूप में सामने आया है। पंजीकन्द में बुद्ध के निर्वाण पर लोगों को शक-हूण पद्धति के अनुसार चेहरे को चाकुओं से घायल कर खून बहाते हुए दिखाया गया है। सुघ्दी बौद्ध साहित्य में स्वर्ग के लिए जो 'रघीविशनगदमन' शब्द आया है वह अवेस्ता के 'रौखसगरोदमान" का रूप है। वेस्सन्तरजातक' के सुघ्दी भाषान्तर में ब्रह्म को ज़रवान का नाम दिया गया है। एक और सुघ्दी ग्रन्थ में अहुर्मज़्द और ज़रतुश्त बुद्ध और आनन्द की भूमिका में आ गये हैं। साधारण रूप से अमिताभ ने मिथ्र का वेश धारण कर लिया है। उसके प्रकाश रूप पर मज्दई विचारों के अलावा मानीई परिकल्पनाओं की छाप भी दिखायी देती है। बौद्ध मत की 'अविद्या' और 'तृष्णा' पह्लवी ज़रथुश्त्री ग्रन्थों के दानव 'आज़' में परिणत हो गयी है। बुद्ध और बोधिसत्त्व अक्सर कोट-पाजामे पहिने ऊँटों और खच्चरों पर चढ़े दिखाये गये हैं। ३८३ ई० के एक चीनी बौद्ध ग्रन्थ में लिखा है कि बुद्ध तुखारिस्तान की भाषा में प्रवीण थे। 'रत्नकूट संग्रह' के 'तथागतगुह्यसूत्र' में, जिसे बौद्धधर्म की 'भगवद्-गीता' कहा जा सकता है, वज्रपाणि शान्तिमति को यह कहते हुए दिखाया गया है कि "सब जातियों की भाषाओं में बुद्धवचन और उसमें संगृहीत चार आर्यसत्यों को अनेक प्रकार से अनूदित किया जाता है, प्रत्येक जाति और वर्ग की अपनी-अपनी भिन्न भाषा, भिन्न वृत्ति और भिन्न प्रकृति है। अतः बुद्धवचन सब भाषाओं और अभिव्यंजनाओं के अनुरूप हो जाता है"। 'सूर्यगर्भसूत्र' में लिखा है कि भगवान् बुद्ध के मुखमण्डल से निकली हुई प्रभारश्मियों से जो बुद्ध रूप प्रकट हुए उनमें से ९७१ मध्य एशिया में और ८१३ भारतीय इलाक़े में अवतीर्ण हुए। जब कि बनारस में ६० बुद्ध रूपों की चर्चा है क़ाशग़र में ९८ बुद्ध रूपों का उल्लेख है और कूचा में ९९ बुद्ध रूपों का ज़िक्र है और खोतान में १८० बुद्ध रूपों का वर्णन है। इससे प्रकट होता है कि इस सूत्र के लेखक की दृष्टि में मध्य एशिया प्रदेश भारतीय धर्मस्थानों से भी अधिक महत्त्व रखते थे। इसकी पुष्टि इस तथ्य से हो जाती है कि 'चन्द्रगर्भसूत्र' में खोतान को सब से अधिक पवित्र स्थान बताया गया है। इस मध्य एशियाई बौद्ध धर्म ने अपने अलग आख्यान और पात्र बनाये। उदाहरण के लिए 'सूर्यगर्भसूत्र' के आठवें अध्याय में, जो 'महासन्निपात' के ४१वें अध्याय के समकक्ष है, ऋषि खरोष्ठ (गधे के होठ वाले ऋषि) का वृत्तान्त है जो विशुद्ध मध्य

एशियाई परिकल्पना पर आधारित है। इसी प्रकार चन्द्रप्रभकुमार और श्रीगुप्त मध्य एशियाई बौद्ध धर्म के विशिष्ट पात्र हैं। 'चन्द्रगर्भसूत्र' में श्रीगुप्त के पुत्र चन्द्रप्रभकुमार के मुँह से कहलाया गया है, "यदि मैं कभी बुद्ध बन जाऊँ तो मैं चाहूँगा कि सभी प्राणी अशुभ और अपवित्र भावनाओं से मुक्त हो जायँ।" इस पर भगवान् ने आनन्द को सम्बोधित करते हुए कहा कि चन्द्रप्रभकुमार मध्य एशिया और चीन में उनके धर्म को संस्थापित करेगा। इससे मध्य एशियाई बौद्ध धर्म की स्वतन्त्र लोकमंगल की दृष्टि पर प्रकाश पड़ता है।

उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि मध्य एशियाई बौद्ध धर्म की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं: (१) मध्य एशिया में महायान और हीनयान और अन्य सम्प्रदायों का सह-अस्तित्व रहा, (२) वहाँ बौद्ध धर्म और अन्य धर्मों का गहरा सम्पर्क और आदान-प्रदान चला, एक ने दूसरे को काफी दूर तक प्रभावित किया, (३) वहाँ बौद्ध धर्म ने स्थानीय मान्यताओं को आत्मसात् किया और स्थानीय भाषाओं में साहित्य को बढ़ावा दिया और स्थानीय आख्यानों का विकास किया, (४) वहाँ बौद्ध धर्म ने व्यापारी जीवन, गृहस्थ के कर्तव्य, लोकमंगल के कार्यों में गहरी रुचि दिखायी—भिक्षुओं तक के लिए घर-बार छोड़ना और संन्यासी बनना आवश्यक नहीं समझा गया, (५) वहाँ बौद्ध धर्म ने प्रचार की ओर बहुत ध्यान दिया—खास तौर से चीन में इस धर्म का श्रीगणेश किया, जैसा हम अगले अनुच्छेद में देखेंगे।

## चीन में बौद्ध धर्म

चीन में बौद्ध धर्म ईसवी सन् की शुरुआत के समय सुघ्दी, पार्थव और शक-यू-ची लोगों के माध्यम से पहुँचा। खास तौर से विदेश मन्त्रालय 'ता हुङ-लू' के कर्मचारी, विदेशियों से विशेष सम्पर्क रखने के कारण, बौद्ध धर्म में रुचि लेने लगे। यह महत्त्व की बात है कि 'सरकारी दफ्तर' वाची शब्द 'स्सू' बौद्ध विहार के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। हान युग में बड़े परिवारों के शोषण से किसान पिसे जा रहे थे। वे खेत-बारी छोड़कर ठगी-डकैती में हिस्सा लेते या 'लाल भौं' अथवा 'पीली पगड़ी' आन्दोलनों में शरीक हो विद्रोह फैलाते थे। लेकिन राज्य का दंड भी बड़ा सख्त था। लगभग दस लाख विद्रोही मौत के घाट उतरे। इससे लोगों में निराशा और घबराहट फैल गयी। वे खैरात और बख्शीश के लिए तरसते फिरने लगे। इन्हें ताओवाद में कुछ शान्ति मिलती-सी दिखायी दी लेकिन उसका सारा ठाठ निषेधात्मक और पलायनवादी था। ऐसी हालत में बौद्ध धर्म की बन आयी। छोटे और निचले दर्जों के असंख्य लोग इसकी ओर झुकने लगे। यह महत्त्व की बात है कि शुरू में बौद्ध धर्म चीनी समाज के निर्धन और निम्न वर्ग का धर्म

जहाँ बौद्ध धर्म ने चीनी सामाजिक जीवन की रिक्तता को पूरा किया और लोक-प्रशासन के बहुत से काम सँभाले और विभिन्न दलों और वर्गों को एक-दूसरे से जोड़ने की व्यवस्था की, वहाँ वह क्रान्तिकारी भावनाओं का वाहन भी सिद्ध हुआ। उसका तीन युगों का सिद्धान्त क्रान्ति का मूलमन्त्र था। इसके अनुसार तीसरे युग में धर्म की ग्लानि हो जाती है और कोई भी राज्य आदर का अधिकारी नहीं रह जाता और विद्रोह और क्रान्ति वैध हो जाते हैं। 'सान-चिएह्-चिआओ' नामक समाज ने इसी मतवाद के आधार पर क्रान्ति का झण्डा फहराया। इसके अलावा मैत्रेय-मत भी सामाजिक क्रान्ति का सूचक है। इसके मानने वालों का विचार था कि संसार का अन्त निकट है और मैत्रेय स्वर्ग से उतर कर नयी सृष्टि करेगा। सुई और थाङ युगों में इसने अनेक विद्रोहों को प्रेरणा दी। ७५५-६३ ई० के आल लू-शान के विद्रोह में बौद्धों का हाथ था। इस क्रान्तिकारी प्रवृत्ति के कारण ऊँचे वर्गों के लोग बौद्धों के खिलाफ हो गये।

चीन में बौद्ध धर्म का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ। इसके अलग मत और सम्प्रदाय चालू हुए। चीनी लोग 'अभाव' और 'शून्य' से बहुत घबराते हैं। अतः उन्होंने बौद्ध धर्म के तत्त्वात्मक पक्ष पर बहुत जोर दिया। चर मिन-तू ने भूत (मैटर) के अस्तित्व को स्वीकार किया और 'शून्य' को मनुष्य की मानसिक स्थिति बतायी। जब मनुष्य संसार में रहता हुआ और जगत् की वस्तुओं का अनुभव करता हुआ भी उसमें निर्लिप्त और निस्संग रहता है तो उसकी मनोवृत्ति को 'शून्य' कहते हैं। इसी प्रकार चर-तुन ने कहा कि जगत् का कार्य-कारण-सम्बन्ध ही 'शून्यता' है। कुमारजीव (३३२-४१३) के शिष्य सेङ चाओ (३८४-४१४) और ताओ-शेङ (मृ० ४३४ ई०) ने माध्यमिक विचारधारा और शून्य-दर्शन का नये ढंग से प्रतिपादन किया। सेङ चाओ का विचार था कि 'अभाव' कोई चीज नहीं है। प्रत्येक वस्तु एमदम 'यू' (अस्ति) और 'वू' (नास्ति) दोनों है। इसी प्रकार हर चीज स्थायी और अस्थायी दोनों है। एक विशेष क्षण में एक वस्तु स्थायी है और क्षणों की परम्परा अर्थात् काल की गति के दृष्टिकोण से वही अस्थायी है। ताओ शेङ ने अपने 'हुङ-मिङ-ची' (बौद्ध धर्म सम्बन्धी निबन्धों का संग्रह) में बुद्ध-तथता को भूत-जगत् से अलग और बाहर नहीं माना है और निर्वाण को जन्म-मरण के चक्र से भिन्न नहीं बताया है। जैसे ही एक क्षण में मनुष्य को बोधि प्राप्ति हो जाती है वैसे ही उसका जीवन निर्वाण में परिणत हो जाता है। एक क्षण में ही मन के प्रबुद्ध होने पर मनुष्य बुद्धत्व पर पहुँच जाता है। यह प्रत्येक व्यक्ति का समान अधिकार है। शिन-शिङ (५४०-५९४) ने इस मत को लेकर 'सान-चिएह्-चिआओ' नाम का जो विद्रोही और क्रान्तिकारी सम्प्रदाय खड़ा किया उसके अनुसार पुस्तकों, मूर्तियों और रस्म-रिवाज का तिरस्कार किया गया। इसके मानने वाले सड़कों पर आते-जाते सब दर्जों के लोगों, विदेशियों और जानवरों

तक को दण्डवत् प्रणाम करते थे क्योंकि उनका मत था कि सब में बुद्ध-तथता मौजूद है।

चीनी बौद्ध धर्म के दस सम्प्रदाय हैं। इनमें तीन हीनयानी और सात महायानी हैं। हीनयानी सम्प्रदायों में 'छेङ-शर' (सत्यसिद्धि), 'चू-शे' (अभिधर्म कोश) और 'लू' (विनय) की गिनती है। इनमें पहले के अनुसार किसी धर्म (चीज़) का अस्तित्व नहीं है, दूसरे के अनुसार सब धर्मों (चीज़ों) का अस्तित्व है और तीसरा इस बहस को छोड़कर आचार पर जोर देता है। महायान सम्प्रदायों में दो, 'सान-लुन' (त्रिग्रन्थ) और 'वेइ-शर' (विज्ञानवाद) भारतीय विचारधारा से सम्बन्धित हैं और पाँच, 'थिएन-थाई', 'हुआ-येन', 'चिङ-थू' और 'छान' की दो शाखाएँ, विशुद्ध चीनी हैं। 'सान-लुन' नागार्जुन के दो ग्रन्थों और उसके शिष्य देव के एक ग्रन्थ में प्रतिपादित 'शून्यवाद' पर टिका है जिसके बारे में ऊपर कुछ कहा जा चुका है। 'वेइ-शर' असंग और वसुबन्धु की कृतियों पर आधारित है और 'विज्ञानवाद' से सम्बन्धित है। बाद में यह प्रसिद्ध यात्री श्वान-चाङ (५९६-६६४) के 'फा-स्याङ' सम्प्रदाय में मिल गया। 'थिएन-थाई' चर-खाई (५३८-५९७) द्वारा की गयी 'सद्धर्मपुण्डरीक' की व्याख्या पर निर्भर है। इसका नाम चेक्याङ प्रान्त की थिएन-थाई नामक पहाड़ी से पड़ा जहाँ इसका प्रधान केन्द्र था। इसका दृष्टिकोण समन्वयमूलक था। इसके अनुसार सत्य के तीन पक्ष हैं, (१) सब कुछ शून्य है क्योंकि प्रतीत्य समुत्पन्न (कारणों से उत्पन्न) होने के कारण उसकी अपनी अलग से सत्ता नहीं है, (२) किन्तु हर चीज की सांवृतिक सत्ता है, (३) चूँकि हर चीज शून्य और सांवृतिक दोनों है इसलिए माध्यमिक दृष्टि है। इस सम्प्रदाय में चिन्तन पर खास जोर दिया जाता है। 'हुआ-येन' (वैरोचन) सम्प्रदाय बुद्ध वैरोचन के रूप में शाक्यमुनि की शिक्षा पर आधारित है। इसका नाम 'पुष्पमाला सम्प्रदाय' भी है क्योंकि यह 'अवतंसक सूत्र' को अपना प्रमुख ग्रन्थ समझता है। इसके अनुसार सब कुछ कारणों से उत्पन्न है। स्थिर दृष्टि से वे शून्य है और गति की दृष्टि से जगत् हैं। ये दोनों पक्ष एक दूसरे से मिले हुए हैं। 'चिङ-थू' (सुखावती) सम्प्रदाय 'सुखावती व्यूह' नामक शास्त्र पर आधारित है। इसके अनुसार अमिताभ बुद्ध सुखावती स्वर्ग में निवास करता है और हर प्रकार की मुक्ति और सुख का देने वाला है। उसके नाममात्र के उच्चारण से मुक्ति का वरदान मिल जाता है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि यह सम्प्रदाय क्रान्ति का वाहन सिद्ध हुआ। 'दान' (ध्यान) सम्प्रदाय बोधिधर्म से शुरू हुआ। वह ५२० ई० और ५२६ ई० के बीच में चीन पहुँचा। उससे गुरु-शिष्य परम्परा चालू हुई। पाँचवें गुरु हुङ-रन (६०५-६७५) के समय यह सम्प्रदाय दो भागों में बँट गया, शेन-सिउ (मृ० ७०६ ई०) द्वारा प्रवर्तित उत्तरी सम्प्रदाय और हुई-नेङ (६३८-७१३) द्वारा चलाया हुआ दक्षिणी सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों के अनुसार प्रत्येक प्राणी में बुद्ध-तथता मौजूद है और ध्यान-चिन्तन द्वारा इसे

पहचाना जा सकता है और अज्ञान और अविद्या से मुक्ति पायी जा सकती है। एक मत के अनुसार मुक्ति एक क्षण में मिल जाती है और दूसरे के अनुसार इसके लिए निरन्तर प्रयास की जरूरत है। यह मत बौद्ध साहित्य के शब्दाडम्बर, परम्पराप्रियता और नीरस तार्किकता के विरुद्ध चीनी मस्तिष्क की प्रतिक्रिया है।

चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार हो जाने पर बुद्ध को कन्फ्यूशियस और लाओ-त्सू का अवतार मान लिया गया। ४२९ ई० में प्रकाशित 'सान-कुओ-चर' पर फेइ-सुङ-चर की टीका में लिखा है कि पश्चिमी देशों की यात्रा करते हुए लाओ-त्ज़ु जब भारत पहुँचे तो वे बुद्ध कहलाये। इस मत को 'हुआ-हू' कहते हैं। इसके अनेक रूप हैं। ग्यारहवीं सदी में एक बौद्ध भिक्षु ने बुद्ध, लाओ-त्ज़ु और कन्फ्यूशियस की पूजा का एकीकरण किया। सुङ काल में बहुत से मठ-मन्दिर इस नये पूजा-विधान के अनुसार बनाये गये। इस प्रकार बौद्ध धर्म को पुरानी चीनी परम्परा के साथ ज़ोड़ने की कोशिश की गयी।

चीनी लोग जहाँ एक ओर यथार्थवादी हैं, वहाँ दूसरी ओर उपयोगितावादी। इसलिए उन्होंने बौद्ध धर्म को इन दोनों दृष्टियों से प्रस्तुत करते हुए एक ओर इसे जगत् की यथार्थता को सिद्ध करने का उपकरण बनाया और इसी विचार से इसके 'शून्य' और 'नैरात्म्य' के सिद्धान्त की व्याख्या की और दूसरी ओर इसे लोकमंगल और जनहित का साधन बताया।

इस संक्षिप्त पर्यवेक्षण से स्पष्ट है कि चीन में बौद्ध धर्म ने अर्नोल्ड जे० ट्वायनबी द्वारा प्रतिपादित 'उच्च धर्म' के लक्षण प्रकट किये : (१) यह सार्वभौम और सार्वजनिक हो गया और इसका किसी प्रदेश से, सम्प्रदाय से कोई खास सम्बन्ध नहीं रहा, (२) इसने देशी-विदेशी, छोटे-बड़े और ऊँच-नीच के भेदभाव को बिलकुल छोड़ दिया, (३) इसने जाति, वर्ग, दल के अन्तर को ठुकरा कर सब लोगों के लिए एक समान मंच प्रस्तुत किया, (४) इसने खास तौर से छोटे दर्जे के लोगों को ऊपर उठाने और तसल्ली देने की कोशिश की, (५) इसने एक ओर दान, त्याग और सेवा पर जोर दिया तो दूसरी ओर शान्ति, और कष्ट-सहन को श्लाघ्य बताया, (६) इसने रीति-रिवाज और रस्म को गौण सिद्ध कर श्रद्धा, आस्था और मन की शुद्धि पर खास जोर दिया, (७) इसने श्रद्धा और अच्छे कर्मों द्वारा सब दर्जों के लोगों को मुक्ति और निर्वाण का आश्वासन दिया, (८) इसने सुन्दरता, समृद्धि और सुख से भरपूर स्वर्ग की तसवीर सामने रखी जहाँ हर आदमी आसानी से पहुँच सकता है, (९) इसने हर प्राणी के भीतर बुद्ध-तथता की घोषणा कर सबको बीजरूप में बुद्ध सिद्ध किया, (१०) इसने 'शून्य', 'नैरात्म्य' आदि अभावसूचक परिभाषाओं की नयी व्याख्या कर जगत् और जीवन के यथार्थ्य की पुष्टि की, (११) इसने सक्रिय संस्थाओं का निर्माण कर सामाजिक प्रशासन का काम सँभाला जब राजतन्त्र

अव्यवस्थित हो चला था, (१२) इसने बाद में राजतन्त्र के साथ मिलकर उसे नैतिक पुट दिया और उसके लोक-मंगल के कार्यों में हाथ बँटाया। इस प्रकार इसने पूर्वी एशिया में वही काम किया जो रोमन साम्राज्य के पतन-काल में पश्चिमी एशिया में ईसाइयत ने किया था, हालाँकि इन दोनों में खासा फर्क है।

चीन का बौद्धधर्म एक विशेष प्रकार के विश्वधर्म के रूप में संस्कृति के इतिहास का अंग बना।

# परिच्छेद ५

# संस्कृति का परिपाक

## ईरान का सासानी युग

२२६ में जब सासानी वंश का पहला शासक अर्दशीर तेसीफोन में गद्दी पर बैठा तो हखामनीशों के पतन के साढ़े पाँच सौ साल बाद फारसी लोगों को फिर से सत्ता मिली। इस वंश के राजाओं ने ६५१ तक ईरान पर राज्य किया और इस लम्बे अरसे में ईरानी समाज और संस्कृति पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। बहुत बार उन्होंने कामयाबी के साथ रोमन साम्राज्य से टक्कर ली। एक बार उन्होंने रोमन सम्राट् वालेरियन तक को क़ैद कर लिया। इसके अलावा उन्होंने कुषाण साम्राज्य का अन्त किया और मध्य एशिया के नये घुमन्तू लोगों, ख्योन-हेफ्थालों, जिन्हें श्वेत हूण भी कहते हैं, को रोके रखा। उनका खास काम सामन्ती व्यवस्था की बुनियाद पर केन्द्रीकृत शासन क़ायम कर शान्ति और सुरक्षा को काफी समय तक बनाये रखना था। उस समय ईरान में सात बड़े सामन्ती परिवार थे। इनमें पार्थव खान्दान के अलावा क़ारेन, सूरेन, इस्पाहबाद, स्पन्दयाद, मेहरान और जेक शामिल थे। इन्हें 'वास्पुहरान' कहते थे। इनके शासन-सम्बन्धी काम बँटे हुए थे—कोई फौजी प्रबन्ध देखता था तो कोई घरेलू इन्तज़ाम करता और कोई न्याय-व्यवस्था चलाता। इन्हें अपने हलक़ों और इलाक़ों में लगान वसूल करने और लोगों से फौजी ख़िदमत लेने का हक़ था। सासानियों ने इन सामन्ती परिवारों की ताक़त कम करने के लिए नये सामन्त भर्ती करने शुरू किये। इन्हें 'वुज़ुर्गान' कहते थे। ये राजा द्वारा नामज़द होने के कारण ज्यादा वफादार होते थे और उनके द्वारा शासन अच्छी तरह चलता था। इनमें से प्रशासन के अधिकारी, मन्त्री, सचिव, दूत आदि रखे जाते थे। एक और छोटे सामन्तों का दर्जा 'आज़ादगान' कहलाता था। इन्हें 'कुज्क़ खुज़ायान' या 'दिहक़ानान' भी कहते थे। ये मौरूसी तौर से गाँवों और महालों के मालिक होते थे। लेकिन उनकी जायदादें ज्यादा बड़ी नहीं थीं। पर इन्हें सरकार की ओर से किसानों से लगान वसूल करने का हक़ था। उनकी पाँच श्रेणियों का उल्लेख मिलता है जिनकी अलग-अलग वेश-भूषाएँ थीं । इन सब सामन्ती वर्गों

के होते हुए भी देश का शासन राज्य द्वारा नियुक्त अधिकारियों के हाथ में था। सूबों की शासन-व्यवस्था शाही खान्दान के लोग चलाते थे। इन्हें 'शहरदारान' कहते थे। सीमावर्ती प्रान्तों के प्रशासक 'मर्ज़बान' कहलाते थे। फौज की कमान इनके पास थी। प्रान्त जिलों में बँटे थे, जिन्हें 'उस्तान' कहते थे। उनके प्रशासक 'उस्तानदार' थे। ज़िले में 'शहर' और 'देहात' होते थे जिनके प्रशासकों की उपाधि 'शहरीग' और 'देहीग' थी। ये सब अधिकारी और कर्मचारी राज्य द्वारा नामज़द होते थे।

साम्राज्य की सुरक्षा के लिए सासानियों ने कई उपाय अपनाये। उन्होंने शाहान्शाह और उसके दरबार को इतनी शान-शौकत से आरास्ता-पैरास्ता किया कि साधारण लोग उसे ईश्वरीय समझ कर उसके सामने झुक जायँ। उसका ताज एक बहुत बड़े पीपे जैसा था और सोने, चाँदी, मोती, पन्ने, लाल से बना हुआ था। उसमें ९१.५ किलोग्राम वज़न था। उसे तख़्त के ऊपर की मिहराब में एक सोने की ज़ंजीर से बाँध रखा था। जब शाहान्शाह तख़्त पर आकर बैठता तो उसके सिर को इस ताज में फँसा दिया जाता। सामने पर्दे खिंच जाते जिससे बाहर के आदमी यह न देख सकें कि किस तरह शाहान्शाह तख़्त पर आया और उसका सिर ताज में फिट किया गया। जब वह तख़्त पर आराम से बैठ जाता तो पर्दे हटा दिये जाते और दरबार में जमा लोग शाहान्शाह के ज़र्क़-वर्क़ जिस्म और ताज में लगे जवाहरात की रोशनी में उसके चम-चमाते मुखमण्डल को देख कर दंग हो जाते। तख़्त दरबार से बहुत दूर था और उसके पास धुँधली-सी रोशनी रहती थी जिससे कुछ अस्पष्ट-सा वातावरण बना रहे। इस प्रकार शाहान्शाह को रहस्यमय दिव्य शक्ति (फर्र-ए-कयानी) या भगवान् (बग़) के रूप में प्रस्तुत किया जाता था।

साम्राज्य को स्थायी रखने का दूसरा उपाय यह था कि राजदरबार के शिष्टा-चार को इतना जटिल और कठोर बनाया जाय कि सभासद् उसके उल्लंघन का साहस न कर सकें। अतः शासन के अधिकारियों और कर्मचारियों को इस तरह वर्गीकृत और श्रेणीबद्ध किया गया कि उसका तन्त्र अनायास चलता रहे। राजदरबार में सभासदों, सामन्तों, मन्त्रियों, मसख़रों, गवैय्यों आदि के बैठने-बोलने के सख़्त क़ायदे-क़रीने बनाये गये। इन्हें तोड़ना किसी के लिए सम्भव न था।

साम्राज्य को मज़बूत करने का तीसरा उपाय यह था कि समाज के विभिन्न वर्गों को इस प्रकार संगठित किया जाय कि एक वर्ग का व्यक्ति दूसरे में पहुँचने की होड़ न करे। प्रत्येक वर्ग में हर आदमी की स्थिति इस तरह निश्चित की गयी कि वह इससे हिलने तक का विचार न कर सके। ईरान में पुराने ज़माने से समाज पुरोहित, योद्धा और जनता, इन तीन वर्गों में बँटा हुआ था। लेकिन सासानी युग में एक चौथा वर्ग

भी बन गया था जिसमें सरकारी कर्मचारी (मेह्नेह), व्यापारी (बाज़रगानान), बनिए (तुज्जार), दस्तकार और कारीगर आदि शामिल थे। 'तन्सर के पत्र' से पता चलता है कि ऊँचे और नीचे दर्जे के लोगों में सवारी, वस्त्र, मकान, बाग़, पत्नी और सेवक अर्थात् हर दृष्टि से फ़र्क़ था। उनके टोपी और जूते भी अलग-अलग नमूनों के थे। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जगह कायम रखना क़ानून का उद्देश्य था। छोटे तबक़े के लोगों को बड़े खानदानों के लोगों की जायदादें खरीदने का हक़ न था। कारीगरों और दस्तकारों को अपने पेशे बदलने नहीं दिये जाते थे। छोटे दर्जे के लोगों को सरकारी कामों पर नहीं लगाया जाता था। फिरदौसी ने 'शाहनामे' में लिखा है कि जब एक मोची ने खुसरो प्रथम को धन देना स्वीकार किया और उसके बदले में अपने पुत्र को 'दबीरों' में भरती कराने की माँग की तो बादशाह ने उसके धन से लदे ऊँट यह कहकर लौटा दियें :

चू फरज़न्द मा बरनशीनद बतख़्त।
दबीरी बयायदश पीरोज़ बख़्त॥

साम्राज्य को दृढ़ करने का चौथा उपाय यह था कि खान्दानों और जायदादों की व्यवस्था को ऐसा रूप दिया जाय कि उसमें रद्दोबदल की गुंजायश न रहे और पाँचवा यह था कि ज़रथुश्त्री धर्म को बढ़ावा दिया जाय। इसकी चर्चा आगे की जायगी।

सासानी युग में आर्थिक जगत् में तेज़ तबदीली हो रही थी। क़बीलाशाही टूट रही थी और दास-प्रथा कमेरा-पद्धति में बदल रही थी। देहाती क़बीलों के परिवारों में सामूहिक सम्पत्ति के बजाय वैयक्तिक सम्पत्ति का रिवाज बढ़ रहा था। गरीब लोग अपनी ज़मीनें खुद जोतते और अमीर नौकर-चाकरों या ग़ुलामों से काम लेते। लेकिन ग़ुलाम मँहगे और बेकार साबित हो रहे थे और उनकी जगह ज़मीनों के साथ नत्थी कमेरे या बेगारी, जिनके गुज़ारे के लिए कुछ कटाई बँधी थी, ज्यादा सस्ते पड़ते थे। इसलिए लोग ग़ुलामों को पूरी तरह या आंशिक रूप से छोड़ने लगे थे। इशोबोख़्त के कानूनों में ग़ुलामों को आज़ाद करने की व्यवस्था की गयी है। अक्सर स्वामी दासों को अपनी कमाई (विन्दिश्न) का एक भाग खुद रखने की इजाज़त दे देते थे। आम दस्तूर यह था कि कमाई का दसवाँ हिस्सा, दास की अपनी सम्पत्ति समझा जाता था। इसका अर्थ यह है कि दास दसवें हिस्से के बराबर आज़ाद था। उस काल में एक दास कई-कई स्वामियों के अधीन होने लगा था। चूँकि दास ज़मीन के साथ नत्थी होने लगा था, अर्थात् कमेरा (सर्फ) बनने लगा था, इसलिए जब ज़मीन बिकती या बँटती तो उसके साथ-साथ दास की हैसियत में भी वैसी ही तबदीली हो जाती। अगर ज़मीन के कई मालिक होते तो उससे नत्थी दास के भी उतने ही हक़दार होते।

ज़मीन के चक और उससे सम्बन्धित दास की एक इकाई बन गयी थी जिसे 'दस्तकर्त' कहते थे। जिस ज़मीन के साथ दास नहीं था उसका कुछ मूल्य न था। ऐसा लगता है कि उद्योग-धन्धे के विकास के कारण इतने लोग शहरों में जाकर बसने लगे थे कि देहात में ज़मीनों पर काम करने वालों का तोड़ा होता जा रहा था। अतः ज़मीन और उस पर काम करने वाले का गठजोड़ ही कोई मूल्य रखता था। 'दस्तकर्त' में आबपाशी के लिए कुएँ-कूल खोदे जाते, रहने के लिए मकान बनाये जाते और बहुत से लोग रहट, पनचक्की आदि भी लगाते। कुछ लोग 'दस्तकर्त' पर खुद खेती करते और कुछ उन्हें ठेके पर उठा देते। मालिक को 'ख़्वास्तकदार' और ठेकेदार को 'तख़कमन्द' कहते थे। ठेके की रक़म या लगान 'तख़क' कहलाता था।

देहात में एक ओर तो काम करने वालों की कमी थी, दूसरे करों की करारी मार थी। पैदावार का छठे हिस्से से तिहाई हिस्सा तक मालगुज़ारी में ले लिया जाता था। इसके अलावा हर आदमी और औरत पर कर लगा था। सालाना नज़राने (आईज), जो नौरोज़ और मेहरगान के त्यौहारों पर लिये जाते थे, अलग थे। नहरों और बन्धों की तामीर और मरम्मत के लिए भी चन्दा वसूल किया जाता था। लड़ाई के वक्त विशेष कर लगाये जाते थे। इससे किसान दुःखी और तंग थे और देहात की जिन्दगी को आफत समझते थे। उन्हें नयी जागीरों या शहरों में जाकर काम करना ज्यादा फायदेमन्द लगता था। शहरों में रहने वालों और वहाँ काम करने वालों को कुछ ख़ास हक़ और अधिकार दिये हुए थे जो देहात के लोगों को मयस्सर न थे। इसलिए किसी शहर के बसने पर देहात के लोग वहाँ आकर बसने की इच्छा रखते थे। शहर देहात को किस तरह हज़्म करते जा रहे थे इसका पता फिरदौसी के 'शाहनामे' के इस कथानक से चलता है। एक बार शिकार से लौटता हुआ बादशाह बहराम गोद किसी गाँव में आया। वहाँ किसी ने उसकी आवभगत न की। बादशाह ने नाराज़ होकर 'मोबज़' से कहा कि यह गाँव उजाड़ दिया जाय। 'मोबज़' ने जवाब दिया कि इसका सहज उपाय यह है कि इस गाँव को शहर बना दिया जाये। कुछ दिन बाद घोषणा की गयी कि वह गाँव शहर बना दिया गया है। फौरन सब लोग बराबर हो गये। नौजवानों ने अपने बूढ़े स्वामियों की हत्या करनी शुरू कर दी। दासों ने दिहक़ानों को दबोच लिया, कमेरे सामन्तों पर पिल पड़े। सब जगह लूट-खसोट और मार-काट मच गयी। फलता-फूलता गाँव खण्डहर हो गया और लोग उसे छोड़कर भाग गये। इस कथा का सार यह है कि शहरों में आज़ादी और बराबरी का वातावरण था और मौक़ा मिलते ही सब देहात के लोग वहाँ जाने के लिए आतुर थे। इससे सामन्ती व्यवस्था को खतरा पैदा हो रहा था लेकिन साथ ही सासानियों को पुराने सामन्तों को कमज़ोर कर नये तबक़े

को क़ायम करने में मदद मिल रही थी।

पाँचवीं सदी के मध्य तक यह देहाती संकट इसलिए ज्यादा महसूस नहीं हुआ कि सासानियों की विजय-यात्राओं से असंख्य विदेशी बन्दी बनाकर ईरान लाये जाते रहे जिससे काम करने वालों की कमी नहीं पड़ी। इन विदेशी दासों को 'अनशहरीक' कहते थे जब कि ईरानी दासों के लिए 'बन्दक' शब्द प्रयुक्त होता था। लेकिन जब पाँचवीं सदी के अन्त में एक तरफ हूणों की मार से और दूसरी ओर यूनानी ताक़त के मजबूत होने से बन्दियों के आने का यह रास्ता रुक गया तो देहाती इलाक़ों में खलबली मच गयी। बड़े सामन्त छोटे जागीरदारों, दिहक़ानों और किसानों को चूसने लगे इससे मज़दकी आन्दोलन की ज्वाला फूटी जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

सेल्यूकी और पार्थव काल से ही उद्योग और व्यापार की बड़ी उन्नति हो रही थी। सासानियों ने उसे और आगे बढ़ाया। उन्होंने रोमन क़ैदियों को शूषा, शुस्तर और अहवाज के नगरों में बसाया। वहाँ उन्होंने 'दीबा' और दूसरे रेशमी कपड़े के उद्योग को तरक्क़ी दी। चीन से रेशम मँगाकर ईरानी उसका कपड़ा बुनते और पश्चिम की ओर भेजते थे। रेशम के अलावा ऊनी कपड़े और क़ालीन बुनने की दस्तकारी, सोने, चाँदी, ताँबे और बिल्लोर की चीजों का उद्योग और मोती-जवाहर का फ़न ईरान में बहुत समुन्नत था। व्यापार के रास्ते बहुत सुरक्षित थे। व्यापार के विस्तार से रुपये का चलन बहुत बढ़ा। सासानी युग के चाँदी और ताँबे के सिक्के बहुत दूर-दूर तक पाये जाते हैं। हुण्डी-पर्चे का काम बहुत तरक्की पर था। सभी बड़े शहरों में बैंक थे जिनका प्रबन्ध ईरानी और यहूदी साहूकारों के हाथ में था। यह महत्त्व की बात है कि आजकल के बैंकों की शब्दावली का अत्यन्त प्रचलित शब्द 'चैक' सासानी युग की पह्लवी से निकला है। इसका प्रयोग सब से पहले ईरानी बैंकों से शुरू हुआ।

चल और अचल सम्पत्ति का रहन, न्यास और गिरवी रखने का रिवाज इस युग में ज़ोरों पर था। ऐसी सम्पत्ति जो गिरवी रखी जाती 'मेशकाना' कहलाती थी। 'ईशोबोख़्त की संहिता' में १२ प्रतिशत सालाना के सूद को ज्यादा और १० प्रतिशत को ठीक बताया गया है।

नगरों में काम करने वाले दस्तकारों और कारीगरों के अलग-अलग मोहल्ले, श्रेणी और निगम थे। हर श्रेणी और निगम के मुखिया ('क्शे', 'रेशे') होते थे, जो औपचारिक अवसरों पर उनका प्रतिनिधित्व करते थे। व्यापारियों और सौदागरों के भी ऐसे ही निगम थे जिनके मुखियाओं को 'क्शे तग्गारे' कहते थे। सब निगमों का एक अध्यक्ष होता था जिसे 'क़ारुगबेद' कहते थे। वह बादशाह की राजसभा का सदस्य होता था। इसके द्वारा वह व्यापारिक और औद्योगिक जगत् पर नियन्त्रण रखता था।

'कर्खा-द्-लेदान' आदि कुछ शहरों में कारीगरों का एक ही निगम था और उसकी एक ही सभा (किनूशिया) थी। लगता है इस सारी बस्ती में एक ही उद्योग के दस्तकार रहते थे। नागरिक बस्तियों में यहूदी और ईसाई कारीगरों की बहुत बड़ी संख्या थी और उनका बड़ा मान था। कारीगरों पर व्यक्ति-कर (जज़िया) तो था, लेकिन वे फौजी सेवा से बरी थे।

व्यापारी और सौदागर इकट्ठे होकर साझे-साथ के उसूल पर काम करते थे। अक्सर एक तरह का काम करने वाले व्यापारी 'समूह' (कम्पनी) बना लेते थे। इसे 'हम्बायिह्' कहते थे। सीरियाई भाषा में सम्मेलन और सामूहिकता के भाव को 'शौता-पूता'' कहते थे और समूह के सदस्य को 'शौतापे' कहते थे। ये समूह गाँव के प्राचीन समूहों के आधार पर बने थे। अतः इनमें सब सदस्यों का हिस्सा बराबर होता था और उनकी सम्पत्ति पर सब का बराबर का अधिकार था। अगर किसी सदस्य को कोई आमदनी होती या कोई भेंट मिलती तो वह भी समूह की सम्पत्ति समझी जाती और उसके प्रयोग और उपभोग का सब को हक़ होता। अगर कोई सदस्य अपने हिस्से को अलग करना चाहता तो समूह टूट जाता। लेकिन कुछ ऐसा विचार चल पड़ा था कि समूह की सम्पत्ति या आमदनी में हर सदस्य का हिस्सा उसकी लागत की निसबत से होता है। अगर किसी सदस्य को वैयक्तिक रूप से कोई उपहार मिलता था या उसके हाथ लड़ाई की लूट लग जाती तो वह उसकी निजी सम्पत्ति मानी जाती।

शहरों के लोगों को खास हक़ हासिल थे जो देहात के रहने वालों को मयस्सर न थे। उनकी सज-धज का अन्दाजा तेसीफोन के अवशेषों से होता है जिन पर पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजों ने काफी रोशनी डाली है।

देहात की साधारण जनता अनपढ़ थी। दिहकान पुराने आख्यानों और कथानकों में रुचि रखते थे। नगरों के व्यापारी लोग लिखना-पढ़ना और हिसाब-किताब रखना जानते थे। शिक्षा अधिकतर धार्मिक पण्डितों, पण्डों और पुरोहितों के हाथ में थी। सामन्तों के पुत्रों को लिपि, गणित, चौगानबाजी, शतरंज, सवारी और शिकार की शिक्षा दी जाती थी। सैनिक अभ्यास उनकी शिक्षा का खास अंग था। वैद्यों की ट्रेंनिग पर खास जोर दिया जाता था। शिक्षा पूरी करने पर उन्हें राज्य से प्रमाणपत्र लेना पड़ता था। अप्रमाणित वैद्य का चिकित्सा करना और उससे कराना दोनों दण्डनीय अपराध थे। रोगी को देखने में हीला-बहाना करने की हालत में उन्हें मृत्युदण्ड दिया जाता था। अगर किसी वैद्य के चिकित्सा करने पर लगातार तीन रोगी मर जायँ तो उसे जीवन भर के लिए चिकित्सा करने से रोक दिया जाता था। नेस्तोरी ईसाइयों ने आयुर्वेद के बहुत से विद्यालय खोल रखे थे जिनमें यूनानी शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। जुन्देशापुर में उनका प्रसिद्ध विद्यालय कई सदियों

तक चला। ईसाइयों ने उच्च शिक्षा के जो बड़े केन्द्र खोले उनकी व्यवस्था जानने के लिए निसिबिस के नेस्तोरी विश्वविद्यालय के विधान पर दृष्टि डालना उचित है। यह संस्था नगर के कारीगरों और व्यापारियों के चन्दे पर चलती थी। वहाँ धार्मिक शिक्षा के अलावा दर्शन, विज्ञान, तर्क, सृष्टिविद्या, इतिहास, साहित्य के उच्च अध्ययन की व्यवस्था थी। पाठ्यक्रम ३ वर्ष का था। प्रत्येक वर्ष दो भागों में बँटा था। इनके बीच में छुट्टियाँ होती थीं। इनमें विद्यार्थी रोजगार-धन्धा करके चार पैसे कमा लेता था। सब विद्यार्थी छात्रावास में रहते थे। उनकी सभा (यूनियन) होती थीं। विद्यार्थी एक ही शैली के सरल वस्त्र पहनते और एक ही ढंग से बाल कटवाते थे। उन्हें स्त्रियों से बात करने की मनाही थी। किताबों की चोरी, झूठ बोलना और सैर-सपाटे में वक्त खोना अपराध माने जाते थे और इनपर विद्यार्थियों को निकाल दिया जाता था। विश्वविद्यालय का प्रबन्ध कुलपति (मेपाशकाना) के हाथ में था। उसे स्वामी (रब्बान) कहते थे। अर्थव्यवस्था का प्रबन्ध 'रब्बैता' के हाथ में था। विश्वविद्यालय के नियम लिखित और निश्चित थे।

सासानियों ने अपनी सत्ता को दृढ़ करने के लिए ज़रथुस्त्री धर्म को राजधर्म घोषित किया। इस धर्म में प्राकृतिक शक्तियों, विशेषतः आग और सूरज, की पूजा को बहुत महत्त्व दिया गया है। सासानी काल में इस धर्म में एक और सम्प्रदाय प्रबल हो गया जिसे 'ज़र्वानी' कहते हैं। उनका विश्वास था कि सृष्टि के आरम्भ में केवल एक कालशक्ति थी जिसे 'ज़रवान' कहते हैं। उसने हजार वर्ष तक सृष्टि करने के लिए यज्ञ किया। किन्तु इस लम्बे प्रयास के बाद उसके मन में सन्देह हो गया। यज्ञ से 'अहुर्मज़्दा' और सन्देह से 'अहरिमान' पैदा हुए। एक पुण्य और प्रकाश का प्रतीक था, तो दूसरा पाप और अन्धकार का पुत्र। इन दोनों का द्वन्द्व चलता है किन्तु आगामी युग में अहुर्मज़्दा का राज्य होगा और पाप नष्ट हो जायगा।

सासानी काल के शुरू में कतरीर नाम के मोबज़ ने, जिसे बहुत से लोग तन्सर या तोसर समझते हैं, ज़रथुस्त्री धर्म को एकरूपता देने की कोशिश की। उसने सब विधर्मियों का तिरस्कार किया, यूनानी रंग में डूबे मगों को फिर से पुराने धर्म की दीक्षा दी, सारे देश में और उससे बाहर भी अग्निगृह कायम किये और यहूदी, ईसाई, बौद्ध, हिन्दू, मानीवादी, सभी धर्मों पर पाबन्दी लगावायी। किन्तु यह धर्म सामन्ती वर्ण-विधान और वर्ग-पद्धति पर निर्भर था। इसलिए कभी-कभी सासानी सम्राटों ने सामन्तों की ताकत तोड़ने के लिए और धर्मों को भी बढ़ावा देने की सोची।

सासानी काल में ईसाइयों का काफी जोर था। लेकिन वे रोम की ओर झुकते थे। इसलिए उनके साथ सख्ती की जाती थी। ३३९ में शापूर द्वितीय ने उन्हें दबाने की नीति अपनायी। पाँचवी सदी के अन्त में जब नेस्तोरी ईसाई अन्य ईसाइयों से अलग हो गये तो

ईरान में आम तौर से उनके साथ नरमी बरती गयी। तेसीफोन में उनका गिरजा खड़ा हो गया जिसके खण्डहर अब तक मिलते हैं। उन्हें अपना लाटपादरी चुनने और धर्मसभा बुलाने का हक मिल गया। धन्धों, कलाओं और विद्याओं में प्रवीण होने के कारण उनका काफी मान था।

सासानी काल की भाषा और साहित्य को पह्लवी कहते हैं। इसमें अवेस्ता के पह्लवी अनुवाद के अलावा 'कानून की संहिता' 'यादगार-ए-ज़रीरान', जिसे 'शाहनामा-ए-गुरतास्प' भी कहते हैं, 'कारनामाग-ए-अर्तक्षत्न-ए-पापकान', 'शहरिस्तानिह-ए-ईरान' (ईरानी नगरों की तालिका), 'दिरख्त-ए-असूरीग' (असुरिया का वृक्ष), 'चतरंग-नामक' (शतरंज की पुस्तक) आदि शामिल हैं। उस काल में कविता का रिवाज भी बढ़ा। आफरीन, ख़ुस्रवानी, माजरास्तानी और सकीसा आदि उस युग के प्रसिद्ध कवि थे। किन्तु उनकी रचनाएँ नष्ट हो गयी हैं। छठी सदी के शुरू में वीरकाव्य का रूप भी निखरा जो बाद में फिरदौसी के 'शाहनामा' के रूप में सामने आया।

खुसरों के राज्यकाल में ईरान में बौद्धिक उत्थान की लहर दौड़ी। ५२६ में जब ईसाइयों की धर्मान्धता के कारण एथेन्स का दर्शन-महाविद्यालय बन्द कर दिया गया तो वहाँ के सात दार्शनिक तेसीफून आये और खुसरो ने उनका स्वागत किया। इनके आने से बौद्धिक जीवन में स्फूर्ति आयी। निसिबिस के विश्वविद्यालय में अरिस्तु और पोरफीरी के ग्रन्थों का अनुवाद हुआ।

ईरान के बौद्धिक जीवन पर यूनान की तरह हिन्द का भी काफी असर पड़ा। प्रसिद्ध ईरानी वैद्य और विचारक बुर्जुया ने भारत की यात्रा की और 'पंचतन्त्र' की प्रसिद्ध कथा को 'कलेलग-ओ-दमनग' के नाम से पह्लवी में अनूदित किया। इससे इब्न-अल-मुक़फ्फा ने उसका अरबी में तर्जुमा किया और उसे रूदकी ने अर्वाचीन फारसी में उल्था किया। इसके अलावा बोधिसत्त्वचर्या से सम्बन्धित एक कथानक पह्लवी में लाया गया। वहाँ से उसे अरबी में 'बलोहर-बोज़ाफ' के नाम से बदला गया। फिर वह यूरोप में 'बारलाम और जोजाफत' के नाम से फैला। शतरंज और आयुर्वेद सम्बन्धी कुछ धारणाएँ भी भारत से ईरान पहुँची।

सासानी काल में हखामनीशी और पार्थव परम्पराओं का मेल है। स्थापत्य में मिहराब, गुम्बद और ईवान का खास स्थान है। चट्टान को तराश कर बादशाह की मूर्ति बनाना इस युग की खास कला थी। इस कला पर गान्धार और बौद्ध कला का प्रभाव दिखायी देता है। खुसरों के काल में चित्रकला में विलासिता का रंग जमा। कपड़े की कढ़ाई की कला और तामचीनी के काम पर चीनी प्रभाव टपकता है। सासानी कला दूर-दूर तक पहुँची।

सासानी युग में शानशौकत, ताकत और दबदबे के बावजूद जीवन में निश्चलता और जड़ता बढ़ती जा रही थी। सामाजिक ढाँचा इतना सख्त था कि इसमें आम आदमी को फूलने-फलने का मौका नहीं था। ऊँचे वर्ग निरी दिखावटी तड़क-भड़क से ऊब रहे थे तो निचले वर्ग उनके शोषण और अत्याचार से दबे और पीसे जा रहे थे। अतः लोगों में नीरसता, सूखापन और सुस्ती छाने लगी थी जो उत्तर सासानी काल के प्रमुख विचारक बुर्जुया की 'आत्म जीवनी' में प्रकट होती है।

## मज़्दकी आन्दोलन

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं सासानी युग में ईरानी समाज बड़ी रद्द-ओ-बदल और उथल-पुथल से गुजर रहा था। हान साम्राज्य, कुषाण साम्राज्य, पार्थव साम्राज्य और रोमन साम्राज्य ने दुनिया के बड़े-बड़े भागों को एकता के तार में बाँधकर सुख-समृद्धि के दौर की शुरुआत की जिससे उद्योग-धन्धों और व्यापार को बहुत बढ़ावा मिला और नये और बड़े नगर उठने शुरू हो गये। इन नगरों में नयी चहल-पहल थी, देहात से ज्यादा खुशहाली और रौनक थी। गाँव-बस्ती के लोग जो ऐसा कर सकते थे, शहरों में रहना पसन्द करते थे। इसलिए देहात पिछड़ते जा रहे थे। उधर खेती-बारी का सिलसिला भी बदल रहा था। लोग उन चीजों की पैदावार बढ़ाने की कोशिश करते थे जो बाजार में अच्छे दामों पर बिकती थीं। इसके लिए होशियार और मेहनती किसानों की जरूरत थी। पुराने ढंग के सुस्त और पस्तहौसला दासों के जरिए, जो सिर्फ जाब्तापूरी के लिए काम करते थे, खेती के साधनों का पूरा उपयोग करना मुमकिन न था। उनकी जगह कुछ आजाद, कुछ बँधे हुए, कमेरे (सर्फ) ज्यादा अच्छा काम करते थे। इससे दासता का ढाँचा बदल रहा था। कमेरापन (सर्फडम) सामने आ रहा था। यह परिवर्तन—देहाती सामूहिक व्यवस्था का विच्छेद, वैयक्तिक और सामन्ती सम्पत्ति का प्रसार, कमेरेपन का आविर्भाव—गाँव के रहने वालों के जीवन को दूभर बना रहा था।

सासानी युग में छोटे और बड़े सामन्तों का द्वन्द्व चलता था। शापूर द्वितीय (३०९-७९) की मृत्यु के बाद की एक सदी में बड़े सामन्तों की ताकत काफी बढ़ी। ज़रथुस्त्री पण्डे-पाधा उनके साथ थे। बहराम पंचम (४२१-३८) ने बड़े सामन्तों को काफी ढील दी। अतः वे छोटे सामन्तों, दिहकानों, किसानों आदि को और ज्यादा चूसने लगे। पीरोज़ (४५९-८४) के राज्यकाल में कई साल का अकाल पड़ा। उधर हेफ्थालियों से युद्ध का जोर रहा। इसलिए लोग जुल्म और सितम से कराह उठे। चारों तरफ हाहाकार मच गया। साम्राज्य टूटने लगा। जनता में भयानक क्रान्ति भभक उठी जिसे मज़दकी आन्दोलन कहते हैं। इसे एशिया में समाजवाद का पहला परीक्षण कहा जा सकता है।

मज़दकी आन्दोलन का प्रवर्तक मज़दक बामदाज़ का पुत्र था। उस जमाने में मानी धर्म, जो जनता के अपार असन्तोष का वाहन था, दमन का शिकार हो रहा था। इसके मानने वाले तितर-बितर हो रहे थे। उनमें पसा का निवासी बुन्दोस या बुज़ भी था, जिसे ज़रदुश्त भी कहते हैं और जो तीसरी सदी के पिछले भाग में दायोक्लीशियन के काल में रोम पहुँचा। वहाँ उसने मानी के मत में यह संशोधन किया कि अच्छाई बुराई पर विजय प्राप्त कर चुकी है, प्रकाश ने अँधेरे को खत्म कर दिया है और अब सत्य, शुभ और शिव का मंगलमय युग है। इस तरह उसने मानीवादियों की निराशामूलक मनोवृत्ति को बदल कर उसमें ओज, उत्साह और हौसला पैदा करने की कोशिश की। बाद में वह ईरान आया और अपने नये मत का प्रचार करने लगा। मज़दक ने इस सम्प्रदाय में दीक्षा ली।

मज़दक के विचार ईरानी परम्परा पर आश्रित हैं। निज़ामुल्मुल्क ने 'सियासतनामे' में लिखा है कि वह अपनी हर बात को अवस्ता और जिन्द में संगृहीत ज़रथुस्त्र के वचनों के हवाले से सिद्ध करता था। वह पवित्रता और परहेज़गारी पर बहुत जोर देता था। उसने जानवरों को मारने और उनका मांस खाने की मनाही की। जहाँ कहीं पुराने शास्त्रों में जानवरों को मारने का जिक्र आता वह इसका यह मतलब लगाता कि इन्द्रियों का दमन किया जाये और वासना और तृष्णा को मारा जाये। किसी को चोट या नुकसान पहुँचाना उसके उसूल के बिलकुल खिलाफ था। अतिथि के लिए, चाहे वह किसी देश या जाति का हो, सब कुछ त्याग कर देना उसकी शिक्षा का सार था। शत्रु तक का भला चाहना, उस पर मेहरबानी करना, उसके लिए अपना सब कुछ न्यौछावर कर देना, उसके लिए नैतिकता का सबसे ऊँचा स्तर था। आपसी विरोध, वैर, वैमनस्य को दूर करना, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या को हटाना, लड़ाई-झगड़े, छीना-झपटी और खींच-तान से बचना उसकी दृष्टि में मनुष्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य था। चूँकि सामाजिक भेद, आर्थिक असमानता और सम्पत्ति का अन्यायपूर्ण वितरण मनुष्य को उसकी इच्छा के विपरीत भी द्विधा, द्वन्द्व, स्पर्धा और संघर्ष की ओर ले जाते हैं, इसलिए उन्हें हटाना वह बिलकुल जरूरी समझता था। सामाजिक वर्गों को तोड़ना, सम्पत्ति को बराबर करना और सबके भौतिक जीवन को एक जैसा बनाना उसकी निगाह में लाज़मी था। इस दृष्टि से उसने विवाह-शादी में जाति-पाँति और ऊँच-नीच के बन्धन को तोड़ने की तहरीक चलायी जिसका अर्थ लोगों ने यह लगाया कि वह स्त्रियों पर सामूहिक अधिकार कायम करना चाहता है यानी खुले व्यभिचार का समर्थन करता है। साथ ही उसने सब सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, माल-असबाब को सबों से छीनकर फिर से सब लोगों में बराबर-बराबर बाँटने का आन्दोलन शुरू किया, जिसका मतलब लोगों ने यह समझा कि वह सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण चाहता है और हरेक को उसकी जायज मेहनत या कुदरती काबलियत के फल से वंचित करता है। मज़दक का

पक्का विचार था कि जब तक सारे समाज से हर किस्म की असमानता दूर नहीं होती उस वक्त तक मनुष्य के पाप से मुक्त होने और उसके अन्दर की रोशनी के बाहरी दुनिया के अँधेरे से आजाद होने का सवाल नहीं उठता। इस तरह उसने बुद्ध, महावीर, ईसु मसीह और मानी के उसूल को सामाजिक पहलू से देखा और आर्थिक दृष्टिकोण दिया।

मज़दक का सामाजिक दर्शन पुरानी देहाती पद्धति पर आधारित था। यह पद्धति पहले ग्राम-सभाओं में विद्यमान थी और उसके बाद नगरों के व्यापारी निगमों में बची रह गयी। सामन्ती विधान और निजी सम्पत्ति की व्यवस्था ने इसे आघात पहुँचाया। इसलिए मज़दक सामन्तों और सम्पत्तिशाली वर्गों के विरोधी के रूप में सामने आया। उन दिनों सामन्त बलाश का समर्थन कर रहे थे, लेकिन फेफ्थालों की मदद से उसके भाई कवाज़ को राज्य मिल गया। इसलिए वह सामन्तों को दबाना चाहता था। इसके लिए उसने मज़दक को, जिसका राज दरबार में बड़ा सम्मान था, अपनी तरफ किया। मज़दक ने उसे यह सलाह दी कि सामन्तों को सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से कमजोर किया जाय। उनके वर्ग को तोड़ने के लिए यह जरूरी है कि उनकी स्त्रियों को सामान्य लोगों के साथ ब्याहा जाय और उनकी जायदादें छीनने के लिए यह लाज़मी है कि उसका राष्ट्रीय-करण करके उसे और लोगों में बाँटा जाय (निज़ामुल्मुल्क, 'सियासतनामा', ४४।४)। अतः कवाज़ ने इसके लिए समुचित कानून बनाये जिससे बड़े सामन्तों की सत्ता को बड़ी ठेस लगी और उनकी ताकत टूटने लगी।

शुरू में कवाज़ और मज़दक का विचार बड़े सामन्तों को पछाड़ना और छोटे जमीं-दारों और दिहकानों को उभारना मालूम होता है। लेकिन क्रान्ति की चिनगारी जब फूटती है तो बहुत बड़े अग्निकाण्ड का रूप ले लेती है। इन्क़लाब की छोटी सी धारा बहुत बड़ा सैलाब बन जाती है और किनारों की परवाह न करती हुई सारे समाज को अपनी दिशा में बहा ले जाती है। इसी तरह मज़दक का आन्दोलन भी बड़े सामन्तों को हटाने और छोटे जमींदारों को बढ़ावा देने के सीमित लक्ष्य से आगे निकल कर सारे सम्पत्तिशाली वर्ग को चूर-चूर करने लगा। तिबरी ने लिखा है कि इसमें असंख्य आदमी शामिल हो गये और दिन-दहाड़े लोगों के घरों में घुसकर उनका सब माल-असबाब छीनने और उनके घरबार और स्त्रियों पर कब्जा करने लगे। ककी-द्-बेथ सेलोक नामक नगर के सीरियाई इतिहासकार ने लिखा है कि तोमजगर्द नामक प्रशासक ने मानीवादियों—इससे मतलब मज़दकियों से है—को हुक्म दिया कि नगर के निवासियों की सब चल और अचल सम्पत्ति लूट लें। 'तन्सर के पत्र' से प्रकट होता है कि किस तरह छोटे तबके के लोगों के गोल के गोल सब जगह लूट-खसोट करते फिरते थे और खुद मालामाल हो रहे थे। निज़ामुल्मुल्क ने लिखा है कि स्त्रियों के आकर्षण और सम्पत्ति के लोभ से और उनके सामूहिक उपभोग

और समान बँटवारे की तमन्ना से सब लोग—खास तौर से आम लोग—इस आन्दोलन में शामिल हो रहे थे ('सियासतनामा' ४४।४, पृ० १६७) । देहात में किसान-कमेरों ने आजादगान और दिह्कानों को तहस-नहस करने का बीड़ा उठाया । इससे छोटे सम्पत्तिशाली वर्ग घबरा गये और उन्होंने शुरू में मज़दकी आन्दोलन की जो मदद की थी उससे वे हटने लगे ।

ऊपर कहा जा चुका है कि शुरू में शाहन्शाह कवाज़ मज़दकी आन्दोलन का समर्थक था क्योंकि यह बड़े सामन्तों को कुचलने और छोटे जमींदारों को उठाने के लक्ष्य को लेकर चला था । बड़े सामन्तों ने उसे कैद में डाल दिया, लेकिन छोटे सामन्तों के नेता सियावूश ने मौका देखकर उसे हेफ्थालों के पास भगा दिया । ४६६ में वह उनके सहारे से और हेफ्थालों की मदद से फिर सासानी राजगद्दी पर बैठा । लेकिन उस वक्त मज़दकी आन्दोलन कोरे साम्यवाद की ओर बहा जा रहा था । इससे डर कर छोटे सामन्तों, जमींदारों और दिह्कानों ने कवाज़ को सीख दी कि वह इसे दबाये । यही कारण है कि दूसरी बार गद्दी पर आते ही कवाज़ ने इस आन्दोलन के प्रति अपनी नीति बदली और उसे दबाने का बीड़ा उठाया ।

मज़दकी आन्दोलन बड़े सामन्तों को खत्म करने के लक्ष्य से आगे बढ़कर छोटे सामन्तों, जमींदारों, दिह्कानों और सभी प्रकार के सम्पत्तिशाली वर्गों को समाप्त करने की ओर ही प्रवृत्त नहीं हुआ, उसने पुरोहित-पण्डों का भी सफाया करना चाहा और अन्त में शाहन्शाहियत को भी खतम कर लोकतन्त्र कायम करने की ठानी, जैसा कि निज़ामुल्मुल्क के कुछ उल्लेखों से जाहिर होता है (सियासतनामा, अध्याय ४४, पृ० १६६) । इसलिए सम्पत्तिशाली वर्गों के अलावा मोवज़ और शाहन्शाह भी उसके खिलाफ हो गये ।

पुराने जमाने में लोगों को नयी बात समझाने और उन्हें अपनी तरफ खींचने का एक तरीका यह था कि उन्हें धर्म का नया मतलब समझाया जाय और उनकी धार्मिक भावना पर असर डाला जाय । इसलिए उस वक्त के सभी सुधारक करामातों, करिश्मों और मोजज़ों का सहारा लेते थे । मज़दक ने भी ऐसा ही किया । उसने एक अग्निगृह में एक लम्बी और गुप्त सुरंग बनवा रखी थी । उसमें से वह एक आदमी अग्निपात्र के नीचे बैठा देता था । जब वह कोई सवाल करता तो वह आदमी जमीन के नीचे से जवाब देता और सुनने वाले यह समझते कि अग्निदेवता बोल रहा है । इससे लोगों पर उसकी बात का गहरा असर पड़ता । लेकिन जब उसने अग्निदेवता से कवाज़ के मृत्यदण्ड की घोषणा सुनवायी तो लोगों को एकदम यकीन न हुआ क्योंकि राजतन्त्र का लोगों पर गहरा असर था । बहुत से लोगों को लगा कि इसमें कोई चाल है । सबको चाल का पता लगाने की

उत्सुकता हुई। नौशरिवान ने फर्स के एक पुजारी की मदद से मज़दक के एक नौकर को रिश्वत देकर उसकी करामात का भेद पा लिया। जब उसका भण्डाफोड़ हुआ तो उसके सब अनुयायी तितर-बितर होने लगे। ऐसी सनसनी और घबराहट में एक दिन ५२८ के आखीर में या ५२९ के शुरू में नौशरिवान ने मज़दक का धर्म स्वीकार करने का बहाना कर एक बड़ी दावत की और उसमें मज़दक और उसके अनुयायियों को न्यौता दिया। जब वे निहत्थे और बेफिक्र दावत खाने के इरादे से शाही बाग में दाखिल हो रहे थे तो पहले से तैय्यार और हथियारों से लैस सिपाही उन्हें मार-मार कर भौरों में उलटे डालते जाते थे। आखीर में मज़दक की भी यही दशा हुई। कुल मिलाकर १२,००० आदमियों के करीब मौत के घाट उतारे गये। यह सब इसलिए करना पड़ा कि खुलेआम मज़दक को खत्म करना आसान नहीं था, उसकी चाल का पता लगने पर भी बेहद लोग उसके साथ थे और उनकी बगावत का सख्त खतरा था।

मज़दक की मौत के बाद इस आन्दोलन को बड़ी बेदर्दी से दबाया गया। लेकिन इसका असर काफी बाद तक बना रहा। छठी सदी में बेथ लापात (जुन्देशापुर) नगर के इब्राहीम-बर-औज़मिहिर नामक पादरी का आन्दोलन, पाँचवी सदी के आखीर में मार ज़ुतरा नामक यहूदी की तहरीक, छठी सदी के बीच में खुसरो प्रथम के पुत्र अनोशगज़ाद (नोशज़ाद) की खूजिस्तान में क्रान्ति और इस्लामी दुनिया के खुर्रामिया और रावन्दिया आदि मत मज़दकी आन्दोलन की प्रेरणा से चले।

## भारत के गुप्त और राजपूत युग

तीसरी सदी में रोमन साम्राज्य के पतन और सासानी साम्राज्य के अभ्युदय से उत्तरी और पश्चिमी भारत में केन्द्रित कुषाण साम्राज्य गिरने लगा। भारतीय व्यापारी वर्ग पश्चिमी जगत् के बजाय पूर्वी एशिया की ओर झुकने लगा। इसमें सांस्कृतिक चेतना उभरी और सामूहिक हितों की अनुभूति पैदा हुई। इससे एक प्रकार की भारतीयता जागृत हुई जो कुषाण काल के सार्वभौम वातावरण से कुछ ज्यादा पैनी थी। धर्म और संस्कृति के सारे सूत्रों का ताना-बाना एक व्यापक सामंजस्य को जन्म देने लगा जिसमें लालित्य के साथ गाम्भीर्य और आध्यात्मिकता के साथ आमुष्मिकता का संयोग था। जीवन एक परिष्कृत किन्तु सुस्पष्ट योजना के अनुरूप चलने लगा और जगत् के समन्वयों को खोज कर आत्मसात् करने लगा। इसका प्रत्येक पक्ष संतुलित और संस्कृत हो गया और स्पष्ट परिकल्पनाओं में उपन्यस्त हो गया। इसमें वह प्रौढ़ता, व्यवस्था और नियमितता पैदा हुई जिसे 'क्लासीकल' कहते हैं। वाकाटक-गुप्त काल में यह प्रवृत्ति आगे बढ़ी।

चौथी सदी में गुप्त राजाओं ने कुषाण साम्राज्य के गिरते हुए प्रासाद को राष्ट्रीय

संस्कृति के सीमेण्ट से दृढ़ करने की चेष्टा की। उन्होंने इसके ढीले-पीले ढाँचे को एकता के चौखटे में बाँध कर मजबूत किया। उनकी शासन व्यवस्था में मौर्यों के केन्द्रीयकरण और कुषाणों की शिथिलता का सामंजस्य था। एक ओर इनकी नीति 'धरणिबन्ध' और 'प्रसभोद्धरण' की थी तो दूसरी ओर वे 'गृहण-मोक्ष', 'मध्यमविक्रम' और 'धर्मविजय' द्वारा स्थानीय शासकों को बनाये रखते थे। जो इलाका सीधे उनके शासन में था वह प्रान्त (देश), कमिश्नरी (भुक्ति) जिला (विषय), तहसील (वीथी) और ग्राम में विभक्त था। 'देश' के प्रशासक (गोप्ता) और 'भुक्ति' के आयुक्त (उपरिक) सीधे सम्राट् द्वारा नियुक्त होते थे, किन्तु 'उपरिक' जिलाधीश (विषयपति) की नियुक्ति करता था। ये सारे अफसर 'सिविल सर्विस' से लिये जाते थे जिसका नाम 'कुमारामात्य' था। जिले के स्तर पर जिलाधीश (विषयपति) एक जिला-समिति के सहयोग से काम करता था जिसमें नगरश्रेष्ठी, सार्थवाह, प्रथमकुलीक और प्रथमकायस्थ होते थे। जिन मातहत राजाओं को अपने-अपने इलाकों में शासन करने की अनुमति थी उनकी अपनी-अपनी व्यवस्थाएँ थीं। लेकिन उन्हें सम्राट् को सब कर देने पड़ते थे, उसकी आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था, उसे प्रणाम करने के लिए औपचारिक अवसरों पर राजधानी में आना पड़ता था, उसके हरम के लिए अपनी कन्याएँ भेजनी होती थीं और अपने इलाके के प्रशासन के लिए उससे लिखित पत्र लेना होता था जिस पर साम्राज्य के गरुड़ के चिह्न वाली मोहर लगी होती थी। इनके अलावा गुप्त प्रशासन में राजकुमारों को उच्च पदों पर लगाया जाता था और अक्सर सरकारी अफसरों के पद पैतृक थे। फिर गुप्त राजा और उनके जमाने के लोग धार्मिक और शैक्षणिक उद्देश्य से मन्दिरों के नाम जमीन-जायदादें कर देते थे या ब्राह्मणों को लगान वसूल करने का हक दे देते थे। इन मातहत राजाओं, राजकुमारों, पैतृक अफसरों और लगान वसूल करने का हक रखने वाले धार्मिक वर्ग के लोगों ने बाद में प्रशासन में ढीलापन पैदा कर दिया जिससे साम्राज्य की ताकत कमजोर हो गयी। पाँचवी सदी के आखीर और छठी सदी के शुरू में हूणों के हमलों ने इस बढ़ती हुई उच्छृंखलता को अराजकता का रूप दे दिया।

हूणों के साथ ही या इससे कुछ बाद मध्य एशिया से बहुत सी जातियों के लोग देश में आने लगे। सातवीं सदी में उनमें से कुछ ने अपनी अलग रियासतें कायम कर लीं। उनमें गूर्जर, चालुक्य, कलचुरी आदि उल्लेखनीय हैं। आठवीं सदी में मुसलिम अरबों का आतंक बढ़ा। सिन्ध और मुलतान को जीतने के बाद वे राजस्थान और गुजरात पर धावे करने लगे। अपनी रक्षा के लिए वहाँ के लोगों ने संगठन किया। जैसे दरबान (प्रतीहारी) द्वार पर बाहर से आने वालों को रोकता है ऐसे ही इन लोगों ने अरबों को राजस्थान की सीमाओं पर कई सदियों तक रोक रखा। इससे इनका नाम प्रतीहार पड़ा। जैसे ही इनका

संगठन मजबूत हुआ और इनकी ताकत बढ़ी, इन्होंने भारत के बहुत बड़े भाग पर अपना राज्य कायम किया। उनके साथ अनेक स्थानों के लोग ऊपर उठे। इनमें चन्देल, गुहिल आदि प्रमुख थे। दक्षिण में राष्ट्रकूट कहलाने वाले देशी लोग सामने आये और पूर्व में गड़बड़ से बचने के लिए लोगों ने गोपाल नाम के शूद्र को अपना राजा चुना जो पालवंश का प्रवर्तक बना। दसवीं सदी तक ये राजवंश आपसी झगड़ों से थक कर चूर हो गये। मुहम्मद गज़नवी के हमलों ने इनके गिरते हुए घरौंदों को धक्का लगाया। इससे और नये राजवंश उभरे और आपस में टकराने लगे। तेरहवीं सदी के शुरू में तुर्क मुसलमानों ने दिल्ली में अपनी सल्तनत कायम कर धीरे-धीरे इनका सफाया करना शुरू किया।

छठी सदी के बाद भारत में देशी-विदेशी लोगों का बड़ा मिश्रण हुआ। एक जाति के लोग दूसरी में घुलमिल गये। उदाहरण के लिए गूर्जरों (गूजरों) को लेते हैं। ये लोग चीनी वृत्तों में 'वू-सुन' कहलाते हैं। इस शब्द का प्राचीन उच्चारण 'गूसुर' या 'गूजुर' जैसा था। इसका अर्थ 'कौवे का पोता' है। मध्य एशिया के बहुत से लोगों में यह कहावत है कि एक बार जब उनके पुरखे पर मुसीबत आयी तो किसी कौवे ने उसे खाने के लिए मांस लाकर दिया और तबसे वे 'कौवे के पोते' कहलाने लगे। वू-सुन (गूजुर) लोग इली नदी की घाटी में रहते थे। वहाँ से दूसरी सदी ई० पू० में यू-ची के प्रसार के कारण इनका फैलाव शुरू हुआ और ये पश्चिम की ओर बढ़ते हुए कोह काफ के नीचे काले सागर और केस्पीयन सागर के बीच के उस इलाके में बस गये जिसे फारसी में 'गुर्जिस्तान', अरबी में 'जुर्जिस्तान' रूसी में 'गुर्जरस्काया' और अंग्रेजी में 'जोर्जिया' कहते हैं। तीसरी सदी ई० में इनके उत्तर-पश्चिमी भारतीय सीमा पर आने का भी उल्लेख मिलता है। एबटाबाद में मिले एक अभिलेख में 'गशूर' जाति के एक व्यक्ति शाफार का ज़िक्र है। स्पष्टतः वह गूर्जर था। किन्तु ये लोग गौण ही रहे क्योंकि किसी ग्रन्थ में उनका उल्लेख नहीं मिलता। छठी सदी में उनका विशेष प्रसार शुरू हुआ। इस सदी के आखीर और सातवीं के शुरू में इनकी एक शाखा सीसतान और मकरान होती हुई राजस्थान के भिनमाल के इलाके में बस गयी और दूसरी अफगानिस्तान के रास्ते से पंजाब और कश्मीर में आयी। धीरे-धीरे इन्होंने शक, सुघ्दी, हूण आदि जातियों में घुलना-मिलना और उनको आत्मसात् करना शुरू कर दिया। आजकल गूजरों के शक, तुखरिया, ठाकरिया, कसाणे आदि गोत्र शक-कुषाणों की याद दिलाते हैं, तो चावडा, जावडा, जबल आदि हूणों की जौल शाखा के सूचक हैं और सोलंकी चौलुक्य उनके साथ इन लोगों के मिलने का साक्ष्य देते हैं। यही नहीं उनमें तवँर (तोमर) और चौहान (चाहमान) गोत्र भी मिलते हैं। भिनमाल में, जिसे उनके निवास के कारण 'गूर्जरत्रा' कहने लगे थे, स्थानीय लोगों से उनका तालमेल हुआ। फलतः वहाँ के प्रतीहार राजा, जिनमें ब्राह्मण और क्षत्रिय सब शामिल थे, गूर्जर

कहलाने लगे। इस प्रकार इन लोगों में अनेक जातीय तत्त्व शामिल हो गये। इसी तरह और लोगों का भी मिश्रण हुआ। इस प्रक्रिया से जो लोग सामने आये उन्हें राजपूत (राज पुत्र) कहते हैं।

मध्य काल में 'राजपुत्र', 'राजपूत', 'राउत्त' शब्द 'क्षत्रिय' का पर्याय था, लेकिन इससे मिली-जुली जातियों (वर्ण संकर) का बोध होता था जैसा कि 'पराशर पद्धति' आदि ग्रन्थों से जाहिर है। कश्मीर के इतिहासकार कल्हण की 'राजतरंगिणी' (७।३६०) में इस शब्द को जमींदार के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, परन्तु इससे निकले मराठी का 'राउत' और गुजराती का 'रावत' शब्द 'सैनिक घुड़सवार' के अर्थ में आते हैं। असल में इस शब्द में इन सभी अर्थों की व्यंजना है। 'राजपुत्र' (राजपूत) जातीय सम्मिश्रण या वर्ण संकर से उत्पन्न उन लोगों को कहते हैं जो सैनिक का काम करते और घुड़सवार होते और अपनी शक्ति और व्यवसाय के कारण जमीनें हथिया कर जमींदार बन जाते। चूँकि ये लोग प्राचीन राजवंशों या अभिजात वर्गों से घटिया थे और पुराने साहित्य में या इति-वृत्तों में इनका कहीं नाम तक नहीं मिलता, इसलिए इन्होंने अपना दर्जा बढ़ाने के लिए ऊल-जलूल वंशावलियों की कल्पना कर अपना नाता सूर्यवंश और चन्द्रवंश से जोड़ना शुरू किया। इसी प्रवृत्ति से अग्निकुल के आख्यान का जन्म हुआ जिसके अनुसार पवार (परमार), परिहार (प्रतीहार), चौहान (चाहमान) और सोलंकी (चौलुक्य) दक्षिणी राजस्थान के सिरोही राज्य में स्थित आबू पर्वत पर वसिष्ठ द्वारा विश्वामित्र से अपनी गाय छुड़ाने के लिए किये गये यज्ञ से उत्पन्न हुए। किन्तु केवल ग्यारहवीं सदी के परमार लेखों में इसका जिक्र मिलता है। उसी सदी के उत्तरार्द्ध में महाराष्ट्र के नन्देड़ जिले के होत्तल नामक स्थान से प्राप्त कल्याण के चौलुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम या द्वितीय के मातहत्त एक स्थानीय सरदारों के वंश को 'अग्निकुल' या 'वह्निकुल' कहा गया है और यह बताया गया है कि कैलास पर्वत पर ऋषि अगस्त्य द्वारा अपनी गाय छुड़ाने के लिए किये गये यज्ञ से इसके प्रवर्तक की उत्पत्ति हुई। दक्षिण भारत में तमिलनाडू के चोलकालीन इडंगाई (वामपन्थी) लोग भी वलंगाई (दक्षिणपन्थी) लोगों से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अपने को कश्यप ऋषि के यज्ञ से उत्पन्न 'अग्निकुल' मानते थे, जैसा कि कुलोत्तुङ्ग तृतीय के अभिलेखों से जाहिर है। लगता है कि छोटे-मोटे मामूली लोग अपने को बड़ा बताने के लिए ऋषियों द्वारा किये गये यज्ञों से उत्पन्न घोषित करने लगे थे। प्रायः यह देखने में आता है कि जब कोई छोटे दर्जे के लोग या बाहर से आये हुए आदमी सहसा ऊपर उठते हैं तो वे अपने ऊपर संस्कृति का मुलम्मा चढ़ाने के लिए उसकी रूढ़ियों और परम्पराओं से चिपक जाते हैं। इससे एक ओर तो उनमें जड़ता और कट्टरता आ जाती है और दूसरी ओर वह संस्कृति स्तब्ध और स्थगित हो जाती है। इससे पुराणपन्थिता

और गतिरोध बढ़ते हैं। राजपूत काल में भी ऐसा ही हुआ।

उपर्युक्त सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए गुप्तकाल के समाज पर दृष्टि डालना जरूरी है। इस काल में नगरों में रहने वाला व्यापारी, साहुकार और धनपति वर्ग समृद्धि के शिखर पर था। दक्षिण-पूर्वी एशिया से समुद्री व्यापार द्वारा जो अपार धन-राशि खिंची आ रही थी उसने कला और साहित्य में, स्वर्ण की वर्षा की परिकल्पना को जन्म दिया (रघुवंश, ५।२६; महाभारत, १२।२६।२२-५; दिव्यावदान, कॉवेल का संस्करण, पृ० २१३-१४; हर्षचरित, निर्णय सागर संस्करण, पृ० १३४)। सोने-चाँदी की इतनी भरमार हो गयी कि लोग इसके मुकाबले में फूल-पत्ती को ज्यादा अच्छा समझने लगे (ईश्वरदत्त, धूर्तविटसंवाद, अग्रवाल और मोतीचन्द्र द्वारा सम्पादित चतुर्भाणी, पृ० ११६)। उनका दृष्टिकोण लौकिक, भौतिक और ऐहिक था। उन्हें परोक्ष के बजाय प्रत्यक्ष में रुचि थी, परलोक के मुकाबले में यह लोक पसन्द था, मुक्ति की जगह भुक्ति अच्छी लगती थी। उनके नगर सौन्दर्य, समृद्धि और सुरुचि के परिचायक थे। पाँचवीं सदी के एक ग्रन्थ श्यामिलक कृत 'पद्मप्राभृतकम्' के आधार पर उज्जैन का नक्शा इस तरह खींचा जा सकता है।

यह नगर शिप्रा नदी के किनारे पर बसा था। इसके चारों ओर गहरी खाई और ऊँचा परकोटा था जिसपर बराबर सफेदी होती थी। इसके बाजारों में कारीगरों के कारखाने और व्यापारियों की दुकानें थीं। वहाँ देश-विदेश की अनेक चीजें बिकती थीं और खरीदने-बेचने वालों में शक, यवन, तुखार से लगाकर चोल, चेर और पाण्ड्य तक के लोग थे। वहाँ के पुलिसमैन खश, खत्ती, चीन, हूण और अफ्रीका तक की भाषाएँ समझते थे। कोठियों, गोदामों और कारखानों के बीच-बीच में फूल बेचने वाले बैठते थे, भोजनालय और पानशालाएँ थीं जहाँ चषक पर चषक चलते थे। बाजारों में भी कबाब के खोम्चे लिये हुए लोग लम्बी सीखों से चीलों को उड़ाते रहते थे। मुख्य बाजार से एक गली फटती थी जिसमें सिर्फ फूल और माला बेचने वाले बैठते थे। उसमें से होकर एक चौराहे पर निकलते थे जहाँ पूर्णभद्र यक्ष का चबूतरा था। इसके एक किनारे पर भोजनालयों की पंक्ति थी। इसके बाएँ से एक गली वेश्याओं के महल्ले में जाती थी। वहाँ हाथी, घोड़ों और पालकियों के अलावा रिक्शाओं (कर्णीरथ) का ताँता बँधा रहता। सेठ, साहुकार, व्यापारी, कर्मचारी गणिकाओं के महलों की ऊँची ड्योढ़ियों में आते-जाते। वहाँ नाच-गाने का समा रहता, सुगन्धित चूर्ण हवा में उड़ते, चौराहे में कामदेव के मन्दिर में अजीब रौनक रहती। शहर का एक और महल्ला 'श्रेष्ठिंचत्वर' था जहाँ सेठ-साहुकारों के कई-कई तल्लों के मकान थे जिनके चित्रों से भरे सामने और खुदाई के काम से लदे छज्जे इन्द्र धनुष से सजे आकाश को चुनौती देते थे। इसके पास ही सर्राफा बाजार (सुवर्ण हट्टी)

थी जहाँ रकमों का लेन-देन चलता था। यह शहर का बीच था और सबसे सुरक्षित भाग माना जाता था। शहर पनाह के बाहर सेठ-साहुकारों के बाग-बगीचे और बारहदरियाँ (चित्रशाला) थीं। अक्सर पुराने बागों और फुलवारियों में लोग मुर्गे, मेंढे लड़ाते, कुश्ती-दंगल करते, गेंद खेलते, वीणा बजाते और नाच-गाने में मस्त रहते। वहाँ कवियों, कथा-कारों और मसखरों और गुण्डों, शोहदों और उचक्कों का भी जमघट रहता। 'दशकुमार चरित' (उत्तर पीठिका, १।१४) में श्रावस्ती के निकट बनियों की एक बस्ती में मुर्गों के युद्ध का विस्तृत वर्णन है।

उस युग का अभिजात और संस्कृत नागरिक सुबह उठकर दाँत साफ करता, मालिश और हजामत के बाद साबुन से नहाता, तेल,-फुलेल कर, सुगन्धित गजरे पहन और सुवासित पान खाकर काम पर जाता। वहाँ से लौटकर दोपहर को भोजन कर सो जाता, इसके बाद तोते-मैना की बात सुनता, चिड़ियों, मुर्गों और मेंढों के द्वन्द्व देखता और विट, विदूषक और मसखरों से बात करता। शाम को कपड़े पहन वह क्लब (गोष्ठी), तफरीह (यात्रा), उत्सव (समाज), पानमण्डली (आपानक) और बाग-बगीचे (उद्यान यात्रा) में जाता। सरस्वती के मन्दिर में हर महीने या पखवाड़े उत्सव और समाज होते जिनमें नट और नर्तक अपने करतब दिखाते। गोष्ठियाँ गणिकाओं के घर होतीं जिनमें कवितापाठ, समस्या-पूर्ति, भाषा-ज्ञान, पहेली-समाधान आदि के बौद्धिक विलास चलते। कुमारी कन्याएँ भी इनमें भाग लेतीं क्योंकि उनके विवाह के समय उनके गोष्ठी-चातुर्य पर विचार किया जाता। रात को गाने-बजाने के कार्यक्रम चलते और इसके बाद प्रेम-लीलाओं का समा बँधता। इस प्रकार दैनिक जीवन में व्यवसाय, विश्राम, मनोरंजन, रसिकता और रागा-त्मकता का सुन्दर समन्वय था।

शहरों के लोगों की अपनी-अपनी संस्थाएँ थी। कारीगर और दस्तकार अपने-अपने व्यवसायों के अनुसार श्रेणियों में संगठित थे तो सर्राफ, साहुकार और धनपति निगमों में बँटे थे और बनियों-बंजारों के साथ चलते थे। अक्सर निगम और सार्थ मिलकर अपने संगठन बनाते थे। कुछ संगठन काफी बड़े होते और इनके सदस्य काफी बड़े इलाके में फैले होते। निगम का अपना भवन और कार्यालय होता और उसके साथ गोदाम रहते। उसे अपने छोटे सिक्के चलाने का भी अधिकार था। उसके अध्यक्ष को नगरसेठ (नगर श्रेष्ठी) की उपाधि मिलती। वह जिला-समिति का सदस्य होता जो विषयपति के साथ मिलकर जिले के प्रशासन में भाग लेता। एक व्यक्ति जीवन भर इस पद पर रहता और उसके वंशज भी इसके अधिकारी होते। वह न्यायाधीश के साथ बैठकर मुकदमे भी तै करता।

गुप्त प्रशासन और नागरिक धनपति वर्ग में गहरी साठ-गाँठ थी। प्रशासनाधिकारी

उनका बहुत सम्मान करते (पौरांस्तथाभ्यर्च्य यथहिमानैः) (स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ का अभिलेख) और उनके आने-जाने पर कोई पाबन्दी नहीं लगाते थे। उन्हें अपने घरों और घरानों के पंजीकरण कराने की जरूरत नहीं थी। न उन्हें किसी अधिकारी की अदालत में जाना पड़ता था। वे अपना व्यवसाय आसानी से बदल सकते थे और उनपर कोई खास कर भी नहीं था। सिर्फ यातायात की मामूली सी चुंगी थी जो फा-श्यान जैसे प्रेक्षक की निगाह में नगण्य थी।

छठी सदी में इस धनपति वर्ग की स्थिति बदलने लगी। पाँचवी सदी तक राज्य के प्रायः सभी बड़े अफसरों को कोश से नकद तनख्वाह मिलती थी। किन्तु छठी सदी के शुरू में, कुछ अन्दरूनी गड़बड़ के कारण और कुछ बाहरी हमलों के फल के रूप में, जब कोश की हालत बिगड़ने लगी तो मातहत राजाओं को, जिन्हें 'सामन्त' कहने लगे थे, शासन के ऊँचे पद दिये जाने लगे। साथ ही शासनाधिकारियों को नकद तनख्वाह के बजाय जागीरें दी जाने लगीं यानी किसानों और जमीन के मालिकों से लगान आदि वसूल करने का हक दिया जाने लगा जिससे उनका दर्जा भी सामन्तों जैसा हो गया। ५०७ के गुनैधर के एक अभिलेख में महासामन्त विजयसेन के महाप्रतीहार, महापीलुपति, पाट्युपरिक आदि पदों पर काम करने का उल्लेख है। इससे मातहत राजाओं, जमींदारों और स्थानीय सरदारों का महत्त्व बढ़ गया। वे शासन पर छा गये। उन्होंने नगरों के धनपति वर्ग को दबाना शुरू किया। इसने उनसे अपने को बचाने के लिए राजाओं से अधिकार-पत्र लेने शुरू कर दिये। ५९२ का विष्णुषेण का पश्चिमी भारत से मिला 'आचारस्थितिपत्र' इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। इसमें और बातों के अलावा इस बात पर जोर दिया गया है कि सामन्त और उनके कर्मचारी दौरे के वक्त उनसे बिस्तर और भोजन की माँग नहीं कर सकेंगे और न उनके गाड़ी-बैल ले सकेंगे या उन्हें बुवाई के वक्त बेगार के लिए मजबूर कर सकेंगे। इस तरह जमींदारों का महत्त्व बढ़ जाने से शहर के लोगों ने उद्योग-व्यापार से अपना रुपया निकाल कर जमीनों की खरीदारी में लगाना शुरू कर दिया। अंग्रेजी राज में बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त के बाद उन्नीसवीं सदी के शुरू में भी ऐसा ही हुआ। इससे धनपति वर्ग जमींदार वर्ग में शामिल हो गया। सातवीं सदी में इन लोगों को अपनी रक्षा के लिए सैनिक संगठन करना पड़ा। अतः जमींदार और सैनिक वर्ग एक हो गये। बारहवीं सदी तक देश पर इनका प्रभुत्व रहा।

सातवीं सदी से यह स्थिति चली कि जो 'सामन्त' जमींदार, जागीरदार था वह सैनिक सरदार, प्रशासनाधिकारी और शक्ति-सम्पन्न सम्मानित व्यक्ति भी था। किसी न किसी रूप में भूमि सम्बन्धी अधिकार प्राप्त कर लेने पर लोगों के लिए प्रशासनिक और सैनिक जीवन का मार्ग खुल जाता था और रियासतें और राजवंश कायम करने का मौका मिल

जाता था। इससे हर वर्ग और व्यवसाय के लोग जमींदार होते जा रहे थे। हाल ही में बिहार से प्राप्त ११७५ ई० के मेरा-विष्णु-मन्दिर—अभिलेख से पता चलता है कि कौण्डिन्य गोत्र के एक ब्राह्मण लोकानन्द ने सैनिक वृत्ति अपनायी, कई लड़ाइयाँ जीतीं और राजा द्वारा सम्मान प्राप्त किया। उसके पास काफी जायदाद हो गयी। उसके लड़के जनानन्द ने एक बड़ा शिव-मन्दिर बनवाया और वहाँ मुफ्त भोजन बाँटने का प्रबन्ध किया। उसके तीन लड़के थे जिनमें से सब से छोटे हरिधर्म ने विद्वत्ता और सैनिक गुणों में ख्याति पायी और एक शिव-मन्दिर और एक विष्णु-मन्दिर बनाकर वसुधारा नाम का गाँव इसके नाम किया। इसी तरह आनन्दपुर (वाडनगर) के नागर ब्राह्मण परिवार के एक व्यक्ति ने राजस्थान के प्रसिद्ध गुहिल वंश की नींव रखी। इस वंश की नागडा-आहार शाखा के प्रवर्तक बप्प ने 'ब्राह्म' के बजाय 'क्षात्र' धर्म को अपनाया जैसा कि १२८५ के आबू के अभिलेख में लिखा है। राजस्थान के ही एक और ब्राह्मण हरिश्चन्द्र ने एक क्षत्रिय और एक ब्राह्मण स्त्री से विवाह कर क्षत्रिय प्रतीहार और ब्राह्मण प्रतीहार राजवंशों की स्थापना की।

ब्राह्मण ही जमींदारी, सैनिक और शासनाधिकारी के कामों की ओर नहीं झुके, वैश्य, वणिक् और व्यापारी भी इस ओर प्रवृत्त हुए। बिहार के हजारीबाग़ जिले से प्राप्त एक लेख से पता चलता है कि भ्रमरशालमली, नभूतिषण्डक, और चिंगला गाँवों के किसान जब राजा आदिसिंह को समय पर 'लाग' नहीं दे सके तो उन्होंने उदयभान, श्रीधौतभान और अजितभान नाम के व्यापारियों से, जो ताम्रलिप्ति से अयोध्या जा रहे थे, प्रार्थना की कि वे उनकी ओर से राजा को यह 'लाग' दे दें। उनमें से अजितभान इस काम के लिए तैयार हो गया। राजा भी इस बात को मान गया। अतः उसने अजितभान को यह हक दे दिया कि वह 'लाग' अदा करके, किसानों से उसे बाद में वसूल कर सके। उसका दर्जा 'राजा' का हो गया। उसने यह अधिकार अपने भाई को सौंप दिया। वह 'उपराजा' कहलाने लगा। इस तरह वैश्य-व्यापारियों का यह परिवार जमींदार राजा और उपराजाओं का वंश बन गया।

इस तरह समाज के सभी वर्ग जमींदारी और सैनिक वृत्ति की ओर प्रवृत्त होने लगे। पन्द्रहवीं सदी के ग्रन्थ 'लेखपद्धति' से पता चलता है कि इनकी राजा, महामात्य, राणक, राजपुत्र, वणिक् आदि कई श्रेणियाँ बन गयीं। ये एक दूसरे के ऊपर थे और इनके नाम जमीनों के पट्टे थे जिनके आधार पर ये लगान वसूल करते, फौज रखते और अपने स्वामी की सेवा करते थे। पण्डित, पुरोहित, साधु, सन्त, ज्योतिषी भी इन्हीं की तरह पट्टेदार हो गये थे। इन लोगों में स्थानीयता का भाव गहरा था। ये अपनी-अपनी जमीन-जायदादों और कुल-क़बीलों को ही सब कुछ समझते थे। उनके लिए ये बड़े से बड़े अपराध

को भी कुछ नहीं समझते थे। वे ज़रा-ज़रा सी बातों पर भड़क जाते, उनपर युद्ध का नशा छा जाता और उनके गढ़-गढ़इयों से चमकते सवारों की पंक्तियाँ बिजली की तरह कौंध कर एक दूसरे से भिड़ जातीं। रिश्ता-नाता, शादी-विवाह, प्रेम-विरह, तीज-त्यौहार, खेल-तमाशा कुछ भी बिना लड़ाई-भिड़ाई और खून खराबे के न होता। या तो ये लोग हरमों के मज़े लूटते और महफिलों की रंग-रलियों में मस्त रहते, या ताक़त के नशे में चूर होकर मरने-मारने पर उतारू रहते और ज़िद और अड़ के लिए जान की बाजी लगाना हँसी-खेल समझते, या इच्छाओं की पूर्ति के लिए तान्त्रिकों, सिद्धों और सहजमार्गियों की घोर साधनाओं का प्रबन्ध करते और उनमें सहयोग देते। इनमें शान-शौकत, रोब-दबदबा, तड़क-भड़क, तेजी-फुर्ती तो पूरी थी लेकिन साथ ही तंगदिली, खुदग़र्ज़ी, छीना-झपटी और बदले की भावना भी हद से ज्यादा थी। इसमें शक नहीं कि वे हारे हुए शत्रु के प्रति उदार थे, शरण में आये हुए लोगों की जी-जान से रक्षा करते थे, ब्राह्मणों और स्त्रियों का आदर करते थे, लेकिन यह भी सच है कि वे दूर की बात नहीं सोच सकते थे, सही बात कहने वालों के गले पड़ जाते थे और किसी संगठन या व्यवस्था को बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रख सकते थे। इसीलिए इस ज़माने में राजनीतिक स्थिरता या एकता का अभाव रहा।

उपर्युक्त सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप किसानों की हालत बिगड़ती गयी। हम कह आये हैं कि शक-कुषाण काल में किसान को भूमि का मालिक मान लिया गया था और उससे लाग-बेगार ('विष्टि' तमिल 'आल अमंजी') और कर-प्रणय (जबरन वसूल किये जाने वाले चन्दे) लेना अच्छा नहीं समझा जाता था। भूमि की उपज का छठा हिस्सा (षड्भाग) सरकारी लगान था। यह नक़द (हिरण्य) या जिन्स (धान्य) की शक्ल में लिया जाता था। पश्चिमी भारत के कुछ इलाक़ों में इसे निश्चित समय के लिए तै कर दिया जाता था। इसके अलावा एक और प्रकार का कर किसान से लिया जाता था, इसे 'बलि' कहते थे। बाद में इसे 'भाग' में मिला दिया गया और इसकी जगह 'उपरिकर' लगा दिया गया। इसके अलावा शान्ति और सुरक्षा को क़ायम रखने के लिए 'उद्रंग' नामक कर लगाया जाने लगा। मध्य-भारत में हलों पर भी कर लगाया गया जिसे 'हलिराकर' कहते थे। आँधी-तूफान-सैलाब की आफतों से बचने के लिए, भूत-प्रेत को खुश करने के लिए जो चन्दे जबरन वसूल किये जाते थे उन्हें 'वात-भूत' कहते थे।

जैसे-जैसे समय बीतता गया, लोग उद्योग-व्यापार से रुपया खींच कर ज़मींदारियों में लगाने लगे, किसानों का बोझ बढ़ने लगा। इसलिए राजपूत-काल में हमें अनेक नये कर मिलते हैं। प्रतीहार राज्य में खलिहान पर ही लगान के अलावा फसल का हिस्सा माँगने का रिवाज चल पड़ा। इसे 'खलभिक्षा' कहते थे। इसके अलावा एक कर 'मार्गणक' था जो शायद 'प्रणय' का पर्याय हो। लोगों से बेगार (विष्टि) और कन्धी

(स्कन्धक) बराबर ली जाती थी। गाहडवालों ने तुर्क मुसलमानों के हमलों को रोकने के लिए 'तुरुष्कदण्ड' नामक विशेष कर लगाया। इसके अतिरिक्त उनके राज्य में हल-कर (कूटक), सिंचाई (जलकर), चराई (गोकर), पशुकर (वलदी), नमक पर कर (लवण-कर), पान-पत्तों पर कर (पर्णकर), आमदनी का दसवाँ हिस्सा (दशबन्ध आजकल का 'दसौंध'), कपड़ा-कम्बल (यमलीकाम्बली) और पटवारी, प्रतीहार आदि की पराँते (अक्षपटलप्रस्थ, प्रतीहारप्रस्थ) आदि लगाये गये। कलचुरी राज्य में चराई (चरी), शराब खींचने का कर (रसवती), मुखिया की लाग (पट्टकिलादाम) आदि का उल्लेख मिलता है। परमार राजाओं ने 'आकाश' और 'पाताल' की पैदावार तक पर कर लगाया और औपचारिक अवसरों पर नज़राने (कल्याणधन) लेने शुरू किये। चौहानों ने किसानों के जिम्मे अफसरों की वृत्तियाँ लगायीं जैसे 'तलाराभाव्य', 'सेलहथाभाव्य' और 'बलाधि-पाभाव्य'। गुजरात के चौलुक्यों ने 'मार्गणक' के अलावा एक 'अभिनवमार्गणक' जारी किया और लगान (भोग) के साथ लकड़ी, फल आदि की लाग (दानी) को जोड़ कर 'दानीभोग' कर दिया और उड़ीसा में हाथी, बैल, हल, साँप आदि रखने पर 'हस्तिदण्ड', 'वरबलीवर्द', 'हलदण्ड' और 'आहिदण्ड' लगाये गये और राजा की भेंट-पूजा ('वन्दापना', 'विजयवन्दापना') को अलग से जारी किया गया। इस तरह किसान करों के भार से दब गये।

लगान और करों के अलावा किसानों को और जो लाग-दण्ड देने पड़ते थे उनकी कोई हद नहीं थी। सरकारी पुलिस (चाटभट), दौरा करते हुए (चार) सामन्त, दूत, अमात्य और अन्य अफसरों के लिए उन्हें दूध, दही, घी, मट्ठा, साग, सब्जी, फूल, फल, आटा, दाल (सिद्धान्न), कांजी (कोञ्जल्ल), गुड़, राब (गुड़क्षोभ), ताड़ी (क्लिण्व) करवे (कूर), चूल्हा, ईंधन, खाट, खटोला, पीढ़ा, रज़ाई (रोच्चिका), चटाई (चिटोला), घास, भुस, बैल, आदि देने पड़ते थे। वे बिना सरकार या ज़मींदार की इजाजत के सुपारी और नारियल के पेड़ नहीं लगा सकते थे। कुछ किस्म के पेड़ जैसे आम, महुआ, कटहल, ताड़, सीसम, इमली पर उनका हक़ नहीं था। ज़मीन के नीचे दबे दफीने और खज़ाने सरकारी थे चाहे उन्हें किसी ने क़ीमत देकर खरीद भी लिया हो। हाथीदाँत, शेर की खाल और वन्य पशु भी सरकारी सम्पत्ति थे। यदि किसी के कोई पुत्र न हो तो उसके मरने पर उसकी ज़मीन पर सरकार का कब्जा हो जाता था। कर्ज़ा अदा न करने पर भी ज़मीन ज़ब्त की जा सकती थी। दस अपराधों के लिए जागीरदार किसान को दण्ड दे सकता था। किसी भी वक्त किसान को, बुवाई-कटाई तक के समय भी बेगार के लिए पकड़ लिया जा सकता था। हर अफ़सर, अधिकारी, मुखिया और पटवारी की लाग और नज़राने बँधे थे। जब कहीं फौज चलती तो देहात की तबाही मच जाती। इसलिए

किसान परेशान होकर अक्सर राजा को कोसते। 'हर्षचरित' में लिखा है कि हर्ष की फ़ौज के कूच के समय देहाती लोग हाथियों के महावतों पर ढेले फेंकते थे और जान पर खेल कर खुलेआम कह रहे थे, "कौन राजा, किसका राजा, कैसा राजा" (क्व राजा, कुतो राजा, कीदृशो वा राजा) (हर्षचरित, निर्णयसागर संस्करण, पृ० २१२)। यही नहीं, कभी-कभी वे विद्रोह ओर क्रान्ति पर भी उतर आते थे जिसका एक उदाहरण तिब्बती इतिहासकार बुस्तोन ने बौद्ध विद्वान शान्तिदेव के जीवनचरित में दिया है। किन्तु ऐसे अवसर कम आते थे क्योंकि भारतीय जनता स्वभाव से सन्तोषी और सहिष्णु थी।

यद्यपि लोग इस काल की जमींदारी-पद्धति और सामन्त-व्यवस्था को 'फ्यूडल' समझ बैठते हैं, तथापि योरोपियन फ्यूडल-व्यवस्था और इस विधान में काफी फ़र्क़ था। योरोप में लोगों ने खुद अपनीं खेती-बारी सैनिक सरदारों के सामने पेश कर उन्हें फिर से उपहार या बख्शीश के रूप में लिया था और इस प्रकार अपने-आपको उनका परिचारक बना लिया था। अतः सैद्धान्तिक रूप से भूमि सरदार की सम्पत्ति थी और किसान उसपर उसके परिचारक की हैसियत से काम करता था। इसलिए उसके मरने पर उसके लड़के को दक्षिणा-भेंट देकर ही ज़मीन को लेने का हक़ था। यह स्वामी-परिचारक का सम्बन्ध राजा से शुरू होकर अनेक श्रेणियों में से गुज़रता हुआ किसान तक पहुँचता था और इसकी हर श्रेणी में वैयक्तिक भक्ति के सम्वन्ध सम्पत्ति की बख्शीश के सम्बन्ध के साथ-घुलेमिले होते थे। भारत में कभी ऐसा नहीं हुआ। यहाँ किसान हमेशा, कम से कम ईसवी सन् के बाद, अपनी ज़मीन का पूरी तरह मालिक था। उसके स्वामित्व को भूमिच्छिद्र-न्याय कहते थे। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि आठवीं सदी के क़ार्कोट राजा चन्द्रापीड ने एक चमार तक की भूमि पर कब्ज़ा करने का साहस नहीं किया और उसे उसके मालिक की कही हुई क़ीमत देकर ही खरीदा। 'व्यवहारमयूख' का कहना है कि राजा सब भूमि का स्वामी नहीं है उसे केवल इसके मालिकों से कर वसूल करने का अधिकार है। मेधातिथि ने 'मनुस्मृति' की टीका में लिखा है कि शूद्र को अपने व्यक्तित्व और सम्पत्ति के विषय में पूरी स्वतन्त्रता का अधिकार है, उसे दास की तरह खरीदा या गिरवी रखा नहीं जा सकता। इसमें शक नहीं कि इस युग में दास भी थे। 'दशकुमारचरित' (उत्तरपीठिका, ६।३९) में नौकर-नौकरानी को घरेलू काम के लिए खरीदने का उल्लेख है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि सारे शूद्र या किसान दास थे। न कोई ऐसा उल्लेख है कि किसान के लड़के को शुल्क देकर उसकी ज़मीन को उसके मरने के बाद जोतने का अधिकार मिलता था। न उसके और ज़मीन्दार या जागीरदार के बीच किसी वैयक्तिक मुहादे का साक्ष्य मिलता है। राजा से जागीर लेते समय या ज़मींदारी खरीदते समय कोई आदमी सिर्फ़ उन्हीं अधिकारों को प्राप्त

करता था जो क़ानून या परम्परा से उसे हासिल थे। जिन ब्राह्मणों को जागीरें मिलती थीं वे किसी तरह राजा के मातहत या परिचारक नहीं माने जाते थे। बाण ने 'हर्ष-चरित' में ब्राह्मणों के गाँव प्रीतिकूट का जो वर्णन किया है उससे जाहिर होता है कि वहाँ के लोग अपने-अपने घरों पर पढ़ने-पढ़ाने का स्वतन्त्र जीवन बिताते थे।

इस युग में सामाजिक उथल-पुथल के साथ धार्मिक तबदीली भी काफी हुई। गुप्तकाल में पुराणों का समन्वय-प्रधान धर्म जोरों पर था। इसके बाद बाहर से आये हुए लोग या छोटे वर्गों के देशी लोग ऊपर उठे। इन्होंने ऊँची संस्कृति का चोला पहनने के लिए तथाकथित वर्णाश्रम धर्म को सहारा दिया और ब्राह्मणों, विद्वानों, लेखकों और कवियों के अधिकारों को दृढ़ किया। अतः समाज का ढाँचा सख़्त हुआ, जाति-पाँति के शिकंजे में मज़बूती आयी, अन्तर्जातीय सम्बन्ध बन्द हुआ। किन्तु साथ ही साधारण जनता में ऋद्धि-सिद्धि, मन्त्र-तन्त्र, टोने-टोटके और करामात-करिश्मों का बोलबाला था। इनकी साधना करने वाले योगी, तान्त्रिक और सिद्ध ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड के खिलाफ थे। अतः वे अनायास ही उन सामाजिक आन्दोलनों के नेता बन गये जो वर्णों और वर्गों के विरुद्ध थे। ८४ सिद्ध, ६ नाथ, वज्रयानी, सहजयानी, कौलमार्गी आदि शास्त्रों के बन्धनों और जाति-पाँति की परम्परा के विरोधी बन एक व्यापक सामाजिक विद्रोह के वाहन बन गये। इस विरोध और विद्रोह के वातावरण में दक्षिण से वेदान्त और भक्ति का ज्वार उमड़ कर उत्तरी भारत में फैलने लगा—शंकराचार्य (७८८-८२०) और रामानुजाचार्य (१०१६-११३७) ने दक्षिण से चलकर उत्तरी भारत की यात्रा की और उसकी गन्दगी को बहाकर उसे शुद्ध करने का प्रयत्न किया। फलतः वेदान्तपरक भक्ति भारतीय जीवन का मूलमन्त्र बन गयी।

गुप्तकाल साहित्य और कला का स्वर्णयुग है और इसका शिखर कालिदास है। उसने वस्तुओं के 'यथाप्रदेश विनिवेश' को सौन्दर्य बताया (कुमारसम्भव, १।४९)। जब प्रकृति में व्याप्त समन्वय को मन में समेट कर कलाकार उसकी नयी परिकल्पना या परिभाषा करता है और उसे नये रूपों में उतारता और उभारता है तो वह सौन्दर्य की सृष्टि करता है। इस समन्वय, समाधि और सौन्दर्य के एकीकरण से भारत में रस और ध्वनि का सिद्धान्त चालू हुआ जिसे हम भारतीय साहित्य और कला की कुंजी कह सकते हैं। कालिदास ने 'कुमारसम्भव' और 'रघुवंश' शीर्षक अपने काव्यों में एक आदर्श जीवन-व्यवस्था का चित्रण किया है जिसकी सुस्पष्ट मर्यादाएँ मानवीय गौरव को निखारती हैं और लालित्य प्रदान करती हैं। उसके नाटकों, 'अभिज्ञान-शाकुन्तल', 'विक्रमोर्वशीय' और 'मालविकाग्निमित्र' में मानव-भावनाओं के कोमल पक्षों का सूक्ष्म निरीक्षण मिलता है और 'मेघदूत' में मनुष्य और प्रकृति के सामंजस्य

की कथा है। कालिदास की परम्परा को एक ओर भारवि, भट्टि, कुमारदास, माघ और श्रीहर्ष ने 'किरातार्जुनीय', 'भट्टिकाव्य', 'जानकीहरण' 'शिशुपालवध' और 'नैषधीय' में जीवित रखा और दूसरी ओर हर्ष, भवभूति, मुरारि और भट्टनारायण आदि ने अपने नाटकों द्वारा बनाये रखा लेकिन इन बाद की कृतियों में शब्दाडम्बर, आलंकारिकता और रूढ़ वर्णनों ने भावों को दबा दिया है। इसी तरह गद्य में दण्डी 'दशकुमार चरित' और 'अवन्तिसुन्दरीकथा' में जो भी सजीवता है वह सुबन्धु की 'वासवदत्ता', बाणभट्ट की 'कादम्बरी' और धनपाल की 'तिलक मंजरी' में शब्दजाल में उलझ गयी है। 'हर्षचरित' ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के कारण कुछ रोचक है लेकिन उसमें भी कथाप्रवाह बहुत धीमा है। इस सारे साहित्य में इतनी बनावट और दिखावट नज़र आती है कि जीवन की असलियत का कहीं पता नहीं चलता। यह इसी तरह की चीज़ मालूम होती है जैसी हर्ष के भरे दरबार में रमणी के कपोल पर की गयी रूढ़ चित्रकला। जैनियों ने ज़रूर प्राकृत में 'समराइच्चकहा', 'कुवलयमालाकथा', 'भविसयत्तकहा' आदि लोककथाएँ लिखकर उनके माध्यम से धर्मप्रचार किया किन्तु इनमें, लोकजीवन की सुन्दर झाँकियाँ होने पर भी, घिसा-पिटा कर्मफल का मतवाद और साधुसेवा का महत्त्व इतना ठूसा गया है कि पढ़ने वाले का जी ऊबने लगता है।

गुप्त काल अपनी कला के लिए प्रसिद्ध है। इसमें शातवाहन-काल की अमरावती-कला का सौष्ठव कुषाण-काल की मथुरा-कला की ऐन्द्रिकता के साथ मिलकर एक विचित्र आध्यात्मिकता और लालित्य में परिणत हो गया है। इसकी स्वतन्त्र शैली और विधि है जिसमें फूलों के विकास की गति और पशुओं के शरीर के मोड़-तोड़ से मानव शरीर के आयाम और भंगियाँ ली गयी हैं। इस काल की मूर्तियों का चेहरा अण्डाकार है, बालों और भौं के बीच का मस्तक खिंचे हुए धनुष की तरह है, भ्रू-लता भी धनुष या नीम की पत्ती जैसी है और आँख, नाक आदि प्रकृति के अन्य रूपों के समान हैं। शरीर की आकृति त्रिभंग है—इसमें स्त्री का शिर दक्षिण की ओर झुका हुआ है, धड़ बाएँ को झुकता है और टाँगें फिर दक्षिण की ओर हो गयी हैं; पुरुष के शरीर का झुकाव इससे उलटा है। इन मूर्तियों में अंगों की कोमलता, भावों की सुकुमारता और आत्मा की गहनता ने मिलकर एक दिव्य वातावरण की सृष्टि की है जिसमें जीवन और जगत् का गहरा समन्वय हो गया है। सुरुचि, संस्कृति, सजीवता, सौम्यता शालीनता, प्राकृतिकता और आध्यात्मिकता इसके विशेष गुण हैं। सारनाथ की बैठी हुई बुद्ध मूर्ति, मथुरा की खड़ी हुई बुद्ध-प्रतिमा और सुल्तानगंज की ताँबे की मूर्ति और शिव और विष्णु की अनेक मूर्तियाँ इस कला के अमर निदर्शन हैं। अजन्ता के चित्र, ख़ास तौर से दसवीं गुफा के खम्भों और सोलहवीं-सत्रहवीं गुफाओं के चित्रों में और फिर १ से ५ तक और २१ से २६ तक

की गुफाओं में जीवन का ज्वार अपने असंख्य रूप और अपनी असीम सुषमा लिये रेखा और रंग के माध्यम से उमड़ता-सा दीखता है। यहाँ साँची की प्राकृतिकता, यौवन की ताजगी और बौद्ध धर्म के सौमनस्य के साथ मिल गयी है। किन्तु राजपूत-काल में यह कला आलंकारिकता के घटाटोप में ढँक गयी है। चौलुक्य (५५०-७५७) और राष्ट्रकूट (७५७-९७३) के शिखरहीन मण्डपों के कंगूरेदार पिरामिड, पल्लव-काल के 'रथ', ओडीसा के मन्दिरों के 'शिखर' और 'आमलक' और 'कलश' और चोल-काल के 'गोपुर' और 'विमान' भव्यता और विशालता के अलावा आलंकारिकता से आक्रान्त हैं। उनकी मूर्तियों में सौष्ठव और गाम्भीर्य है लेकिन उनकी संख्या इतनी ज्यादा हो गयी है कि कभी-कभी सर चकराने लगता है। खजुराहो में तो ऐसा लगता है कि जैसे किसी मूर्ति बनाने की फैक्ट्री से धड़ाधड़ निश्चित नमूनों की चीज़ें निकल रही हों। हाँ, चोल काल की काँसे की नटराज शिव की मूर्तियाँ कला की उच्चतम उपलब्धियों में गिनी जा सकती हैं।

## दक्षिण-पूर्वी एशिया का भारत-प्रभावित राज्यों का युग

ईसवी सन् के आरम्भ के भारत के प्रायः सभी भागों के लोग व्यापार, यात्रा, देशाटन और धनोपार्जन के लिए दक्षिण-पूर्वी एशिया की ओर पिल पड़े। उस समय रोमन जगत् में एशियाई वस्तुओं, ख़ास तौर से गर्म मसालों, की माँग बढ़ रही थी। काली मिर्च का एक नाम 'यवनप्रिय' चल पड़ा था। ये चीज़ें दक्षिण-पूर्वी एशिया में कसरत से पैदा होती हैं। इसलिए इनके व्यापार से धन कमाने के लिए सौदागरों के समूह समुद्र पार कर दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपों और प्रायद्वीपों में जाया करते थे। बाद में यह कहावत चल पड़ी थी कि समुद्रयात्रा से लक्ष्मी खिंच आती है (अब्भ्रमणेन श्रीसमाकर्षणम्) (बाणभट्ट कृत 'हर्षचरित', ६, पृ० १८९)। अतः भयंकर खतरों की परवाह न करते हुए भी लोग जहाज़ लेकर दक्षिण-पूर्वी द्वीपों में पहुँचते और छोटी-मोटी चीज़ों के बदले में वहाँ से उन्हें मसालों से भर कर लाते। उत्तरी मोलुक्कस, तिदोर, मोतिर, मकियान में हर साल ३,००० बहार (१ बहार में ३६० पौण्ड से ६०० पौण्ड तक वज़न होता था) लौंग पैदा होती थी और अम्बोन में १,१०० बहार। इसकी साल में एक फसल होती थी और चार साल में एक बार वह बड़ी तगड़ी होती थी। सुमात्रा की काली मिर्च पश्चिमी तट के सेलेबार, इन्द्रपुर, प्रियामान और पूर्वी तट के जम्बी, इन्द्रगिरि, काम्यार आदि बन्दरगाहों में बिकने आती। जावा का माल बन्ताम में बिकता और प्रायद्वीप की चीज़ें मलय की पटनी, लिगोर, सन्बोरा आदि मण्डियों में आतीं। वहीं भारतीय व्यापारी अपने डेरे डालते जो तुरन्त ही बस्तियों का रूप धारण कर लेते। इनमें ज्योतिषी, चिकित्सक, शिक्षक, ऋषि, मुनि, महात्मा और

धर्म-प्रचारक भी होते। ब्राह्मण ऋत्विक् और बौद्ध भिक्षु अपने-अपने धर्मों को मानते और फैलाते और भारतीय विद्याओं और कलाओं का प्रचार करते। धीरे-धीरे स्थानीय सरदारों से उनका सम्पर्क होता। वे उनके दरबारों में आने-जाने लगते। उन पर अपने श्रेष्ठ ज्ञान की छाप डालते। उन्हें संगठन और प्रशासन में मदद देते। फिर उनसे शादी-विवाह करने लगते और मौक़ा पाकर उनके राज्यों के वारिस बन जाते। इस तरह वहाँ भारत-प्रभावित राज्य क़ायम होने लगे और वहाँ के सामाजिक संगठन, सांस्कृतिक परम्परा और अर्थ-व्यवस्था को नये मोड़ देने लगे। इनमें यहाँ हम कम्बोदिया के ख़्मेर राज्य और जावा-सुमात्रा के शैलेन्द्र राज्य की चर्चा करेंगे और बर्मा के पागान राज्य के विषय में भी कुछ कहेंगे। लेकिन ऐसा करने से पहले यह बता देना ज़रूरी है कि यह प्रक्रिया समूचे मानव इतिहास में अद्वितीय है क्योंकि इसमें उपनिवेशवादी छीना-झपटी, साम्राज्यवादी मार-काट और विस्तार-वादी लूट-खसोट का कोई निशान नहीं मिलता। यह भारतीय लोगों और स्थानीय जनता के सहयोग, सौहार्द और सौमनस्य की मिठास-भरी कहानी है जिसमें शान्ति, स्नेह और सद्भाव के स्वर गूँजते हैं और सुख, समृद्धि और सम्पन्नता का वातावरण व्याप्त है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय प्रभाव से उभरने वाला सबसे पहला राज्य फूनान (पर्वतदेश) है। यह आजकल के दक्षिणी कम्बोदिया और कोचीन-चीन में स्थित था किन्तु जल्दी ही इसका प्रभाव स्याम और मलाया तक फैल गया और जावा और बाली तक पहुँच गया। उस समय मेकोंग नदी का डेल्टा कीचड़ और पोखरों से भरा था। इसमें गरान के पेड़ों, बेत के झुण्डों और नरसलों के झुरमुट के अलावा और कुछ नहीं था। भारतीय तकनीकी ज्ञान के सहारे लोगों ने २०० किलोमीटर के रक़बे में सैकड़ों नालियाँ और नहरें खोदकर रुके हुए पानी को समुद्र में बहाया और ज़मीन से फिटकरी की तह साफ कर उसे चावल के खेतों का रूप दिया। चावल के अलावा कपास और गन्ने की खेती को बढ़ावा मिला। कूलों और नहरों के किनारे गाँव बस गये। उनमें ऊँचे टांडों और मचानों पर बाँस-बल्लियों के छप्परपोश मकानों में किसान रहते थे। कमर से ऊपर वे नंगे रहते थे। पैरों में भी कुछ नहीं पहनते थे। उनके काले कुरूप और घुंघराले बालों वाले शरीर पर पत्थर के ज़ेवर खिलते थे। उन्हें मुर्ग़ों और सुवरों की लड़ाई का शौक़ था। उनकी उपज के आधार पर शहरी और दरबारी जीवन का ढाँचा टिका था। शहर मिट्टी या लकड़ी के परकोटों से घिरे थे। राजधानी व्याधपुर में ईंटों की चहारदीवारी थी। इसके प्रमुख मकान भी ईंटों के थे और चूने से लिपे थे। राजदरबार में काफी शानशौकत थी। राजा चमकीली झूल से सजे हाथी पर निकलता था। उसके सर के ऊपर सफेद छतरी होती थी। सामने पहरेदार और गाने-बजाने

वाले चलते थे। वह भगवान् का रूप माना जाता था। उसका काम-धन्धा संस्कृत में होता था। भारतीय धर्मशास्त्र उसकी सत्ता को दृढ़ करने का साधन था। इसके बहुत से नियम, जैसे विधवाओं और विधुरों का फिर विवाह न कराना, लोगों में, ख़ास तौर से दरबारी वर्ग में, माने जाते थे। सोने-चाँदी की बहुतायत थी। कर मोती और सुगन्धित द्रव्यों के रूप में लिये जाते थे। तिजारत ज़ोरों पर थी। ८०-६० फुट लम्बी नाव देश के अन्दर चलती थी। बाहरी व्यापार के लिए बड़े जहाज़ थे जिनमें २०० तक आदमी बैठ सकते थे और जिनके साथ बचाव के लिए सहायक नाव रहती थी। चीन और भारत से नित्य का सम्बन्ध था।

छठी सदी में फूनान के कौण्डिन्य और सोमा नागी से चले आ रहे राजवंश के बजाय उत्तरी कम्बोदिया के कम्बु स्वायम्भुव और मेरा से अपना सम्बन्ध क़ायम करने वाले खमेर राजा सत्तारूढ़ हो गये। इनसे कम्बुज नाम चला जिसका वर्तमान रूप कम्बोदिया है। कुछ ऐसा भी विचार है कि इनका सम्बन्ध भारत के काम्बोज (वर्तमान 'कम्बोह') लोगों से था। कम्बोदिया के पुराने वृत्तों के अनुसार इन्द्रप्रस्थ के किसी राजा आदित्यवंश के एक निष्कासित पुत्र ने कोक श्लोक (कम्बुज) में आकर निवास किया। उससे कम्बुज लोगों की उत्पत्ति हुई। अभी तक प्राचीन कम्बुजदेश की राजधानी अंकोर और आधुनिक कम्बोदिया की राजधानी फनोम-पेन्ह को इन्द्रप्रस्थपुर कहते हैं। कम्बोहों का एक गोत्र 'कामारि' या 'खामरि' भी है जिससे 'खमेर' शब्द निकला मालूम होता है।

'खमेर' या 'कम्बुज' लोगों के विकास में प्रकृति ने सहायता की। प्रलयंकारी बाढ़ों से फूनान के शहर बह गये। सिंचाई के साधन टूट गये। कोचीन-चीन दलदल बन गया। उत्तरी और मध्य कम्बोदिया का महत्त्व बढ़ गया। वहाँ के लोगों ने सत्ता-हथिया ली। फूनान के 'पर्वतभूपाल' इन्दोनेशिया पहुँच कर नये राज्य बनाने लगे। इनमें श्रीविजय (सुमात्रा का पालम्बांग नामक स्थान) का शैलेन्द्र राज्य बहुत प्रख्यात हुआ। वहाँ से उन्होंने अपने खोये हुए राज्य को प्राप्त करने के प्रयास जारी रखे। २३ अप्रैल, ६८२ को वहाँ का राजा जयनाश कम्बोदिया की ओर बढ़ा। उसके केदुकान बूकित के शिलालेख में इस प्रदेश को 'मीनाङ ताम्वन्' कहा गया है। जोर्ज सेदेस के मतानुसार यह शब्द मोन-खमेर भाषा बोलने वाले 'त्मोन' लोगों का परिचायक मालूम होता है जो पुराने जमाने में मेकोङ नदी के मझले और निचले भागों के किनारे पर रहते थे। वहाँ उतर कर जयनाश १३१२ पैदल सैनिक और २०,२०० नावों और जहाजों पर चढ़े योद्धा साथ लेकर देश के भीतर बढ़ा। २८ दिन के अभियान के बाद उसे सफलता मिली और वह अपनी 'सिद्धयात्रा' समाप्त कर वापस लौटा। इस दौरान में मलय पर

भी उसका अधिकार हो गया क्योंकि ६९५ में ई-चिङ द्वारा अनूदित 'मूलसर्वास्तिवादैक-शतकर्म' नामक बौद्ध ग्रन्थ में केदाह् (चिएह्-छा) को श्रीविजय (फो-शर) के अधीन बताया गया है। ६८६ में उसने बंका द्वीप पर कब्ज़ा कर जावा पर आक्रमण करने की तैयारी की। फलतः वहाँ भी बौद्ध धर्मावलम्बी शैलन्द्रों का राज्य हो गया। आठवीं सदी में वहाँ के राजा श्री महाराज विष्णुवर्मा ने फिरसे मलाया में लिगोर पर कब्ज़ा किया। उसके उत्तराधिकारी धरणीन्द्र वीरवैरीमथन ने कम्बुजदेश और चम्पा पर हमला किया। कम्बुजदेश पर अधिकार कर उसने वहाँ अपना एक वंशज शासक के रूप में नियुक्त कर दिया। उसका नाम जयवर्मा द्वितीय था। उसने वहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य क़ायम किया और एक नयी राजनीतिक और सांस्कृतिक विचारधारा को जन्म दिया जो 'देव-राज' की परिकल्पना के साथ नत्थी है।

फूनान और मलय के राजा विश्व को पर्वताकार मानकर इसके ऊपर देवताओं का निवास मानते और अपने आपको उसका संरक्षक समझते थे। अतः उनकी राज-धानी विश्व का प्रतीक होती थी। इसके मध्य में मेरु पर्वत को प्रतिबिम्बित करने वाला देव-प्रासाद होता था। उसके बराबर में राजा का महल होता था। इसके इर्द-गिर्द विशिष्ट दिशाओं में ब्राह्मण मन्त्रियों के आवास, सैनिक प्रहरियों के बैरक और चावल के भण्डार थे। इनसे परे कारीगरों और दस्तकारों के मकान और कारखाने थे जो राजमहल की भौतिक ज़रूरतों को पूरा करते थे। इसके बाद बाग-बगीचे और खेत आदि थे और सब के चारों ओर परकोटा और परिखा थीं। इन नगरों की आबादी का अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि चीनी लेखकों ने मलाया के नगर तान-तान में २०,००० परिवारों या एक लाख के क़रीब व्यक्तियों के रहने का ज़िक्र किया है।

जयवर्मा ने कम्बुजदेश में आते ही हिरण्यदाम नामक शैव तान्त्रिक के मशवरे से एक नया मत चलाया जिसके अनुसार सर्वशक्तिमान् भगवान् शिव पर्वत के ऊपर निवास करता है और राजा के रूप में संक्रान्त होता है। वह विश्व की प्रभुसत्ता का पुंजी-भूत और मूर्तिमान् रूप है और राजा के व्यक्तित्व में संक्रान्त होकर इसे शारीरिक रूप देता है। अतः पर्वताकार प्रासाद के शिखर पर प्रतिष्ठित लिंग और पास ही महल में रहने वाला राजा प्रतीकात्मक रूप से एक दूसरे के पर्याय हैं। इस भाव को स्पष्ट करने के लिए अक्सर राजा अपनी ही आकृति की शिवमूर्ति बनवाते थे। इस प्रकार शिव, राज्य, प्रभुसत्ता और राजा का पूर्ण एकीकरण हो गया था। इस मत को 'देवराज' या 'कामरातेन जगत ता राज्य' कहते हैं।

'देवराज' मत में शैव और महायान मतों का समन्वय था। जयवर्मा की राज-

धानी अमरेन्द्रपुर (बान्तेह् च्मार) अवलोकितेश्वर की नगरी थी और अंकोर थोम का प्रधान देवता भी बोधिसत्त्व लोकेश्वर था जैसा कि फीनो ने सिद्ध किया है। वहाँ शिव और लोकेश्वर की मूर्ति का एकीकरण हुआ। राजा भी शिव और बोधिसत्त्व दोनों का रूप था।

जब राजा स्वयं प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य का मूर्तिमान् रूप मानकर देवता समझा जाने लगा तो उसकी पूजा, उपासना और आरक्षण के लिए पुरोहितों की श्रेणिबद्ध परम्परा क़ायम की गयी। पहले राजा स्वयं 'शैलेन्द्र' कहलाता था, अब पुरोहित 'शैलेश' (खलोङ व्नम्) ,'शैलाधिप' या 'शैलाधिपति' कहलाने लगा। ये 'शैलाधिप' कई होते थे और उनके ऊपर 'सर्वशैलाधिपाधिप' होता था। जयवर्मा चतुर्थ के ज़माने में स्वामिगुरु इस पद पर था। इन अधिकारियों के धार्मिक, प्रशासनिक और न्याय सम्बन्धी अधिकार भी थे। इन्हें 'सर्ववर्णियों' का मुख्य कहा जाता था।

ये धार्मिक पद ब्राह्मणों को ही दिये जाते थे। ये स्थानीय लोगों में शादी-विवाह करते थे। चीनी वृत्तों के अनुसार मलाया के तुन-सुन राज्य में १,००० भारतीय ब्राह्मण थे, फान-फान भी ब्राह्मणों का गढ़ था, इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी ब्राह्मणों का जमाव रहा होगा। ये तान्त्रिक विधि से देवराज का अभिषेक करते थे। इन्हीं में से मन्त्री होते थे। उनकी परिषद् राजा का चुनाव करती थी। इससे राज्य की बाग-डोर एक तरह से धार्मिक वर्ग के हाथ में आ गयी थी। उसे एक प्रकार का धर्मशासन (थियोक्रेसी) कहा जा सकता है।

ब्राह्मण वर्ग और शासक वर्ग धीरे-धीरे मिलकर एक होता जा रहा था। इनमें खुलकर विवाह होते थे। फलतः ब्राह्मण धर्म और संस्कृति राजतन्त्र और शासन-पद्धति के साथ घी-खिचड़ी हो गयी थी। भारत की तरह वहाँ धर्म और राज्य की पृथकता नहीं रही। इन दोनों के संयोग से एक शानदार दरबारी संस्कृति विकसित हुई। राज-महल लकड़ी का होते हुए भी—देवप्रासाद पत्थर का ही होता था—चित्रों, चमकदार धातु के दर्पणों और स्वर्णजटित सामान से जगमगाता था। राजा के प्रायः पाँच पत्नियाँ होती थीं—चार दिशाओं की प्रतीक और एक केन्द्र की। इनके अलावा अनेक रखेल, गाने वाली, नचनी, शतरंज खेलने वाली, पहरा देने वाली, सोने, मोती और रत्नों से चमकती औरतें उसकी शोभा बढ़ाती थीं। शाही जलूस में भी कई औरतें ध्वज, छत्र, दीपक और सोने-चाँदी के बर्तन लेकर चलती थीं। महल में पुरुष कम रखे जाते थे।

दरबार का सारा वातावरण संस्कृत था। संस्कृत भाषा और साहित्य पर सबको असाधारण अधिकार था। शास्त्रों की चर्चा के लिए विशेष उत्सव होते थे जिनमें ब्राह्मण स्त्रियाँ अपनी प्रतिभा का परिचय देती थीं। शास्त्र-ग्रन्थों से भरे पुस्त-

कालय, विद्यालय और मन्दिर अनेक थे। छठी सदी के वेयल कान्तेल के अभिलेख में त्रिभुवनेश्वर के एक मन्दिर में रामायण, महाभारत और पुराणों के संग्रह और उनके नियमित पाठ की व्यवस्था का उल्लेख है। यशोवर्मा (८८९-९००) के अभिलेखों में महाभारत, हरिवंश, बृहत्कथा और प्रवरसेन, मयूर, शूर, भीमक, विशालाक्ष आदि कवियों की कृतियों के काफी सन्दर्भ हैं। लगता है कालिदास के पद्य तो लोगों की ज़बान पर चढ़ गये थे। राजेन्द्रवर्मा (९४४-९६८) के काल के प्रे-रूप के शिलालेख में चार बार कालिदास के रघुवंश के हवाले हैं। अकसर कम्बुज के लोग शास्त्र पढ़ने भारत आते, उदाहरण के लिए जयवर्मा द्वितीय के मामा जयेन्द्राधिपतिवर्मा का पौत्र शिवसोम शंकराचार्य से वेदान्त पढ़ने भारत आया, और भारत के ब्राह्मण भी पढ़ने-पढ़ाने कम्बुज जाते, जैसे दसवीं सदी में मथुरा का एक ब्राह्मण दिवाकर वहाँ गया और उसने वहाँ एक आश्रम क़ायम कर उसका नाम भी 'मधुवन' रखा और राजा राजेन्द्रवर्मा की पुत्री इन्द्रलक्ष्मी से विवाह किया—बारहवीं सदी में तो संस्कृत विद्या के केन्द्र के रूप में कम्बुज की ख्याति इतनी फैल गयी कि भारद्वाज गोत्र का ब्राह्मण हृषीकेश वेद-वेदांग पढ़ने के लिए भारत से वहाँ गया और जयवर्मा सप्तम के दरबार में ठहरा। दो-दो सौ, तीन-तीन सौ पद्यों के उत्कृष्ट संस्कृत में लिखे शिलालेख आज भी कम्बुज में संस्कृत विद्या के विकास का साक्ष्य दे रहे हैं।

ब्राह्मणों के आश्रम कम्बुज की संस्कृति की विशेषता है। यशोवर्मा (८८९-९००) द्वारा बनवाया गया यशोधराश्रम हीरे-मोती, सोना-चाँदी, गाय-भैंस, हाथी-घोड़े, स्त्री-पुरुषों से भरपूर था। इनमें से किसी भी वस्तु को कोई राजा या उसका अधिकारी नहीं ले सकता था। इसमें एक शाही कुटी थी जिसमें सिर्फ राजा या ब्राह्मण या क्षत्रिय आभूषण सहित जा सकते थे। उनके साथ लगे साधारण पुरुष माला उतार कर और सुपारी थूक कर ही उसमें घुस सकते थे। अन्य सामान्य लोगों को वहाँ जाने की मनाही थी। राजा को छोड़कर और सब आदमियों को उसके सामने से जाते समय रथ से उतरना और छत्र को हटाना पड़ता था। वहाँ सब को पान, भोजन, सुपारी आदि मिलते थे। बूढ़ों, बच्चों, अनाथों अपंगों और भिखारियों को भोजन और भेषज प्राप्य था। विद्यार्थियों के लिए छाल, स्याही, खड़िया और कुछ अवसरों पर खाने का प्रबन्ध था। बेगुनाह आदमियों को शरण दी जाती और अत्याचारियों से बचाया जाता था। आश्रम के इर्द-गिर्द जानवरों को मारने पर पाबन्दी थी। उनमें पुत्रहीन मृतकों के श्राद्धकर्म की भी व्यवस्था थी। ऐसा भारत में कहीं नहीं मिलता। विद्वानों, ब्राह्मणों, शैवाचार्यों का बड़ा मान था। संस्कृत व्याकरण के ज्ञाता की बड़ी आवभगत की जाती थी।

यद्यपि कम्बुज में भारतीय धर्मशास्त्र प्रचलित था—आधुनिक क़ानून मनुस्मृति

के आठवें और नवें भागों पर, जिनमें दीवानी और फौजदारी के क़ानून हैं, आधारित है—और कुछ राजाओं ने वर्णव्यवस्था लागू करने की कोशिश की, जैसे सूर्यवर्मा प्रथम (१००२-१०५०) ने शिवाचार्य ब्राह्मण की मदद से ऐसा करने का दावा किया और हर्षवर्मा तृतीय ने घोषणा की कि उसके राज्यकाल में चारों वर्णों के लोग अपने-अपने कर्तव्यों पर आरूढ़ थे, वहाँ वर्ण-पद्धति और जाति-प्रथा जड़ नहीं पकड़ पायी। ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलकर एक अभिजात वर्ग बन गया। इससे निचले वर्ग में तीन प्रकार के लोग थे, (१) सामान्य जनता जिससे बेगार और कुछ समय के लिए अनिवार्य सेवा ली जाती थी, (२) दास जिनमें युद्ध-बन्दी, कर्ज़दार और विद्रोहियों के वंशज शामिल थे, (३) पहाड़ी बर्बर जो काले, भद्दे और असंस्कृत थे। इनका दर्जा उत्तरोत्तर घटता जाता था। ऊँचे वर्ग के लोगों को निचले वर्गों के व्यक्तियों से अलग-थलग रखा जाता था। इनके रहन-सहन में अन्तर बनाये रखने के निश्चित क़ानून थे, जैसे ऊँचे वर्ग के आदमी का मकान खपरैल से छाया होता था तो निचले वर्ग के आदमी का घर छप्पर से, पहला सोने-चाँदी की पालकी में चल सकता था, दूसरा नहीं, उनके कपड़ों में भी फ़र्क़ था।

कम्बुज समाज में स्त्रियों का काफी महत्त्व था। वे खुले काम-धन्धा करती थीं। बाज़ार-हाट बहुत कुछ उनके हाथ में था। वे सरकारी पदों, जैसे न्यायाधीश, मन्त्री, पर भी काम करतीं। स्त्री-धन के अलावा उन्हें उस सम्पत्ति में पतियों के बराबर हिस्सा प्राप्त था जो उन्हें विवाह के बाद मिले। विरासत में लड़की का भाग लड़के के बराबर था। ये क़ानून आज तक कम्बोदिया में लागू हैं। कम्बुज में स्त्रियों के सम्मान का कारण मातृसत्तात्मक परम्परा की अक्षुण्णता है। वहाँ प्राचीन काल में विरासत मर्दों के बजाय औरतों के द्वारा चलती थी।

कम्बुज में फूनान जैसी दलदल की समस्या तो नहीं थी लेकिन सिंचाई का सवाल काफी टेढ़ा था। वहाँ पानी सैलाब की तरह बहता और ताल-पोखरों में इकट्ठा हो जाता और काफी अरसे तक सिंचाई के लिए अनुपलब्ध हो जाता। ख्मेर लोगों ने इस पानी को बनावटी झीलों में इकट्ठा करना शुरू किया। इन्हें 'बराय' कहते थे। इन्हें बन्ध खड़े कर बनाया जाता था। खुश्क मौसम में बन्धों के दरवाज़े खोल कर पानी सिंचाई की नहरों और कूलों और नालियों द्वारा खेतों में पहुँचाया जाता था। खेत चौकोर होते थे और उनमें नालियों का जाल बिछा होता था। इससे साल में दो और कभी-कभी तीन फसलें तक होती थीं। चावल के अलावा फल, प्याज़, सरसों, गन्ने और अंगूर की खेती काफी होती थी। इससे आबादी काफी बढ़ गयी थी। अंकोर के इलाक़े में दस लाख से ज्यादा आदमी रहते थे।

नया शहर बसाने का मतलब नयी नहरें खोदना, तालाब-झील बनाना, नयी ज़मीन तोड़ना और मरुभूमि को आबाद करना था। देवप्रासाद इस सब निर्माण-कार्य के प्रतीक थे। हर यशस्वी राजा पहले नहरें खुदवाता और झीलें बनवाता और फिर देव-प्रासाद खड़ा कराता। उसके कर्मचारियों का भारी समूह—इनकी संख्या ४,००० के क़रीब थी—नहरों, खेतों, सिंचाई की देखभाल करता। सिद्धान्त में राजा समस्त भूमि का स्वामी था, लेकिन किसान उसे जोतते, मचानों पर छप्पर और खपच्चियों के मकानों में रहते, भैंसों से हल चलाते और पैदावार का ज्यादा हिस्सा अभिजात वर्ग के हवाले कर देते। उनकी मेहनत पर पलने वालों की संख्या असीम थी। जयवर्मा सप्तम के समय २५,००० मठों, मन्दिरों के ३,००,००० भिक्षु-ब्राह्मण ३८,००० टन चावल सालाना खा जाते थे। यह सब किसान के जिम्मे था। मन्दिरों के नाम बड़ी-बड़ी जायदादें थीं जिनमें या तो उनके दास और नौकर काम करते थे या जिन्हें किसानों को उठाया जाता था। इस दृष्टि से मन्दिरों की दो श्रेणियाँ थीं—केन्द्रीय और निजी। आपस में इनका गहरा सम्बन्ध था।

ख्मेर कला विश्व भर में अपना अद्वितीय स्थान रखती है और इस समृद्ध संस्कृति का साक्ष्य देती है। इसके मन्दिरों पर दक्षिण-भारतीय स्थापत्य और नालन्दा की शैली की छाप दिखायी देती है लेकिन इनकी मौलिकता असंदिग्ध है। इन्हें देवताओं के आवास सुमेरु पर्वत के नमूने पर बनाया गया है। इनके चारों ओर परकोटा होता है जिसमें चारों दिशाओं में चार द्वार, दहलीज़ और उनके ऊपर पिरामिड जैसी मीनार होती है। अन्दर एक ही केन्द्र से निकलने वाली गैलरियाँ एक दूसरे के ऊपर बनी होती हैं। हर उपरली गैलरी के चबूतरे की ऊँचाई निचली गैलरी के चबूतरे से दोगुनी होती है। उपरली मंजिल के कोनों पर चार मन्दिर और उनके बीच में एक मन्दिर होता है। इन मन्दिरों में विशालता, उच्चता और भव्यता की पराकाष्ठा है। गैलरियाँ मूर्तियों से भरपूर हैं। बाद में इनमें इतना परिष्कार हुआ कि इनके सौन्दर्य का वर्णन करना कठिन है। इनमें एक विशेष प्रकार की कोमल मुस्कराहट है जो अधमिची आँखों के साथ मिलकर असीम आध्यात्मिकता का परिचय देती है। बुद्ध, हरिहर की मूर्तियों के अलावा एक यक्ष की मूर्ति में भी इस कोमलता और मधुरता ने भयंकर पाशविकता को दबा लिया है। दीवारों पर खुदे रामायण, महाभारत के चित्र ओज, गति और व्यंजना की दृष्टि से अद्वितीय हैं।

कम्बुज के पूर्व में दक्षिणी वियतनाम में भारतीय प्रभाव से चम्पा के राज्य का अभ्युदय हुआ। यह राज्य १९२ से १४७१ तक चला। इसने एक ओर कम्बुज और श्रीविजय का और दूसरी ओर चीनी संस्कृति से प्रभावित अन्नम का डट कर मुकाबला किया। इसका राजनीतिक विधान कम्बुज जैसा ही था। राजा को शिव के साथ समन्वित कर दिया जाता

था। राज्य तीन प्रान्तों और ३८ जिलों में बँटा था। कर्मचारियों को नकद तनख्वाहों के बजाय जागीरें यानी कर वसूल करने का हक दिया जाता था। उपज पर १० से १७ प्रतिशत तक कर था। लेकिन आमदनी का बड़ा साधन व्यापार या समुद्री डकैती थी। चाम नौसेना में सौ के करीब जहाज थे जो आने-जाने वाले व्यापारी जहाजों को दबोच कर उनसे २० % तक चुंगी वसूल करते थे। इससे और देशों से उनकी खटपट रहती थी और उन्हें हर वक्त मुस्तैद सेना रखनी पड़ती थी और अपनी छावनियाँ और किलाबन्दियाँ ठीक रखनी पड़ती थीं। बराबर लड़ते-लड़ते वे पक्के और मजबूत हो गये थे। उनके मन्दिर ईंटों के थे और उनमें ब्रह्मा, गणेश, स्कन्द, नन्दी, गरुड़ आदि की मूर्तियाँ थीं। विधवा-विवाह वर्जित था, गऊ अवध्य थी, भारतीय तिथिक्रम लागू था, संस्कृत विद्या का प्रचार था, लेकिन मौलिकता अधिक नहीं थी।

हिन्दचीन से हटकर अब हम इन्दोनेशिया की ओर चलते हैं। वहाँ सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, बाली में भारतीय लोगों की शुरू से भारी बस्तियाँ थीं। रामायण के किष्किन्धा काण्ड (४०।२८-३१) में लिखा है सुग्रीव ने सीता की खोज में यवद्वीप, सुवर्णरूप्यकद्वीप और समुद्रद्वीप में वानरदूत भेजे। बोर्नियो के कुतेई प्रान्त से प्राप्त ४०० के लगभग के अभिलेख से पता चलता है कि कुण्डुंग के पौत्र और अश्ववर्मा के पुत्र मूलवर्मा ने वप्रकेश्वर के मन्दिर के अहाते में बहुसुवर्णक यज्ञ किया और उसमें २०,००० गाय और भूमि ब्राह्मणों को दान की। इसी प्रकार पश्चिमी जावा में एक राजा ने एक नहर खुदवाकर उसका नाम चन्द्रभागा रखा और उसके पुत्र पूर्णवर्मा ने एक और नहर खुदवाकर उसे गोमती नाम दिया और उस अवसर पर १००० गायें ब्राह्मणों को दान कीं। आठवीं सदी में मध्य जावा के एक राजा संजय ने अपने शास्त्रीय ज्ञान पर गर्व करते हुए अपने को रघु और मनु का समकक्ष बताया। उस सदी में श्रीविजय के राज्य का विस्तार जोरों पर था जैसा हम पहले कह आये हैं। इसके विकास को सासानी कालीन ईरान और उम्मैया युगीन पश्चिमी एशिया और थाङ जमाने के चीन के बढ़ते हुए मसालों, सुगन्धित द्रव्यों आदि के व्यापार ने बड़ी प्रेरणा दी। अरब से चीन आने-जाने में १८ महीने लगते थे। अगर मरम्मत, आराम और लेन-देन के लिए ६ महीने और लगा लिये जाएँ तो कुल यात्रा दो वर्ष में पूरी हो जाती थी। मलाक्का की खाड़ी में चट्टानों के खतरे से बहुत रुक और सँभल कर चलना पड़ता था। इससे जल-डाकुओं का आतंक बढ़ गया था। अतः श्रीविजय के शासकों ने इन व्यापारियों को शरण देने, उनके खाने-पीने और जहाजों की मरम्मत का इन्तजाम करने और उन्हें जल डाकुओं से बचाने की व्यवस्था कर बड़ी आमदनी का साधन बना लिया था। इन सहूलियतों के बदले में वे व्यापारियों से मोटी चुंगी लेते थे। उनका दृष्टिकोण पूर्णतः आर्थिक था। अतः उनके शहर में तड़क-भड़क नहीं

के बराबर थी। पालम्बांग नदी में लट्ठों के बेड़ों पर बहुत लोग रहते और कारोबार चलाते थे और करों से मुक्त थे। किनारों पर मचानों पर मकान बने थे। बन्दरगाह की हदबन्दी के लिए लोहे की जंजीरें पड़ी थीं जिन्हें किसी तरकीब से उठाया या गिराया जा सकता था। शहर की किलाबन्दी मजबूत थी। इसके बाजारों में हजारों दलालों, सर्राफ़ों और देश-विदेश के बिसातियों और सौदागरों का जमघट रहता था। कारीगर कम थे क्योंकि व्यापार अधिक था। पास के इलाके में चरिष्णु खेती (लडाँग) होती थी, लेकिन राज्य को इसमें कोई खास दिलचस्पी नहीं थी। व्यापार के क्षेत्र को बढ़ाने और चुंगी, आढ़त की वसूली को सुरक्षित करने के लिए राजा सैनिक शक्ति बढ़ाते, जंगी बेड़े तैयार करते और मलाया, कम्बुज और चम्पा तक धावे करते थे। लोग जल और स्थल के युद्ध में प्रवीण थे। हर सरदार अपनी टुकड़ी के हथियार, भोजन आदि का प्रबन्ध स्वयं करता था। शत्रु को आतंकित करने और मौत की परवाह न करने में कोई उनकी बराबरी नहीं कर सकता था। राजा, अपनी शक्ति के लिए, देवत्व का दावा करता था। वह गद्दी पर बैठने से पहले अपनी आकृति की बुद्ध मूर्ति तैयार कराता था। उसकी मृत्यु पर सब लोग सिर मुँडवाते और कुछ उसकी चिता पर जल मरते। राजा अपने कर्मचारियों को शपथें दिलवाते और मन्त्रों से पढ़ा हुआ पानी पिलवाते। अपने काम को धार्मिक पुट देने के लिए और अपने अधीन १५ रियासतों को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए ये राजा बौद्ध धर्म को बढ़ावा देते और उसके मानने वालों की पूरी आवभगत करते थे। अतः वहाँ १००० बौद्ध भिक्षु रहते थे। इनमें से अनेक संस्कृत व्याकरण में प्रवीण थे। उनसे ६७१ में चीनी यात्री ईचिङ ने छः महीने ठहर कर संस्कृत व्याकरण पढ़ा। ६८५ में भारत और लंका से लौटने पर वह वहाँ ३-४ वर्ष ठहरा और वहाँ के विद्वानों की मदद से भारत से लाये बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करता रहा। इसके बाद चीन जाकर वह फिर श्रीविजय लौटा और पाँच वर्ष ठहरा। उसके यात्रा विवरण से श्रीविजय के विषय में बहुत सी बातों का ज्ञान होता है।

ईचिङ ने लिखा कि श्रीविजय के बौद्धों में सफाई पर बड़ा जोर था। मूर्तियों और मेहमानों को सुगन्धित जल से नहलाया जाता, फूलों से मण्डित किया जाता और तेल में तैयार की हुई सुपारी दी जाती। आत्महत्या, अपना मांस काटना और काया को कष्ट देना बुरा समझा जाता। चन्दन, अगरु और कपूर जीवन के अभिन्न अंग थे। सुरुचि के साथ शालीनता, संयम के साथ दान-वृत्ति और परोपकार का बड़ा महत्त्व था। हीनयान और महायान में खास भेद नहीं था। लेकिन राजा महायान को पसन्द करते थे। इसके साथ जादू टोने-टोटके की गहरी पुट थी।

जावा में किसानों से योजनाबद्ध रूप से काम लिया जाता। अतिरिक्त उपज से या तो उन असंख्य लोगों का पोषण होता जो बड़े-बड़े प्रासाद बनाने के काम में जुटे थे या

उसके बदले में और पूर्वी द्वीपों से मसाले खरीदे जाते।

आठवीं सदी में जावा के शैलेन्द्र राजाओं का ठाठ निराला था। उनके अभिषेक के समय सेवक छत्र और आभूषण लेकर खड़े होते, ब्राह्मण पात्रों से पवित्र जल उड़ेलते। सजे हाथी, कसे घोड़े, जुते रथ और पालकियाँ मौजूद रहतीं। महलों और मन्दिरों में चहल-पहल रहती। कमरे-कक्ष मंच, कुर्सी, गद्दे-तकियों से लैस होते और सुगन्धित द्रव्यों से गमकते। पूजा और उत्सवों पर नाच-गाने की रौनक होती। चार घोड़ों की बग्गियाँ चलतीं। नगर के लोग अच्छे मकानों में रहते, बढ़िया खाना खाते और गाना सुनते और देहाती मुर्गों और मुअरों की टक्करों से अपना दिल बहलाते।

श्रीविजय-शैलेन्द्र काल में 'काकवि' भाषा के साहित्य की शुरुआत हुई। यह संस्कृत और स्थानीय भाषा के योग से बनी है। इसमें 'अमरकोश', 'रामायण' (इसमें उत्तरकाण्ड नहीं है), आदि उल्लेखनीय हैं। बाद में इसमें 'कृष्णायन', 'स्मरदहन', 'नगरकृतागम' आदि स्वन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये।

शैलेन्द्र काल की सबसे बड़ी देन कला है। ७३० से ७८० तक का काल हिन्दी-जावानी कला का स्वर्णकाल है। इस काल के मन्दिर चण्डी कलसन, चण्डी मेन्दूत और बोरोबोदूर दुनिया भर में निराले हैं। इनमें बोरोबोदूर (वरभूधर) जैसी चीज तो और कहीं भी नहीं मिलती। यह एक पर्वताकार स्तूप है। इसका आधार एक विशाल चौकोर चबूतरा है। इसके ऊपर उसी तरह की लेकिन आकार में घटती हुई पाँच मंजिलें हैं। इनमें सामने की ओर ताखें बनी हुई हैं जिनमें बुद्ध की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। कुल ४३६ ताखें और मूर्तियाँ हैं। इनसे ऊपर की तीन मंजिलें गोल हैं। इनमें ७० घण्टाकार स्तूप हैं। सबसे ऊपर १०० फुट ऊँचा एक स्तूप है। कुल उत्कीर्ण मूर्तियों के सामने से चला जाय तो ३ मील की यात्रा होगी। इस विशाल स्थापत्य में अद्भुत् व्यवस्था, अनुपात और सुरुचि है। इसमें दक्षिण भारत के मन्दिरों की तरह बोझिलता दिखायी नहीं देती। मूर्तियों में गुप्तकला जैसा लालित्य है। बुद्ध की आकृति में मृदुलता और गम्भीरता का अनोखा संगम है। खुदाई के २००० चित्रों दृश्यों में जीवन का ज्वार उमड़ता-सा आता है। उनमें अजन्ता की प्राकृतिकता एक सुनिश्चित शास्त्रीयता बन गयी है। ऐसी कला अन्यत्र दुर्लभ है।

इस अनुच्छेद को समाप्त करने से पहले बर्मा के विषय में भी कुछ कहना आवश्यक है। वहाँ मोन लोगों के तीन केन्द्र थातोन, पेगू और कोस्मा समुद्र तट के निकट थे। बाद में तिब्बती-बर्मी जाति के प्यू लोगों ने इरावादी नदी के डेल्टा के ऊपर ६३८ में श्रीक्षेत्र नामक राज्य कायम किया। वहाँ गुप्तकालीन भारतीय संस्कृति प्रचलित थी। संस्कृत विद्या और विष्णुपूजा का रिवाज़ था। बाद में हीनयान बौद्ध धर्म फैला किन्तु शैव धर्म

का कभी विकास नहीं हुआ। नवीं सदी के अन्त में बर्मियों ने पागान राज्य स्थापित किया। उनके यशस्वी राजा अनिरुद्ध (१०४४-१०७७) ने नान-चाओ (युन्नान) से लगाकर अराकान और तेनासरिम तक के इलाके को जीतकर देश को राजनीतिक एकता के धागे में बाँधा। यही नहीं उसने विदेशों की राजनीति में भी भाग लिया। १०६० में जब चोल और सिंहल में युद्ध छिड़ा तो उसने सिंहल की सहायता की जिसके बदले में वहाँ के राजा ने बुद्ध की दाढ़ का अवशेष बर्मा भेजा। अनिरुद्ध के बाद दूसरा बड़ा शासक थिलुइन मान (क्यानज़ित्था) (१०८४-१११३) हुआ। उसने लोक कल्याण के अनेक कार्य किये। १२८७ में मंगोलों की विजय पर यह राज्य खत्म हुआ।

बर्मा में राजा को मरने के बाद विष्णु का अवतार मान लिया जाता था। अभिषेक की रस्म ब्राह्मण करते थे। इन्द्र और नाग की बलि दी जाती थी। सफेद हाथी की बड़ी क़द्र थी। हीनयान बौद्ध धर्म व्यापक था। हर गाँव में भिक्षु-आवास (पोंगयी-क्यौंग) थे जहाँ शिक्षा और उपदेश दिये जाते थे। इनके गुजारे के लिए बड़ी-बड़ी जायदादें निश्चित थीं। राज्य की सम्पत्ति का काफी बड़ा भाग इनके लिए नियत था। समाज चार भागों में बँटा था, (१) राजा और उसके वंश के लोग और दरबारी, (२) बर्मी लोग (अह-मुदान) जो सिंचाई के साधनों से लैस सरकारी भूमि को जोतते और कर देने के बजाय राज्य की सेवा करते थे, विभिन्न दलों (आथिन) में बँटे होते जिनमें से कुछ सैनिक सेवा करते, कुछ राज, बढ़ई आदि का काम करते—इनकी गर्दन के पीछे इनकी सेवा का चिह्न होता, (३) गैर-बर्मी लोग जो सरकार को कर देते और समय पड़ने पर सैनिक सेवा करते, पर अहमुदान की तरह नियमित रूप से सेवा के लिए तत्पर न रहते—हर बस्ती का मुखिया 'माइओथुगयी' इनके और सरकार के बीच सम्पर्क कायम रखता, (४) दास, ये कारीगर और दस्तकार होते और मठों-मन्दिरों से संलग्न रहते—इनमें कर्जदार, बन्दी, विद्रोहियों के वंशज तो होते ही, बहुत से लोग स्वेच्छा से भी शामिल हो जाते, क्योंकि मठों से सम्बन्धित होने पर अनेक प्रकार के लाभ थे।

बर्मी लोग भूत-प्रेत के उपासक थे। ग्यारहवीं सदी में उनमें ३६ भूतों की पूजा प्रचलित थी। इनमें बुद्ध को ३७ वें भूत के रूप में शामिल कर लिया गया था। पागान के प्रसिद्ध श्वेज़ीगोन पैगोडा में इन ३६ भूतों के अलग-अलग मन्दिर थे। जादू, टोने-टोटके, गण्डे-तावीज, शकुन-दिशाशूल आदि का काफी रिवाज था। दिन के शुभ या अशुभ होने का विचार हर काम में किया जाता था। आठ ग्रहों के अनुसार सप्ताह में आठ दिन माने जाते थे—इसके लिए बुधवार को दो भागों में बाँट कर दो दिन समझा जाता था।

बौद्ध धर्म को भी बर्मी लोगों के कुछ विश्वासों को आत्मसात् करना पड़ा था। बुद्ध को अक्सर सृष्टि करने वाला देवता मानकर वस्तुएँ अर्पित की जाती थीं। राजा

या धनिक भी बुद्ध होने की घोषणा कर देते थे। भूत-प्रेत की मान्यता से भी समझौता किया गया था। जंगल में रहने वाले लोग (अरन) मांस-मदिरा के शौकीन और लूट-खसोट के आदी थे। किन्तु अधिकतर बौद्ध भिक्षु नैतिक और पवित्र जीवन बिताते और शिक्षा-साहित्य को बढ़ावा देते।

साहित्यिक दृष्टि से बर्मियों ने कोई मौलिकता नहीं दिखायी लेकिन कला और स्थापत्य में उन्होंने बड़ी उन्नति की। उनके पाँच पैगोडा—श्वेजीगोन, आनन्द, थातपिन्नयू, गौदौपौलिन और मिंगालाजेदी—स्थापत्य कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। श्वेजीगोन पैगोडा बोरोबोदूर के नमूने पर बना है—इसकी नीचे की मंजिलें चौकोर ऊपर की गोल और सबसे ऊपर नोकीली घण्टी के आकार का स्तूप है। जीने और बरामदे और गैलरियाँ ताखों से भरपूर हैं जिनमें बुद्ध-मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। हर मंजिल के चारों किनारों पर शिखर हैं—हर ऊपर की मंजिल के शिखर उससे नीचे की मंजिल के शिखरों से ऊँचे हैं। सारी इमारत सोने के पतरे से जड़ी हुई हैं और केन्द्रीय शिखर के ऊपर रत्न-जटित छत्र (हृती) टँगा है। आनन्द पैगोडा मोन-मन्दिरों की तरह एक-मंजिला है लेकिन मूर्तियों और चित्रों से भरपूर है। ये विशाल भवन शक्ति और श्रद्धा के पुंजीभूत रूप हैं।

## चीन के सुई, थाङ और सुङ युग

लगभग चार सौ वर्ष की भीतरी गड़बड़ और बाहरी छीना-झपटी के बाद वेन-ती ने चीन में राजनीतिक एकता कायम की और सुई राजवंश की नींव रखी। उसने और उसके उत्तराधिकारी याङ-ती (६०५-६१८) ने बहुत बड़े निर्माण-कार्य शुरू किये जिनसे लोगों पर बड़ा जोर पड़ा। उत्तरी सीमा की बड़ी दीवार की किलाबन्दी पर दस लाख आदमियों ने काम किया जिनमें से आधे मर गये। चाङ-आन और याङ्चो को पूर्व-पश्चिम और हाई नदी और हाङ्चो को उत्तर-दक्षिण जोड़ने वाली नहरों पर ५४,३०,००० व्यक्तियों से कोड़े और दण्डे के जोर से काम लिया गया। हाँलाकि इन कार्यों से आने वाली पीढ़ियों को बड़ा लाभ हुआ। इनमें की गयी सख्ती से लोगों में भयंकर रोष फैल गया जिसके नतीज़े के तौर पर एक अफ़सर ली युआन ने तुर्कों की मदद से ६१८ में राजपलटी कर थाङ राजवंश की शुरुआत की।

थाङ राजवंश में ली शर-मिन ने वंक्षु पार कर अफ़गानिस्तान में धाक जमायी। उसके एक सेनापति वाङ शुआन-त्ज़े ने भारत में कन्नौज पर धावा कर वहाँ के शासक अर्जुन या अरुणाश्व को बन्दी के रूप में दरबार में पेश किया। उसके उत्तराधिकारी काओ-त्सुङ (६४६-६८३) ने कोरिया को जीत कर सिल्ला राजवंश को सत्ता दी। इस वंश में शुआन-त्सुङ (७१२-७५६) बड़ा शानदार और प्रतापी राजा हुआ। लेकिन

खीतान, युइगुर, तुर्क, थाई, तिब्बती और अरब अपनी ताकत बढ़ाते जा रहे थे जिससे थाङ शासन हिलने लगा। काफी गड़बड़ रही। अनेक छोटे-मोटे राजवंश आये-गये। आखीर में थाइ-त्सु (९६०-९७६) ने शान्ति और एकता कायम की। उससे सुङ वंश शुरू होता है। लेकिन उत्तरी चीन पर खीतान हावी हो गये और पोली नदी के बड़े घुमाव के उत्तर में और कानसू प्रान्त में शिया नामक तिब्बती-तोंगू राजवंश ने पैर जमा लिये। सम्राट् रन-त्सुङ (१०२३-१०६३) ने पुराणपन्थिता और परम्परावादिता को बढ़ावा दिया किन्तु शेन-त्सुङ (१०६८-१०८५) ने पुराणवादियों को शासन से हटाकर सुधारों के दरवाजे खोल दिये। चे-त्सुङ (१०८६-११००) और हुइ-त्सुङ (११००-११२५) का राज्य-काल सुधारवादी और प्रबुद्ध प्रवृत्तियों के लिए प्रसिद्ध है। अन्त में किन नामक मंगोल आक्रमणकारी उभर आये। याङ्त्जे नदी उनके और सुङ राज्य के बीच की विभाजक रेखा बन गयी। १५३ वर्ष तक यह विभाजन चला। इसके बाद मंगोलों ने पूरे चीन को जीतकर युवान वंश की नींव रखी।

सुई-थाङ काल में प्रशासनिक संस्थाओं को दृढ़ कर राजतंत्र को वह रूप दिया गया जो सदियों तक चला। समस्त देश को प्रान्तों (ताओ) में बाँटा गया जिनकी संख्या शुरू में १० थी और बाद में १५ कर दी गयी। हर प्रान्त हलकों (चू) में बँटा था और हर हलका जिलों (शिएन) में और हर जिला किलाबन्द कस्बों पर केन्द्रित देहात में। हर छोटी इकाई के प्रशासक उससे ऊपर की इकाई के अफसरों के मातहत होते थे लेकिन हलकों (चू) के अधिकारी सीधे मन्त्रियों से आज्ञा प्राप्त करते और उन्हें अपने विवरण प्रस्तुत करते थे। डाक की एक अत्यन्त विस्तृत व्यवस्था सारे देश को जोड़े हुई थीं। सरकारी पदों पर अफसरों की नियुक्तियाँ मुकाबले की परीक्षाओं द्वारा होती थीं और तरक्कियाँ वार्षिक योग्यता के विवरणों के आधार पर की जाती थीं। इस पद्धति को काफी परिष्कृत किया गया था।

सुङ काल में प्रशासन में कुछ तबदीलियाँ की गयीं। प्रान्तों (ताओ) के बजाय इलाके (लू) कायम किये गये और उन्हें हलकों (चू) और जिलों (शिएन्) में बाँटा गया। इस युग में एक तो सैनिक प्रशासन को माली और दीवानी शासन से अलग और उसके मातहत किया गया और दूसरे परीक्षा-पद्धति को और ज्यादा सुधार कर शासन में अफसरशाही को बढ़ावा दिया गया। थाङ युग में सैनिक सेवा कर-व्यवस्था का अंग थी और हर किसान के लिए लाजमी थी। ये किसान सेनाएँ प्रादेशिक सेनापतियों के अधीन थीं जो प्रायः स्वायत्त हो राज्य की एकता के लिए खतरा पैदा करते थे। सुङ राजाओं ने इस पद्धति को खत्म कर इन सेनाओं को बर्खास्त कर दिया और उनकी जगह तनख्वाहदार सैनिक भर्ती किये जिनमें ज्यादातर सीमाओं पर रहने वाले विदेशी थे। इससे चीनी जनता

का ध्यान सैनिक कार्यों से हट गया और वह शान्ति और संस्कृति की ओर अधिक झुकने लगी। सरकारी नौकरी और विद्वत्ता के संयोग से, जिसका अन्दाजा इस बात से किया जा सकता है कि ११४८ से १२५६ तक आधे से ज्यादा दीवानी शासन के अफसर उन परिवारों से सम्बन्धित थे जिनके बाप-दादा पिछली तीन पीढ़ियों से कभी सरकारी पदों पर नहीं रहे, सब वर्गों के लोग शास्त्रीय अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए जिससे कन्फ्यूशियसी विचारधारा तेज हुई और पुराणपन्थिता का जोर हुआ।

१०४३ में फान चुङ-येन (९८९-१०५२) ने प्रशासनिक सुधार का दस-सूत्री कार्यक्रम पेश किया। इसमें खास बात थी योग्यता का मूल्यांकन करते समय व्यावहारिक बातों को महत्त्व देने की सिफारिश, नामजद व्यक्तियों को कभी उच्च निरीक्षक या अकादमी के सदस्य जैसे पदों पर नियुक्त न करने की माँग थी और नियुक्ति के समय परीक्षा के अलावा लोकमत और चरित्र को भी दृष्टि में रखने पर जोर दिया गया था। कुछ समय के लिए शासन इस कार्यक्रम की ओर प्रवृत्त रहा लेकिन बाद में इसका विरोध बढ़ा। इधर जनसंख्या के बढ़ने, खेतों के छोटा होने और जमीन से ज्यादा काम लेने से खेती की पैदावार घटी और उधर वैतनिक सेवाओं के विस्तार से सरकार का खर्चा बढ़ा। इससे आर्थिक संकट खड़ा हो गया। ऐसी हालत में मुख्य परामर्शदाता वाङ आन-शर (१०२१-१०८६) ने १०६९ में 'नये कानूनों' की घोषणा की। इसमें नकद लगान, किसानों को सरकारी कर्जे देने, कर लगाने के लिए खेतों को पाँच किस्म के 'चौकोर खेतों' (फाङ) में बाँटने, जायदादों की कीमतों पर नियन्त्रण करने, लोगों की निजी सम्पत्ति की तालिकाएँ तैयार करने, तनख्वाहदार सैनिकों को भर्ती करने के बजाय किसानों से सैनिक सेवा लेने के पुराने तरीके को अपनाने और शिक्षा का प्रसार करने और उसमें निरे शास्त्रीय ज्ञान के अलावा व्यावहारिक विषयों को महत्त्व देने की व्यवस्था थी। इन कानूनों से, हालाँकि इनपर ठीक तरह से अमल नहीं हुआ, किसानों और साधारण जनता की हालत काफी सुधरी जैसा कि जनसंख्या के १०८३ में, १७,२,११,७१३ परिवारों के ९,००,००,००० व्यक्तियों से बढ़कर ११२४ में २,०८,८२,२५९ परिवारों के १०,००,००,००० व्यक्तियों तक पहुँच जाने से जाहिर है। २० वर्ष बाद इन्हें वापस ले लिया गया।

सई और थाङ शासकों ने सामन्ती विधान को दबाने की कोशिश की। उन्होंने उमरा को जमीनें देने के बजाय उनका लगान वसूल करने का हक देना शुरू किया। भूमि का मालिक किसान ही था। उसका वितरण 'समान-क्षेत्र' (चुन-थिएन) पद्धति के अनुसार किया गया। १८ और ५९ वर्ष के बीच की आयु के हर वयस्क आदमी को ८० मू (बीघा) भूमि जीवन भर के लिए दी गयी और २० मू (बीघा) हमेशा के लिए। बीमार, बूढ़े

और अपंग व्यक्ति के लिए जीवन भर के लिए दी गयी भूमि की दर ४० मू थी। विधवा को ३० मू मिलते थे और यदि वह परिवार की बड़ी होती तो उसे २० मू जीवन भर के लिए और २० मू हमेशा के लिए दिये जाते। बच्चों, लड़कों और अल्पवयस्कों को भी इसी हिसाब से जमीनें दी जातीं। जिन इलाकों में जमीन की कमी होती वहाँ इन दरों में ५०% की कटौती कर दी जाती और जहाँ जमीनें घटिया थीं और दो साल में एक बार फसल देती थीं वहाँ उनकी दर दोगुनी कर दी जाती। जो जमीनें हमेशा के लिए दी जातीं उनपर किसानों को प्रति मू ५० शहतूत के पेड़ और १० खजूर के पेड़ लगाने लाजमी थे। लगान की दर निश्चित थी। हर किसान को प्रतिवर्ष ५ हू (६०० पौण्ड=३ क्विण्टल=७½ मन) चावल, २ थान बढ़िया रेशम और २० फुट घटिया कपड़ा या, जहाँ रेशम के कीड़े नहीं पाले जाते थे, १४ औंस चाँदी लगान के रूप में देने पड़ते थे। इसके अलावा साल में बीस दिन बेगार के रूप में सार्वजनिक कार्यों पर काम करना पड़ता था। यदि वह किसी दिन बेगार न करे तो उसे १ गज रेशम देना पड़ता था। लगान और बेगार की दरें शहरों और कस्बों के दरवाजों और गाँवों के बाजारों में चिपकायी जाती थीं जिससे सब लोग उन्हें जान लें। लगान वसूल करने के लिए 'तीन-मुखिया' (सान-चाङ) पद्धति चालू थी। इसके अनुसार पाँच परिवारों का एक गुट होता था जिसे 'लिन' कहते थे। 'लिन' का मुखिया 'लिन-चाङ' कहलाता था। पाँच 'लिन' का दल 'ली' होता था और इसके मुखिया का नाम 'ली-चाङ' था। पाँच 'ली' एक समूह में बँधे थे, जिसे 'ताङ' कहते थे और इसका मुखिया 'ताङ-चाङ' था। ये तीनों किस्म के मुखिया आपसी तौर से लगान और बेगार की अदायगी के जिम्मेदार होते थे। इससे बड़े परिवारों का महत्त्व कम हो गया।

लेकिन कुछ तत्त्व ऐसे थे जिन्हें 'समान-क्षेत्र' (चुन-थिएन) और 'तीन-मुखिया' (सान-चाङ) पद्धतियों को व्यावहारिक रूप देने में बाधा खड़ी की। एक तो गुलामों को आधे लगान पर भूमि देने की प्रथा थी। इससे जिस आदमी के पास गुलाम होता उसकी भूमि भी ज्यादा हो जाती। दूसरे, लोग अपनी स्थायी ज़मीनें बेच सकते थे। इससे वितरण की समानता ख़त्म होने लगी। तीसरे, उमरा और सरकारी अफसरों को ज़मीनें देने की अलग दरें थीं। ७८२ में उनकी स्थायी ज़मीनों को कम करने का आदेश जारी किया गया लेकिन उसपर अमल नहीं हुआ। चौथे, बुद्ध और ताओवादी विहार और भिक्षु, कर और बेगार से मुक्त थे। सातवीं सदी के एक लेखक ली ते-यू के अनुसार ६,००,००० व्यक्ति सालाना भिक्षु बनते थे। हालाँकि बिना सरकारी लाइसेन्स के कोई भिक्षु नहीं बन सकता था, फिर भी क़रीब १०० लाइसेन्स रोज़ाना जारी होते थे और फिर ये बढ़े हुए दामों पर बाज़ार में बिकते थे, क्योंकि इनकी माँग बहुत ज्यादा

थी। हर भिक्षु को ३० मू और भिक्षुणी को २० मू भूमि बिना लगान-बेगार के मिलती थी। विहारों की भूमि अलग थी। नवीं सदी के मध्य तक इन संस्थाओं के २,६०,००० भिक्षु-भिक्षुणियों और १,५०,००० दासों के पास कई लाख चिङ भूमि—प्रत्येक व्यक्ति के पास औसतन एक चिङ (१०० बीघे) भूमि—हो गयी थी। इस तरह भूमि के समान वितरण की व्यवस्था ज्यादा कारगर न हो पायी।

आठवीं सदी में लगान वसूल करने में दिक्क़त होने लगी। इसलिए याङ येन (७२७-७८१) ने साल में दो बार लगान वसूल करने का नया तरीक़ा चलाया। इसके अनुसार लगान व्यक्ति के बजाय भूमि पर लगाया गया और उसे छठे और ग्यारहवें महीनों में वसूल किया जाने लगा। साथ ही किसानों से फसल में अनाज खरीद कर बाद में सरकारी तौर से निश्चित दरों पर बेचने की व्यवस्था की गयी। कुछ लोगों ने इसे न्यायपूर्ण बताया। वाङ आन-शर ने एक इलाक़े की उपज को दूसरे इलाक़े में सीधे बेचने की योजना बनायी जिससे मूल्य-विधान में कुछ स्थिरता आयी। उसने किसानों के लिए जो किया, उसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

थाङ काल के समाज के चार वर्ग और स्तर थे: (१) पूरे नागरिक, (२) अभियुक्तों के वंशज, जिन्हें सरकार ने बसाया था, (३) सरकारी कुटुम्बी, चतुर कारीगर, निजी आश्रित, (४) सरकारी दास इन्हें ज़मीनें मिली होती थीं। इनके अलावा भूमि-हीन लोग भी थे। इनमें शहर के लोग शामिल थे। इनकी दो श्रेणियाँ थीं, (१) व्यापारी और दस्तकार, (२) कुली-कबाड़ी। इनमें पहली श्रेणी के लोगों को ज़मीनें रखने की इजाजत नहीं थी। उनपर अलग किस्म के कर लगे थे जिनमें चुंगी और पार-उतरवाई शामिल थे।

थाङ युग में उद्योग और व्यापार का अभूतपूर्व विकास हुआ। बहुत से नये आविष्कार हुए। बौद्ध तान्त्रिक ई-शिङ और एक इंजीनियर लिआङ लिङ-त्सान ने मिलकर यान्त्रिक जलघड़ी बनायी। बौद्ध क्षेत्रों में लिखने को पुण्य मानने से आठवीं सदी में छपाई की ईजाद हुई। यह दुनिया को चीन की बड़ी देन है। बौद्ध प्रभाव से चाय का रिवाज बढ़ा और लोहा ढालने के उद्योग का विकास हुआ। छठी सदी में ताओवादी तलवार बनाने वाले छी-वू हुआइ-वेन ने पिटे हुए लोहे के पट्टों और ढले हुए लोहे के टुकड़ों को एक साथ भट्टी में पकाने का तरीक़ा निकाला जिससे ढला हुआ लोहा पिघल कर पिटे हुए लोहे से चिपक जाय और उनमें कारबन का मिश्रण होने से गलनक्रान्तिक इस्पात (यूटेक्टिक स्टील) बन सके। लोहे की ज़ंजीरों पर लटकने वाले पुल बनाये जाने लगे। सुङ काल यन्त्रों के आविष्कार का स्वर्ण-युग था। क्रेंक और दुहरे चलने वाले पिस्टन वाली धौंकनी के आधार पर स्वतःचालित मशीनें बनने लगीं। १३१३ में

वाङ चेन ने जल-शक्ति से चलने वाली यन्त्रिक धौंकनी का विस्तृत वर्णन किया। इस शक्ति से रेशमी की खड्डियाँ और उसे लपेटने की मशीनें भी चलने लगीं। लोहे की ढलाई की कला ने बहुत उन्नति की। गोले-बारूद की खोज हुई। नवीं सदी में कोयले, क़लमी शोरे और गन्धक को मिलाकर एक योग बनाया गया और इसे ६१६ में 'हुओ-याओ' (अग्नि-बूटी) का नाम दिया गया। १०४४ में एक सैनिक निर्देशिका में गोला-बारूद बनाने का स्पष्ट उल्लेख है। बारहवीं सदी में, ११२० के क़रीब, नालीदार बन्दूक के प्रयोग का साक्ष्य मिलता है। १२३० के लगभग गोला-बारूद लड़ाई में खुलकर प्रयुक्त होता था। इस ईजाद से दुनिया का इतिहास कितना बदला यह कहने की जरूरत नहीं है। चिकित्सा-शास्त्र की उन्नति का अन्दाज़ा इस बात से किया जा सकता है कि ग्यारहवीं सदी में चीनी चिकित्सकों ने नथनों में चेचक रोकने की दवा चढ़ाकर इस बीमारी से बचने का उपाय खोज लिया। इस युग में अपने-आप चलने वाली घड़ियाँ और घण्टाघर भी बनने लगे। चुम्बक की खोज इस युग की महान् उपलब्धि है। १०४४ में त्सेङ कुङ-लिआङ के 'वू-चिङ त्सुङ-याओ' में इसका वर्णन है। बारहवीं सदी में क़ुत्बनुमा तैयार हो गया जिसने जहाज़रानी में आमूल परिवर्तन कर दिया। यन्त्र से चलने वाले क्षेपणी-नुमा पहियों वाली नाव भी इस युग की महत्त्वपूर्ण देन है।

वैज्ञानिक और तकनीकी विकास से उद्योग-व्यापार को बहुत बढ़ावा मिला। थाङ युग में खानों से सालाना ३६० टन ताँबा, ८५ टन सीसा, १५ टन टीन, ३१७ टन लोहा, २५,००० औंस चाँदी निकलती थी। ६६ टकसालें ३,२७,००० मुद्राओं की लड़ियाँ बनाती थीं—प्रत्येक लड़ी एक औंस चाँदी के बराबर होती थी। १८ झीलों और ६४० कुओं से नमक निकलता था। टकसाल, नमक, लोहा और ताँबा सरकारी इजारेदारियाँ थीं। चीनी मिट्टी के बरतनों ने, जो काँच की चीज़ों जैसे बारीक होते थे, दूर-दूर तक नाम पाया था। लकड़ी के ठप्पों से कपड़ा छापने का धन्धा बहुत उन्नति पर था। चीनी सोना, चाँदी, ताँबे की मुद्रा, चीनी मिट्टी का सामान, रेशम, किताबें, चित्र और कला-कृतियाँ, गुग्गुल, गर्म मसाले, हाथीदाँत, मूँग, अम्बर आबनूस, सूती कपड़े, घोड़ों आदि के बदले में दूर-दूर तक जाता था। इस व्यापार से चीनी व्यापारी और चीन में रहने वाले विदेशी व्यापारी मालामाल हो रहे थे। साथ ही विदेशों से सम्पर्क बढ़ रहा था और उनके विषय में नयी-नयी सूचनाएँ प्राप्त हो रही थीं। चाङ रू-कुआ को एशिया, अफ्रीका और यूरोप के अनेक देशों का पता था।

सुङ काल में उद्योग-व्यापार के विकास से समाज में बड़ी रद्दोबदल हुई। व्यापारिक क्रान्ति से पुराने भूमिपरक अभिजातवर्ग के बजाय एक नया संस्कृत और शिक्षित वर्ग उभरा। नयी कर-पद्धति से ज़मींदारों के लिए करों की चोरी करना असम्भव

हो गया, मुकाबले की परीक्षाओं द्वारा अफसरों की नियुक्ति से सरकारी सेवाएँ साधारण जनता के लिए खुल गयीं। युद्ध का महत्त्व कम हो जाने से पुराने लड़ाकू नेताओं के स्थान पर शान्तिप्रिय नागरिक वर्ग ऊपर उठा। व्यापार से कमाये हुए धन से लोग जायदादें खरीदने लगे और भूमि के स्वामी बन गये। नये व्यापारी-जमींदार-अफसर वर्ग में सामाजिक तरलता और गतिशीलता थी। उसमें अवसर की समानता और सम्पत्ति की शालीनता का बड़ा महत्त्व था। उसे नागरिक जीवन ज्यादा पसन्द था। आठवीं सदी के मध्य में एक लाख घरानों से ऊपर की आबादी के शहरों की संख्या १३ थी तो ग्यारहवीं सदी के अन्त में ४६ हो गयी। ये शहर दीवारों से घिरे थे। कुछ शहरों में सिर्फ व्यापारी और कारीगर रहते थे जो श्रेणियों में संगठित थे। मकानों की छतें ऊँची थीं और फर्श पत्थर के थे। उनमें कुर्सी और सोफे बिछे थे और उनके साथ बग़ीचे थे। मकानों के बाहरी हिस्से सड़कों पर खुलते और दुकानों और गोदामों का काम देते थे। उनपर सुबह से शाम तक दलालों और ग्राहकों का ताँता बँधा रहता था। लोग खाने-पहनने के शौक़ीन थे और होटल, चकले, पानशाला, प्रेक्षागृहों में आनन्द करते थे। कठपुतली के तमाशे, हस्तलाघव और शोबदेबाज़ी, कथावाचन और आतिशबाज़ी का बड़ा रिवाज था। दीपोत्सव पर शहर के मुख्य दरवाज़ों पर आतिशबाज़ी दिखायी जाती और अच्छे कारीगरों पर सिक्के बखेरते और शराब उछालते। लेकिन आनन्द और आमोद के दृश्यों के साथ-साथ दरिद्रता और निर्धनता के नज़ारे भी दीखते थे। धनाढ्य, संस्कृत, विद्वान नागरिकों के साथ-साथ दरिद्र भिखारियों, अनाथों, विधवाओं और भूखों की भीड़ घूमती थी। इनमें ज्यादातर देहात से उखड़े हुए लोग थे। इनका गुज़ारा सरकारी सहायता पर चलता था।

समाज में औरतों का दर्जा मर्दों से नीचे था। ऊँचे वर्ग की स्त्रियाँ नचनियों और वेश्याओं की तरह अपने पैर बाँधने लगी थीं। पाँच वर्ष की आयु से लड़की के पैर बाँध दिये जाते थे जिससे उसकी मिहराबटूट जाती थी और उंगलियाँ अन्दर को हो जाती थीं। उससे पैर का आकार भी आधा हो जाता था और स्त्री आर्थिक दृष्टि से बेकार और पुरुष के अधीन हो जाती थी।

थाङ युग में शिक्षा का प्रसार तेज़ी से हुआ। राजकीय अकादमी (कुओ-त्ज़ु चिएन) के नीचे अनेक राष्ट्रीय विद्यालय और क़ानून, गणित और साहित्य के संस्थान खोले गये। हलक़ों, इलाक़ों और जिलों में भी विद्यालय थे। ६३१ के लगभग राजकीय अकादमी में ३,२६० विद्यार्थी थे किन्तु बाद में इनकी संख्या ८,००० हो गयी। इनमें कोरिया, जापान, तिब्बत और मध्य एशिया के विद्यार्थी भी शामिल थे। बौद्ध और ताओवादी अपने अलग विद्यालय चलाते थे।

धर्म-दर्शन के विषय में थाङ युग के लोग समन्वयवादी थे। सुई सम्राट् ने कन्फ्यूशियसी, ताओ और बौद्ध धर्मों का 'महान् समन्वय' (ता थुङ) शुरू किया। थाङ राजाओं ने इस नीति को जारी रखा। लेकिन इसपर बौद्ध धर्म की गहरी छाप थी। जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं उस युग में बौद्ध धर्म चीन की सामाजिक और राष्ट्रीय एकता का वाहन बन चुका था। इसलिए सुई और थाङ राजाओं ने इसे विशेष प्रोत्साहन दिया। इस युग को इस धर्म का स्वर्णकाल कहा जा सकता है। किन्तु बौद्ध विहार आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र और करों से मुक्त थे। भिक्षुओं में भी बहुत से गन्दे आदमी थे। अतः ८४१-४५ में विहारों के विरुद्ध अभियान चलाया गया। एक सरकारी अनुमान के अनुसार ४,६०० विहार और ४०,००० मन्दिर बन्द किये गये और २,६०,५०० भिक्षु-भिक्षुणियों को गृहस्थ बनाया गया और उनके साथ लगे २,६०,००० लोगों और १,५०,००० दासों को रिहा किया गया। किन्तु इन संख्याओं में अतिशयोक्ति की गन्ध है। जापानी यात्री एन्निन ने लिखा है कि जनता में इस नीति का इतना प्रबल विरोध था कि इसे कार्यान्वित करना कठिन था। पीली नदी के उत्तर में कोई विहार बन्द नहीं किया गया। दक्षिणी चीन में भी राजदरबार में बौद्ध धर्म का काफी मान रहा। ८४५ के आदेश में स्पष्ट कर दिया गया कि हर इलाक़े में एक विहार चल सकता है। अगले साल यह आदेश जारी किया गया कि हर ज़िले में दो विहार हों और ५० वर्ष से अधिक की आयु के उन सब भिक्षुओं को, जिन्हें ज़बरदस्ती गृहस्थ बनाया गया है, फिर से काषाय वस्त्र ग्रहण की इजाज़त दी जाय। लगता है कि उपर्युक्त अभियान बौद्धों के प्रति नहीं था, वरन् भिक्षुओं और विहारों के विरुद्ध था जो शासन के लिए भार हो गये थे। चीन में बौद्ध बराबर बने रहे।

सुङ युग की महान् सांस्कृतिक उपलब्धि नव-कन्फ्यूशियसी धर्म-दर्शन है। इसे 'ताओ श्युएह' कहते हैं। इसको व्यवस्थित रूप देने वाला सब से पहला आचार्य चू तुन-यी (१०१७-७२) था। उसने 'महान् चरमतत्त्व' (थाई-ची) की परिकल्पना प्रस्तुत की और उसे बौद्ध परिभाषा के अनुसार 'शून्य' से मिलाया। यह चरमतत्त्व 'गति' (याङ) और 'स्थिति' (यिन) की शक्तियों के द्वारा कार्य करता है और इससे पाँच तत्त्व (छी)—जल, अग्नि, काष्ट, धातु और मिट्टी पैदा होते हैं जिनके बहुविध संयोग-वियोग से सृष्टि बनती है। एक और आचार्य चाङ त्साई (१०२१-१०७७) ने आदिम अभिन्न तत्त्व (छी) का प्रतिपादन किया जिससे सब व्यक्तिगत वस्तुएँ बनती हैं। इस प्रक्रिया में 'छी' एक व्यवस्था के अनुसार चलती है जिसे 'ली' कहते हैं। इससे प्रकृति में ऋत और क्रम और नियम चलते हैं। इस मत का सब से प्रसिद्ध प्रवक्ता चू-शी (११३०-१२००) था। उसे पेलिओ ने पूर्व का अरिस्तु कहा है। उसका विचार था कि सब

वस्तुएँ 'ली' (विचार या परिकल्पना) के 'छी' (भौतिक तत्त्व) में संक्रान्त होने से बनी हैं। छेङ हाओ (१०३२-१०८५) ने सिद्ध किया कि मनुष्य का मन और विश्व-मन एक हैं।

नव-कन्फ्यूशियसी नीतिशास्त्र उसके दर्शन की तरह ही महान् है। इसके सब आचार्यों ने घोषणा की कि प्रकृति की व्यवस्था शिव और शुभ का पर्याय है। इस व्यवस्था को अपने जीवन में उतारना ही मंगल मार्ग है। चू तुन-यी के अनुसार निष्कामता (वू-यू) का अर्थ अपने और विश्व में पूर्ण तादात्म्य क़ायम करना और अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को सम्पूर्ण विश्व के सभी प्राणियों की इच्छाओं और आवश्यकताओं के साथ पूरी तरह एक कर देना है। 'पश्चिमी अभिलेख' (शी-मिङ) के अनुसार, जो चाङत्साई के अध्ययन-कक्ष की पश्चिमी दीवार पर खुदा था, हर आदमी को यह सोचना चाहिए कि "विश्व में जो सर्वत्र व्याप्त है वह मेरा शरीर है और जो विश्व का नियमन करता है वह मेरी प्रकृति है; सब मनुष्य मेरे भाई-बहिन हैं और सब चीज़ें मेरी साथी हैं"। इस तरह वात्सल्य भाव का क्षेत्र समस्त मानवता होना चाहिए। मानव प्रेम, विश्व-समन्वय का रूप है। इस सार्वभौम विश्वजनीन नैतिक साधनों में महायान का सार्वभौम आदर्श निहित है।

थाङ युग चीनी साहित्य का स्वर्णयुग कहलाता है। उसमें करीब ३,००० कवियों ने लिखा और गाया। उन्हें दो सम्प्रदायों में बाँटा जा सकता है, वाङ वेई (६९९-७५९) का सम्प्रदाय और त्सेन त्सान (७१५-७७०) का सम्प्रदाय। पहले की पाँच-शब्दों की कविताओं में संयम और मृदुलता का भाव है और दूसरे की सात शब्दों की कविताओं में ओज और उद्रेक है और युद्ध का भाव है। इस युग के सब से बड़े कवि ली पो (७०१-७६२) और तू फू (७१२-७७०) हैं। ली पो में ताओवादी भाव है और भावना का सहज उफान है। उसकी कविताएँ ऐसी लगती हैं जैसे स्वच्छ जल से उभरे कमल हों। किन्तु तू फू में शैली का परिष्कार और कलापक्ष की प्रधानता है। एक अन्य कवि पो चू-ई (७७२-८४६) ने सम्राट् श्युआन त्सुङ और उसकी प्रेयसी याङ कुएइ-फेइ का प्रेमाख्यान लिखा है। इस सब कविता में रोमांस और प्राकृतिकता ओत-प्रोत है। इस युग में नाटक और लघुकथा की भी शुरुआत हुई और गद्य लेखन नाटक आगे बढ़ा। गद्यकारों में हान यू (७६८-८२४) के बौद्ध-विरोधी प्रबन्ध उल्लेखनीय हैं। वह शास्त्रीय गद्य का प्रवर्तक है।

उत्तर थाङ युग और सुङ युग में संगीत और काव्य का संगम हुआ और इससे 'तिएन त्से' नामक कविता का विकास हुआ। इसमें शब्दों की आढ्यता के अलावा रस का ऐश्वर्य भी रहता है। प्रायः स्त्री-सम्बन्धी विषयों की बहुलता होती है और अवसाद

और विषाद का वातावरण सघन होता है। सम्राट् ली यू (७३७-९७८) ने उत्तर में निष्कासित होने पर अपने खेद को इतने पैने 'त्से' में व्यक्त किया कि द्वितीय महायुद्ध के ज़माने में, जब चीन पर जापान का कब्ज़ा था, युवक उन्हें गाते हुए रो पड़ा करते थे। गद्य के क्षेत्र में बौद्ध-सूत्रों की प्रेरणा से लोक-कथानकों (पिएन वेन) का प्रचलन हुआ। दक्षिण के ९३ कथाकारों ने एक श्रेणी बनायी और रोमान्तिक और अलौकिक विषयों पर लोककथाएँ लिखीं। इतिहास-लेखन में अभूतपूर्व उन्नति हुई। तू यू (७३५-८१२) ने २०० अध्यायों में 'थुङ तिएन' नामक चीनी संस्थाओं का इतिहास लिखा। राजवंशों के इतिवृत्तों में सब प्रकार के साहित्य और सामग्री का उपयोग किया जाने लगा। चेङ छिआओ (११०८-११६६) ने 'थुङ-चर' (सामान्य ग्रन्थ) में इतिहास के समन्वित विकास का प्रतिपादन किया और सब राजवंशों को राष्ट्रीय जीवन के परिवेश में प्रस्तुत किया। तेरहवीं सदी में मा तुआन-लिन ने 'वेन शिएन थुङ खाओ' (साहित्यिक अवशेषों के अध्ययन) में सिद्ध किया कि प्रत्येक युग की संस्थाएँ और क़ानून उसी के सन्दर्भ में सार्थक होते हैं, उन्हें सभी युगों में उपयुक्त समझना ग़लत है। छपाई के रिवाज़ से विद्वता को बढ़ावा मिला।

थाङ युग में बौद्ध प्रभाव से मूर्ति कला का बहुत विकास हुआ। वेई युग में बुद्ध-मूर्तियाँ अमूर्त और आध्यात्मिक सी थीं, सुई युग में उनमें मूर्तता आने लगी और थाङ युग में वे मानवीय, चारुतापूर्ण और परिष्कृत हो गयीं। इस युग में देशी मूर्ति-कला भी जागी। इसमें मानवीयता और यथार्थवाद का स्रोत फूटा। उनमें हमें थाङ युग के सार्वभौम समाज के दर्शन होते हैं—कहीं आरमीनी ऊँट चालक है तो कहीं बूट जूते और नमदों के कोट पहने मंगोल साईस और कहीं दक्षिण भारत के महावत। सम्राट् थाई-त्सुङ की क़ब्र पर खुदी छः घोड़ों की मूर्तियाँ अद्वितीय हैं। दुर्भाग्य इस कला के थोड़े ही निदर्शन बचे हैं।

सुङ काल का आदर्श पुरुष विश्व-मानव था जिसमें विद्वान्, कवि, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक और चित्रकार मिल कर एक हो गये थे। इसलिए इस युग में विविध कलाओं और विद्याओं का विकास समन्वित रूप से चला। स्थापत्य में एक तल्ले के भवनों के बजाय अनेक तल्लों के भवनों का रिवाज बढ़ा। बारह-बारह तल्लों के मन्दिर बनने लगे जिनमें हर तल्ले की छत रंगीन चमकदार टाइलों की बनी थी। इन छतों के बाहर निकले हुए कोने ऊपर को मुड़े थे। यह रिवाज आज तक चीनी भवनों में पाया जाता है। बुद्ध-मूर्तियाँ रूढ़ और आलंकारिक हो गयीं। पर लोगों की कलात्मक प्रवृत्ति सब से ज्यादा चित्रण में अभिव्यक्त हुई। थाङ युग में वू ताओ-त्जू, येन ली-पेन और हान-कान ने प्रकृति-चित्रण का श्रीगणेश किया। ली स्सु-शुन ने इसका उत्तरी सम्प्रदाय

शुरू किया, जिसमें कूँची के तेज आघात होते थे, और वाङ वेइ ने दक्षिणी सम्प्रदाय, जिसमें नरम और मृदुल स्पर्श रहते थे। सुङ काल में यह चित्रकला विकास की चरम सीमा पर पहुँची। सम्राट् हुई-त्सुङ (११००-१२२६) ने 'थू-हुआ-युआन' नामक चित्रकला की अकादमी क़ायम की जहाँ विद्यार्थियों को नियमित शिक्षा और परीक्षा के बाद उपाधि दी जाती थी। उसने राजकीय चित्रकक्ष (श्युआन हो हुआ युआन) का भी विस्तार किया और उसमें ६,१९२ चित्रों का संग्रह कराया। उसके अपने चित्र उच्च कोटि के थे। जैसे आड़ू की शाखा पर बैठे कबूतर का चित्र यथार्थ्य और अभिव्यंजना की दृष्टि से निराला है। इसी प्रकार ली छेङ (९७०) की 'शरत्कालीन वनस्थली', ली कुङ-लिन (१०७०-११०६) का 'खोतानी घोड़ा और साईस', मा युआन (११९०-१२२४) का 'याङ-त्ज़े का चलचित्र' सुङ चित्रकला के अद्वितीय दिग्दर्शन हैं। इनमें शैली संयमित और अधिकृत है। प्रकृति की विशालता के बजाय सौम्यता पर ज़ोर है। पहाड़ों को दूर पृष्ठभूमि में डालकर शान्त सरिताओं और पुष्पित वृक्षों को प्रमुखता दी गयी है। टेढ़ी-मेढ़ी शाखाओं से परिवृत चीड़ का एकाकी वृक्ष दरार के कंगूरे पर खड़ा हुआ कन्फ्यूशियसी परम्परा में निष्णात विद्वान्—राज्याधिकारी का प्रतीक है जो जगत् और जीवन के थपेड़ों और चपेटों में भी अपनी एकाग्रता और समरसता नहीं खोता। इस कला में शान्ति, समन्वय और संयम का अपूर्व जगत् तैयार किया गया है जो इस युग की संस्कृति का प्राण था।

## जापान के नारा और फ़ुजीवारा युग

'जापान' ('निप्पोन' आजकल 'निहोन') का अर्थ 'सूर्य का उद्गम है। यह एशिया के पूर्वी भाग की द्वीप-श्रृंखला के होक्कैदो, होन्शू, शिकोकू, क्यूशू द्वीपों का नाम है। यहाँ के लोगों में भौगोलिक परिस्थिति के कारण मौलिक एकता और सामंजस्य है और साथ ही दूसरे देशों के लोगों से सम्पर्क रखने और उनकी अच्छी बातें सीखने की प्रवृत्ति है। इन लोगों में मंगोलोई और आदिम कॉकेशियाई ऐनू जातियों का मिश्रण है। कुछ ऐसी भी मान्यता है कि एशियाई स्थल से यायोई नामक लोग जापान में बस गये। कालान्तर में जापानी लोग छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँट गये। एक टुकड़ी को 'ऊजी' कहते थे। इसमें बहुत से घराने थे। यह अपने आप में पूरी होती थी। इसमें उस समय के हर वर्ग और व्यवस्था के लोग थे। धीरे-धीरे इनमें से तीन 'ऊजी' ऊपर उभरीं। उनमें चौथी सदी के अन्त तक यामातो की 'ऊजी' सर्वोपरि हो गयी और उसका सरदार सारे जापान का शासक बन गया। यह माना जाने लगा कि वह सूर्यदेवी आमातेरासू का वंशज है। आज तक जापान में जो राजवंश चल रहा है वह उसी से निकला है।

छठी सदी के उत्तरार्ध में कोरिया से बौद्ध धर्म जापान पहुँचा। साथ ही वहाँ चीन का प्रभाव पड़ने लगा और चीनी विद्यार्थियों, प्रचारकों, भिक्षुओं और दस्तकारों का आना-जाना शुरू हो गया। इन प्रेरणाओं से राजकुमार शोतोकू ने केन्द्रीकृत राज-व्यवस्था कायम करने का विचार किया। ६०४ में उसने सत्रह धाराओं के एक संविधान की घोषणा की। इसमें बौद्ध धर्म को राष्ट्रीय धर्म के रूप में स्वीकार किया गया और कन्फ्यूशियसी पद्धति पर केन्द्रीकृत राज-व्यवस्था क़ायम करने का संकल्प किया गया। परम्परागत सरदारों के बजाय वैतनिक कर्मचारियों का प्रशासन जारी किया गया और उन्हें आठ श्रेणियों में बाँटा गया जिनमें हरेक में 'ऊँचे' और 'नीचे' दर्जे थे। पुराने सरदारों को लोगों से कर लेने और बेगार कराने की मनाही की गयी। ६०७ में शोतोकू ने चीन में जो अपना दूतमण्डल भेजा उसमें अपने को 'सूर्योदय के देश का देवपुत्र' कहा। तब से ८३८ तक सोलह जापानी दूतमण्डल चीन गये और उनके माध्यम से जापान में चीनी संस्कृति और शासन-व्यवस्था का सूत्रपात हुआ।

शोतोकू के ६०४ के संविधान के बाद ६४६ में तेनची और कामातारी ने ताईका सुधार (ताईका नो काइशीन) जारी कर केन्द्रीकरण की प्रक्रिया को और आगे बढ़ाया। उन्होंने सभी बड़ी रियासतों और जायदादों का ख़ात्मा कर थाङ नमूने का केन्द्र द्वारा नियुक्त अधिकारियों द्वारा चलने वाला प्रान्तीय प्रशासन शुरू किया, जनसंख्या के होशियारी से तैयार किये गये आँकड़ों के अनुसार किसानों में ज़मीन का वितरण किया, करों में एकरूपता उत्पन्न की और डाकघरों और चुंगी के अड़सल्लों से लैस सड़कों का देशव्यापी जाल बिछवाया। इन सुधारों को कार्यान्वित करने में काफी समय लगा, किन्तु आठवीं सदी में उनका रूप निखर गया। ७१० से ७८४ तक के काल को नारा युग कहते हैं क्योंकि इसमें राज्य का केन्द्र थाङ राजधानी के नमूने पर बनवाये गये नारा नामक नगर में स्थित था।

नारा युग का सारा विधान चीनी प्रेरणा से अनुप्राणित था। केन्द्र से राज्य करने वाले राजा को चीनी पद्धति के अनुसार 'तेन्नो' ('देवपुत्र' या 'दिव्य सम्राट्') कहते थे। उसके नीचे एक राजपरिषद् (दाईजोकान) होती थी। उसमें प्रधान मन्त्री (दाईजो दाईज़ीन) के अलावा वामपक्ष का मन्त्री (सादाईजीन) और दक्षिण पक्ष का मन्त्री (ऊदाईजीन) होते थे। इस परिषद् के मातहत आठ मन्त्रालय (शो) काम करते थे। इनमें केन्द्रीय प्रशासन का मन्त्रालय एक प्रकार का सचिवालय था। औपचारिक अवसरों पर वाद्य, संगीत और नृत्य का विधान था। ये चीनी शैली के थे।

सारा राज्य हलक़ों (दो) में बँटा था। प्रत्येक हलक़ा प्रान्तों (कूनी) में विभक्त था। नवीं सदी में प्रान्तों की संख्या ६६ थी। प्रान्त (कूनी) के टुकड़े ज़िले

(गून) कहलाते थे। ये ५९२ थे। हर ज़िले में परगने होते थे। परगना क़रीब ३ गाँव के समूह का नाम था। फिर गाँव थे। वहाँ के लोग पाँच-पाँच परिवारों की इकाइयों में बँधे हुए थे। इनमें हरेक एक दूसरे के आचार का ज़िम्मेदार होता था। भूमि और लगान की पद्धति चीनी नमूने की थी जिसका जिक्र पिछले अनुच्छेद में किया जा चुका है। करों में ज़मीन की पैदावार का भाग, रेशम का भाग, बेगार शामिल थे। कभी-कभी करों के बजाय सैनिक सेवा ली जाती थी।

लेकिन चीनी पद्धति की कुछ ख़ास बातें जापान में नहीं जम सकीं। जापानियों ने परीक्षा-प्रणाली द्वारा योग्यता का मूल्यांकन करने और उसके आधार पर सरकारी पदों पर नियुक्तियाँ करने के तरीक़े को नहीं अपनाया। उनमें पैतृक और परम्परागत अधिकारियों को लगाये रखने का रिवाज बना रहा। इससे अभिजात वर्ग शासन पर हावी रहा।

अभिजात वर्ग के अलावा, जिसकी कई श्रेणियाँ थीं, सामान्य जनता थी, जिसे 'भद्रजन' (रयोमिन) कहते थे। इससे नीचे छोटे आदमी (सेम्मिन) थे जिनमें ग़ुलाम भी शामिल थे। कोरिया में भी इसी प्रकार का विभाजन था।

धीरे-धीरे उपर्युक्त शासन-पद्धति भग्न होने लगी। खेती-बारी को बढ़ावा देने के लिए सरकार ने नयी जमीन तोड़ने वालों को करों की राहत दी। ७२३ में यह कानून बनाया गया कि जो लोग नयी जमीनें तोड़ें वे उन्हें तीन पीढ़ियों तक रख सकते हैं। ७४३ में यह घोषणा की गयी कि ऐसी जमीनें लोगों की स्थायी सम्पत्ति होंगी। ७७२ में बंजर को चलती जमीनों में मिलाने पर से सब किस्म की पाबन्दी उठा ली गयी। चूँकि जमीन को तोड़ने पर लागत लगती थी इसलिए अमीर आदमी या धार्मिक संस्थाएँ, विशेषतः बौद्ध विहार ही ऐसा कर सकते थे। फलतः अमीर लोगों की जायदादें बढ़ने लगीं और उन्होंने धीरे-धीरे बड़ी-बड़ी रियासतों (शो) का रूप ले लिया। अगले छः-सात सौ वर्ष तक वे खेती-बारी के तन्त्र पर छायी रहीं।

बड़ी-बड़ी रियासतों के मालिक ही सरकारी पदों पर काम करते थे। इसलिए उनके लिए करों से बचना बहुत आसान था। अक्सर सामान्य लोग करों से बचने के लिए सरकारी अफसरों के परिवारों या मन्दिरों को अपना संरक्षक (होन्के) मान कर अपनी जायदादें उनकी रियासतों के साथ शामिल कर देते थे, क्योंकि वे करों से मुक्त थे। जो कुछ देना पड़ता वह करों से काफी कम था। दसवीं सदी तक देश की ज्यादातर भूमि इस प्रकार कर मुक्त हो गयी। इससे एक ओर सामन्ती विधान को बढ़ावा मिला और दूसरी ओर केन्द्रीय शासन कमजोर होने लगा। राज दरबार का काम औपचारिक रह गया।

इस परिवर्तन के दौरान फूजीवाश परिवार के लोगों ने सत्ता हथिया ली। उनकी

उत्तरी शाखा (होन्के) ने राज-दरबार पर अपना पूरा सिक्का जमा लिया। उनके शाही खानदान में रिश्ते-नाते होने लगे। ८५८ में उनके परिवार के योशीफूसा ने अपने नौ वर्ष के पोते को राजगद्दी पर बैठा दिया और खुद उसका वली बन गया। उन्नीसवीं सदी तक उसके वंशज राज-दरबार पर हावी रहे क्योंकि जब-जब नाबालिग राजा गद्दी पर आते, वे उनके संरक्षक का काम करते। किन्तु तेरहवीं सदी में फूजीवारा अनेक शाखाओं में बँट गया और उनके नाम उन गलियों के ऊपर रखे जाने लगे जिनमें उनके मकान थे। फलतः कोनोये, कूजो, नीजो, इचीजो, ताकात्सुकासा आदि नाम चालू हो गये। लेकिन इन परिवारों के लोगों ने राजगद्दी पर खुद बैठने की कभी कोशिश नहीं की। इससे देश की राजनीतिक एकता का घटाटोप बराबर बना रहा।

फूजीवारा काल में केन्द्रीय शासन तो कमजोर हुआ लेकिन सामन्ती और प्रान्तीय क्षेत्रों में काफी उन्नति हुई जिससे खेती-बारी की पैदावार और जनसंख्या बहुत बढ़ गयी। साथ ही संस्कृति और सुरुचि भी स्वतन्त्र विकास की ओर चली। उसने चीन का पल्ला छोड़कर अपना अलग रास्ता अपनाया। अतः इस काल में हमें जापानी जीवन-पद्धति में काफी स्वतन्त्रता के दर्शन होते हैं।

जापान का पुराना धर्म 'शीन्तो' (देवताओं की पद्धति) कहलाता है। इसमें प्रकृति के रूपों को देवता समझ कर पूजा जाता है। उन्हें 'कामी' (श्रेष्ठ) कहते हैं। उनका सम्बन्ध जापान के राजवंश से जोड़ा जाता है। अनेक आख्यान धर्म और राज्य की कड़ी का काम करते हैं। शीन्तो मन्दिर सीधे-सादे किन्तु सुरुचि और सौन्दर्य के प्रतीक होते हैं। उनमें पूजा का विधान भी सरल होता है। ताली बजाना, सिर झुकाना और साधारण सा उपहार देना काफी होता है। विशेष उत्सवों पर बड़ी ठाठ-बाट और शान-शौकत होती है।

५३८ में कोरिया से बौद्ध सूत्रों और मूर्तियों के जापान ले जाने पर वहाँ इस धर्म का प्रचार हो गया। ऊपर कहा जा चुका है कि ६०४ में राजकुमार शोतोकू ने इसे राष्ट्र धर्म घोषित कर दिया। उसने स्वयं तीन बौद्धसूत्रों पर चीनी भाषा में टीकाएँ लिखीं। 'सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र' पर उसके हाथ की लिखी टीका अब तक सुरक्षित है। नारा युग में छः बौद्ध सम्प्रदाय सामने आये : (१) 'सानरोन' (माध्यमिक)—यह ६२५ में कोगूरयो के एक भिक्षु द्वारा प्रतिपादित शून्यवादी दर्शन था और संसार की सापेक्षता पर बहुत जोर देता था। इसका आधार नागार्जुन के ग्रन्थ हैं। (२) 'होस्सो' (विज्ञप्ति-मात्रतावाद)—यह चीनी यात्री श्वान-चाङ द्वारा ६४५ में शुरू किये गये विज्ञानवादी सम्प्रदाय का रूप था, जिसे दोशो (६२८-७००) ने जारी किया और जिसके अनुसार केवल विज्ञान की ही सत्ता स्वीकार की गयी है। (३) केगोन (अवतंसक)—इसे अवतंसक

सूत्र के आधार पर एक भारतीय भिक्षु—बोधिसेन ने ७३६ में जारी किया, यह सार्वभौम बुद्ध, वैरोचन, के विश्व रूप को मानकर ऐतिहासिक बुद्ध को उसकी अभिव्यक्तिमात्र समझता है। (४) रीत्श् (विनय)—इसे विनय के आधार पर चीनी प्रचारक चिएन-चेन (गन्जीन) ने ७५४ में जारी किया, यह दर्शन के झमेले में न पड़कर विनय के नियमों के पालन पर जोर देता है। (५) जोजीत्सू (सत्यसिद्धि)—इसे ६२५ में कोरिया के भिक्षु एकवान ने जारी किया किन्तु इसे सानरोन सम्प्रदाय की शाखा माना जाता रहा। इसका आधार हरिवर्मा का 'सत्यसिद्धि' है। इसका दर्शन सब वस्तुओं की अवास्तविकता (सर्वधर्मशून्यता) और आत्मा के अनस्तित्व (पुद्गलशून्यता) है। (६) कूशा (अभिधार्मिक या सर्वास्तिवाद)—इसे ६५८ में श्वान-चाङ के दो जापानी शिष्यों, चीत्सू और चीतात्सू ने जारी किया। इसका आधार वसुबन्धु कृत 'अभिधर्मकोश' है। यह ७५ धर्मों का तीनों कालों में अस्तित्व मानता है।

बौद्ध धर्म केन्द्रीकृत शासन का पोषक और समर्थक था। इसलिए जापानी सम्राटों ने इसे बहुत प्रोत्साहन दिया। सम्राट् शोमू (७२४-७४९) ने ७४१ में हर प्रान्त में सरकारी भिक्षु-भिक्षुणियों के मठ कायम किये और ७४९ में ५३ फुट ऊँची बुद्ध की काँस्य प्रतिमा खड़ी करायी। इसके लिए तोदाइजी में २८४ फुट लम्बा १६६ फुट चौड़ा और १५२ फुट ऊँचा एक बड़ा कमरा बनवाया गया। ७५२ में एक भारतीय भिक्षु ने बड़ी सजधज से इस मूर्ति की प्रतिष्ठा की।

धीरे-धीरे बौद्ध धर्म ने स्थानीय रंग पकड़ा। शीन्तो युद्ध-देवता हाचीमान बोधिसत्व और बौद्ध धर्म का संरक्षक मान लिया गया। एक मन्दिर में उसे बौद्ध भिक्षु की तरह बैठाया गया। बौद्ध भिक्षुओं ने चीनी भाषा का प्रचार किया और पुल, सड़क आदि बनाने और अन्य व्यावहारिक कार्यों में भाग लेना शुरू किया। उनके प्रभाव से मृत्युदण्ड की प्रथा कम हो गयी। पुनर्जन्म में विश्वास बढ़ गया जिससे मकबरे बनाने की जरूरत नहीं रही। मांस-भक्षण भी कम हो गया हालाँकि सामान्य लोग जल-जन्तुओं को मांस नहीं मानते थे।

फूजीवारा काल में बौद्ध धर्म का और भी जापानीकरण हुआ। शीन्गाने सम्प्रदाय तन्त्र-मन्त्र, टोने-टोटके का प्रचार करने लगा। तेन्दाई सम्प्रदाय चीनी थिएन-थाई का रूप था। सभी शीन्तो देवताओं को बौद्ध देवताओं के साथ मिलाया जाने लगा। सूर्य की देवी आमातेरासू की पहचान वैरोचन से की जाने लगी। बारहवीं सदी में 'रयोबू शीन्तो' सम्प्रदाय ने शीन्तो और बौद्ध धर्म का पूर्ण एकीकरण किया। उसका मत था कि शीन्तो बौद्ध धर्म का ही एक रूप है। दसवीं सदी में कूया (मृ० ९७२) ने केवल श्रद्धा द्वारा मुक्ति पाने के सिद्धान्त की घोषणा की। वह इसका प्रचार करता गलियों में नाचता फिरता।

गेनशीन (९४२-१०१७) ने अपनी पुस्तक 'ओजो योशू' (मुक्ति के मूल सिद्धान्त) में सिद्ध किया कि अमिताभ बुद्ध को 'नामू अमीदा बूत्सू' कह कर एक बार श्रद्धापूर्वक नमस्कार करने मात्र से मुक्ति मिल सकती है। एक अन्य भिक्षु रयोनीन (१०७२-११३२) ने इस मत को आगे बढ़ाते हुए कहा कि किसी एक व्यक्ति का ही अमिताभ को श्रद्धापूर्वक नमस्कार कर लेना सबकी मुक्ति के लिए पर्याप्त है।

इस युग के बौद्ध धर्म में हिन्दू धर्म के अनेक देवी-देवता शामिल हो गये। दण्ड लिये हुए दाईकोकू (महाकाल), वीणा लिये हुए बेन्तेन (सरस्वती) बिशामोन (वैश्रवण) कांगीतेन शोतेन (गणेश) आदि काफी पूजे जाते हैं। तोकयो में महाकाल का मिमेगूरी मन्दिर, कुबेर का तामोन्जी मन्दिर और सरस्वती का चोमेईजी मन्दिर प्रसिद्ध हैं। कीचीजोतेन के नाम से महालक्ष्मी की पूजा प्रचलित है। मुण्डन, उपवास, होम, मन्त्र पाठ चलते हैं।

बौद्ध मन्दिरों के पास काफी बड़ी जायदादें हो गयीं। बाद में इन्होंने फौजें रखनी भी शुरू कर दीं। दसवीं सदी में वे युद्ध में भाग लेने लगे। साम्प्रदायिक कलह गृह-युद्ध का रूप लेने लगी। मन्दिरों की सेनाएँ क्योतो पर धावे मारने लगीं। कोफूकूजी और तोदाईजी मन्दिरों की फौजें आपस में लड़ने-मरने लगीं। केन्द्रीय शासन के कमजोर होने से उनकी अफरा-तफरी काफी बढ़ गयी।

नारा युग में जापानियों ने चीनी लिपि अपनायी। इसके माध्यम से साहित्य-सृजन शुरू हुआ। ७१२ में 'कोजीकी' और ७२० में 'नीहोन शोकी' शीर्षक इतिहास ग्रन्थ लिखे गये। चार और इतिहास-ग्रन्थ इस परम्परा को ८८७ तक ले आये। ८१५ में 'शीनसेन शोजीरोकू' नामक अभिजात परिवारों की वंशावलियों का संग्रह तैयार किया गया। कविता का रिवाज भी खूब बढ़ा। 'काईफूसो' नामक संग्रह में १२० कविताएँ और 'मानयोशू' में ४५१६ हैं। इनमें से ४००० 'तनका', ३१ पदों की छोटी कविताएँ हैं। इनमें सूक्ष्म और कोमल भावों को प्राकृतिक दृश्यों के सन्दर्भ में प्रस्तुत और अभिव्यक्त किया गया है।

नवीं सदी में संस्कृत विद्या के प्रभाव से जापानियों ने चीनी चित्रलिपि को ध्वनि लिपि का रूप दे दिया। लिपि चिह्न शब्दों के प्रतीक न रहकर स्वरों और व्यंजनों के सूचक हो गये। इस लिपि को 'हीरागाना' कहते हैं। इसका प्रवर्तक कोबो दाईशी कहा जाता है। कहते हैं उसने कश्मीरी पण्डित प्रज्ञ से नागरी लिपि सीखी। यह जापान में 'सिद्धम्' लिपि का आधार बनी। नयी वर्णमाला से इससे गद्य-पद्य लेखन को बहुत बढ़ावा मिला। त्सूरायूकी ने 'कोकीन्शू' नामक कविता संग्रह प्रकाशित किया और 'तोसा नीक्की' शीर्षक एक यात्रा विवरण लिखा जिसके नमूने पर अनेक रोजनामचे और संस्मरण लिखे। ग्यारहवीं

सदी में गद्य-लेखन का स्वर्णयुग आया। पढ़ी-लिखी स्त्रियों ने इस काम में बड़ा हिस्सा लिया। मूरासाकी शीकीबू की लिखी हुई 'गेन्जी की कथा' (गेन्जी मोनोगातारी) उस युग के दरबारी जीवन का अनुपम दर्पण है। इसमें उनके थोथे विलासपूर्ण जीवन का सुन्दर चित्रण मिलता है—उनके लालित्य प्रेम, कलात्मक आदर्श और रस्मी दुनिया की तसवीरें हैं। संक्षेप में इसे फूजीवारा युग की स्त्रैण और वन्ध्या संस्कृति का चलचित्र कहा जा सकता है। इस युग में इतिहास-लेखन भी रोमान्स और कल्पना की कूँचियों से रँगा गया। 'एईगा मोनोगातारी' (वैभव की कथा) ८८६ से १०९२ तक के फूजीवारा के इतिहास का कलात्मक और लालित्यपूर्ण रूप है जिसमें कल्पना के घोड़ों की रास छोड़ दी गयी है। फूजीवारा युग के इस साहित्य में चीनी प्रभाव कम और स्थानीय चेतना की अभिव्यक्ति अधिक है।

कला के क्षेत्र में भी फूजीवारा युग में काफी स्वतन्त्रता और देशीयता दिखायी देती है। नारा युग का स्थापत्य थाङ शैली पर आधारित था। किन्तु फूजीवारा युग में इसने स्वतन्त्र मार्ग अपनाया। उस काल के छपी हुई गैलरियों से जुड़े हुए हल्के हवादार मण्डप उद्यानों और तालाबों के मध्य स्थित होते हैं। १०५३ में ब्योदोईन का मन्दिर नयी शैली का सुन्दर नमूना है। मूर्तिशिल्प और चित्रकला में सौम्यता, कोमलता और स्त्रैणता का वातावरण है। चित्रों को सोने के पतरों से सजाना जापानी कला की निजी विशेषता है। मरते हुए भक्त को मुक्ति का प्रसाद देते हुए अमिताभ (अमीदा) के चित्र इस कला के अनुपम निदर्शन हैं। लौकिक चित्रकला में 'यामातो-ए' (यामातो चित्र) का रिवाज हुआ। इसमें जानवरों को बुद्धों, भिक्षुओं और दरबारी औरतों की भूमिका में प्रस्तुत किया गया है। यह लोक-रंजन का अनुपम साधन है।

इस प्रकार नारा युग में जापानी संस्कृति पर चीन का जो आधिपत्य था वह फूजीवारा युग में स्थानीय प्रतिभा के उद्रेक में बदल गया।

# छठाँ परिच्छेद

## इस्लाय का प्रवेश

### प्राचीन अरब

अरब दक्षिण-पश्चिमी एशिया का द्वीप है। यद्यपि यह एशिया का सबसे बड़ा द्वीप है पर इसकी जनसंख्या कुल ८० लाख के करीब है। ज्यादातर अरब बद्दू हैं। ऊँट, खजूर और रेगिस्तान उनके हमेशा के साथी हैं। वे पेटी से बँधा हुआ एक लम्बा कुर्ता (सौब) और उसके ऊपर एक झोकला चोग़ा (अबा) पहनते हैं और सिर पर डोरी (इक़ाल) से शाल (कूफियाह) बाँधते हैं। प्रत्येक अरब परिवार एक खेमें में रहता है, खेमों का समूह 'हैय्य' कहलाता है, 'हैय्य' के सदस्य 'कौम' कहलाते हैं, आपसी 'कौमों' का संगठन 'क़बीला' होता है। हर क़बीले में बड़ी गहरी एकता होती है जिसे 'असबियाह' कहते हैं। 'क़बीले' का मुखिया 'शेख' होता है। 'कबीले' के सब सदस्य बराबर होते हैं। हर क़बीला अपनी वंशावली बहुत होशियारी से याद रखता है और आदम से अपना सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश करता है।

प्राचीन काल में हिजाज़ और नज्द के उत्तरी अरब घुमन्तू थे, किन्तु यमन, हज्रमौत और उसके निकट के तटवर्ती प्रदेश के लोग स्थायी जीवन व्यतीत करते थे। वहाँ गुग्गल, अगरु और खुशबूदार लकड़ियों की बड़ी पैदावार थी। इससे इस प्रदेश का व्यापारिक महत्त्व बहुत बढ़ गया था। वहाँ के व्यापारी मोती, जवाहर, गर्म मसाले, चीनी रेशम, भारतीय कपड़े और तलवार और हब्शी गुलाम, बन्दर, हाथीदाँत, सोना और शुतरमुर्ग के परों की तिजारत से मालामाल हो गये थे। इस आर्थिक उन्नति से राजनीतिक गति-विधि और सांस्कृतिक कार्य-कलाप को बढ़ावा मिला। १२०० ई० पू० से ६५० ई० पू० तक वहाँ मिनई साम्राज्य रहा, ६५० से ११५ ई० पू० तक सबई राज्य चला और उसके बाद हिमयारी राज्य आया।

'हिमयार' शब्द का अर्थ 'लाल' होता है। अतः अफ्रीका और अरब को अलग करने वाला समुद्र हिमयारों के आधिपत्य और अधिकार के कारण 'हिमयारी-समुद्र' अर्थात् 'लाल-सागर' कहलाने लगा। इसका यही नाम आज तक चालू है। हिमयारों ने

व्यापारिक और औपनिवेशिक उन्नति के अलावा ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल में भी प्रगति की। उनके बनवाये हुए गुमदान के किले में बीस मंजिलें बतायी जाती हैं। सबसे ऊँचे तल्ले पर राजा का निवास था। उस पर ऐसे पारदर्शी पत्थर लगे थे कि उनमें कों (आकाश) दिखायी देता था। हर किनारे पर एक पीतल का शेर था जिसमें ऐसा यन्त्र लगा था कि जब हवा चलती थी तो उससे दहाड़ने की आवाज निकलती थी। बाद के लेखकों ने उसकी बड़ी तारीफ की है।

मिस्र में तोलेमी और बाद में रोमन राज्य स्थापित होने से लाल-सागर और अरब सागर के व्यापार से हिमयारों की बपौती उठ गयी और उनका पतन शुरू हो गया। हब्शियों के हमले होने लगे। ३४० ई० पू० से ७८ ई० तक उन्होंने राज्य किया। लेकिन फिर हिमयारी राज्य कायम हो गया जो ५२५ ई० तक चला। बाद के अरब लेखकों ने इन राजाओं को 'तुब्बा' कहा है। इनमें से बहुतों ने दूर-दूर तक विजय की। ये हिमयारी नक्षत्र-मण्डल में विश्वास करते थे। उनका प्रमुख देवता चन्द्रमा ('बद्दू या अम्म') था। उसकी परिकल्पना पुल्लिग में थी। उसकी पत्नी सूर्य (शम्स) थी। उनका पुत्र शुक्र (अस्तर) था। फिर अन्य नक्षत्रों की उत्पत्ति हुई। हिमयारी युग के अन्त में यहूदी और ईसाई धर्मों का प्रचार शुरू हुआ। हब्श के ईसाइयों ने मक्के तक धावे किये। उधर मारिब के प्रसिद्ध बाँध के टूट जाने से दक्षिणी अरब में बाढ़ आ गयी और वहाँ का समुन्नत राज्य नष्ट हो गया।

दक्षिणी अरब की तरह उत्तरी और मध्य अरब में भी व्यापार की उन्नति के कारण बहुत से राज्य कायम हुए। उनमें सबसे पुराना नबाती राज्य था। उसकी राजधानी पेत्रा चौथी सदी ई० पू० से सबा से रोम-सागर तक जाने वाले व्यापार-मार्ग की कुंजी बन गयी थी। ईसू के समय यह राज्य शाम और दमिश्क तक फैला हुआ था। १०५ में रोमन सम्राट् त्राजन ने इस पर अधिकार कर लिया। रोमन आधिपत्य में पेत्रा का अभूत-पूर्व विकास हुआ। पश्चिमी एशिया में पार्थव विजय के पश्चात् शाम में पलमीरा का नखलिस्तान प्रमुख हो गया। ताज़े और मीठे पानी के चश्मों के कारण वहाँ पूर्व से पश्चिम और दक्षिण से उत्तर को जाने वाले सार्थ ठहरते थे। अतः वहाँ अभूतपूर्व विकास हुआ। आज भी वहाँ का प्रवेशद्वार और भव्य स्तम्भों की पंक्ति हजारों दर्शकों को आकर्षित करती है।

अल-हिजाज़ और नज्द की जनता घुमन्तू थी। उनके आपसी झगड़े-टंटे और कुश्तोखून बहुत ज्यादा बढ़ गये थे। इस युग को 'अय्याम-अल-अरब' या 'अय्याम-अल-जाहिलीया' कहते हैं। इसकी एक विशेष देन वीर-काव्य है। अक्सम-इब्न-सैफी, हाजिब-इब्न-जुरारह, अम्र-बिन-कुलतूम, हिन्द-बिन्त-अल-खुस्स आदि इस युग के प्रसिद्ध कवि

हैं। इनकी कविताओं में घोर निराशा, अटल नियतिवाद और अनियन्त्रित दैवी प्रकोप का वातावरण व्याप्त है। इस युग में अरब जगत् की भाषात्मक एकता कायम हो चुकी थी। मक्का के निकट वार्षिक तीर्थयात्रा के अवसर पर आयोजित उकाज़ का मेला एक प्रकार का राष्ट्रीय सम्मेलन होता था। उस अवसर पर सब कबीले अपना वैर भूल कर एक हो जाते थे। उस समय अरब जगत् के विभिन्न भागों के कवि सात 'मुअल्लक़ात' सुनाते थे, जिन्हें सब लोग समझते थे। इस प्रकार अरब जातीयता का भाव बढ़ रहा था जो इस्लाम में परिणत होकर एक सार्वभौम आदर्श बन गया।

## हज़रत मुहम्मद और इस्लाम

५७१ के लगभग मक्का में हज़रत मुहम्मद का जन्म हुआ। उनका वंश कुरैश था। उनके पिता अब्दुल्लाह उनके जन्म से पहले ही मर गये और उनकी माता आमीनह उन्हें छः वर्ष का छोड़ कर स्वर्ग सिधार गयीं। अतः उनके दादा अब्दुल-मत्तलिब ने, और उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके चाचा अबू-तालिब ने, उनका पालन-पोषण किया। ऐसा कहा जाता है कि बारह वर्ष की अवस्था में अपने चचा के साथ उन्होंने शाम की यात्रा की और वहाँ बहीर नामक ईसाई भिक्षु से उनकी भेंट हुई। कुछ समय बाद उन्होंने खदीजा नामक एक धनाढ्य व्यापारी विधवा के यहाँ नौकरी कर ली और पच्चीस वर्ष की आयु में उससे विवाह कर लिया। उन दिनों आर्थिक बेफिकरी होने से उन्हें अपनी धार्मिक रुझानों को पूरा करने का अच्छा मौका मिलने लगा। मक्का से बाहर हीरा नामक गार में वे काफी समय तक भजन-मनन किया करते थे। यहीं उन्हें चरम सत्य का साक्षात्कार हुआ। उन्होंने भगवान् की एकता और सार्वभौम शक्ति का प्रतिपादन किया। गुलाम और छोटे तबके के कुछ लोग उनकी शिक्षा को मानने लगे लेकिन ज्यादातर लोगों ने उसकी खिल्ली उड़ानी शुरू की। उनके जुल्म से तंग आकर मुहम्मद साहब के बहुत से साथियों और अनुयायियों को हब्श आदि जाना पड़ा। २४ सितम्बर ६२२ को स्वयं उन्होंने उकाज के मेले में खजरज जाति के कुछ यसरीबियों का इशारा पाकर मक्के से मदीने की ओर प्रस्थान किया। तब से प्रसिद्ध मुस्लिम संवत् हिजरी शुरू होता है।

मदीना में मुहम्मद साहब का यथेष्ट सम्मान हुआ। बहुत से लोग उनके साथी हो गये परन्तु ६२७ में मक्का के लोगों ने बद्दू, हब्शी और यहूदियों की सहायता से मदीने में उन पर हमला किया। उन्होंने सलमान नाम के एक फारसी अनुयायी की सलाह से मदीने के चारों ओर खाई खुदवायी। इससे मक्का के हमलावर लौट गये लेकिन अन्य धर्मों के मानने वाले मुहम्मद साहब का विरोध करने लगे। अतः उन्हें उन धर्मों में अरुचि हो गयी और उन्होंने उनकी सब मान्यताएँ छोड़ दीं। उदाहरण के

लिए उन्होंने येरूशलम की ओर मुँह करके प्रार्थना करने के बजाय मक्का की ओर मुँह करके प्रार्थना करने का आदेश दिया, सब्बत (रविवार) के बजाय जुमा (शुक्रवार) को पवित्र दिन घोषित किया, बाजे-गाजे और घण्टे-घड़िवाल की जगह मीनार पर से अजान लगाने का विधान किया, मुहर्रम की दशमी को उपवास करने का निषेध किया और रमजान में व्रत करने का नियम बनाया और काबा की यात्रा और वहाँ के काले पत्थर को चूमना पुण्यप्रद बताया। इस प्रकार मुहम्मद साहब के जीवन-दर्शन में अरब भावना फूट पड़ी।

मदीने से मुहम्मद साहब ने पड़ोसी इलाके पर ७४ हमले किये जिनमें अरबों की युद्धप्रियता जाग उठी। ६२८ में उन्होंने मक्के पर आक्रमण किया और जनवरी ६३० में उसपर कब्जा कर लिया। ६३०-३१ में अनेक अरब कबीलों ने इस्लाम कुबूल कर लिया। ८ जून ६३२ को भयंकर शिरोवेदना से उनका देहान्त हुआ।

साक्षात्कार के क्षणों में मुहम्मद साहब को जो दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ, वह 'कुरान' में संगृहीत है। 'कुरान' शब्द शामी शब्द 'करयाना' का समकक्ष है जिसका अर्थ 'पाठ' है। मुहम्मद साहब की मृत्यु के एक वर्ष बाद अबू-बक्र ने मदीने के जैद-इब्न-साबित को 'कुरान' का पाठ तैयार करने का आदेश दिया। उसमान की खिलाफत (६४४-५६) में ६५१ में जैद के सभापतित्व में कुरान के पाठान्तरों को शुद्ध करने के लिए एक समिति नियुक्त की गयी। ९३३ में इब्न-मुक्लाह और इब्न-ईसा ने इब्न-मुज़ाहिद की सहायता से उसका अन्तिम संस्करण तैयार किया जो अब प्रचलित है।

ऐसी मान्यता है कि कुरान का मूल पाठ तख्तियों पर लिखा हुआ सातवें स्वर्ग में रखा है। अल्लाह के हुक्म से जिब्रील ने उसे मुहम्मद साहब को सुनाया और उन्होंने उसे वर्तमान रूप दिया। अतः क़ुरान भगवद्वाणी है। बाद के कुछ मुतज़िली विचारकों ने इस मान्यता का खण्डन करके क़ुरान को मनुष्य द्वारा निर्मित सिद्ध किया। अश्-शहरिस्तानी (मृ ११५३) ने इस विचार को तार्किक और दार्शनिक रूप देते हुए भाषा के सामयिक और मनुष्य-निर्मित पक्ष का प्रतिपादन किया। नवीं सदी में अहमद-बिन-अबी-दुवाद (मृ० ८४५) भी इस मत का अनुयायी था। ८२७ में खलीफा अल-मामून ने खुले आम क़ुरान के मनुष्य-निर्मित होने के सिद्धान्त को मान लिया और ८३३ में इस विषय में एक परीक्षा जारी की जो सब काजी, मुल्ला और मौलवियों को देनी पड़ती थी। जो व्यक्ति इस सिद्धान्त को नहीं मानते थे उनपर एक विशेष अदालत (मिहना) में मुकदमा चलाकर उन्हें सजा दी जाती थी। अगले खलीफा के शासन में इस सिद्धान्त को न मानने वाले लोगों को गिरफ्तार करके सताया जाता था और कभी-कभी कत्ल तक किया जाता था। किन्तु खलीफा अल-मुतवक्किल ने इस नीति को एकदम बदल दिया

और क़ुरान को अनिर्मित ईश्वरीय वचन मानने का आदेश दिया। अल-अशअरी ने इस मत का पूर्ण समर्थन किया, अल-मातूर्दी ने कहा कि क़ुरान का पाठ और शब्द तो ईश्वरीय हैं किन्तु अक्षर और स्वर मानवीय हैं, अल-तहावी ने क़ुरान को अल्लाह के वचन के रूप में स्वीकार किया और इसे मानवीय बताने वाले को काफिर सिद्ध किया।

क़ुरान में ११४ अध्याय (सूरा) हैं। इनमें से ९० मक्के में संगृहीत हुए। ये छोटे और पैने हैं। इनमें अल्लाह की एकता, मनुष्य के कर्त्तव्य और अन्तिम निर्णय की अटलता की चर्चा है। २४ अध्याय मदीने में सम्पादित हुए। ये लम्बे और बड़े हैं। इनमें उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त संगठन और उपचार और कानूनों का प्रतिपादन है। क़ुरान की भाषा तुकान्त गद्य है। इसमें सरस ध्वनि-प्रवाह और मधुर शब्द-चातुर्य मिलता है।

इस्लाम धर्म के तीन अंग हैं : (१) ईमान (धार्मिक विश्वास), (२) इबादत (उपासना) और इहसान (नैतिक कृत्य)।

ईमान का अर्थ अल्लाह, उसके फिरिश्तों, पैगम्बरों और निर्णय-दिवस में श्रद्धा है।

इबादत के पाँच स्तम्भ (अरकान) हैं: (१) शहादा (कुरान के मन्त्र 'ला इलाह-इल्लल्लाह-मुहम्मदुन् रसूलुल्लाह'—अल्लाह के अतिरिक्त दूसरा भगवान् नहीं है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है—का श्रद्धापूर्वक जप), (२) सलाह—(दिन में पाँच बार मक्के की ओर मुँह करके नमाज़ पढ़ना जिनमें शुक्रवार (जुमे) की दोपहर की नमाज़ सार्वजनिक होती है) (३) ज़काह—(आय का ढाई प्रतिशत दान करना, यह बाद में एक कर हो गया था जिससे निर्धन वर्ग का गुजारा होता था, मस्जिदों के खर्चे चलते थे, और राज काज की जरूरतें पूरी होती थीं), (४) रोज़ा (रमज़ान के महीने में व्रत करना), (५) हज्ज (जीवन में एक बार अवश्य मक्के की यात्रा करना, इसमें यात्री लबादा पहन कर सात बार काबे की परिक्रमा (तवाफ) और सात बार अल-सफा और मरवाह का आवागमन (सै) करता है, फिर अल-मजदलिफा और मिना होता हुआ अरफा जाता है, जमरत-अल-अक़बा पर पत्थर फेंकता है और मिना में ऊँट या भेड़ या किसी सींग वाले जानवर की बलि देता है। खारिजी नामक मुस्लिम दल के मतानुसार 'जिहाद' (धर्म युद्ध) इबादत का छठा स्तम्भ है। यह दो प्रकार का है, 'जिहाद-ए-अकबर' जो पापों दुष्भावों और कुकृत्यों के विरुद्ध की जाती है और 'जिहाद-ए-असगर' जो विधर्मियों के खिलाफ लड़ी जाती है।

इहसान का अर्थ क़ुरान के अनुसार अच्छे काम करना और बुरे कामों से बचना है।

इस्लामी विचार-धारा के अनुसार मनुष्य का काम इल्म (ज्ञान) और अमल

(क्रिया) द्वारा अल्लाह (भगवान्) के प्रति आत्म-समर्पण करना है। उसका समस्त वैयक्तिक और सामाजिक जीवन इस एक लक्ष्य की ओर केन्द्रित है। राज्य का अभिप्राय ऐसी व्यवस्था बनाये रखना है जिसमें मनुष्य सुख-सुविधापूर्वक उन सब कर्त्तव्यों का पालन कर सके जो क़ुरान में विहित हैं। विज्ञान—गणित और ज्योतिष—का उद्देश्य नमाज़ और रोज़े के उपचार में सहायता करना है।

इस्लाम पूर्णतः धर्म पर केन्द्रित है। इसके अनुसार मनुष्य की दो ही जातियाँ हैं: मुसलमान और ग़ैर-मुसलमान। मुसलमानों की दुनिया 'दारुलइस्लाम' है और 'ग़ैर-मुसलमानों' की दुनिया 'दारुलहर्ब'। 'दारुलइस्लाम' और 'दारुलहर्ब' का शाश्वत संघर्ष है। प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य 'दारुलइस्लाम' को बढ़ाना और 'दारुलहर्ब' को घटाना है। इसलिए मुसलमान प्रकृति से प्रसरणशील है। जब शान्ति से काम नहीं चलता तो वह युद्ध का आश्रय लेता है। यह प्रचारात्मकता और प्रसरणशीलता इस्लाम को यहूदी, ईसाई आदि शामी धर्मों से वरासत में मिली है। अतः मुहम्मद के जीवन काल में ही इस्लाम का अभूतपूर्व प्रसार प्रारम्भ हो गया। उनकी मृत्यु से ४ वर्ष पूर्व ६२८ में उनके एक सम्बन्धी ने चीनी सम्राट् ताय्-त्सुङ की सभा में उपहार प्रस्तुत कर अपना धर्मकेन्द्र स्थापित करने की अनुमति माँगी। उनकी मृत्यु के १६ वर्ष बाद ६५१ में मोनोफिजाइट और नेस्तोरी धर्मों का पूर्णक्षेत्र इस्लाम की परिधि में आ गया। ७१४ में इस्लाम कुस्तुन-तुनिया के द्वार पर पहुँच कर यूनानी चर्च को चुनौती दे रहा था। ७०० में चीन के शान्-तुङ प्रान्त में मस्जिदें बन गयी थीं और ७२० में दक्षिणी फ्रांस के अरबों को फिरंगियों का देश जीतने का आदेश मिल गया था। इस प्रकार पैग़म्बर की मृत्यु से एक सदी बीतने तक ही इस्लाम प्रशान्त से एतलान्तिक तक फैल चुका था।

मुहम्मद साहब की मृत्य पर उनकी लड़की फातिमा जीवित थी जो अली से ब्याही थी। किन्तु अरबों में मुखिया का पद पैतृक नहीं वरन् निर्वाचित होता था। अतः पैग़म्बर के उत्तराधिकारी (खलीफा) को लेकर सदा झगड़े चलते रहे। मुहम्मद के बाद क्रमशः अबू बक्र (६३२-६३४), उमर (६३४-६४४), उसमान (६४४-६५६) और अली (६५६-६६१) खलीफा रहे। उन्हें 'अल-खुलफा-अल-राशिदून' कहते हैं। इस युग में खालिद-इब्न-अल-वलीद और अम्र-इब्न-अल-आस ने समस्त अरब जातियों को इस्लामी धर्म और शासन में मिलाया और ईराक़, ईरान, शाम और मिस्र पर अधिकार किया। इस महान् साम्राज्य की प्राप्ति से इस्लाम का प्राचीन सभ्यताओं से सम्पर्क हुआ। यूनानी, फारसी और हिन्दी जीवन-दर्शन और शासन-पद्धति उसमें घुलने-मिलने लगी। प्रशासन और प्रबन्ध की अनेक समस्याएँ सामने आयीं और कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान में नयी प्रगति हुई।

## उमैय्या खलीफाओं का युग

उसमान की मृत्यु पर उसके रिश्तेदार मुआविया ने हजरत मुहम्मद के दामाद अली को खलीफा मानने से इनकार कर दिया और वह स्वयं खिलाफत का दावा करने लगा। उसके उत्तराधिकारी उमैय्या कहलाये। उनके जमाने में इस्लाम का प्रसार भी तेजी से हुआ। इस युग के समाज को हम चार वर्गों में बाँट सकते हैं : (१) खलीफा, उसका घरबार और दरबार और अरब विजेताओं का अभिजात वर्ग, (२) नव-मुस्लिम, जो जोर-जब्र या बहकाने-फुसलाने से मुसलमान बनाये गये थे लेकिन जिन्हें पूरे अधिकार प्राप्त नहीं थे, (३) 'अहल-अल-ज़िम्मा', अर्थात् यहूदी, ईसाई, साबी, और गब्र (अग्नि पूजक) जिन्हें जिज़या लेकर जीवित रहने का अधिकार दिया गया था, और (४) दास।

प्रथम वर्ग के लोगों की संख्या ठीक से तय करना कठिन है। खलीफा अल-वलीद के समय दमिश्क के इलाके में ४५,००० अरब मुसलमानों को वार्षिक वृत्ति मिलती थी। मरवान प्रथम के काल में हिम्स के इलाके में वृत्ति पाने वालों की संख्या २०,००० थी। अबू-बक्र ने बूढ़े-बच्चे, आजाद-गुलाम, स्त्री-पुरुष सबको बराबर लूट बाँटने का विधान किया, किन्तु उमर ने हजरत मुहम्मद से रिश्तेदारी और मुसलमान बनने की तारीख के हिसाब से लूट और वृत्ति बाँटने की व्यवस्था की। तब से अरबों में काफी भेदापभेद बन गये।

दूसरे वर्ग के लोगों में वे लोग शामिल थे जो नये-नये मुसलमान बने थे। इन्हें 'मवाली' कहते थे। ये बड़े कट्टर थे और गैर-मुस्लिमों को जबरन मुसलमान बनाने में सबसे आगे थे। लेकिन अरब मुसलमानों के मुकाबले में अपना घटिया दर्जा इन्हें बहुत खलता था। अल-हज्जाज और उसके नायब कुतैबा ने खुरासान और वक्षु पार के मवालियों पर जिज़या लगाया। ईराक़ के मवालियों ने इसका कड़ा विरोध किया। इस पर उन्हें शहरों से निकाल दिया गया और गाँवों में बसने पर मजबूर किया गया। यही नहीं, यह कानून बनाया गया कि हर मवाली अपने गाँव का नाम अपने हाथ पर खुदवाये। जब कहीं सड़क या रास्ते पर कोई अरब किसी मवाली को मिल जाता, तो वह उसे नाम या लकब से पुकारता, लेकिन मवाली के लिए अरब को उसकी पैतृक उपाधि (कुनया) से सम्बोधित करना जरूरी था। अरब मुसलमान को तो सिर्फ 'ज़काह' देना पड़ता था, लेकिन मवाली पर 'खराज' और इसके अलावा 'जिज़या' भी लगाया जाता था। जब अरबों को विदेशों में जमीनें और जायदादें खरीदने का हक़ मिल गया तो मवालियों की हालत और भी खराब हो गयी क्योंकि शासन के खर्च का ज्यादातर भार उनपर पड़ गया। इसलिए वे दुखी और नाराज होकर शिया और खारिजी आदि सम्प्रदायों के अनुयायी बन गये।

उन्होंने विद्वत्ता और कला के क्षेत्र में काफी प्रगति की। इस्लाम को उच्च संस्कृति का रूप देने में उनका बड़ा हाथ था।

तीसरे वर्ग में यहूदी, ईसाई, साबी और गब्र शामिल थे। शाम में ईसाइयों की बहुतायत थी। लबनान की जनसंख्या काफी अरसे तक ईसाई रही। ईसाइयों के साथ शुरू में अच्छा बर्ताव किया जाता था। मुआविया की पत्नी, राजकवि, राजवैद्य और वित्त मन्त्री ईसाई थे। किन्तु उमर द्वितीय ने ईसाइयों पर कड़ी पाबन्दियाँ लगायीं; उन्हें सरकारी नौकरियों से अलग किया गया, पगड़ी बाँधने की इजाज़त नहीं दी गयी, माथे के ऊपर के बाल कटवाने पर मजबूर किया गया, खास किस्म की पोशाक पहनने का आदेश दिया गया जिसे चमड़े की पेटी से बाँधा जाता था, घोड़े पर जीन कसकर चढ़ने की मनाही की गयी और गिरजे बनवाने पर पाबन्दी लगायी गयी। मुसलमान के विरुद्ध ईसाई की गवाही बेकार थी। ईसाई को मारने पर मुसलमान को सिर्फ जुर्माने की सजा दी जाती थी जबकि ईसाई के लिए कानून बिलकुल उलटा था। लेकिन ये पाबन्दियाँ बहुत समय तक नहीं चल सकीं।

चौथे वर्ग में दास थे। इस्लाम ने दासता को स्वीकार किया, लेकिन दासों की हालत सुधारने की भी कोशिश की। शरई कानून के अनुसार मुसलमान को दास बनाना अवैध था, किन्तु किसी दास को सिर्फ मुसलमान बनने के कारण आजाद नहीं किया जाता था। युद्ध में पकड़े हुए बन्दी आम तौर से दास बनाये जाते थे। बाद में दासों का व्यापार बड़ी तेज़ी से चल पड़ा। स्पेन के दास के दास दाम १००० दीनार थे तो तुर्क दास सिर्फ ६०० दीनार में बिकता था। मूसा-इब्न-नुसैर ने अफ्रीका में ३,००,००० दास पकड़े थे जिनमें से ६०,००० खलीफा अल-वलीद के पास भेजे थे। इनके अलावा उसने स्पेन की ३०,००० युवतियों को दास बनाया था। फलतः दासों का ज्वार उमड़ आया था। हर उमैय्या सरदार के पास कम से कम एक हजार दास थे। सिफ्फीन के युद्ध में शामी सेना के हर सिपाही के पास दस-दस दास थे। दासों के द्वारा अरबों और विदेशियों में काफी मेलजोल और रक्त-मिश्रण हुआ।

उमैय्या काल में व्यापार, वाणिज्य, वस्तुओं के आदान-प्रदान और विचारों के विनिमय को काफी बढ़ावा मिला। हालाँकि अरबों और कुस्तुनतुनिया के सम्राटों के बीच झगड़े चलते थे, उनमें तिजारत भी जारी थी। एक बार खलीफा ने २०,००० दीनार की काली मिर्च कुस्तुनतुनिया भेजी। मिस्र में फ़ुस्तात (पुराने क़ाहिरा) की जगह एक 'दारुलफ़ुल्फूल' (काली मिर्च का गोदाम) इस काम के लिए बनाया गया था। तिजारत से खुशहाली बढ़ी और उससे विलासिता का जोर हुआ। मक्के-मदीने तक में महल-हवेली खड़ी हो गयीं। शतरंज, चौपड़ आदि खेलों का रिवाज बढ़ा। ईरानी और यूनानी गाने

वाली बड़ी तादाद में आ बसीं। 'बुयूत-अल-क़ियान' (वेश्यागृह) जा-ब-जा खुल गये। अल-फरज़न्द जैसे कवियों ने चकले चालू कर दिये। अल-हुसैन की पुत्री सईदा सुकैना उस युग के सुशिक्षित और संस्कृत समाज की प्रतीक थी। वह पर्दे के खिलाफ थी और उसका बाल सँवारने का ढंग (तुर्राह् सुकैनियाह) सब जगह प्रसिद्ध हो गया था। उमैय्या खलीफाओं को धर्म में इतनी रुचि नहीं थी जितनी लौकिक आनन्द में। यज़ीद इतनी शराब पीता था कि उसे 'यज़ीद-अल-खुमार' के उपनाम से पुकारा जाने लगा था। अल-वलीद द्वितीय शराब के तालाब में तैरते-तैरते उसकी घूँट सटका करता था। एक दिन क़ुरान पढ़ते हुए उसकी दृष्टि जब इस आयत पर पड़ी कि प्रत्येक मद्यप राजा का नाश अवश्यम्भावी है तो उसने तीर-कमान लेकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिया। शराब पीते वक्त नाच-गाना बराबर चलता रहता था। इसके अलावा शिकार, घुड़दौड़, पोलो और जुए का रिवाज ज़ोरों पर था।

उमैय्या-काल में इस्लामी जगत् में बहुत से नये विचार आ गये थे। दमिश्क़ के सन्त जॉन ने, जो खलीफा के सचिवालय में वित्त-अधिकारी था, इस्लामी मान्यताओं पर यूनानी और ईसाई विचारों की छाप डाली। ऐसा कहा जाता है कि उसने 'बारलाम और जोजाफत' के नाम से महात्मा बुद्ध के कथानक का ईसाई रूपान्तर तैय्यार किया। बौद्ध धर्म पर और भी बहुत कुछ लिखा गया। अल-नदीम (अल-वर्राक़) (६६५ ई०) की 'अल-फिहरिस्त' में 'किताब-अल-बुद्द' और 'किताब-बूदासफ' नाम के दो ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जो बौद्ध विषयों को लेकर पहलवी से अरबी में भाषान्तरित किये गये। बहुत से लोग शिया सम्प्रदाय में शामिल हुए। इस मत के मानने वाले हज़रत मुहम्मद की पुत्री फातिमा और दामाद अली की सन्तान को मनुष्य और भगवान् के मध्यवर्ती इमाम समझते थे। इनमें से कुछ तो उन्हें साक्षात् भगवान् कहने लगे थे। एक दल तो यहाँ तक कहने लगा था कि भगवान् के दूत जिब्रील ने गलती से हज़रत मुहम्मद को अली समझ कर दिव्य सन्देश दिया। शिया-दल सब प्रकार के सामाजिक विरोध और विद्रोह का केन्द्र बन गया और इसमें मध्य और निम्न वर्ग के बहुत से लोग शामिल हो गये। शिया के अलावा मतजिला मतवाद की काफी तरक्की हुई। ७४८ में वासिल-इब्न-अता ने बसरा में इसकी स्थापना की। इसका स्वतन्त्रता (क़द्र) का सिद्धान्त इस्लामी नियतिवाद (जब्र) के दर्शन के विपरीत था। कुछ उमैय्या खलीफा और दूसरे लोग भी इसे मानने लगे। इन सब धार्मिक प्रवृत्तियों की सुन्नी-दल में जो प्रतिक्रिया हुई उसे 'खारिजी' कहते हैं। इसे मानने वाले सन्त-पूजा, स्थानीय तीर्थ-यात्रा, बुद्धिवादी दर्शन और सूफी-सम्प्रदायों के प्रबल शत्रु थे। उनका दृष्टिकोण एकदम पुराणपन्थी था। कई सौ वर्ष तक उन्होंने खून की नदियाँ बहायीं। आजकल ये अल्जीरिया, त्रिपोली और उम्मान में मिलते हैं

और जंजीबार में भी उनका जोर है। ऐसा ही एक दल 'मुरिजी' था। उनका कहना था कि अपराधी मुसलमानों को कोई सजा न दी जाय, किन्तु वे उमैय्या खलीफाओं के समर्थक थे और 'जियो और जीने दो' की नीति में विश्वास करते थे।

उमैय्या युग में मक्का और मदीना नृत्य, संगीत और काव्य के केन्द्र थे तो बसरा और कूफा बौद्धिक प्रगति और वैज्ञानिक उन्नति के स्थान। बसरा की आबादी ६७० के लगभग ३,००,००० थी। वहाँ बहुत से विदेशी रहते थे। उन्हें अरबी पढ़ाने के लिए बहुत सी संस्थाएँ थीं। उनमें अरबी व्याकरण के अध्ययन की परम्परा शुरू हुई। अबू-अल-असवद-अल-दुवाली (६८८ ई०) ने इस शास्त्र की बुनियाद रखी और अल-खलील-इब्न-अहमद (मृ० ७८६ ई०) ने अरबी कोश 'किताबुलऐन' की रचना की। गजलों का काफी रिवाज हुआ। उमर-इब्न-अबी-रबियाह (७१९ ई०) के वासनापूर्ण प्रेम-गीत और उसके समकालीन जमील (७०१ ई०) के अफलातूनी शैली के विशुद्ध प्रेम के भजन उस युग की अमर रचनाएँ हैं। लैला-मजनूँ का वृत्तान्त सभी प्रेम-गीतों के रचयिताओं का कण्ठहार है।

इस्लामी धर्मविद्या, देवतत्त्व और कानून के अध्ययन में भी काफी प्रगति हुई। अल-हसन-अल-बसरी (मृ० ७२८ ई०) ने हदीसों का संग्रह किया। शिहाब-अल-जुहरी (७४२ ई०), अब्दुल्लाह-इब्न-मसऊद (६५३ ई०) और आमिर-इब्न-शराहिल-अल-शबी (७२८ ई०) भी हदीसों के संग्रह के लिए प्रसिद्ध है। जीवन-चरित (सीरा) और धर्मयुद्धों के वृत्तान्त (मगाजी) लिखने का रिवाज बहुत बढ़ा। इतिहास-लेखन ने काफी प्रगति की। उबैद-इब्न-शरयाह, वाहब-इब्न-मुनब्बिह (७२८ ई०) और काब-अल-अहबार (६५२ ई०) के इतिहास काफ़ी प्रसिद्ध हैं। रसायन और आयुर्वेद भी बहुत आगे बढ़े। अल-हारिस-इब्न-कलदा (६३४ ई०) ने ईरान जाकर आयुर्वेद पढ़ा। मुआविया के ईसाई राजवैद्य इब्न-उसाल और अल-हज्जाज के यूनानी चिकित्सक तयाजूक के नुसखे अभी तक मिलते हैं। उमैय्या राजकुमार खालिद (७०४ ई०) ने रसायनशास्त्र के यूनानी ग्रन्थों का अरबी अनुवाद कराया। इस काल में शिक्षा का भी यथेष्ट प्रसार हुआ।

कला के क्षेत्र में मस्जिदों का स्थापत्य उल्लेखनीय है। शुरू में बसरा, कूफा अल-फुस्तत (क़ाहिरा) आदि छावनियों में सीधी-सादी मस्जिदें बनायी जाती थीं। बाद में खलीफाओं ने यूनानी नमूनों पर बड़े-बड़े भव्य भवन बनवाये। येरूशलम की इमारत का गोल गुम्बज़ शामी गिरजों की छतरियों की तरह का है। अपनी सादगी और शालीनता में यह इमारत बेजोड़ है। इसके बाद दमिश्क की उमैय्या मस्जिद का नम्बर आता है। इसमें सबसे पहले मिहराब और मीनार के दर्शन होते हैं जो बाद में ईराक़ से स्पेन

तक मुस्लिम स्थापत्य की विशेषता बन गयीं। इसका विशाल आँगन इस्लामी साम्राज्य के विस्तार का प्रतीक है और इसकी साज-सजावट सरलता के साथ सुरुचि के समन्वय को प्रकट करती है। चूँकि हज़रत मुहम्मद ने मूर्तियों और चित्रों का बहिष्कार करते हुए यह घोषणा की कि निर्णय-दिवस पर सब से कठोर दण्ड, चित्रकारों को दिया जायगा, इसलिए इस्लामी चितेरे फूल-पत्ती और ज्यामिति की डिजाइन और रेखाओं के उतार-चढ़ाव द्वारा अपनी कलात्मक प्रवृत्ति को प्रकट करने लगे। इस शैली को 'अरबी' कहते हैं। उमैय्या खलीफाओं को नृत्य-संगीत का शौक़ था। यज़ीद प्रथम ने धुनें बनायीं और दरबार में नाच-गाने का रिवाज जारी किया। यज़ीद द्वितीय की प्रेयसी नचनियाँ हबाबा और सल्लामा बहुत प्रसिद्ध थीं। इस युग में ईरानी संगीत और यूनानी-ईसाई संगीत ने इस्लामी कला को बहुत प्रभावित किया।

## अब्बासी खलीफाओं का युग

ऊपर कहा जा चुका है कि उमैय्या युग में अरब मुसलमानों और गैर-अरब मुसलमानों में काफी अन्तर था। उमैय्या शासन मुस्लिम राज्य न होकर अरब राज्य बन गया था। इससे ग़ैर-अरब मुसलमानों (मवालियों) में काफी रोष था। अतः ७२० के करीब कूफा के ईरानी मवालियों ने, जो प्रायः दुकानदार और कारीगर थे, खुरासान में जाकर उमैय्यों के खिलाफ प्रचार शुरू कर दिया। उमैय्यों से असन्तुष्ट बहुत से अरब भी उनके साथ मिल गये। दीनवरी ने लिखा है कि अबू-इकरीमा नामक जीन बनाने वाला, हय्यान नामक अत्तार, और मुहम्मद-बिन-खुनैस ने हज़रत मुहम्मद के सगे चचा अल-अब्बास के वंशज मुहम्मद-बिन-अली और उसके पुत्र अबू-अल-अब्बास को राज्य दिलाने का बीड़ा उठाया। उनके प्रचारक (दाई) खुरासान आदि में उमैय्यों के खिलाफ ज़ोर से प्रचार करने लगे। ९ जून, ७४७ को मर्व के निकट सिकदंज नामक गाँव में विरोधियों के नेता अबू-मुस्लिम ने अब्बासियों का काला झण्डा बलन्द कर दिया। हेरात, बूशंज, मर्वरुज़, तालकान, मर्व, नीशापुर, सरख़स, बल्ख़, सग़ानियान, तुख़ारिस्तान, खुत्तल आदि स्थानों से काले कपड़े पहने और आधे काले रंग के डंडे लिये असंख्य मनुष्यों के समूह घोड़ों, टट्टुओं या गधों पर या पैदल चलकर अबू-मुस्लिम की सेना में मिलने लगे। उन्होंने खुरासान की राजधानी पर अधिकार करके पश्चिम की ओर प्रयाण किया और ३० अक्तूबर ७४९ को अबु-अल-अब्बास को खलीफा घोषित कर दिया। अब्बासी खलीफाओं का युग शुरू हो गया।

अब्बासी वंश को गद्दी पर लाना गैर-अरब मुसलमानों का काम था जिनमें ज्यादातर मध्यम वर्ग के दुकानदार और कारीगर थे। लेकिन गद्दी पर बैठते ही

अब्बासियों ने इतना तो किया कि गैर-अरब मुसलमानों के लिए तरक्क़ी के दरवाजे खोल दिये लेकिन मध्यम वर्ग के लोगों को ज्यादा ऊपर उठने नहीं दिया। फिर भी, खुरासानियों का जोर बहुत बढ़ गया। ये लोग नयी राजधानी बग़दाद पर छा गये। इनमें ईरानी और अरब दोनों जातियों के लोग शामिल थे। इन्हें 'अबना' ,'अबना-अल-दौला', 'अबना-अल-शिया, 'अबना-अल-शिया-अल-खुरासानिया', 'अबना-अल-जुन्द-अल-खुरासानिया' आदि नामों से पुकारा जाता था। अल-जाहिज़ की 'मनाक़िब-अल-अतराक' (२, १३-१५, १७-१६) में एक बनवी के मुँह से कहलवाया गया है: "सारा बग़दाद हमारा है, जब तक हम शान्त हैं, यह भी शान्त हैं, जब हम उत्तेजित हो जायँगे तो यह भी अशान्त हो जायगा; हमने खलीफाओं की शरण पायी है, हम वजीरों के पड़ोसी हैं"। अतः वे बग़दाद को ईराक़ का खुरासान समझते थे। उनकी अरबों से सदा खटपट चलती थी। उनके मुकाबले में अरब अक्सर नीचा देखते। उनके असर से खलीफा भी अरबों को बुरा समझते। अबू-मन्सूर के दरबार में घुसने के लिए अरबों को घण्टों दरवाजे पर बाट देखनी पड़ती जबकि खुरासानी फटाफट आ-जा सकते। एक बार राजकवि अबू-तम्माम ने खलीफा की हातिम से उपमा दी तो वजीर ने उसे धमकाया, "क्या तुम अमीर-उल-मोमिनीन को बर्बर अरबों से मिलाते हो।" उन दिनों 'शुऊबिया' नाम की विचारधारा का रंग जम रहा था, जिसके अनुसार सब मुसलमान बराबर थे। कुछ लोग तो ईरानियों को अरबों से बेहतर समझने लगे थे। आम लोग यह मानने लगे थे कि अरब और जाति के मुसलमानों से बहुत घटिया हैं। अरबों के इस पराभव का आर्थिक पहलू भी था। किसी व्यक्ति ने खलीफा अल-मामून से पूछा कि आप जितना अजम और खुरासान के लोगों को चाहते हैं इतना शाम के अरबों को क्यों नहीं चाहते। उसने उत्तर दिया, "ओ शाम के लोगों के समर्थक! अल्लाह की क़सम! मैंने क़ैसों को उनके घोड़ों से इसलिए उतारा कि ऐसा न करने से मेरे खजाने में एक दिरहम भी बाकी न रहता"। अल-मामून के मरते ही अल-मुअतसिम के खलीफा होते ही मिस्र के राज्यपाल को आदेश दिया गया कि सब अरबों को दीवान से खारिज कर दिया जाय और उनके भत्ते रोक दिये जायँ। इससे राज्य को वित्तीय दृष्टि से काफी सहूलियत मिली।

अरबों, ईरानियों और खुरासानियों के झगड़े में तुर्कों की बन आयी। अरबों में जातिगत वैर-भाव बहुत ज्यादा था और भत्तों की वजह से वे बहुत महँगे पड़ते थे। खुरासानी अबना बहुत हावी हो चले थे। इसलिए खलीफा अल-मुअतसिम ने तुर्कों गुलामों (ममलूकों) की सेना संगठित की। उसने इन तुर्कों के लिए सामर्रा में नयी छावनी बनायी और उनके अलग मोहल्ले कायम किये। उनकी बस्ती बाजारों से दूर थी और दीवारों से घिरी थी। उन्हें वहाँ से बाहर जाने की इजाज़त नहीं थी। वहीं उनके लिए गुलाम

लड़कियाँ भेजी जाती थीं। वे उन्हीं से विवाह कर सकते थे। उनकी सन्तान भी आपस में ही ब्याह-शादी करती थी। उन्हें तलाक़ का हक़ नहीं था। उनकी मस्जिद, इमाम और बाजार सब अलग थे। इस तरह उनका एक अलग-थलग समाज कायम किया गया था। इसका नतीजा यह हुआ कि आखीर में इस्लामी जगत् तुर्कों के पंजे में आ गया। अरब और ईरानी दोनों पिछड़ गये।

अब्बासी युग में अरब-ईरानी, सुन्नी-शिया, विधानपन्थी-एकतन्त्री आदि विरोधों को ख़त्म करने के लिए मुतज़िला विचा-रधारा का ज़ोर हुआ। मुतज़िला उसे कहते हैं जो 'ईत्तिज़ाल' (तटस्थता) का अनुयायी हो। जो लोग अली और उसके विरोधियों के झमेले से अलग रहे, वे मुतज़िला कहलाये। इन्होंने शिया और सुन्नी दोनों के बीच का रास्ता अपनाया : एक ओर इस बात का विरोध किया कि अली पूरी तरह सही थे और इमाम दिव्य पुरुष होता है तो दूसरी तरफ मुआविया को गलत बताया और क़ुरान को दिव्य नहीं माना। एक मुतज़िली बिश्र-इब्न-अल-मुअतमिर ने इमाम और धर्म-ग्रन्थ दोनों को दिव्य समझा। उनके मत से दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। इनके इस मध्यम मार्ग (अल-मंजिला-बैन-अल-मंज़िलतैन) से अब्बासियों के शासन को ताक़त मिली। इसलिए उन्होंने, विशेषतः अल-मामून ने, इस मत को बढ़ावा दिया। बाद में इस नीति को छोड़ दिया गया।

अब्बासी युग में आर्थिक उन्नति का सूर्य मध्याह्न पर पहुँचा। बगदाद, बसरा, सिराफ, काहिरा और सिकन्द्रिया तिजारत के केन्द्र बन गये। मुस्लिम व्यापारी पूर्व में हिन्द और चीन तक और पश्चिम में मराकश और स्पेन तक पहुँचने लगे। वे चीनी, छुवारे, कपास, सूती और ऊनी कपड़े और लोहे और काँच का सामान बाहर ले जाते और पूर्व से रेशम, कपूर और गर्म मसाले और अफ्रीका से हाथीदाँत, आबनूस और हब्शी गुलाम अपने देश में लाते थे। इस व्यापार से बहुत से लोग मालामाल हो गये थे। बसरा के बहुत से जहाज चलाने वालों की सालाना आमदनी दस लाख दिरहम से ज्यादा थी; सिराफ में औसत दर्जे के व्यापारी के पास दस हज़ार दिरहम का मकान था। यह तिजारती तरक्क़ी उद्योग-धन्धों के विकास के कारण हुई। पश्चिमी एशिया में कम्बल, ग़लीचे, रेशमी, सूती और ऊनी कपड़े, साटन, कम्ख्वाब, गद्दी के गिलाफ, रसोई के बर्तन, कुर्सी-मेज आदि बहुत अच्छे बनते थे। ईरान और ईराक के क़ालीन और कपड़े बहुत नामी थे। बग़दाद के एक मोहल्ले में, जो उमैय्या शहज़ादे अत्ताब के नाम पर बसा हुआ था, एक धारीदार कपड़ा बुना जाता था, जिसका नाम 'अत्ताबी' पड़ गया था। इसका रिवाज स्पेन, फ्रांस, इटली, आदि यूरोपियन देशों में काफी था। आज भी वहाँ 'ताबी' नाम से धारीदार कपड़े का बोध होता है। कूफा के रेशमी रूमाल और सर पर

बाँधने के साफे कूफिया कहलाते थे। दमिश्क का नाम 'दमास्क' के साथ जुड़ गया था। तुस्तर और सूस की कसीदेकारी और कते रेशम के पर्दे दूर-दूर तक मशहूर थे। शीराज़ के धारीदार ऊनी लबादों की सब जगह माँग थी। ईरान के रेशमी कपड़े 'ताफ्ताह्' का नाम आज भी यूरोपियन 'ताफेता' शब्द में सुनायी देता है। खुरासान और आरमीनिया के सोफे, गद्दे और पर्दे और बुखारा की नमाज़ पढ़ने की सफे भारी तादाद में बाहर जाती थीं। वक्षु पार का साबुन, दरी, ताँबे के लैम्प, अम्बर, शहद, समूर, कैंची, सुई, चाकू, तलवार, क़न्दील और गुलाम बहुत प्रसिद्ध थे। मिस्र में तरह-तरह के कपड़े बनाये जाते थे। तिन्नीस में सूत की गेंद बनती थी जिसका नाम भी तिन्नीस पड़ गया था। आजकल के प्रसिद्ध खेल 'टेनिस' का नाम इन्हीं तिन्नीसी गेंदों की याद ताजा करता है जो मध्यकाल में सारी दुनिया में मशहूर थी। शाम का शीशे का सामान अपनी सफाई और बारीकी के लिए प्रसिद्ध था। दमिश्क का मोज़ेक और काशान के काशानी टाइल भी बहुत बढ़िया होते थे। ७०४ में मुसलमानों ने समरकन्द में चीनी कागज़ देखा और उसके बाद उसे बनाने के बहुत से कारखाने खोले। आठवीं सदी के आखीर तक बग़दाद में कागज़ के कारखाने जारी हो गये। उद्योग-धन्धों के विकास के साथ-साथ खेती-बारी में भी बड़ी उन्नति हुई। उजड़े गाँव और कल्लर खेत फिर से चलते हो गये। दज़ला-फरात की वादी में राज्य की ओर से बड़ी-बड़ी नहरें बनवायी गयीं। इन नहरों के कारण ईराक़ में गेहूँ, जौ, चावल, छुवारे, तिल, कपास और सन की खेती बढ़ी। खुरासान भी ईराक़ से बाज़ी लेने लगा। समरक़न्द और बुखारा के बीच की वादी-अल-सुग़द की गिनती फारस के शीब-बव्वान, बसरे के उबुल्लाह् नहर के बाग़ात और दमिश्क के बग़ीचों के साथ पृथ्वी के चार स्वर्गों में की जाने लगी। इन बाग़ों में सेब, सन्तरे, नाशपाती, आड़ू, नीबू, बेर, अंजीर, जैतून, बादाम, अनार, गाजर, शलजम आदि कसरत से उगते थे। ख्वारज़्म के तरबूज बरफ की पेटियों में भरकर बग़दाद भेजे जाते थे जहाँ वे सात-सात सौ दिरहम के बिकते थे। अह्वाज़, फारस और शाम में गन्ने के फार्म और चीनी की भट्टियाँ थीं। धर्मयुद्धों के माध्यम से चीनी यूरोप पहुँची। इससे पहले वहाँ के लोग शहद से ही मुँह मीठा करते थे। आजकल का 'केन' शब्द अरबी 'कनाह्' से निकला है। दमिश्क, शीराज़, फीरोज़ाबाद आदि में इत्र बनाने का धन्धा काफी तरक्की पर था। खेती-बारी और इत्र बनाने के सम्बन्ध में इस युग में काफी किताबें लिखी गयीं जिनकी चर्चा 'फिहरिस्त' में मिलती है।

इस अभूतपूर्व आर्थिक उन्नति से धन-दौलत का जो ज़्वार उमड़ा उससे भोग-विलासिता और रंग-राग के द्वार खुल गये। अब्बासी दरबार शान-शौकत का बेजोड़ नमूना था। वहाँ की चकाचौंध करने वाली सजावट और झिलमिला देने वाली रंगीनियाँ

अपनी मिसाल नहीं रखतीं। ९०७ ई० में जब कुस्तुनतुनिया के राजदूत सुलह की बात करने बग़दाद गये तो वहाँ की शान देखकर उनके होश उड़ गये। चमचमाती वर्दी पहने घुड़सवारों की कतारें शम्मासिया दरवाज़े से शाही महल तक जमीं थीं और तमाशाइयों की पंक्तियाँ सड़कों से सटी खड़ी थीं। सब से पहले राजदूत प्रतिहार के महल में पहुँचे और वहाँ के दबदबे को देखकर यह समझे कि यही खलीफा का महल है। वहाँ से उन्हें वज़ीर के महल में ले जाया गया जिसे देखकर वे हैरान रह गये। फिर उन्हें ऐसे हाल में लाया गया जिसके एक ओर दज़ला नदी बहती थी और दूसरी ओर बागात थे। इसमें बेशकीमती ग़लीचे और पर्दे लगे थे और ढाल और डंडों से लैस जनखों की क़तारें खड़ी थीं। इससे होकर उन्हें खलीफा मुक़तदीर के सभा-मण्डप में लाया गया। इसका नज़ारा देखकर वे भौचक्के रह गये। इसके बाद उन्हें शाही बाग़ात की सैर करायी गयी। उन्होंने वन्य पशुओं का उद्यान देखा, मोरपंखी रेशम और कम्ख्वाब की झूल ओढ़े हुए हाथी झूमते देखे, जंजीरों में बँधे हुए शेरों की लाइनें देखीं। आखीर में उन्हें 'कल्पवृक्ष' महल (दार-अल-शजरा) दिखाया गया। वहाँ उन्होंने तालाब से एक सोने का पेड़ निकलता हुआ देखा जिसकी डालियों और टहनियों पर सोने की चिड़ियाँ बैठायी गयी थीं। उनमें ऐसे यंत्र लगे थे कि हवा चलने पर पत्ते हिलते और चिड़ियाँ चहचहाती थीं। जब यह वृत्तान्त इन दूतों ने यूरोप में सुनाया तो लोगों के रोंगटे खड़े हो गये।

बग़दाद और उसमें बना हुआ राजभवन अवर्णनीय था। बग़दाद 'मदीनत-अल-सलाम' (शान्तिनिकेतन) दज़ला के पश्चिमी तट पर गोलाकार बना था। इससे इसे गोल शहर (अल-मुदव्वराह) भी कहते थे। इसके चारों तरफ गहरी खाई और पक्की ईंटों की तिहरी दीवारें थीं जिनमें चार दरवाज़े चारों दिशाओं में खुलते थे। इसके केन्द्र में १३० फुट ऊँचा राजभवन था जिसे स्वर्णद्वार (बाब-अल-ज़हब) और हरा गुम्बज (अल-कुब्बाह-अल-खज़रा) भी कहते थे। एक बाद की किवदन्ती के अनुसार इसकी चोटी पर एक घुड़सवार बनाया गया था जिसका भाला यान्त्रिक गति से उस ओर मुड़ जाता था जिधर से खतरे या हमले की आशंका होती थी। इससे मिली हुई जामी मस्जिद थी। अल-मन्सूर ने शहरपनाह के बाहर 'क़स्र-अल-खुल्द' (अमरभवन) बनवाया था जिसके बाग-बगीचे स्वर्ग के समान माने जाते थे। राजमण्डप की शोभा निराली थी। वह कीमती गद्दों, ग़लीचों और पर्दों से जगमगाता था। खलीफा के पास गवैय्यों नर्तकों, कवियों, मसखरों और चापलूसों का मेला रहता था।

दरबारी जीवन की तरह और लोगों का जीवन भी ऐशोआराम से रंगा हुआ था। राजकीय वर्ग के अलावा जन-साधारण को दो दर्जों में रखा जा सकता है: उपरला दर्जा, जिसमें अभिजात वर्ग के साहित्यिक लेखक, विद्वान, कलाकार, व्यापारी,

दस्तकार आदि थे, और निचला वर्ग जिसमें किसान, चरवाहे, देहाती, मजदूर आदि शामिल थे। ऊँचे दर्जे के लोगों के जीवन की झाँकी 'अल्फलैला' (हजार रात) से मिलती है। इसकी रंगीन रातें, मखमली फर्श, चमकते फानूस, इत्र और खुशबू से गमकते दरो-दीवार, नाज़-नखरों से भरी नचनियाँ, रंगरलियों से लरजती हुई महफिलें और मस्ती से झूमती हुई मजलिसें इस समाज की जीती-जागती तस्वीर पेश करते हैं। हर आदमी ज़िन्दगी के नशे में चूर, विलास के मद से भरपूर, कुछ खोया-सा, कुछ भूला-सा, दिखायी देता था। उसका शिष्टाचार बहुत बढ़ा-चढ़ा था। अदब, लियाक़त और ज़र्फ के आदर्श ऊँचे थे। साफ-सुथरे कपड़े पहनना, छोटे-छोटे ग्रास बनाकर खाना खाना, धीरे-धीरे भोजन चबाना, थोड़ा बोलना और हँसना, उंगलियों को न चाटना, प्याज़-लहसुन से परहेज़ करना, जलसों, सड़कों व गुसलखानों में दाँत न कुरेदना सभ्य पुरुष (ज़रीफ) के लक्षण माने जाते थे। सफाई और स्नान पर बहुत जोर दिया जाता था। बगदाद में अल-मुकतदीर के जमाने में २७,००० हम्माम थे। लोग रंगीन कपड़े पसन्द करते थे। उनमें चोटीदार टोप, ढीले पायजामे (सरावील), कुर्ते और जाकट (कुफ्तान) और लबादा (अबा या जुब्बा) का रिवाज था। दाढ़ी-मूँछों को इत्र और गुलाब-जल से बसाया जाता था। नर्द, शतरंज, शिकार, चौगान और गेंद खेलने का प्रचलन था। स्त्रियों का महत्व तो बहुत था किन्तु आदमी गिर गया था। लचर चलन की छिछोरी लड़कियाँ, जो चालाकी और साजिश के लिए मशहूर थीं, हावी हो गयी थीं। नौउमर हसीन लड़के और जनखे अप्राकृतिक सम्बन्धों के लिए रखे जाते थे। हर घर एक चकले से कम न था। वर्ण-संकर का बोलबाला था। अरब और ग़ैर-अरब का भेद मिटता जा रहा था। गुलामों का समुद्र उमड़ रहा था। इनमें से कुछ की हालत तो ठीक थी लेकिन बहुत से असन्तुष्ट थे। फरात की निचली वादी में कलमी शोरे का काम करने वाले हब्शी गुलामों (ज़ंज) ने ८६६ में अली-इब्न-मुहम्मद के नेतृत्व में भयंकर विद्रोह छेड़ दिया और अपना स्वतन्त्र राज्य तक कायम कर लिया। चौदह वर्ष तक (८७०-८३) खलीफाओं को इन ज़ंजों के खिलाफ युद्ध करना पड़ा जिसमें लगभग पाँच लाख आदमी मरे और बेतादाद धन-सम्पत्ति नष्ट हुई।

हालाँकि अब्बासी युग बड़ी तरक्क़ी का ज़माना था पर इसमें ऊँच-नीच का भेद भी बढ़ रहा था। बड़े आदमी छोटों को चूसने लगे थे। अतः शोषित और दलित जनता विद्रोह और क्रान्ति की ओर जा रही थी। ज़ंज विद्रोह के अलावा इस्माईली आन्दोलन इस जन-क्रान्ति का वाहन था। इस्माईली नेता हमदान-बिन-अल-अशस 'क़रमत' ने किसानों और कारीगरों का संगठन किया। उसके अनुयायी सईद-अल-हसन-अल-जन्नाबी ने ८६६ ई० में फारस की खाड़ी के तट पर एक स्वतन्त्र राज्य बनाया

और अल-अहसा में अपनी राजधानी क़ायम की। वहाँ से इन्होंने खलीफा के खिलाफ जंग छेड़ी और मक्के तक में ऊधम मचाया। ये लोग इस्लाम के धार्मिक आचारों के विरुद्ध थे और मस्जिदों और पाषाण की पूजा करने वालों को 'गधे' समझते थे। अपना विरोध प्रकट करने के लिए वे निषिद्ध पशुओं का मांस खाते थे और देश और जाति के भेद को बेकार समझते थे। उनके आन्दोलन का संचालन श्वेताम्बरधारी (इक़दानिया) मुखियों की परिषद् द्वारा होता था। यह जमाअत साम्यवादी सिद्धान्त पर चलती थी। चन्दे या करों के रूप में जो धनराशि इकट्ठी की जाती थी उसमें से प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकतानुसार भाग मिलता था। सब व्यक्ति समान समझे जाते थे। क़रमत ने सब सम्पत्ति और स्त्रियों के समाजीकरण (उल्फा) का विधान बनाया था और साथ ही मजदूरों और कारीगरों को श्रेणियों में संगठित किया था। स्पष्टतः इस आन्दोलन के पीछे शोषित जनता की विद्रोह की भावना थी जिसने सुन्नी इस्लाम और अब्बासी ख़िलाफत के विरोध का रूप ले लिया था। इससे ज़ाहिर है कि इस युग के ऐश्वर्य, समृद्धि और भव्यता के मुलम्मे के पीछे कितनी दरिद्रता, विद्रोह और असन्तोष छिपा था।

अब्बासी युग शिक्षा की प्रगति, विचारों की स्वतन्त्रता और बौद्धिक उद्बोधन और वैज्ञानिक विकास का काल था। हर मस्जिद में या उससे लगी पाठशाला होती थी। उनमें छः वर्ष के बच्चों को दाखिल किया जाता था। शिक्षक (मुआद्दिब) कुरान और धर्मशास्त्र पढ़ाता था। होशियार बच्चों को ऊँट पर चढ़ाकर शहर में घुमाया जाता था और लोग उनपर बादामों की बखेर करते थे। ऊँची शिक्षा के लिए बड़े-बड़े विद्यालय थे। इनमें अल-मामून का 'बैत-अल-हिकमा' और अल-मुस्तन्सीर का 'अल-मुस्तन्सीरिया' बहुत प्रसिद्ध थे। इनके अलावा बगदाद में ३० और दमिश्क़ में २० विद्यालय थे। खुरासान और शाम में कितनी ही ऐसी संस्थाएँ थीं। अमीरों के घरों पर गोष्ठियाँ (मजालिस-अल-अदब) लगती थीं। बड़े-बड़े पुस्तकालय खुले थे जहाँ पाठकों को मुफ्त कागज़ दिया जाता था। पुस्तक-विक्रेताओं (अल-वर्राक़) की दुकानें भी विद्या और शिक्षा की केन्द्र थीं। अब्बासी युग के शुरू में फारसी, संस्कृत, शामी और यूनानी भाषा के बहुत से ग्रन्थ अरबी में अनूदित हुए। अरिस्तु, जालीनूस, अफलातूं, तोलेमी, उकलिद, आदि के प्रमुख ग्रन्थ अरबी में आ गये। संस्कृत से 'सिद्धान्त' नामक ज्योतिष का ग्रन्थ, एक गाणित की पुस्तक और पंचतन्त्र आदि का अरबी भाषान्तर हुआ। इस बौद्धिक विकास से इस्लामी जगत् में स्वतन्त्र दर्शन और विज्ञान का आविर्भाव हुआ। दर्शन के क्षेत्र में याकूब-इब्न-इशाक-अल-किन्दी (मृ० ८७० ई०), अबू-बक्र-मुहम्मद-इब्न-ज़करिया-अर-राज़ी (मृ० ९२३ या ९३२ ई०), अबू-नस्र-अल-फाराबी (मृ०

६५० ई०), अबू-अली-अल-हुसैन-इब्न-अब्दुल्लाह्-इब्न-सीना (६८०-१०३७ ई०) और इब्न-रुश्द (११२६-११६८ ई०) के नाम प्रसिद्ध हैं। अर्‌राज़ी के शब्दों में केवल बुद्धि द्वारा ग्राह्य दर्शन ही शुद्ध मुक्ति मार्ग है। समस्त विश्व 'आदि पुरुष', 'प्रथम कारण' शाश्वत् और निर्गुण सत्य द्वारा संचालित है। यह चिन्ता (अक़्ल), चिन्तक (आक़िल) और निन्त्य (माकूल) है। ईसाई त्रिक (तसलीस) इसका प्रतीक है। इन विचारों का बसरे और बग़दाद की 'इख्वान-अस्‌-सफा' (सत्यभ्रातृत्व) नामक संस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा। आयुर्वेद के क्षेत्र में इब्न-हृरयान (७७६ ई०), अर्‌-राज़ी (८६५-६२५ ई०), अल-मजूसी (६६४ ई०), इब्न-सीना (६८०-१०३७ ई०), इब्न-जज़लाह् (८६५-६२५ ई०) आदि ने युगान्तर उत्पन्न किया। ज्योतिर्विद्या के क्षेत्र में अल-फज़ारी (७७१ ई०), अल-फरग़ानी (८६१ ई०), अल-बत्तानी (६१८ ई०), अल-बीरूनी (६७३-१०४८ ई०) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। अल-मामून की वेधशाला में सिन्द-इब्न-अली और यह्या-इब्न-अबी-मंसूर ने रविमार्ग की तिर्यक्ता, विषुव-अयन, सौर वर्ष आदि का अध्ययन किया। उन्होंने और उनके साथियों ने क्वॉड्रैंट, एस्ट्रोलोब, डायल, ग्लोब आदि वेधयन्त्रों का प्रचुर प्रयोग किया। उस युग में पृथ्वी का अंश निकालने की सफल चेष्टा की गयी और मध्याह्नरेखा के अंश की लम्बाई ५६ २/३ अरबी मील कायम की गयी, जिससे पृथ्वी की परिधि २०,४०० मील और उसका व्यास ६,५०० मील बैठता है। अबू-मशअर (८८६ ई०) ने फलित ज्योतिष और ज्वारभाटे पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। अल-ख्वारज़्मी (७८०-८५० ई०) ने 'हिसाब-अल-जब्र-वल-मुक़ाबला' नामक ग्रन्थ लिखकर गणित के क्षेत्र में युगान्तर उत्पन्न किया। उसने भारतीय अंकों (हिन्दसा) को यूरोप तक पहुँचाया जो उसके नाम के कारण 'अल्गोरिज़्म' कहलाते हैं। रसायन-शास्त्र, खनिजविद्या, प्राणि-विज्ञान, मानव-शास्त्र, भूगोल, इतिहास, कानून आदि पर इस युग में महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हुईं।

इस युग की साहित्यिक प्रगति अभूतपूर्व थी। अल-जाहिज़ ने विशुद्ध साहित्यिक और आलंकारिक गद्य का श्रीगणेश किया। बादी-अल-जमाँ-अल-हमजानी ने 'मक़ामा' नामक नाटकीय कथा का प्रचलन किया, जिसमें भावपक्ष के स्थान पर कलापक्ष पर ज्यादा ज़ोर दिया जाता है और लेखक अपने कवित्व, ज्ञान और व्यंजनाशक्ति का पूरा प्रदर्शन करता है। इस शैली को अपना कर बसरे के अल-हरीरी ने 'मक़ामात' लिखे जो तुकान्त गद्य का उत्कृष्ट नमूना है। इस युग के साहित्य में अलिप्पो के अबुलफरज-अल-इस्फाहानी (८६७-६६७ ई०) की 'किताब-अल-अग़ानी' जिसे मुस्लिम संस्कृति और इतिहास का दर्पण या कुंजी कहा जा सकता है, अन्‌-नदीम की 'फिहरिस्त' और अल-ख्वारज़मी का 'मफातिह-अल-उलूम', जो उस युग के ज्ञान-विज्ञान के विश्वकोश हैं

और 'अल्फ-लैला-व-लैला (एक हज़ार एक रात), जो अब्बासी समाज की समृद्धि का चलचित्र है, बहुत प्रसिद्ध हैं। जहाँ एक ओर अन्धे फारसी कवि बश्शार-इब्न बुर्द और अबू-नुवास ने सुरा और सुन्दरी के गुणगान में मधुर गज़लें लिखीं, वहाँ अबुल-अताहिया नामक कुम्हार कवि ने जीवन की नश्वरता पर निराशापूर्ण उद्‌गार व्यक्त किये जिनमें बग़दाद के विलासपूर्ण जीवन के प्रति विरक्ति भरी हुई है।

अब्बासी स्थापत्य पर ईरानी प्रभाव गहराई से पड़ा। सासानी युग के वास्तु-शिल्प के प्रमुख लक्षण—अंडाकार या दीर्घवृत्तीय गुम्बज, अर्धवृत्ताकार डाट, सर्पिले बुर्ज, दाँतेदार फसील, चमकीले टाइल और धातु मण्डित छत—अब्बासी भवनों में भी मिलते हैं। यद्यपि अब्बासी खलीफाओं ने बाइजेन्तियम के चितेरों को प्रोत्साहन दिया किन्तु अरबी चित्रकला में खास उन्नति नहीं हुई, पर लेखनकला—पुस्तक को सजाने, चमकाने और उसकी जिल्द बाँधने की कला—में काफी उन्नति हुई। संगीत भी आगे बढ़ा। स्वर (नग़म) और लय (ईक़ा) का विधान बड़ा समृद्ध हुआ। हुनैन-इब्न-इशाक ने यूनानी से संगीतशास्त्र के बहुत से ग्रन्थों का अनुवाद किया।

## इस्लामी जगत् में सामाजिक वर्ग और धार्मिक मत

अब्बासी खलीफाओं के बरमकी वज़ीर अल-फज़्ल-बिन-यह्या ने समाज को पाँच वर्गों में बाँटा, (१) शासक जो सब से श्रेष्ठ था, (२) वजीर, जो बुद्धि और विवेक में बढ़ा-चढ़ा था, (३) ऊँचे वर्ग के लोग जो अपनी धन-सम्पत्ति के कारण सम्मान के पात्र थे, (४) मध्यम वर्ग के लोग जो अपनी संस्कृति (तअद्‌दुब) के अनुरूप उपर्युक्त वर्गों से सम्बद्ध थे, और (५) शेष जनता जो कूड़ा-करकट थी और सिर्फ खाना और सोना जानती थी। इस्लाम और सुन्नत ऊँचे और मँझले वर्गों के हित-साधन के उपकरण बन गये थे। इसलिए निचले लोगों ने अपने विरोध और विद्रोह को प्रकट करने के लिए अन्य इस्लामी मतों का आश्रय लिया। उस युग में इस्लाम को छोड़ना खतरे से खाली न था, साथ-ही चुप बैठकर जुल्म सहना नामुमकिन था। इसलिए लोगों ने इस्लामी मतान्तरों को सामाजिक विद्रोह का माध्यम बनाया। इस तरह शिया-दल जनतन्त्री भावना के विरुद्ध होते हुए भी पराजित जातियों और पददलित लोगों की श्रद्धा का पात्र बन गया। इसके अलावा ईरान में जो तथाकथित अपधर्म या कुफ्र फैले उनके पीछे भी सामाजिक उथल-पुथल छिपी हुई है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि अबू-मुस्लिम का उमैय्या-विरोधी आन्दोलन व्यापारियों और दुकानदारों पर आधारित था। उसी समय एक और आन्दोलन उठा जिसका सम्बन्ध माहफुरूज़ीन के पुत्र बिहाफरीज़ से है। उसके बारे में अन्-नदीम की 'फिहरिस्त'

और अल-बीरूनी के 'अल-आसार-अल-बाक़िया' से जो पता चलता है उसका सार यह है कि वह सात साल चीन में रहा और वहाँ से वापस आकर नीशापुर के सीरावन्द नामक प्रदेश में उसने अपने आपको पैग़म्बर घोषित किया। सब से पहले एक किसान उसका अनुयायी बना, फिर मगों में उसका मत फैला। उसने अग्निपूजा, छोटे पशुओं की बलि, शराब पीना, माता-बहिनों-भतीजियों से विवाह करना, भोजन के समय 'ज़मज़मा' नामक मन्त्र पढ़ना आदि ज़रथुस्त्री रस्में बन्द कीं और घुटने के बल सूरज की पूजा करने का आदेश दिया, क्योंकि सूरज मानव समानता और सामाजिक न्याय का प्रतीक माना जाता था। इसके साथ-साथ उसने ४०० दिरहम से ज्यादा दहेज देने पर पाबन्दी लगायी और अपने अनुयायियों को अपनी सम्पत्ति और श्रम का सातवाँ हिस्सा तक सार्वजनिक कोश में जमा करने का आदेश दिया, जिससे सड़कों और पुलों की मरम्मत जैसे लोक-मंगल के कार्य किये जा सकें। इससे स्पष्ट है कि किसान मजदूरों और छोटे तबके के लोगों का आन्दोलन था और इसमें समानता और साम्यवाद का गहरी पुट था। लगता है कि यह ज़रथुस्त्री दिहक़ानों के विरुद्ध, जिन्होंने अरब विजेताओं की ओर से काम करना स्वीकार कर लिया था, साधारण ईरानी जनता का विद्रोह था। अतः ज़रथुस्त्री मुबाज (पुरोहित) ने अबू-मुस्लिम के साथ मिलकर उसके अनुयायियों को मरवा दिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि अल-मन्सूर ने गद्दी पर आते ही अबू-मुस्लिम को मरवा दिया क्योंकि वह मध्यम वर्ग की हुकूमत चाहता था। लेकिन उसके मरने से उसका आन्दोलन नहीं दबा और उसके मित्र सिनबाज नामक मग (७५५-५६ ई०) ने यह घोषणा की कि वह मरा नहीं है बल्कि सफेद चिड़िया बनकर उड़ गया है और समय आने पर फिर प्रकट होगा। इस विश्वास के साथ उसने तबरिस्तान के मगों, राफिज़ियों (शियों), मज़दकियों और मूर्तिपूजकों (मुशब्बिहा) की एक लाख फौज जमा करके अब्बासियों के खिलाफ जंग का एलान किया। कई स्थानों पर उसे सफलता भी मिली, ७० दिन तक उसका विद्रोह चला, लेकिन अन्त में उसने लड़ते हुए वीरगति पायी। अबू-मुस्लिम के एक दूसरे दाई (प्रचारक) इशाक तुर्क ने वंक्षु पार ऐसा ही आन्दोलन चलाया और यह घोषित किया कि अबू-मुस्लिम ज़रथुस्त्र का पैग़म्बर है।

इसी प्रकार हेरात, बादघीस और सीसतान में उस्ताज़सीस (७६६-८) ने ३,००,००० फौज जमा कर अब्बासियों को चुनौती दी। इसके दस वर्ष बाद खुरासान के पैग़म्बर अल-मुक़न्ना (७७७-७८० ) का बलवा खड़ा हो गया। उसने वंक्षु पार कर कश और नख़शाब में तुर्कों में मज़दकी विचार फैलाये और १४ वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद अल-मामून के राज्यकाल में बाबक (पापक) अल-खुर्रमी ने पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी ईरान में तूफान मचाया। वह एक तेली का लड़का था और खुद चरवाहा

था। उसने मज़दक के साम्यवादी सिद्धान्तों को अपनाया और अब्बासी शासन को गहरा धक्का पहुँचाया। इस प्रसंग में ईरान के खुर्रमिया सम्प्रदाय का भी जिक्र करना जरूरी है जिसे मज़दक की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी खुर्रमा ने चलाया। साम्यवादी विचारों के अलावा इस मत के मानने वाले श्रुति की अक्षुण्णता, सब धर्मों की समानता, खून-खराबे और पशु-बलि से विरक्ति, सफाई और स्वच्छता, दया और सखावत, रोशनी और अँधेरे के द्वैतवादी सिद्धान्त और विवाह की निरर्थकता को मानते थे। इस्फाहान के निकट रावन्द में उनसे मिलता-जुलता एक रावन्दिया सम्प्रदाय था। इन ईरानी आन्दोलनों में साम्यवादी विचारों के साथ-साथ ईरानियों की राष्ट्रीय भावना और दलित-शोषित वर्गों का अभ्युत्थान निहित था।

ईरानी आन्दोलनों के साथ-साथ ईराक़, शाम और मिस्र भी विद्रोह से अभिभूत थे। अब्बासी युग में अरब और ग़ैर-अरब के जातिगत भेद के बजाय आर्थिक अवस्था पर आधारित वर्ग बन गये थे। इस्लामी दुनिया कृषि-प्रधान सैनिक संगठन की अवस्था से निकल कर उद्योग-व्यापार प्रधान सार्वभौम संस्कृति की ओर जा रही थी। अतः धार्मिक मतों और सम्प्रदायों की राजनीतिक या जातीय व्यंजना नहीं रही थी। वे आर्थिक श्रेणियों और सामाजिक वर्गों के पर्याय बन गये थे। शत्तुल अरब के ज़ंज और बहरीन के क़रमती आन्दोलन इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। क़रमती या इस्माइली सम्प्रदाय शिया-दल से निकला था लेकिन इसके पीछे दलित-शोषित जनता की आवाज़ थी। अल-गज़ाली ने लिखा है कि इस्माइली सिद्धान्त साधारण जनता (अव्वाम) के लिए थे। इब्न-ज़ौजी का विचार है कि जन-साधारण (अव्वाम) इसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट था। इसका दृष्टिकोण कवि मुतनब्बी के इस पद्य से प्रकट होता है:

"नहीं, निश्चय ही, मैं तब तक भगवान् की प्रार्थना नहीं करूँगा जब तक
मैं निर्धन हूँ— शेखअल-जलील, फाइक़, को प्रार्थना करने दो।
और सेनाओं के नेताओं को, जिनके घर भरे हैं। पर मैं क्यों प्रार्थना करूँ?
क्या मैं बड़ा आदमी हूँ? क्या मेरे पास महल, घोड़े, बढ़िया कपड़े
और सोने की पेटियाँ हैं?
प्रार्थना करना, जबकि मेरे पास एक इंच भी भूमि नहीं है, निरा पाखण्ड है।
नहीं, मैं यह सब उनके लिए छोड़ता हूँ जिनके मैंने नाम लिये हैं और जो
कोई उलाहना दे वह मूर्ख है, पागल है।"

इससे दलित वर्गों की भगवान् में अश्रद्धा प्रकट होती है। अल-गज़ाली ने साफ कहा है कि कुफ्र मजदूर और कारीगर वर्ग को अपनी तरफ खींचता है। इस्माइलियों की व्यवस्था समाजीकरण (उल्फा) के सिद्धान्त पर निर्भर थी। ग्यारहवीं सदी में

नासिर-ए-खुसरों ने अपने 'सफरनामे' में बहरीन की समाजवादी बस्ती के बारे में लिखा कि वहाँ कोई कर-चुंगी नहीं थी, सूद-बट्टे का रिवाज नहीं था, सब मेहनत करके गुज़ारा करते थे, अगर कोई टोटे में आ जाता तो और लोग उसकी मदद करके उसे उठा देते और शासन एक समिति द्वारा चलता था। वहाँ न मस्जिदें थीं, न नमाज़ होती थी, न खुतबे पढ़े जाते थे, शराब की पूरी बन्दी थी, लेकिन बाहर के लोगों को इबादत करने की पूरी आज़ादी थी। इस्माइली औरतें सुन्नी औरतों से ज्यादा आजाद थीं, इसे बढ़ा-चढ़ा कर कुछ लोगों ने उनमें स्त्रियों के समाजीकरण की बात कही है। तुर्कों के आने से यह व्यवस्था समाप्त हो गयी।

इस्लामी जगत् पर तुर्कों के छा जाने से सुन्नी कट्टरता बहुत बढ़ गयी और वैज्ञानिक और सामाजिक प्रगति ठण्डी पड़ गयी। जब लोगों में विद्रोह करके समाज को सुधारने की शक्ति न रही तो उन्होंने तपस्या करके मन को साधने की कोशिश की। खुर्रमी और क़रमती (इस्माइली) आन्दोलनों के दबने पर सूफी आन्दोलन प्रबल हुआ जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

## ईरान का सांस्कृतिक नवोत्थान

अरबों द्वारा ईरान की विजय के समय वहाँ राजनीतिक विघटन हो रहा था। खुसरो के बाद दिहक़ानों (जमींदारों) ने देहात में छोटे-छोटे गढ़ बना लिये थे। वहाँ से वे स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी रियासतों और जायदादों का प्रबन्ध करते थे। समाज जातियों की दीवारों से बँटा हुआ था। उन जातियों के धार्मिक आचार भी अलग-अलग थे। पुरोहित-पण्डे 'फर्नबग' अग्नि को पूजते, तो क्षत्रिय 'गुश्नास्य' अग्नि को और सामान्य लोग और किसान 'बुर्ज़िनमिहिर' अग्नि को। यह ठीक है कि यह केवल सैद्धान्तिक विभाजन था, व्यवहार में 'वरहरान' अग्नि की शाखाएँ सब जगह पूजी जाती थीं, किन्तु इससे जातिगत भेद-भाव की मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। ज़रथुस्त्री धर्म उच्च वर्गों के साथ नत्थी था तो साधारण जनता जादू, टोने, टोटके, ज्योतिष् और भूतप्रेत में विश्वास रखती थी, या ज़ुर्वानी निराशावाद में डूबी थी। इस वातावरण में अरबों की विजय-यात्रा और भी सरल हो गयी थी।

अरबों ने ईरान के सामाजिक ढाँचे में कोई खास तबदीली नहीं की। उन्होंने हर शहर और क़स्बे के सरदार से सुलह की और उसे लगान और खराज वसूल करने का कारिन्दा बनाया। लेकिन चूँकि ग़ैर-मुसलमानों को जिज़या भी देना पड़ता था इसलिए उन्होंने मुसलमान बनना पसन्द किया। बहुत से अरब भी ज़मीनें हथिया कर या खरीद कर ईरानियों की तरह जमींदार बन गये। किसान जैसे पहले जमींदारों को लगान

देते थे वैसे ही उन्हें देने लगे। इस तरह ईरानी समाज का सिलसिला जैसे का तैसा बना रहा। लेकिन इस्लाम के आने से ईरान में जातीय चेतना आयी। इससे एक तो ज़रथुस्त्री क्षेत्रों में नयी साहित्यिक गतिविधि पैदा हुई और दूसरे ईरान की भाषात्मक एकता कायम हुई और अर्वाचीन फारसी भाषा का निर्माण और विकास हुआ। ६९६ में खलीफा अब्दुल मालिक ने सरकारी दफ्तरों में यूनानी और पहलवी के बजाय अरबी इस्तेमाल करने का आदेश दिया। इससे ईरान की बोलचाल की भाषा में अरबी शब्दों की बहुतायत हो गयी। पूर्वी ईरान और खुरासान में जो 'दरी' भाषा बोली जाती थी, उसके साथ अरबी के योग से अर्वाचीन फारसी का विकास हुआ। इसके साथ वहाँ आये हुए उच्च वर्ग के ईरानियों में एक स्वतन्त्रता की चेतना उभरी। अत: वहाँ एक प्रबल फारसी नवोत्थान उठ खड़ा हुआ, जिसने समस्त ईरान और इस्लामी जगत् के बहुत बड़े भाग को आप्लावित कर दिया।

ईरानी अरबों से विरक्ति रखते थे। उमैय्यों के विरुद्ध खुरासान से जो आन्दोलन छिड़ा उसके दौरान में इसाबत-अल-जर्जराई नामक कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में ईरानियों की प्रचलित मनोवृत्ति का परिचय दिया:

"महल दो ही हैं—ईवान-ए-किस्रा और गुमदान, राज्य के दो ही भाग
हैं—सासान और क़हतान।
श्रेष्ठ जन फारसी हैं, श्रेष्ठ जलवायु बाबुल की है, मक्का इस्लाम है और
विश्व खुरासान है।"

अल-मामून और अल-मुअतसिम के दरबारी अबू-दुलाफ-अल-इजली (मृ० ८३९ या ८४० ई०) ने अपनी खुरासानी शैली (किस्रवीय-अल-फिआल) की बड़ाई की है। अल-अत्ताबी (मृ० ८२३) कवि का विचार था कि अच्छे भाव फारसी ग्रन्थों में ही मिलते हैं। अल-मामून ने जिसकी माता ईरानी नस्ल की थी, ईरानी संस्कृति को बहुत बढ़ावा दिया। उसके सेनापति ताहिर-जुल-यामिनैन ने खुरासान के ताहिरी वंश (८२०-८७२) की नींव रखी। इस काल में फारसी का सबसे पुराना कवि हंज़ला हुआ। इस वंश के बाद सफ्फारी वंश प्रबल हुआ। उसके प्रवर्तक याक़ूब-बिन-लैस-अल-सफ्फार ने फारसी साहित्य को बहुत प्रोत्साहन दिया। कहा जाता है कि एक दिन उसके पुत्र ने रोते हुए फारसी की यह पंक्ति कही 'ग़लतान ग़लतान हमीं खद ता बुन-ए- कू'। यही फारसी पद्य की पहली रचना मानी जाती है। याक़ूब के भाई अम्र के राज्यकाल में फीरूज-अल-मशरक़ी, महमूद वर्राक़ और अबू-सलीक गुरगानी ने फारसी में कविता लिखी। उधर गीलान के उत्तर के पहाड़ी इलाके में दैलामी और बुवैही शासन-काल में मन्तिक़ी और खुसरवी नामक कवियों ने अच्छा साहित्य लिखा।

९०० ई० में सफ्फारी वंश के बजाय सामानी वंश का राज्य कायम हुआ। इस युग में फारसी गद्य और पद्य दोनों की उन्नति हुई। इस युग का सबसे प्रसिद्ध कवि रूदकी या रूदगी था। उसका जन्म समरकन्द के पास एक गाँव में हुआ। वह जन्म का अन्धा था। कविता और संगीत में उसकी प्रतिभा निराली थी। इस युग के लेखकों में दक़ीक़ी का भी बहुत महत्त्व है। उसने फारसी के पुराण 'शाहनामे' को लिखना शुरू किया और उसके एक हजार पद्य लिखे। बाद में इस काम को फिरदौसी ने पूरा किया। दक़ीक़ी की गीतिकाएँ अपने लालित्य के लिए प्रसिद्ध हैं। काव्य के क्षेत्र में क़सीदा (प्रशस्ति) गज़ल आदि का रिवाज था। क़िता (मुक्तक), दुबैल (द्विपदी), रुबाई (चतुष्पदी) और मसनवी (प्रबन्ध) नामक छन्द इस युग में चालू हुए। गद्य में बलअमी नामक सामानी वज़ीर के पुत्र का किया हुआ तबरी के इतिहास और उसकी टीका का अनुवाद और क़ुरान की एक टीका का तर्जुमा उल्लेखनीय है।

सामानी वंश के बाद गजनवी वंश प्रमुख हुआ। इसके शासक महमूद ने दूर-दूर तक अपना राज्य फैलाया और भारत पर भी अनेक हमले किये। उसने अपनी सभा में अनेक विद्वानों को आश्रय दिया। इनमें अबू-रैहान-अल-बीरूनी (९७३-१०४८) का बहुत महत्व है। उसने भारत के कुछ भागों की यात्रा की और संस्कृत सीख कर अनेक मौलिक ग्रन्थों को पढ़ा। गणित, ज्योतिष और रत्नशास्त्र में उसकी गहरी पहुँच थी। उसकी 'अल-आसार-अल-बाक़िया' (प्राचीन जातियों के अवशेष), 'किताब-अल-हिन्द' (भारत विषयक पुस्तक) 'कानून-अल-मसऊदी', 'तफहीम' आदि ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। हाल ही में उसके किये हुए, पांत्तजल योगसूत्र के एक भाग के अरबी अनुवाद का पता लगा है। अल-बीरूनी उच्च कोटि का बुद्धिवादी दार्शनिक था।

अल-बीरूनी का साथी इब्न-सीना (९८०-१०३७) भी उस युग का महान् विद्वान् था। उसने सौ के करीब ग्रन्थ लिखे जिनमें भौतिक, गणित और दर्शन पर अनेक रचनाएँ शामिल हैं। उसका 'शिफा', 'कानून' और रुबाइयों का संग्रह प्रसिद्ध हैं। वह अपने युग का बहुत प्रख्यात चिन्तक और चिकित्सक था।

उस युग में गज़नी के अलावा महमूद के भाई अबुल-मुजफ्फर-नस्र की खुरासान की राजधानी नीशापुर की राजसभा, सामानी वंश के अन्त तक बुखारा का दरबार, दक्षिणी और पश्चिमी ईरान में बुवैह राजाओं के घराने, तबरिस्तान में सैय्यीद और जियारी राजकुमारों की गोष्ठियाँ और खीवा में ख्वारज्मशाह मामून का क्षेत्र कवियों और साहित्यिकों के केन्द्र थे। अनेक साहित्यिक और वैज्ञानिक इन केन्द्रों में चक्कर लगाते और वहाँ के शासकों को अपने ग्रन्थ भेंट करते फिरते थे। दर असल इन राजाओं और राजकुमारों में इन विद्वानों और कवियों को आश्रय देने की होड़ सी लगी रहती थी।

इस वातावरण में ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, काव्य-निबन्ध आदि की अभूतपूर्व उन्नति होना स्वाभाविक था। अतः फारसी के अनेक कवि उन्सूरी, असदी, असजदी, फर्रुखी, मिनुचिह्‌री, फिरदौसी आदि आगे आये। इनमें सब से प्रसिद्ध अबुलक़ासिम फिरदौसी था।

फिरदौसी का जन्म ९२० के करीब तूस के एक दिह्‌क़ान परिवार में हुआ। अबू-मन्सूर-अल-मअमारी द्वारा ९५७ में प्राचीन फारसी सामग्री के आधार पर लिखित राजाओं के वृत्तान्त को पढ़कर उसे पुरातत्त्व में रुचि उत्पन्न हुई और ९७४ में उसने ईरान के राष्ट्रीय पुराण को पद्यबद्ध करने का संकल्प किया। यह कृति ९९९ में पूरी हुई। १०१० के करीब इसका दूसरा संस्करण तैयार हुआ। कहा जाता है कि इस पर इनाम-इकराम के बारे में फिरदौसी और महमूद गज़नवी में कुछ झगड़ा हुआ जिससे उसे गजनी छोड़ कर बुवैह्‌ वंश के राजकुमार की शरण लेनी पड़ी। कुछ विद्वान् इस क़िस्से को कोरी गप्प समझते हैं। लेकिन इसमें शक नहीं कि फिरदौसी की ज़िन्दगी के आख़री दिन आराम से नहीं गुज़रे और उसे आफत और मुसीबत का मुँह देखना पड़ा।

फिरदौसी ने अपने युग को अतीत से समविन्त कर अपने देशवासियों को एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण दिया। उसकी दृष्टि काबुल-ज़ाबुल और सीसतान से ईरान के केन्द्र स्थल को होती हुई माजन्दरान और केस्पीयन सागर तक पहुँचती है और फिर उत्तर की ओर मुड़कर वंक्षु पार करती हुई तूरानी प्रदेश में घुस जाती है। इस विशाल प्रदेश पर ईरानी और तूरानी, शक और सासानी, गब्र और मुस्लिम अपना-अपना ऐतिहासिक अभिनय करते हैं। फिरदौसी ने इस बृहत्तर ईरान की भावना को ऐतिहासिक एकता का आधार दिया और उसके भव्य अतीत को प्रत्येक ईरानी का कण्ठहार बना दिया। इससे ईरानियों की राष्ट्रीय चेतना को नया स्वरूप मिला और सासानी युग के सपने साकार हो गये।

फिरदौसी बार-बार अपने काव्य में विश्व के कायाकल्प या पुनर्यौवन की चर्चा करता है। यह प्रक्रिया किसी प्राकृतिक गति का परिणाम नहीं है बल्कि नये राजवंश अथवा राजा के आगमन पर निर्भर है जो सामाजिक और प्रशासनिक प्रगति को बहुत ऊँचा ले जा सकता है।

फिरदौसी ने बहुत कुछ फारसी शब्दों का प्रयोग करने की कोशिश की। यह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के भाव की अभिव्यक्ति है। उसके काव्य में आत्मगौरव और वैयक्तिक सक्रियता का भाव व्याप्त है जो राष्ट्र की नवोद्बोधित सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है। इसलिए वह कहता है:

मनश करदा-अय रुस्तम-ए-दास्ताँ।<br>
वगरना यले बूद दर सीसताँ॥

(मैंने उसे रुस्तम पहलवान बनाया है, नहीं तो सीसतान में इस नाम का कोई हुआ होगा।)

यह बात कि फिरदौसी ने ईरानी राष्ट्रीय उद्बोधन और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के उद्देश्य से काव्य-रचना की उसकी निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है:—

जहाँ करदा-अम अज़ सुख़न चूं बिहिश्त।
अज़ीं पेश तुख़्म-ए-सुख़न कस न किश्त ॥
बसे रंज बुर्दम दरीं साल सी।
अजम ज़िन्दा करदम बदीं पारसी ॥

(मैंने अपने शब्दों से संसार को स्वर्ग बना दिया है। इससे पहले किसी ने काव्य के बीजों की खेती नहीं की थी। मैंने इन तीन वर्षों में अनेक कष्ट झेले, (लेकिन) मैंने इस फारसी के द्वारा ईरान को फिर से जीवित कर दिया।)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ग्यारहवीं सदी तक ईरान में अर्वाचीन फारसी भाषा सुस्थिर हो चुकी थी, उसके साहित्य का रंगरूप निखर आया था, उसकी ऐतिहासिक चेतना जाग्रत हो चुकी थी और उसका इस्लामी जगत् में वैयक्तिक स्थान क़ायम हो गया था। इस नवोन्मीलित ईरानी संस्कृति में गुलाब की खुशबू और खूबसूरती थी, शराब की झूम और मस्ती थी, चश्मों की रवानी और ताज़गी थी और जीवन का उन्माद और उल्लास था।

## सूफी आन्दोलन

हम ऊपर कह आये हैं कि अब्बासी युग में अनेक सामाजिक आन्दोलन उठे जो कुचल दिये गये। इनके दबने पर दुखी-दरिद्र जनता ने शान्ति और सन्तोष का मार्ग पकड़ा। इस मार्ग के अगुआ सूफी थे।

'सूफी' शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ बतायी जाती हैं। इसे 'सफा' (पवित्रता), 'सफ्फ' (पंक्ति), 'सुफ्फाह' (मंच), 'बनू-सूफा' (एक बद्दू जाति), 'सौफाना' (एक प्रकार का शाक), 'सफवत-अल-किफा' (गर्दन के बालों का गुच्छा) आदि शब्दों से जोड़ने की कोशिश की जाती है, किन्तु असली निष्पत्ति 'सूफ' (ऊन) शब्द से है। इब्न-खल्दून जैसे अधिकारी विद्वान् और विचारक ने इसी व्युत्पत्ति को माना है। शामी जगत् में ऊन का लबादा सरल जीवन और भगवत्प्रेम का प्रतीक माना जाता था। ईसाई सन्त और मर्मी इसे पहनते थे और मसऊदी के अनुसार शुरू के खलीफा भी इसका प्रयोग करते थे। किन्तु 'सूफी' शब्द आठवीं सदी के अन्त तक व्यवहार में नहीं आया। जामी ने 'नफहातुल-उन्स' में लिखा है कि यह सबसे पहले शाम के निवासी अबू-हाशिम के लिए

प्रयुक्त हुआ। अन्-नदीम की 'फिहरिस्त' के अनुसार सब से पहला सूफी लेखक राय् का निवासी यह्या-बिन-मुआज़ था जिसका स्वर्गवास ८२१-२२ में हुआ। सूफीमत का सबसे पहला केन्द्र कूफा था। वहाँ एक अधकचरे शिया-सम्प्रदाय ने इसका प्रचार आरम्भ किया। लगभग उन्हीं दिनों ८१४ में 'सूफिया' शब्द सिकन्द्रिया के एक साधारण से विद्रोह के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ। किन्तु आठवीं सदी के अन्त और नवीं सदी के शुरू में चालू होने के पचास वर्ष के भीतर ही यह मत सारे ईराक़ में फैल गया और बगदाद इसका केन्द्र बन गया। वहाँ मुल्लाओं और काज़ियों से इसके मानने वालों की भिड़न्त हुई और ज़ुल-नून-मिस्री, नरी, अबू-हमज़ा आदि को इसे मानने के कारण सजा दी गयी।

ऐतिहासिक दृष्टि से सूफीमत में तीन प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं। नवीं सदी के अन्त तक यह केवल शान्तिप्रिय जीवन, दैनिक तपश्चर्या, वैयक्तिक भगवत्प्रेम और आध्यात्मिक उन्नति को धर्म-साधना का सोपान समझता रहा और बाहरी आचार, पाखण्ड और प्रदर्शन का विरोध करता रहा। इस युग के सूफियों में इब्राहीम अज़म (७७७ ई०) दाऊद-अत-ताई (७८१-२ ई०), फुज़ैल-इयाज़ (८०३ ई०) और प्रसिद्ध महिला राबिया-अल-अदविया (७५२-५३ ई०) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। किन्तु नवीं सदी के अन्त और दसवीं सदी के शुरू में इसमें अद्वैतवादी विचारों का आविर्भाव हुआ। इस काल के सूफियों में अबू-यज़ीद (मृ० ८७५ ई०), जुनैद (मृ० ९१० ई०), इब्न-सहल-तुस्तरी (मृ० ८९६ ई०), हुसैन-इब्न-मन्सूर-अल-हल्लाज (मृ० ९२२ ई०). प्रसिद्ध हैं। अन्-नदीम की फिहरिस्त के अनुसार मन्सूर फारसी था और रसायन, आयुर्वेद आदि विद्याओं का ज्ञाता था। अपनी यात्राओं के दौरान में वह भारत भी आया। उसके लिखे हुए ४६ ग्रन्थों की सूचियाँ मिलती हैं जिनसे उसके अपूर्व ज्ञान का अन्दाज़ा किया जा सकता है। वे विशुद्ध अद्वैतवाद के अनुयायी थे जैसा उनके कथन अन-अल-हक़ (मैं ही सत्य हूँ) से सिद्ध होता है। इन विचारों के कारण ९२२ ई० में उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया और तीन वर्ष बाद उसके अनुयायी हैदर, अश् शअरानी और इब्न-मन्सूर को भी सूली पर चढ़ाया गया। किन्तु उसका प्रभाव खत्म नहीं हुआ और बारहवीं-तेरहवीं सदी में मुहिय्युद्दीन-इब्नुल-अरबी (११६५-१२४० ई०) ने उसके सिद्धान्त को दार्शनिक रूप दिया और फख्रुद्दीन ईराक़ी और औहदुद्दीन किरमानी आदि फारसी सूफियों को अपने विचारों से प्रभावित कर फारसी साहित्य पर अमिट छाप छोड़ी। ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्ध से सूफीमत अल-अशअरी (८७३-९३५ ई०) और अल-ग़ज़ाली (१०५९-११११ ई०) के प्रभाव के कारण पुराणपन्थी इस्लाम से मेल करने लगा और सुन्नी विचारों का हामी हो गया। फारसी के प्रतिष्ठित कवि अबुल-मज्द-मजदूद-बिन-आदम-सनाई (मृ० ११५० से कुछ पहले), फरीदुद्दीन अत्तार (मृ० १२२२ के लगभग)

और जलालुद्दीन रूमी (१२०७-१२३१ ई०) पर इस समन्वयपरक प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आठवीं सदी के अन्त से नवीं सदी के अन्त तक सूफी मत प्रेम-भक्ति-परक था, नवीं सदी के अन्त और दसवीं सदी के आरम्भ से ग्यारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक अद्वैतप्रधान रहा और ग्यारहवीं सदी के अन्त से सुन्नत और शरीयत से समन्वित हो गया। इस ऐतिहासिक विभाजन का अर्थ यह नहीं है कि उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ इस काल-क्रम की सीमाओं के बाहर नहीं गयीं। वास्तव में ये तीनों बहुत हद तक समानान्तर रहीं, किन्तु उपर्युक्त युगों में इनका क्रमशः प्राधान्य और बाहुल्य रहा।

इस संक्षिप्त सर्वेक्षण के बाद यह प्रश्न उठता है कि सूफीमत का विकास किस प्रकार हुआ। निकलसन आदि विद्वानों का विचार है कि इसके अद्वैतवादी पक्ष पर नव-अफ्लातूनी दर्शन का गम्भीर प्रभाव पड़ा, तुम्प, दोज़ी और फान क्रेमर मानते हैं कि इसे बौद्ध और वेदान्ती दर्शन ने दिशा प्रदान की और ब्राउन, मासीनो आदि का मत है कि यह इस्लामी विचारधारा का स्वाभाविक विकास है। वस्तुतः इस्लामी एकेश्वरवाद (तौहीद) स्वभावतः अद्वैतवाद (वहदल-अल्-वुजूद) की ओर ले जाता है। अतः सूफीमत इस चिन्तन-पद्धति की प्राकृतिक परिणति है, किन्तु साथ ही इसे यूनानी, ईरानी और हिन्दी विचारों से और अब्बासी युग के प्रारम्भिक खलीफाओं, विशेषतः अल-मामून के समय के विचार-स्वातन्त्र्य के वातावरण से भी स्फूर्ति और प्रेरणा मिली। असल में यह मत इस्लाम की निजी उपज है।

सूफी भगवान् को अद्वितीय मानते हैं। वह सत्य (हक़), शिव (खैर) और सुन्दर (जमाल) है। सारा जगत् उसका जल्वा है। भगवान् अपने आपको नाना रूपों में व्यक्त करता है। किन्तु किसी वस्तु का ज्ञान उसके विरोधी तत्त्व के सन्दर्भ में ही हो सकता है। अतः सत्-असत् की पारस्परिकता से भूत-जगत् का विकास होता है। अहंकार और अज्ञान असत् के रूप हैं। इनके कारण मनुष्य भगवत्प्रकृति का रूप होते हुए भी अपने को स्वतन्त्र समझता है। इस अहंकार का नाश 'फना' (निर्वाण) या 'नीस्त' (अभाव) कहलाता है। इस 'फना' (निर्वाण) में वास्तविक 'बक़ा' (अस्तित्व) और 'नीस्त' (अभाव) में वास्तविक 'हस्ती' (भाव) है। 'नीस्त' का अर्थ वास्तविक सत् है क्योंकि इससे अहंकार रूपी भ्रामक अस्तित्व का आवरण नष्ट हो जाता है। जब अहंकार नष्ट होता है तो ऐसी विस्मृति और उन्माद की अवस्था पैदा होती है कि ज्ञान, विवेक और कर्तव्य की चेतना लुप्त हो जाती है। यह 'फना' और 'नीस्त' निषेधात्मक होते हुए भी विधेयात्मक हैं क्योंकि भगवान् सब गुणों का निषेध न होकर सब का प्रतिष्ठापन है। 'नीस्त' की प्राप्ति या व्यक्तिभाव अथवा अहंकार के त्याग के लिए प्रेम की आकुलता और भावना का अतिरेक आवश्यक है। दिव्य प्रेम पार्थिव प्रेम के सहारे

विकसित होता है किन्तु इसमें आसक्ति बिलकुल नहीं होनी चाहिए।

ऊपर हमने अद्वैतवादी सूफी मत का कुछ परिचय दिया है क्योंकि यह इसका सबसे प्रसिद्ध और विशिष्ट पक्ष है, लेकिन इसके और भी बहुत से सम्प्रदाय और सिद्धान्त हैं। खास तौर से 'वहदत-अल-वुजूद' के अलावा 'वहदत-अल-शुहूद' नामक सिद्धान्त बहुत व्यापक है। इसके अनुसार वस्तु-जगत् स्वयं भगवान् (हक़) नहीं है, बल्कि उसके नाम (अस्मा) और गुणों (सिफात) की ज्योति अथवा प्रतिबिम्ब है। इसे मानने वाले शरीयत के अधिक निकट रहे।

इसमें शक नहीं कि सूफियों के विभिन्न सम्प्रदायों में ईराक़ और ईरान के कारीगर और दुकानदार वर्ग का कुछ भाग शामिल हो गया था। यह भी स्पष्ट है कि मन्सूर-अल-हल्लाज के अनुयायियों में छोटे तबक़े के कर्मचारी और लोग मिल गये थे। पर उन्होंने इन्हें कभी सैनिक रूप में संगठित नहीं किया और न इस्माइलियों की तरह समाजवादी आदर्शों के अनुसार उनकी व्यवस्था की। वे अपने अनुयायियों को संसार की निरर्थकता का पाठ पढ़ाकर इसके कष्टों को भूलने, शोषण को झेलने, दरिद्रता पर सन्तोष करने और भगवान् के प्रति प्रेम बढ़ाने का उपदेश देते रहे। अतः सामाजिक आन्दोलनों के युग में उनकी विशेष प्रगति न हो पायी। यह महत्त्व की बात है कि फारसी सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के काल में ईरानी जीवन और साहित्य पर सूफियों का विशेष प्रभाव दिखायी नहीं देता। फिरदौसी, उन्सूरी, फर्रुखी, असदी आदि के काव्य में सूफी मत की कोई प्रवृत्ति नहीं है। किन्तु दसवीं सदी में तुर्कों के ज़ोर के कारण जब इस्माइली आन्दोलन फीका पड़ गया, तो सूफी सम्प्रदाय प्रबल हो गये। जब सब प्रकार के आन्दोलन और विद्रोह भयानक अत्याचार के साथ दबा दिये गये और इस्माइली लुक-छिप कर काम करने पर विवश हुए तो लोगों ने सूफियों का ठंडा, मीठा और नशीला उपदेश ग्रहण करना आरम्भ किया। जैसा हम अगले अध्याय में देखेंगे सुन्नी इस्लाम तुर्क शासन का लग्गू-भग्गू हो गया था। अतः साधारण शोषित दलित क्षुब्ध-क्षिप्त जनता के पास सूफियों के सिद्धान्त के माध्यम से प्रचलित धर्म और शासन के विरुद्ध अपनी प्रबल किन्तु निष्क्रिय विरक्ति प्रकट करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह गया था। यही कारण है कि तुर्क और मंगोल शासन में फारसी साहित्य और संस्कृति पर सूफियों का आधिपत्य रहा। फारसी का पहला प्रसिद्ध सूफी कवि अबू-सईद-बिन-अबिलख़ैर ९६७ से १०४९ तक जीवित रहा। सफवी राजवंश के अभ्युदय पर सूफियों को ईरान से निर्मूल करने का प्रयत्न किया गया जिससे इस देश में उनका प्रभाव बहुत कम हो गया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस्लामी जगत् में अल-मुतवक्किल (८४७-८६१ ई०) का शासन, तुर्कों का आधिपत्य और अल-अशअरी और अल-गज़ाली का

तत्त्वचिन्तन धार्मिक कट्टरता, बौद्धिक स्तब्धता और सामाजिक गतिरोध के प्रतीक हैं। अब्बासी युग के शुरू में जो बौद्धिक स्वतन्त्रता और वैज्ञानिक प्रगति की कली खिलने लगी इस काल में उसे नोच लिया गया। इस्लाम परम्परा, पुराणवादिता, निष्प्रज्ञता और प्रगतिहीनता के आवरण से ढक गया। इस वातावरण में सूफीमत ने ऊबी और घबराई हुई जनता को विस्मृति और उदासीनता की अफीम खिलाकर और दिव्य प्रेम और उन्माद की लोरी और थपकी द्वारा सुलाने की कोशिश की। सूफीमत के प्रसिद्ध रूसी विशेषज्ञ डॉ० काज़ान्स्की ने अपनी पुस्तक 'मिस्तिसिज्म व इस्लाम' (इस्लामी रहस्यवाद) में सिद्ध किया है कि यह मत बाह्य जगत् के प्रति मनुष्य के विकृत और अस्वस्थ दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है। सूफी मनोवृत्ति के बहुत से लक्षण, जैसे लच्छेदार भाषा, गड़बड़ाती बोली, लड़खड़ाती चाल, प्रतीकात्मक व्यवहार, भावातिरेक, तपश्चर्या और निराशा आहत और विघटित भावनाओं के परिणाम हैं। सूफी साधना एक प्रकार का सम्मोहन है। गुरु का कार्य शिष्य की इच्छाशक्ति को क्षीण करके उसकी चेतना में इतने कम विचार रहने देना है कि भावोन्माद होने में बाधा न पड़े। अतः आमतौर से 'ज़िक्र (कीर्तन)' आदि के समय उनकी नब्ज तेज़ हो जाती है, पुतलियाँ फैल जाती हैं, पसीना चूने लगता है, चाल-ढाल बिगड़ जाती है और नाड़ी-तन्त्र ढीला हो जाता है। सूफी मत के सिद्धान्त दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त उदात्त और परिष्कृत होते हुए भी तात्कालिक परिस्थिति में सामाजिक पतन की प्रक्रिया के प्रतीक बन गये।

# सातवाँ परिच्छेद

# तुर्कों और मंगोलों का प्रसार

## तुर्कों का उत्थान

छठी सदी में मध्य एशिया पर तीन जातियों का प्रभुत्व था : मंचूरिया की सीमा से तुर्फान तक मंगोल जाति के 'जुवान-जुवान' नामक कबीले का जोर था, सेमीरेचिए (सप्तनद), रूसी तुर्किस्तान, सुग़्द, पूर्वी ईरान और काबुल तक ईरानी नस्ल के हेफ्थाल राज्य करते थे, और रूसी स्तेप में यूरोप पर आक्रमण करने वाले हुन लोग अपना सिक्का जमाये हुए थे। जुवान-जुवान के मातहत एक जाति थी, जिसका नाम चीनी लेखकों ने 'तू-किऊ' लिखा है। यह नाम मंगोल शब्द 'त्युरक्युत' का चीनी रूप है। 'त्युरक्युत' 'त्युर्क' शब्द का बहुवचन है जिसका अर्थ 'वीर' अथवा 'बलवान्' है। पेलिओ, तॉमसन और म्युलर ने सिद्ध किया है कि यह शब्द जाति के अर्थ में सबसे पहले छठी सदी में व्यवहृत हुआ। ओरखन के अभिलेखों में इसे जातिवाचक अर्थ के बजाय राजनीतिक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। किन्तु धीरे-धीरे यह जातिवाचक बन गया।

छठी सदी में प्राचीन ह्युङ्-नू जातियों के अवशेष तुर्क कहलाने लगे और अल्ताई प्रदेश में जोर पकड़ने लगे। उस समय जुवान-जुवान के दो दलों में युद्ध छिड़ा हुआ था। इससे लाभ उठाकर तुर्क सरदार बूमिन क़ाग़ान ने अपना राज्य कायम कर लिया। लेकिन विजय के फौरन बाद ही उसकी मृत्यु हो गयी और उसका राज्य उसके दो बेटों में बँट गया। एक की हकूमत मंगोलिया में रही और दूसरे का शासन जुंगारी, इर्तिश और इमिल के प्रदेश और युलदूज़, इली, चू और तलस की घाटियों में जारी हुआ। इन दोनों राज्यों को क्रमशः पूर्वी तुर्क राज्य और पश्चिमी तुर्क राज्य कहते हैं। इस काल में तुर्कों का चारों तरफ प्रसार हुआ। पूर्व में उन्होंने चीन की राजधानी चाङ-ङान तक धावे किये और पश्चिम में बाइजेन्तियम के शासकों से सम्बन्ध कायम किये। ६३० ई० में चीनी यात्री श्वान-चाङ के सफर के समय हिन्दुकुश तक उनका राज्य था। मंचूरिया से खुरासान तक आधा एशिया उनके अधीन हो गया था। किन्तु इसके फौरन बाद ही उनके खोटे दिन शुरू हुए और चीन के थाङ सम्राटों ने मध्य-एशिया में अपना आधिपत्य जमा लिया।

इस पराजय और पराभव के वातावरण में तुर्कों में राष्ट्रीय भाव जागा। कुतलूग़ क़ाग़ान ने अपने चतुर मन्त्री तोनूक़ूक़ की सलाह से फिर तुर्क साम्राज्य कायम करने का बीड़ा उठाया। उसके छोटे भाई मो-छो (कापग़ान क़ाग़ान) (६९१-७१६) के राज्यकाल में तुर्की राज्य फिर उन्नति की चोटी पर पहुँचा। किन्तु उसके जुल्म और सितम से लोग तंग आ गये, बहुत से सरदार बाग़ी हो गये, २२ जुलाई, ७१६ को उसके विरोधियों के एक दल ने उसकी हत्या कर दी। इससे तुर्कों में खलबली मच गयी। काफी गड़बड़ के बाद तू-किऊ के बजाय यूइग़ुर कबीले ने अपना राज्य कायम किया जो ७४४ से ८४० ई० तक चला। यह मुसलमानों के बढ़ने का काल था। ७०६-९ ई० में उन्होंने ख़्वारज़्म और सुग़्द में हस्तक्षेप करके बुखारा और समरक़न्द पर कब्जा कर लिया। तुर्कों और चीनियों ने कुछ रोकथाम की लेकिन ७५१ ई० के तलस नदी के तट के ऐतिहासिक युद्ध से यह सिद्ध हो गया कि मध्य एशिया में चीनियों के बजाय अरबों का प्रभुत्व होना है।

८४० ई० में इएनिसेई के किरग़ीज़ नामक बर्बर तुर्कों ने युइग़ुरों को हटाकर मंगोलिया का साम्राज्य हथिया लिया। ९२० ई० तक उनकी हकूमत रही। इसके बाद खी-तान नामक मंगोल जाति ने उन्हें भगा कर अपना राज्य कायम किया। उधर युइग़ुर लोगों ने, नीचे को सरक कर, तारिम घाटी के उत्तरी नगरों की ईरानी जनता को आत्मसात् कर वहाँ एक मिली-जुली बौद्ध, मानीई और नेस्तोरी संस्कृति को बढ़ावा दिया जो चिंगिस खाँ के युग तक काफी फली-फूली।

दसवीं सदी में तुर्किस्तान में तुर्कों ने इस्लाम-क़ुबूल करना शुरू कर दिया। ९६० ई० में दो लाख तुर्क तम्बू कलीमती नामक मुल्ला के असर से मुसलमान हो गये। काशग़र के खान सातोक़ बुगरा खाँ ने इस्लाम को काफी बढ़ावा दिया। लेकिन मुसलमान होने पर भी उन्होंने ईरानी जाति के बुखारा के शासकों के खिलाफ युद्ध जारी रखा। वंक्षु पार के सारे इलाके पर उनका कब्जा था और उसके दक्षिण में ग़ज़नवी नाम के तुर्कों का जोर बढ़ रहा था। पहले इन दो तुर्क वंशों—काराखानी और गज़नवी—में मेल-मुहब्बत थी लेकिन बाद में इनमें जंग छिड़ गयी। महमूद गजनवी ने पेकिंग के खी-तान शासक के पास दूत भेजकर काराखानियों के खिलाफ मदद माँगी, किन्तु १०४० ई० में सलजूक़ी तुर्कों ने गज़नवियों को हराकर एक नये साम्राज्य का निर्माण किया जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

तुर्कों के लम्बे इतिहास में कई तरह की सामाजिक अवस्थाएँ रहीं। कुछ कबीले घुमन्तू रहे तो कुछ ने स्थायी जीवन अपना लिया; कुछ स्तेप के खुले मैदान में साँस लेते रहे तो कुछ चीनी और ईरानी समाज की विलासिता में लीन हो गये। वास्तव में स्तेप और क्षेत्र का द्वन्द्व, घुमन्तू और स्थायी जीवन का द्वैत, मध्य एशिया और चीनी संस्कृतियों का संघर्ष तुर्कों के सामाजिक विकास की कुंजी है। एक बार बिलगा क़ाग़ान ने ओरखन

के किनारे चीनी ढंग का किलाबन्द शहर बसाकर उसमें बौद्ध विहार और ताओ मठ बनवाकर आराम से रहने का विचार किया तो वयोवृद्ध तुर्क राजनीतिज्ञ तोनूकूक़ ने उसे समझाया कि इससे तुर्कों का अधःपतन हो जायगा। एक चीनी लेखक ने उसके शब्दों को इस प्रकार भाषान्तरित किया है :

"......तुर्क चरागाह और जलाशय की तलाश में बराबर घूमते रहते हैं, शिकार खेलने में मस्त रहते हैं, कभी घर बाँध कर नहीं रहते और निरन्तर युद्ध में रत रहते हैं। जब वे अपने आपको ताक़तवर समझते हैं तो सीना तान कर सामने आ जाते हैं, जब कमजोर महसूस करते हैं तो भाग कर दुबक जाते हैं, इस तरह वे चीन की असंख्य सेना का मुकाबला करते हैं। अगर तुम उन्हें शहरों की चहारदीवारी में बन्द करोगे तो एक बार भी चीनियों से हार कर हमेशा को उनके बन्दी हो जाओगे। जहाँ तक बुद्ध और लाओ-त्सू का सवाल है, वे लोगों को नम्रता और मिठास सिखाते हैं—ये सैनिकों के काम की चीज़ें नहीं हैं।"

बिलगा क़ाग़ान पर इस उपदेश का गहरा प्रभाव हुआ और उसने इसे ओरखन के किनारे कोचो-त्साइदाम के शिलापट्ट पर खुदवाया। बहुत कुछ इस पर चलते हुए तुर्क कबीले अपने डंगर-ढोर और डेरे-तम्बू लिये हुए स्तेपों में घुमन्तू जीवन बिताते रहे। जुर्चेट जाति का वर्णन करते हुए चीनी राजदूत हिउ खाङ-त्सुङ ने ११२४-२५ ई० में लिखा :

"खान का निवास चरागाहों और रेवड़ों से घिरा है। इस जमघट में न किलाबन्दी है, न सड़कें हैं और न गलियाँ हैं, सिर्फ शाही डेरे के चारों ओर एक घेरा-सा है। खान जिस तख्त पर बैठता है उसपर एक दर्जन चीते की खालें बिछी हैं। उनके रस्म बर्बरों जैसे हैं। पानोत्सव, सामूहिक नृत्य, बर्बर संगीत, शिकार और युद्ध के अभिनय उनके परम मनोरंजन हैं। उनकी औरतें दर्शकों पर शीशों की रोशनी डाल कर खेल-तमाशे किया करती हैं।"

लेकिन उपर्युक्त घुमन्तू जीवन के साथ-साथ तुर्कों में स्थायी जीवन के तत्त्व भी सक्रिय रहे। मध्य एशिया में जो लोग घुमन्तू जीवन बिताते थे, कुछ फासले पर उन्हीं के भाई-बन्द स्थायी जीवन की ओर प्रवृत्त होने लगते थे और उससे कुछ आगे चलकर उनके गोती-नाती स्थायी समाज में पूरी तरह घुलमिल जाते थे। इस प्रक्रिया में व्यापार का बड़ा हाथ होता था। स्थायी समाज के लोग घुमन्तू लोगों में अन्न-आटा और कपड़ा घोड़ों, पशुओं, समूरों और गुलामों के बदले बेचते थे। सातवीं सदी में यह व्यापार काफी बढ़ चला था। चू नदी के किनारे सू-येह (सूयाब) नाम की बड़ी मण्डी बस गयी थी जहाँ देश-विदेश के व्यापारी रहते थे। उसके निकट ही पश्चिमी तुर्कों के क़ाग़ान का 'उर्दू' था। वहीं श्वान-चाङ की उनके खान से भेंट हुई जिसके वर्णन से प्रकट होता है कि उनमें उच्च

संस्कृति का सूत्रपात हो रहा था।

तुर्कों के सामाजिक और प्राशासनिक संगठन को समझने के लिए ५८१ ई० के एक चीनी लेखक के वृत्तान्त पर दृष्टि डालना जरूरी है। उसने लिखा है कि उनमें 'क़ाग़ान' (ख़ान) से निचला दर्जा 'यबगू' का था। उसके बाद क्रमशः 'शाद', 'तेगिन', 'तुदून', 'कुल-चूर' आदि अन्य कर्मचारी होते थे। शासनाधिकारियों की २८ श्रेणियाँ थीं। ये सब पद पैतृक थे। समाज का ढाँचा पितृ सत्तात्मक था। पिता घराने का स्वामी होता था। ये घराने दस, सौ और हजार के समूहों में व्यवस्थित थे। खून के रिश्ते पर खान्दान और कबीले बनते थे। उनका समूह 'सोक' कहलाता था। धीरे-धीरे तुर्कों में सामन्ती ढंग की व्यवस्था चल पड़ी। जो जातियाँ चीनी असर में ज्यादा आ गयीं उनमें केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति भी अधिक बढ़ गयी। उदाहरण के लिए क़ाराखिताई लोगों का शासन बहुत कड़ा था। उनमें लूटमार करने पर सख्त पाबन्दी थी। जब वे किसी शहर पर कब्जा करते तो, उसे लूटने के बजाय, हर घर से सिर्फ एक दीनार बतौर खराज लेते। उनका शासक, जिसे गुरखान कहते थे, अपने अनुयायियों को कभी जागीरें नहीं देता था, न किसी को सौ से ज्यादा सिपाहियों की कमान देता था। इससे चीनी ढंग के शासन की गन्ध मिलती है।

तुर्कों का लड़ाई का ढंग स्तेपों की पुरानी पद्धति के अनुसार था। वे धनुष-बाण, सर्राते हुए बाण, भाले, खंजर और तलवार का इस्तेमाल करते और कवच से शरीर की रक्षा करते थे। उनकी ध्वजाओं के दण्डों पर भेड़िए के सोने के सिर बने होते थे, क्योंकि भेड़िया उनका गणचिह्न था। उनकी मान्यता थी कि एक मादा भेड़िये ने उनके पुरखे को पालपोस कर बड़ा किया, बड़ा होने पर उससे विवाह किया और उनके दस पुत्र तुर्कों की दस जातियों के जन्मदाता बने। उन्हें पासा खेलने और उनकी स्त्रियों को पैर से गेंद खेलने का शौक था।

तुर्क अग्नि को बहुत पवित्र समझते थे। उनका विश्वास था कि लकड़ी में अग्नि है। इसीसे वे लकड़ी की बनी चीजों पर नहीं बैठते थे। अग्नि के अलावा वे वायु और जल की पूजा करते थे। वे द्यौस्पितर (तेंग्री) को धरती और आकाश दोनों का स्रष्टा मानते और उसे घोड़े, बैल, भेड़ आदि की बलि देते थे। उनके पुरोहित भविष्यवाणी करने में दक्ष होते थे। उनका मत था कि विश्व के अनेक स्तर हैं—ऊपर के दस स्तरों से आसमान बना है जो रोशनी का घर है, नीचे के सात या नौ से पाताल बना है जो अन्धेरे से भरपूर है और इन दोनों के बीच में पृथ्वी है जिस पर मनुष्य रहते हैं। आसमान के सबसे ऊँचे स्तर पर तेंग्री नामक देवता का निवास है जो सारे विश्व का नियंत्रण करता है। तेंग्री का प्रतीक प्राची दिशा है। अतः खान के डेरे का दरवाजा सदा पूर्व की ओर खुलता था।

तुर्क अनेक देवी-देवताओं को भी मानते थे और प्रतिवर्ष देव-पितरों के लिए बलि,

श्राद्ध करना आवश्यक समझते थे। उनकी मृतक प्रथाएँ स्तेपों की पुरानी परम्पराओं के अनुसार थीं। जब कोई आदमी मरता तो उसके रिश्तेदार उसके तम्बू के सामने घोड़े या भेड़ की बलि करते और फिर सात बार घोड़े पर चढ़कर उसके तम्बू का चक्कर लगाते और रोते-पीटते थे। तम्बू के दरवाजे पर पहुँच कर वे चाकू-छुरों से अपने चेहरों को घायल करते थे, जिससे आँसुओं के साथ खून बहने लगता था। हेरोदोतस ने शकों में और कालिदास ने हूणों में इस स्यापे की प्रथा का उल्लेख किया है। अन्त्येष्टि के दिन वे फिर बलि देते, घुड़दौड़ करते और पहले दिन की तरह चेहरे को घायल कर शोक प्रकट करते थे। फिर वे शव को दबाकर उसकी कब्र पर या उसके निकट इतने पत्थर लगाते जितने आदमी उस मृत व्यक्ति ने अपने जीवन काल में मारे हों। उनमें लड़ाई में मारा जाना सम्मान-सूचक और बिस्तर पर बीमार होकर मरना अपमान-जनक माना जाता था।

घुमन्तू पशुपालक होने के नाते तुर्क पशुओं से अभिन्न सम्बन्ध रखते थे। उनके नाम पशुओं के नामों पर रखे जाते थे, जैसे 'बुगरा' (साण्ड़नी), 'अर्सलान' (शेर), 'तुग़न' (बाज़), यगन' (हाथी) आदि। जैसे मनुष्यों के वैयक्तिक नाम होते थे वैसे ही घोड़ों के भी रखे जाते थे। कुल-तेगिन के अभिलेख में हर घोड़े का अलग नाम दिया गया है।

कालान्तर में तुर्कों में बौद्ध, मानी और ईसाई धर्मों का प्रचार हो गया। ६२० ई० में नालन्दा का विद्वान् बौद्ध प्राध्यापक प्रभाकरमित्र अपने दस शिष्यों के साथ तुर्क क़ाग़ान की सभा में पहुँचा। वहाँ उसके उपदेशों का बड़ा असर हुआ। उन्हीं दिनों क़ाग़ान के बड़े लड़के ने, जिसका शिविर कुन्दूज में था, तुर्फान के राजा की लड़की से शादी की जो बौद्ध धर्म मानती थी। इससे भी तुर्कों में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। धीरे-धीरे तुर्कों, विशेषत: युइग़ुरों में, भिक्षुओं की काफी संख्या हो गयी। 'भिक्षु' शब्द का युइग़ुर उच्चारण 'बख्शी' है। अत: मंगोलों में हरेक पढ़े-लिखे कायस्थ-कर्मचारी को बख्शी कहने लगे थे। ये लोग आम तौर से लाल कपड़ा पहनते और अपने धर्मशास्त्र को 'नोमे' कहते थे। उनके पूजा-नमस्कार आदि का ढंग भारतीय था। उन्हीं के प्रभाव से मंगोलों में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हो चला था। युइग़ुर क़ाग़ान तेङ-ली मेऊ-यू (७५६-७८० ई०) लो-याङ में मानी धर्म प्रचारकों से मिला और उन्हें अपने साथ मंगोलिया ले आया और उसने उनके धर्म को अपना लिया। उसके आदेश से मानी धर्म युइग़ुरों का राष्ट्रीय धर्म घोषित कर दिया गया। नेस्तोरी धर्म तुर्कों में कब पहुँचा यह कहना तो कठिन है लेकिन ६३५ ई० में आलो-पेन नामक नेस्तोरी ईसाई के चीन की राजधानी में पहुँचने का उल्लेख मिलता है। दसवीं सदी में मुसलमान और ईसाई लेखकों ने तुर्किस्तान में नेस्तोरी ईसाइयों की बहुतायत का जिक्र किया है। ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में नइमान, केराइत और मारकित

आदि तुर्क-मंगोल कबीलों में नेस्तोरी ईसाइयत का काफी जोर था। इन सब धर्मों के प्रभाव से युइगुर तुर्क संस्कृति और विद्या में निपुण हो गये थे।

तुर्कों में शुरू से ही साहित्यिक प्रतिभा थी। विशेष रूप से उन्हें वीर काव्य में रुचि थी। ओरखन के अभिलेखों में उनके साहित्य के सबसे पुराने नमूने मिलते हैं। कुल-तेगिन का कोचो-त्साइदाम का अभिलेख ऐतिहासिक वीर-काव्य है। इसमें ओज, गति और वीररस की अनुपम संगति है।

बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद तुर्कों में एक विशाल बौद्ध साहित्य का सृजन हुआ। युइगुरों ने सिरीयानी लिपि के आधार पर अपनी भाषा के लिए चौदह अक्षरों की एक स्वतंत्र लिपि तैयार की जो बाद में मंगोलों के काम आयी। इस लिपि के द्वारा उन्होंने अपनी भाषा में, जिसे तुर्क या बर्चुक कहते हैं, तुखारी या शक भाषा से, और बाद में तिब्बती और चीनी भाषाओं से, बहुत से बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया। इन ग्रन्थों में 'मैत्रेय समिति नाटक', 'सुवर्णप्रभाससूत्र', 'कल्याणङ्कर-पापङ्कर-सूत्र' 'जातक' आदि प्रमुख हैं। इनके रचयिताओं के नाम प्रायः भारतीय हैं, जैसे संघदास, शलिसेन, आर्यचन्द्र (आरिय-चिन्तरी), प्रज्ञारक्षित (प्रतनियारक्शत), कल्याणजिन (क्लियान जिनी) आदि। ये सब आचार्य विभाषा अथवा सर्वास्तिवाद के अनुयायी थे जो उस समय महायान के निकट आ गया था। बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त युइगुर में ब्राह्मण ग्रन्थों का भी अनुवाद हुआ। इनमें महाभारत के एक भाग 'हिडिम्बा वध' का अनुवाद बहुत लोकप्रिय था। मानी शास्त्र और श्वान-चाङ की जीवनी के अनुवाद भी उल्लेखनीय हैं। तुर्कों के मुसलमान होने पर उनकी बौद्ध, नेस्तोरी और मानीई साहित्यिक प्रवृत्ति समाप्त हो गयी। उन्होंने मुस्लिम उपदेशात्मक साहित्य की नकल करना शुरू कर दिया। १०६९ ई० में यूसुफ ने काशग़र के खान के लिए तुर्की में 'कुतदगू-बिलिक' नामक उपदेश का ग्रन्थ लिखा। इसमें अमूर्त भावों को पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। न्याय शासक बन गया है, तो आनन्द वज़ीर, बुद्धि उसका पुत्र और सन्तोष उसका भाई। किसी समय यह लोकप्रिय ग्रन्थ रहा होगा क्योंकि यूराल नदी के मुहाने के पास सरायचिक नाम के गाँव में मिट्टी के घड़े के एक भाग पर इसके पद्य अंकित मिले हैं।

तारिम घाटी में तुर्की कला का यथेष्ट विकास हुआ। किज़िल से ९ मील पूर्व कुमतुरा में और काराशहर के पास शोरचूक में जो भित्ति-चित्र मिले हैं उन पर ठेठ युइगुर प्रभाव है। इनमें युइगुर दाताओं की आकृतियाँ बड़ी सजीव हैं। इस कला में बुद्धों और बोधिसत्त्वों को बूट जूते, चुस्त पाजामे और पेटियों से बँधे लम्बे अचकन पहने और ऊँटों और घोड़ों पर चढ़े दिखाया गया है। जरफशाँ नदी के पश्चिमी तट पर समरकन्द से ४२ मील की दूरी पर पंजीकन्द नाम के स्थान पर रूसी पुरातत्त्वविदों ने बहुत से भित्ति-चित्र

खोज निकाले हैं। इनमें से एक में लोगों को चाकुओं से अपने चेहरों को गोद कर खून बहाने और उसके द्वारा शोक प्रकट करने का चित्रण है। इस समूची कला में ईरानी, हिन्दी और चीनी शैलियों के साथ स्थानीयता का सुन्दर सामंजस्य है।

## ईरान और तुर्की का सलजूकी युग

सलजूक़ घुज़्ज़ तुर्कों की एक शाखा थी। ६८६ और ७१२ बीच के उन्होंने वंक्षु पार के इलाके पर कब्जा कर लिया। उनका पुरखा तुकाक पहले यहूदी था फिर मुसलमान हो गया। उसके पुत्र सलजूक़ ने ईरान के सामानियों और काराखानियों के झगड़ों का फायदा उठाकर अपनी ताकत बढ़ायी। सलजूक़ के लड़कों ने समरकन्द और बुखारा में अपने पैर जमाये। तुग़रिल बेग (१०३७-१०६३ ई०) के जमाने में उन्होंने ईरान को अपने पंजे में कर मर्व में अपनी राजधानी कायम की। उसके बाद अल्प-अर्सलान (१०६३-१०७२ई०) ने पश्चिमी एशिया में बहुत से इलाके जीते और मिस्रियों और बाइजेन्ताइनों को करारी मार दी। एशिया खुर्द में भी उनका सिक्का जम गया। अगला शासक मलिकशाह (१०७२-१०९२ ई०) भी प्रतापी सम्राट् था। उसका शासन काशग़र से क़ुस्तुनतुनिया तक चलता था। उसके बाद झगड़े शुरू हो गये। सुल्तान संजर की मृत्यु पर सलजूक़ी साम्राज्य के टुकड़े हो गये। अतसीज ने खीवा पर कब्जा करके ख्वारज़्मशाही साम्राज्य की नींव रखी। यह राज्य यूराल पर्वत से फारस की खाड़ी तक और फरात नदी से सिन्धु तक फैल गया। मंगोलों के उत्थान के समय इसकी तूती बोल रही थी।

अल्प अर्सलान ने १०७१ ई० में मंजीकर्त में बाइज़ेन्ताइनों को हराकर अपने एक सम्बन्धी सुलेमान को पश्चिमी एशिया का प्रबन्ध सौंप दिया। उसने क़ुस्तुनतुनिया के झगड़ों-टंटों का लाभ उठाकर एशिया खुर्द में अपने पैर जमाये। उसका पुत्र किलिशर्सलान एशिया खुर्द का, जिसे उस वक्त रूम कहते थे और आजकल तुर्की कहते हैं, राजा बना। उसके बाद मलिकशाह प्रथम (११०७-१११६ ई०), मसूद प्रथम (१११६-११५६ ई०) और किलिशर्सलान द्वितीय (११५६-११८८ ई०) गद्दी पर आये। एशिया खुर्द का यह सलजूक़ी राज्य चौदहवीं सदी तक चला।

सलजूक़ युग के समाज को कई तरह से बाँटा जा सकता है: तुर्क और ताजिक (ईरानी), घुमन्तू और स्थायी, सैनिक और असैनिक। अधिकतर तुर्क घुमन्तू और सैनिक थे। वे अपने घर-बार, बाल-बच्चों, डंगर-ढोर समेत आज़रबाइजान, हमादान, गुरगान आदि इलाकों में आ बसे थे। कालान्तर में सलजूक़ सम्राट् घुमन्तू तुर्कमानों का सहारा छोड़ कर गुलामों और तनख्वाहदार सिपाहियों की सेना बनाने लगे। इससे उन्हें घुमन्तू तुर्कों को खुश करने के साथ-साथ तनख्वाहदार मुलाज़िमों के वेतन की भी व्यवस्था

करनी पड़ी। अतः उनकी आर्थिक व्यवस्था में दो विरोधी तत्त्वों का आविर्भाव हो गया। सलजूक़ी शासन इनका समुचित समन्वय करने में असमर्थ रहा। यही इसके पतन का कारण था।

सलजूक़ सम्राट् अपने अनुयायियों को जागीरें देते थे जिन्हें 'इक़्ता' कहते थे। जिस प्रकार घुमन्तू क़बीले अपने-अपने चरागाहों (युर्त) के मालिक होते थे, उसी तरह जागीरदार भी अपने आपको अपने-अपने इक़्ताओं के मालिक समझने लगे। इन इक़्ताओं के अतिरिक्त प्रशासनिक और धार्मिक इक़्ता भी मौजूद थे, लेकिन प्रशासनिक और सैनिक इक़्ताओं में कोई खास भेद नहीं रहा।

सरकारी ज़मीन में 'मुहस्सिल' और इक़्ताओं में 'मुक़्ता' (जागीरदार) लगान ('खराज' और 'उश्र') वसूल करते थे। इसके अलावा 'ज़रीबा' नाम का एक विशेष कर लिया जाता था। यह लगान को दीनार से दिरहम में बदलने का शुल्क था। एक और कर, जो 'माल' को देहात से शहरों में ले जाने पर लिया जाता था, 'तय्यारात' कहलाता था। हुण्डी काटने का रिवाज ज़ोरों पर था। हुण्डीवाले उन्हें सीधा किसानों से वसूल करने के लिए काफी सख्ती और ज़ुल्म करते थे। इसलिए कुछ इने-गिने इलाकों को छोड़कर ज्यादातर देहात में दरिद्रता और अव्यवस्था थी।

एशिया खुर्द में सलजूक़ों ने अच्छा प्रबन्ध किया। उनमें वज़ीर (बाद में उसे 'परवाना' कहने लगे थे), 'काज़ी' (न्यायाधीश) और 'मुफ्ती' (न्यायज्ञ), सेना के अधिकारी, कबीलों के 'बेगों' (नेताओं) और राजकुमारों को सामूहिक रूप से 'दीवान' कहते थे। दीवान की बैठक शाही तम्बू के द्वार पर होती थी। इसे 'कपू' कहते थे। इससे 'पोर्त' शब्द की व्युत्पत्ति हुई जो बाद में तुर्की के उसमानी सुल्तान के लिए प्रयुक्त होने लगा।

सल्तनत में चौबीस सचिव होते थे—इनमें से बारह सेना के विभिन्न विभागों का प्रबन्ध करते और बारह आर्थिक मामलों की देखभाल करते थे। खत-किताबत के लिए कायस्थों का एक अलग दल था जो कभी-कभी अरबी और प्रायः फारसी का प्रयोग करता था। सरकारी काम के लिए 'वियाहत' नाम की एक विशेष लिपि चलायी गयी थी जिसमें नुक्ते (बिन्दु) नहीं लगते थे। लिखने के लिए चीन से बढ़िया कागज़ मँगाया जाता था।

सुल्तान की ताजपोशी बड़ी सजधज से होती थी। राज्य के अधिकारी सोने के प्यालों में शहद और घोड़ी का दूध लेकर उसका अभिनन्दन करते थे और छोटे कर्मचारी शहरों में खैरात बाँटते थे। उसका अपना एक अंगरक्षक दल था जो बाद में 'जेनीसरी' के रूप में विकसित हुआ। जुलूस में चलते वक्त शाही ध्वजवाहक झण्डा लेकर चलता था

जिसपर काली पृष्ठभूमि में साँप, शेर या बाज़ की आकृति छपी होती थी।

शुरू में स्त्रियों का स्थान काफी ऊँचा था। वे पर्दा नहीं करती थीं। लेकिन बाद में मुस्लिम प्रभाव से उनमें पर्दे का रिवाज बढ़ गया था और उनका सार्वजनिक महत्त्व घट गया था, किन्तु जब कुछ सुल्तानों ने ईसाई स्त्रियों से शादी करना शुरू कर दिया तो फिर उनकी स्थिति में कुछ उन्नति हुई।

बारहवीं सदी में सलजूक़ों को नगरों की व्यवस्था में खासी दिलचस्पी होने लगी। उन्होंने हर शहर में बड़े-बड़े बाजार बनवाये जैसा कि इब्न-बत्तूता के सफरनामे से पता चलता है। शहरों के लोग ज्यादातर व्यापारी और कारीगर थे। इनकी अलग-अलग श्रेणियाँ थीं जिनमें विभिन्न जातियों के लोग शामिल थे लेकिन सब मुस्लिम कानून के अधीन थे। शायद ही कोई शहर ऐसा हो जहाँ विद्यालय, हस्पताल और खैरातखाना न हो। कैसरी का 'शिफाई मदरसा' और सिवास का 'दारुश्शिफा' उस युग की प्रसिद्ध संस्थाएँ थीं। उनमें चिकित्सा और शिक्षण दोनों होते थे।

सलजूक़ों ने उद्योगों को बढ़ावा दिया। गुड़-शकर के उद्योग ने काफी तरक्क़ी की। ईसाई गुलामों का व्यापार भी बहुत बढ़ा। अधिकतर व्यापार यूनानी और आरमीनी सौदागरों के हाथ में था। सिर्फ पशुओं और घोड़ों की तिजारत तुर्कों के पास थी। तेरहवीं सदी में इटली के व्यापारियों ने सब वाणिज्य हथिया लिया। मंगोल-विजय के बाद जेनोवा के व्यापारियों की बन आयी।

सलजूक़ी राज्य में मिस्र से मसाले, चीनी और सूती सामान, बगदाद से ऊन, रेशम, मुश्क, अगरु, अम्बर, चीन से सिल्क और काग़ज़, फार्स, शीराज़ और वंक्षु पार से कालीन गलीचे, मध्य-एशिया से जवाहरात, जोर्जिया से घोड़े और रूस से सिमूर बड़ी मात्रा में आते थे। बगदाद की बढ़िया ऊन सुल्तान और उसके वज़ीरों की पगड़ियाँ बनाने के काम आती थीं और रेशम से उनके कपड़े बनते थे।

व्यापार को बढ़ावा देने के लिए सलजूक़ों ने पुराने कारवाँ मार्गों की मरम्मत करायी और उनपर कारवाँ-सरायें बनवायीं जिन्हें 'सुल्तान खान' कहते थे। ६ घण्टे में ऊँट जितनी दूर जा सकता था, अर्थात् लगभग १८ मील, उतने फासले पर ये 'खान' बनायी गयी थीं। हर सराय की दीवार मज़बूत पत्थरों की होती थी। इसमें बुर्ज बनाये जाते थे। दरवाज़ों पर सुन्दर खुदाई का काम होता था। अन्दर मस्जिद और गुसल-खाना होता था। साथ ही बड़े-बड़े गोदाम होते थे जिनमें मुसाफिर अपना सामान उतारते थे। बराबर में अच्छे अस्तबल बने थे जहाँ पशु आराम करते थे। मनुष्यों के लिए इकट्ठे सोने का बड़ा कमरा होता था। कुछ अलग कमरे भी बने थे जो विशिष्ट व्यक्तियों के लिए खोले जाते थे। क़हवा और खाना आसानी से मिल जाता था। सामान की

मरम्मत करने वालों की दुकानें थीं। बड़ी-बड़ी सरायों में, जैसे कोनया-अक्सराय-मार्ग पर 'सुल्तानखान' और कैसरी-मलत्या-मार्ग पर 'करताई खान' में मुसाफिरों के दिल बहलाने के लिए गवैइये भी रहते थे। आम तौर से वहाँ रात को चतुर व्यापारियों, अनुभवी विद्वानों और धार्मिक यात्रियों का जमाव होता था जो तरह-तरह के क़िस्से-कहानी सुनाकर एक दूसरे का ज्ञान बढ़ाते थे। शहरों से बहुत से लोग खबरें सुनने के लिए सरायों के विशाल डाटदार कमरों में जमा हो जाते थे। इस तरह ये सलजूक़ी सराय सार्वजनिक सूचना और शिक्षा की केन्द्र बन गयी थीं।

यद्यपि सलजूक़ी युग में उद्योग-व्यापार और जहाज़रानी में काफी तरक्क़ी हुई, पर खेती-बारी और किसानों की हालत खराब रही। तुर्कों में फसलें तबाह करने और खेती बर्बाद करने की बुरी आदत थी। लड़ाई में पीछे हटते हुए वे बाकी कुछ नहीं छोड़ते थे। इसलिए तेरहवीं सदी में मंगोल हमलों के कारण भागे हुए खुरासान, अर्दबील, बग़दाद और शाम के दरवेशों ने किसानों में बड़ा विद्रोह पैदा किया। १२३९-४० ई० में एक शामी दरवेश उर्फा ने, जिसे बाबा इशाक कहते थे, अपने आपको पैग़म्बर कहना शुरू कर दिया। बहुत से देहात के लोग उसके साथ हो गये। एक बड़ा तूफान उठ गया जिसे बड़ी दिक्कत से दबाया जा सका। इसके अलावा अनेक सूफी दल और मत जारी हुए और ईसाइयों का प्रभाव भी बढ़ा।

सलजूक़ी युग के मतवाद, विचार-धारा और मनोवृत्ति को समझने के लिए निज़ा-मुल्मुल्क, अल-गज़ाली, नासिर-ए-ख़ुसरो और उमर खैय्याम की कृतियों की कुछ चर्चा करना जरूरी है। क़िवामुद्दीन-अबू-अली-हसन-बिन-अली-बिन-इसहाक निज़ामुल्मुल्क (१०१७-१०९२ ई०) सलजूक़ी सुल्तान अल्प अर्सलान और मलिकशाह का प्रधान मन्त्री था। उनकी प्रसिद्ध रचना 'सियासतनामा' उस काल के विचारों का दर्पण है। इसमें सलजूक़ी राज्य-व्यवस्था, अब्बासी खिलाफत और सुन्नी इस्लाम का अपूर्व समन्वय है। सलजूक़ी सुल्तान ईरान में विदेशी-से थे, अतः अपनी सत्ता को दृढ़ करने के लिए उन्होंने कट्टर क़िस्म के सुन्नी इस्लाम को अपनाया और अब्बासी खलीफाओं को अपना धर्मगुरु माना। इसलिए सलजूक और सुन्नी पर्यायवाची बन गये और एक दूसरे की पूरी हिमायत करने लगे। अन्य धार्मिक दल और सम्प्रदाय बुरे समझे जाने लगे और उन्हें कठोरता से दबाया जाने लगा। (सियासतनामा मुहम्मद कज़वीनी का संस्करण, ८।३; ४३।२-४) निज़ामुल्मुल्क द्वारा बग़दाद में स्थापित 'निज़ामिया' मदरसे के प्राध्यापक अल-ग़ज़ाली (१०५८ या १०६०-११११ ई०) ने इस वातावरण को शास्त्र और शरीयत के ढाँचे में ढाल दिया। उन्होंने भी धर्म और राज्य के अभिन्न सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए लिखा कि "धर्म और राज्य जोड़वाँ हैं, एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता" (अल-दीन-वल्

मुल्क तौअमान् फला यस्तग़नी अहदु हुमा मिन अल आख़र) (इह्या-उलूम-अल-दीन, २/१२३)। अपने युग के तुर्क राज्य के बारे में उन्होंने लिखा कि ज़ो शक्तिशाली है उसे शासक मान लेना चाहिए क्योंकि "आवश्यकता वर्जित बातों को भी वैध बना देती है" (व लाकिन्न अल-ज़रूरात तुबीहु अल-महज़ूरात) (अल-इक्तिसाद फिल् इतिक़ाद) (क़ाहिरा संस्करण पृ० ६८)। निज़ामुल्मुल्क की तरह उन्होंने कट्टर सुन्नत का समर्थन किया, सूफी दार्शनिकता को इसके साथ समन्वित किया और इस्माइलियों और बातिनियों के खिलाफ ज़हर उगला। लेकिन यदि सुन्नी इस्लाम सलजूक़ी प्रभुसत्ता और तुर्की साम्राज्यवाद का पोषक बन गया था तो शिया और इस्माइली मत ईरानी जनता के रोष और कष्ट को मुखरित कर रहे थे। इस अपार दलित-शोषित जनता की कराहती हुई आवाज़ नासिर-ए-ख़ुसरो (१००३-१०६५ ई० के बाद) के 'सफरनामे' 'दीवान' आदि ग्रन्थों में सुनायी देती है। उन्होंने इस्माइली मत का प्रचार किया, सुन्नियों की घोर निन्दा की और अबू-हनीफा, अश-शफीई आदि आचार्यों पर जुआ, शराब आदि कुकर्मों के समर्थन करने का अभियोग लगाया। उन्होंने सलजूक़ी-काल की दरिद्रता का वर्णन करते हुए लिखा:

"खुरासान को देखो, वह कितना कुचला और पिसा पड़ा है,
इसके द्वारा और उसके द्वारा, जैसे अन्न चक्की में पिसता है;
तुम अपने तुर्की शासकों की स्तुति करते हो, याद रखो शक्ति और सत्ता को,
जावुली सुल्तान महमूद की, जो अपने दिनों बहुत बढ़ी-चढ़ी थी,
फरीगून का राजवंश उसके सामने नमता था
और जुर्जान की भूमि को समर्पित करता था, किन्तु कहाँ है महमूद आज ?"

धीरे-धीरे इस्माइलियों का ज़ोर बढ़ गया। उन्होंने अपने केन्द्र अलामूत से कत्ल-हत्या और मार-काट मचाकर समाज में भयंकर खलबली पैदा कर दी। मंगोल नेता हुलाकू ने उनका अन्त करके इस विद्रोह को दबाया।

इस प्रकार एक ओर सलजूक़ी शासन सुन्नी इस्लाम से चिपट कर अपने को मजबूत कर रहा था और दूसरी ओर उनसे सतायी हुई जनता शिया और इस्माइलियों के माध्यम से अपना विद्रोह प्रकट रही थी। इस वातावरण में विचारों में जो खलबली पैदा हुई उसकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति उमर खैय्याम (१११४-१५ ई० के लगभग) की कृतियों में मिलती है। वे उच्च कोटि के वैज्ञानिक, ज्योतिषी, गणितज्ञ और भाषाशास्त्री थे। उन्होंने सबसे पहले द्विपद-प्रमेय को, जिसकी खोज का श्रेय सर ईसाक न्यूटन को दिया जाता है, प्रतिपादित किया। किन्तु उनकी ख्याति ज्यादातर उनके नाम पर प्रचलित 'रुबाइय्यात' पर है। इनमें से बहुत तो अप्रामाणिक हैं। उनकी सबसे पुरानी हस्त-

लिखित प्रति में सिर्फ १५८ रुबाइयाँ हैं। इनमें जीवन के प्रति असीम उल्लास और अनुराग और अनीश्वरवाद, संशयवाद और स्वतन्त्र चिन्तन भरा पड़ा है। उमर खैय्याम सुन्नी कट्टरता, इस्माइली आतंक और सूफी भावुकता के युग में इस प्रकार का वैज्ञानिक और स्वतन्त्र चिन्तन कर सके यह आश्चर्य की बात है। वास्तव में उनकी वाणी में जो तीखा व्यंग और मीठी चुभन है वह उस युग के दर्शन और संस्कृति के प्रति विद्रोह के भाव से ओतप्रोत है। वे उस मनोवृत्ति को मुखरित करते हैं जो रूढ़ियों और परम्पराओं के बन्धन को काटकर मानव जीवन को मुक्त करना चाहती है।

सलजूक़ी युग में शिक्षा और साहित्य की बड़ी उन्नति हुई। निज़ामुल्मुल्क ने बग़दाद, नीशापुर आदि में निजामिया मदरसे खुलवाये जो उच्च शिक्षा और अध्ययन के केन्द्र बने। फलतः साहित्य की श्रीवृद्धि हुई। इस काल के साहित्य में सूफी भावना प्रबल है क्योंकि सख़्ती और तंगी से ऊबी-थकी जनता को सूफियों की लोरी-थपकी से तनिक-सी शान्ति मिलती थी। बाबा ताहिर उरयाँ हमादानी (१०५५ ई०) अबू-सईद-बिन-अबिल-खैर (६६७-१०४६ ई०), शेख अब्दुल्लाह अन्सारी (१००६-१०८८ ई०) आदि में अद्वैतवादी सूफी-दर्शन का प्रखर मध्याह्न दिखायी देता है। बाद के सूफी कवियों में फरीदुद्दीन अत्तार और जलालुद्दीन रूमी बहुत प्रसिद्ध हैं लेकिन वे पूरी तरह अद्वैतवाद के हामी नहीं हैं। अत्तार का 'पन्दनामा (उपदेशमाला), 'तज़किरतुल औलिया' (ऋषि चरित्र) और 'मन्तिक़ुत्तैर' (पक्षियों का तर्क) प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनमें उन्होंने 'फना-फिल्लाह' (भगवान् में विलय) की चर्चा तो की है लेकिन 'अनलहक़' (मैं ब्रह्म हूँ) कहने में हिचक प्रकट की है। रूमी (१२०७-१२७३ ई०) की 'मसनवी-ए-मानवी' और 'दीवान-ए-शम्सी तबरीज़' फारसी साहित्य के अनमोल रत्न हैं। इनमें अद्वैतभाव को रहस्यमय रूप प्रदान किया गया है। इनमें उन्होंने सुन्नी विचारधारा का समर्थन किया है और अबू बक्र और उमर की प्रशंसा की है लेकिन साथ ही मतजिलियों और दार्शनिकों की निन्दा भी की है। उस युग में सूफी विचारधारा इतनी ज़्यादा फैल चुकी थी कि मुशर्रिफुद्दीन सादी (११८४-१२९१ ई०) जैसा नैतिक और उपदेशक कवि भी उसके प्रभाव से बचा न रह सका जैसा कि उसकी 'गुलिस्ताँ' और 'बूस्ताँ' से जाहिर होता है।

सूफियों के अलावा उस युग में प्रशस्तिकार (क़सीदा लिखने वाले कवि) भी बहुत से हुए। इनमें असदी, फसीही, अनवरी और खाक़ानी प्रसिद्ध हैं। रोमान्तिक कवियों में निज़ामी गंजवी बेजोड़ है। उनकी 'लैला-मजनूं', 'खुसरो-शीरीं', 'हफ्त-पैकर' आदि मसनवियाँ (प्रबन्ध काव्य) प्रेम की पीर से भरपूर हैं। ज़हीर फारयाबी की रचनाओं में धर्म को एक ओर रखकर सांसारिक जीवन के गीत गाये गये हैं। सूजानी व्यंग और कटाक्ष का कवि है। मुइज्ज़ी में माधुर्य, शिष्टता और शोभा है।

उस युग में गद्य-साहित्य भी अच्छा तैय्यार हुआ। केकाऊस के 'क़ाबूसनामे' में दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का विवेचन है। निज़ामी समरक़न्दी के 'चहार मक़ाल' में साहित्यकारों की चर्चा है। काज़ी-ह्मीदुद्दीन-अबू-बक्र-बल्ख़ी के 'मक़ामात' में प्रेम, वसन्त, शिया-सुन्नियों के शास्त्रार्थ आदि विषयों का वर्णन है। नसरुल्लाह-बिन-अब्दुलह्मीद का 'कलीला-दिम्न' पंचतन्त्र की पुरानी कथा का रूपान्तर है। इनके अलावा अरबी में भी भाषाशास्त्र, सन्तचरित, भूगोल, विज्ञान पर ग्रन्थ लिखने की परम्परा चलती रही।

एशिया खुर्द में फिरदौसी के शाहनामे का बड़ा महत्त्व था। बहुत से सुल्तानों ने कोनया और सिवास की इमारतों पर इसके पद खुदवाये। खुरासान के तुर्कमान कवि खोजा दह्हानी ने इसका तुर्की अनुवाद किया। अनवरी और सूजानी की प्रेरणा से तुर्की में 'नज़ीरुद्दीन खोजा की कहानियाँ' लिखी गयीं जो आज तक लोकप्रिय हैं।

सलजूक़ी युग में कला-कौशल का भी यथेष्ट विकास हुआ। इस युग के ईरानी भवनों में सन्तुलित आकार, स्पष्ट रूपरेखा और कुछ हल्कापन है। लम्बे और तंग छुरी के आकार के झरोखे इन्हें ऊँचाई-सी प्रदान करते दिखायी देते हैं। इनके भीतर भारी खम्बों के बजाय पायों से जुड़े हुए पतले दण्ड लगाये गये हैं। बाहरी सतह पर सजावट मिलती है लेकिन रंगों का प्रयोग नहीं पाया जाता। मस्जिदों और मकबरों के गुम्बज़ छोटे, नोकीले और कटोरीनुमा हैं। एशिया खुर्द के भव्य ऋजुरेखीय भवन अपनी स्पष्टता में अद्वितीय हैं। उनकी बाहरी दीवारें बड़े-बड़े पत्थरों के टुकड़ों की बनी होती हैं और बहुत ऊपर जाकर ख़िड़कियाँ बनायी जाती हैं। सदर दरवाजे को खुदाई और पच्चीकारी के काम से सजाया जाता है। १२१० से १२१५ ई० तक इस कला का आरम्भ काल है। इसका नमूना कैसरी का 'शिफ्ते मदरसा' की इमारत है। १२१५ से १२५० ई० तक इसका प्रौढ़ काल है। इसका नमूना सिवास का दारुश्शिफा और कैसरी का ख्वान्द खातून भवन है। इसके बाद इसका उत्तरकाल है। इसका नमूना कोनया का इन्के मिनारेली मदरसा और सिवास का गोक मदरसा है। सलजूक़ी समाधियाँ तुर्ब और कुम्बत—दो तल्लों की होती हैं और इनकी नोकदार छतरियाँ घुमन्तू लोगों के तम्बुओं की शकल की होती हैं। सलजूक़ी शहरों में सड़कों में नालियाँ, फव्वारे और तालाब बनाये गये हैं। मकानों की पंक्तियों के बीच-बीच में बाज़ार और बगीचे आ गये हैं। जनाने और मर्दाने गुसल-खाने इनकी विशेषता हैं। इस काल की मूर्तिकला में शेर और बाज़ की आकृति कसरत से मिलती है। लकड़ी की खुदाई और नक्क़ाशी का ढंग पत्थर में भी बरता गया है। अंगूर की बेल के नमूनों की खुदाई मज़्दई कला से ली गयी मालूम होती है। कमल का कन्दपुष्प जैसी शैली का भी काफी रिवाज़ है। दो दल की पट्टी का डिज़ाइन सलजूक़ों को

बहुत पसन्द था। पाँच से बारह तक सितारों के गुच्छे उनके खास निशान थे। उन्होंने कँचाई टाइल और ईंटों के काम में बड़ी उन्नति की। उन्हें नीला रंग अच्छा लगता था और टाइलों की मेहराब और मोज़ेक के काम से बड़ी रुचि थी।

## ईसाई-मुस्लिम धर्मयुद्ध

ग्यारहवीं सदी के अन्त में ईसाइयों ने शाम का इलाका मुसलमानों से छीनना चाहा और तुर्कों ने, जो उस समय इस्लामी जगत् पर हावी थे, उसकी हिफाजत की। इससे ईसाई-मुस्लिम धर्मयुद्ध शुरू हुए। १००६ ई० में अल-हाकिम ने येरूशलम की पवित्र समाधि (होली सिपल्कर) के गिरजे को तुड़वाकर और ईसाई यात्रियों को तंग व परेशान करने की नीति अपनाकर ईसाई जगत् को कड़ी ठेस पहुँचायी। अत: पोप अर्बन द्वितीय ने २६ नवम्बर १०६५ ई० को ईसाइयों की पवित्र समाधि की ओर प्रयाण करने के लिए सम्बोधित किया। ११०७ में डेढ़ लाख आदमियों की सेना सलीब (क्रॉस) को अपना चिह्न बनाकर कुस्तुनतुनिया में जमा हो गयी। ११४४ तक उसकी कामयाबी चलती रही और शाम में अल-रूहा, अन्ताकिया, त्रिपोली, और येरूशलम में ईसाई रियासतें कायम हो गयीं। लेकिन इसके बाद पासा पलटा। अल-मौसिल के वीर शासक इमादुद्दीन जंगी ने अल-रूहा को ईसाइयों से छीन लिया। इससे यूरोप में दूसरे धर्मयुद्ध का नारा उठा। फ्रेंच और जर्मन वीरों की एक बड़ी फौज दमिश्क तक बढ़ आयी लेकिन नतीजा कुछ न हुआ। सलाहुद्दीन-इब्न-अय्यूब ने मिस्र में फातिमी खलीफाओं को हटाकर अपने पैर जमाये और ईसाइयों के खिलाफ जबरदस्त हमला किया। ३ अक्तूबर ११८७ को येरूशलम पर मुसलमानों का कब्जा हो गया। इससे यूरोप में हाहाकार मच गया। तीसरे धर्मयुद्ध की भेरी बज गयी। जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड के राजा फौजें लेकर फिलिस्तीन की ओर चल दिये। कई वर्षों की जंग और जहद के बाद २ अक्तूबर ११६२ को इस बात पर सुलह हुई कि तटवर्ती इलाका ईसाइयों के कब्जे में रहेगा और अन्दरूनी प्रदेश मुसलमानों के अधीन रहेगा और धार्मिक यात्रियों को किसी तरह की तकलीफ नहीं पहुँचायी जायेगी। १२५० ई० में मिस्र में अय्यूबियों का सितारा डूबने लगा। उनकी जगह ममलूक वंश प्रबल हुआ। उसके शासक अल-मलिक-अल-जाहिर-बेबार्स (१२६०-७७ ई०) और कलाऊन (१२७६-६०) ने शाम और फिलिस्तीन में फिरंगियों की जड़ें हिला दीं और धीरे-धीरे सारा इलाका उनसे छीन लिया।

ईसाई-मुस्लिम धर्मयुद्धों का इतना सैनिक महत्त्व नहीं है जितना सांस्कृतिक। इनके द्वारा पश्चिमी यूरोप के लोग एशिया के लोगों के नजदीक आये। दोनों में विचारों का आदान-प्रदान हुआ। एशिया की बहुत सी बातें यूरोप पहुँची जिससे वहाँ के जीवन

में बड़ी तबदीलियाँ आयीं। आदेलार्द, लियोनार्दो फिबोनाची आदि ने पूर्व की यात्रा की और ज्योतिष् और गणित के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का लातीनी अनुवाद किया। अरबों के प्रभाव के फलस्वरूप उनकी भाषा के अनेक पारिभाषिक शब्द यूरोपीय देशों की वैज्ञानिक शब्दावलियों में समा गये। विज्ञान के अतिरिक्त यूरोपीय साहित्य पर भी एशियाई विचारों की छाप पड़ी। 'कलीला-व-दमना' और 'अल्फ-लैला' के किस्से सुनकर बोकेचियो ने 'डिकामेरोन' और चौसर ने 'स्क्वायर्स टेल' लिखी। १२१६ ई० में रेमोन्द लल ने मिरामर में ईसाई साधुओं को अरबी पढ़ाने के लिए एक विद्यालय खोला। उसकी प्रेरणा से १३११ ई० में पेरिस, लूवें और सालामान्का के विश्वविद्यालयों में अरबी विभाग खोलने का निश्चय किया गया। अतः यूरोप में प्राच्यविद्या का श्रीगणेश हुआ।

धर्मयुद्धों का महत्त्व सबसे अधिक युद्धविद्या के क्षेत्र में हुआ। इनसे यूरोप के लोगों ने घोड़े और सवार दोनों को कवच से सुरक्षित करने और कवच के नीचे रुई के गद्दे लगाने का विचार ग्रहण किया और एशिया के लोगों ने 'क्रॉसबो' (वह धनुष जिसकी डोरी में एक लकड़ी की दंडी लगी रहती है जिसकी मदद से इसे खींचा या थामा जा सकता है) का प्रयोग सीखा। इसका प्रयोग फिरंगियों से शुरू हुआ और धीरे-धीरे एशिया में काफी दूर तक पहुँच गया। फारसी की 'कमाने हिकमत' या 'सरकमान' से इसी का तात्पर्य मालूम होता है। मुसलमानों के द्वारा यह शस्त्र भारत आया। चौदहवीं सदी में मिथिला के ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने अपनी 'वर्णरत्नाकर' (पाँचवा कल्लोल) (सुनीति कुमार चटर्जी और बबुआ मिश्र का संस्करण पृ० ३४) में 'जंत्रधानुक' के नाम से इसका उल्लेख किया और सोलहवीं सदी में शेरशाह के जमाने में मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' (४६६/३) में 'लाखन्ह मीर बहादुर-जंगी। जंत्रकमानै तीर खदंगी' पद्य में इसका वर्णन किया। जहाँ फिरंगियों ने एशिया को क्रॉसबो का प्रयोग सिखाया, वहाँ उन्होंने शाम में आकर फौजी बाजे, सुरंग लगाने और ज्वलनशील और विस्फोटक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त किया। इसी जमाने में कुतुबनुमा मस्तूलों और बादबानों के प्रयोग से जहाजरानी में नया युग आया और खेती-बारी और उद्योग-धन्धों के विषय में यूरोप ने एशिया से बहुत-कुछ सीखा। कला-कौशल और यन्त्रों के क्षेत्र में भी यूरोप पर एशिया का गहरा प्रभाव पड़ा। हालाँकि यूरोप में धर्म-युद्धों से पहले पनचक्की चलने लगी थी, लेकिन शाम की चक्की इससे बढ़िया थी। कैसर-इब्न-मुसाफिर-तआसीफ (मृ० १२५१ ई०) ने इसकी बनावट में काफी सुधार किया। इसलिए धर्म-युद्धों में आये हुए ईसाइयों ने इन बढ़िया पनचक्कियों को अपने देशों में जारी किया। हवाई चक्की तो धर्मयुद्धों के समय से ही चली मालूम होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ईसाई-मुस्लिम धर्मयुद्धों से यूरोप और एशिया के सांस्कृतिक

सम्बन्धों का एक नया युग शुरू हुआ।

## मंगोल समाज और साम्राज्य

बारहवीं सदी के मंगोलों को आर्थिक दृष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है : जंगली-शिकारी (होयिन इरगान) और चरवाहे-पशुपाल (कार-उन इरगान)। शिकारी बाइकाल झील, इएनिसेइ के उद्गम और इरतिश के तटवर्ती इलाकों में रहते थे और चरवाहे कुलुन-बुइर झील से लगाकर अल्ताई पर्वत की पश्चिमी चोटियों के बीच के स्तेपों में घूमते थे। मंगोलों का धन भेड़-बकरी, बैल और घोड़े थे। उनके पास ऊँट ज्यादा नहीं थे। वे अपने डंगर-ढोर लिये हुए चारे-पानी की तलाश में साल में कई बार इधर से उधर डोलते थे। इस घूम-फेर में अनेक घर और दल एक साथ रहते थे। जहाँ-कहीं वे पड़ाव डालते डेरे-तम्बुओं का जमाव हो जाता। इस पड़ाव को 'कुरियान' कहते थे। इसमें बहुत से घर या 'चूल्हे' शामिल होते थे जिनका नाम 'अयिल' था। प्रत्येक अयिल में कुछ छकड़े और तम्बू होते थे। बड़े-बड़े छकड़ों पर तम्बू तने होते थे। छकड़ों का रंग काला और तम्बुओं का सफेद होता था। तम्बू (गेर) मधुमक्खी के छत्ते के आकार का होता था। यह गोल और ऊपर को गावदुम होता जाता था। इसकी छत कटोरीनुमा होती थी। सबसे ऊपर धुवाँ निकलने का रोजन बना होता था। झाऊ आदि की खपच्चियों के जालीदार ढाँचे पर ऊन के नमदे चिपका कर इसे खड़ा किया जाता था। इसका संतुलन इतना मजबूत होता था कि इसे खूँटे और रस्सी से बाँधने की जरूरत नहीं थी। आम तौर से इसमें २० फुट जगह होती थी। ये तम्बू बड़ी-बड़ी गाड़ियों (क़िबितिका) पर मढ़े जाते थे जिससे एकदम बैल या घोड़े जोड़ कर सारे घर-बार को एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जा सके।

मंगोल-जीवन घोड़े के साथ नत्थी था। वे 'अक्ता' घोड़े पर चढ़ते, उसका मांस खाते, लड़ाई के वक्त कुछ न मिलने पर उसके पैर की नस में छेद करके उसके खून से भूख-प्यास बुझाते, घोड़ी का दूध पीते, उससे मक्खन, पनीर आदि बनाते और उसे चमड़े के बर्तन में खमीर देकर खट्टा 'कुमीज' बनाते जो मदिरा का काम देता। इसके अलावा गाय-बैल उनके छकड़ों को खींचते और उनके भोजन का काम देते। भेड़ों से उन्हें ऊन, खाल और मांस मिलता। शिकार के जानवरों से उनके भोजन, वसन और व्यापार की जरूरतें पूरी होतीं। उनके सिमूर, खाल, सींग आदि के बदले वे युइगुर या मुसलमान व्यापारियों से आटा, रेशम, कपड़ा और अन्य सामान खरीदते। उनमें से कुछ लोग ऊन कातने और बुनने, रस्से और फीते तैयार करने, डेरों के लिए लकड़ी के ढाँचे, छकड़े, बरतन आदि गढ़ने, साज, जीन, धनुष, वाण, बरछे, भाले, खंजर आदि बनाने का काम करते और

कुछ लोग स्थायी समाजों के निकट जाकर खेती-बारी भी करते। इस तरह मंगोलों में एक मिली-जुली अर्थ-व्यवस्था का विकास हो रहा था।

मंगोल समाज पितृसत्तात्मक कबीलों से बना था। कबीले को 'ओबोक' या 'ओबोख' कहते थे। इसमें गोत्र की तेरह एक ही पुरखे (आबुग़ा) की सन्तान होती थी। गोत्र के लोग एक हाड़ (यसुन) के कहलाते थे। आज तक भारत के कुछ देहात में ऐसा मुहावरा है कि 'सारा गाँव एक हाड़ (हड्डी) का है' यानी एक पुरखे की औलाद है। सगोत्र विवाह वर्जित था, लेकिन मामा के गोत्र में विवाह हो सकता था। सगाई (बाल्गा) के वक्त लड़के का पिता लड़की के पिता को उपहार देता लेकिन विवाह होने पर लड़की का पिता उसे दहेज देता और उसके साथ नौकर-बाँदी (इन्जा) भी भेजता था। बहुपत्नित्व की प्रथा थी किन्तु पहली पत्नी का अधिक सम्मान होता था। पति के मरने पर उसकी विधवा अपने जेठ-देवर के घर में बैठ जाती थी।

घर का बड़ा 'आज़ान' (स्वामी) या 'ओतचिगिन' (अग्नि का रक्षक) कहलाता था। ज्येष्ठ पुत्र बलि आदि धार्मिक कृत्यों में अगुआ रहता था। उसे 'बाकी' (पुरोहित) की उपाधि दी जाती थी। रस्मी अवसरों पर वह सफेद कपड़े पहनता और सफेद घोड़े पर चढ़ता था। बलि के वक्त 'ओबोक' के सारे लोग जमा होते थे। उसमें शरीक न होने का अर्थ एक प्रकार का बहिष्कार समझा जाता था। जैसे-जैसे लड़के बड़े होते वे माँ-बाप की सम्पत्ति में से अपना-अपना हिस्सा लेकर अलग हो जाते थे। सिर्फ सबसे छोटा लड़का, विवाह होने पर भी माँ-बाप के साथ रहता और उनके छकड़े, तम्बू और घरेलू सामान का मालिक बनता था।

कबीलों (ओबोक) में अपने (उझक) पराये (जात) का काफी भेद था। 'ओबोक' आमतौर से समूह बनाकर रहते थे जिन्हें 'इरगान' या 'उलूस' कहते थे। इनमें दोस्ती और झगड़े चलते रहते थे। कुछ लोग अपने 'ओबोक' या 'उलूस' को छोड़कर दूसरों के 'ओबोक' में चले जाते थे। इन्हें 'अन्दा' कहते थे। लड़ाई में जो लोग हार जाते थे वे जीतने वालों के मातहत (उनागान बोगोल) हो जाते थे। उनके अपने 'ओबोक' और जायदाद जैसे के तैसे बने रहते थे, लेकिन वे अपने स्वामियों के हितों की रक्षा करने के लिए बाध्य होते थे। उनमें और उनके स्वामियों में ब्याह-शादी भी होने लगती थी यानी वे अपना गोत्र छोड़कर उनके गोत्र में मिल जाते थे। इनके अलावा कुछ वैयक्तिक सेवक (ओतोला बोगोल) और कुछ दहेज में आये हुये बाँदी या गुलाम (इन्जा) होते थे जो अपने स्वामी के गोत्र के माने जाते थे। कुछ लोग अपनी इच्छा से दूसरे आदमियों के साथ लग जाते थे। इन्हें 'नुकुर' कहते थे। हिन्दी शब्द 'नौकर' इसी से निकला है। 'नुकुर' अपने रक्त-सम्बन्ध को भूलकर अपने 'ओबोक' से ज्यादा अपने स्वामी की वफादारी करता था। उसके लिए

परिवार, कबीला और जाति सब गौण हो जाते थे और स्वामी की सेवा सर्वोपरि हो जाती थी। इस प्रकार सगोत्र ओबोक के स्थान पर मिश्रित व्यवस्था बनने लगी थी। चिगिस खाँ के जमाने में यह प्रवृत्ति बहुत प्रमुख हो चली थी। इसके फलस्वरूप कबीलाशाही के स्थान पर सामन्तशाही का विकास हो रहा था। सामाजिक व्यवस्था का आधार रक्त-सम्बन्ध न रहकर शक्ति-संतुलन बन रहा था। शक्तिशाली अभिजात वर्ग के मुखिया या सरदार 'नोयोन' (मुखिया), 'बआतुर' (बहादुर), 'साचान' (बुद्धिमान), 'बिल्गा' (ज्ञानी), 'मार्गान' (धनुर्धर), 'बोक़ो' (खिलाड़ी), 'ताइशी' (राजा) आदि कहलाने लगे और उनकी स्त्रियाँ 'खातून' और 'बागी' आदि उपाधियाँ धारण करने लगीं। उनके मुकाबले में शमनों (पुरोहितों) का दर्जा भी घटिया हो गया। ये लोग खास-खास अवसरों पर बैठक करते जिसे 'कुरिलताई' या 'कुरूलताई' कहते थे। इसमें दल के नेता भी चुने जाते थे, जिनकी उपाधि 'खान' थी।

समाज को सैनिक रूप से—उस समय समाज और सेना में कोई खास फर्क नहीं था—दस की टोलियों (अरबान), सौ की टुकड़ियों (जागून), हजार के दस्तों (मिङ्गन) और दस हजार के दलों (तूमान) में संगठित किया जाता था। खान और खागान सेना का नेतृत्व करते थे। वे सेनापतियों और ओहदेदारों को नियुक्त करते थे। उन्हें जागीरें (क़ूबी) भी दी जाती थी। बाद में लिखित अधिकार-पत्र (जारलीक) देने का रिवाज हो गया था। ये लोग घुटने टेक कर और सिर नवा कर खान के प्रति वफादारी का अहद (मोर-गुकु) लेते थे। इस प्रकार घुमन्तू सामन्तशाही का विकास हो रहा था। लेकिन यह व्यवस्था स्थायी समाजों की सामन्तशाही से भिन्न थी क्योंकि इसमें लोग आराम से एक सामन्त की जागीर से दूसरी जगह खिसक जाते थे जिसके कारण इसमें बड़ी लोच और लचक थी। दिनचर्या और जीवनस्तर की दृष्टि से राजा और रंक, स्वामी और सेवक, करीब-करीब एक जैसे थे।

बारहवीं सदी मंगोलों के सामाजिक इतिहास में संक्रान्ति का काल था। इसमें कबीलाशाही की जगह सामन्तशाही घर कर रही थी। अनेक जातियाँ संगठन और संस्कृति की ओर प्रवृत्त हो रहीं थीं। नइमान, केराइत नेस्तोरी धर्म अपना कर अपना जीवन-स्तर सुधार रहे थे और अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। तातार कबीलों के 'तोक़ूज़ तातार' (नौ तातार), 'ओतूज़ तातार' (तीस तातार) आदि बड़े-बड़े संघ बनने लगे थे। मंगोलों के बुर्जिगीन क़बीले के सरदार काइदू ने बहुत से घरों और दलों को संगठित करना शुरू कर दिया था। इस वातावरण में मंगोल सरदार येसूगाई बआतूर के ११६७ ई० में तेमूजीन नाम का पुत्र पैदा हुआ जो बाद में चिंगिस खाँ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'चिंगिस' शब्द तुर्क शब्द 'तेंगीज' या 'देंगीज़' का तालव्यीकृत रूप है जिसका अर्थ 'समुद्र' है। उस जमाने में यह

विश्वास था कि समुद्र तक का राजा चक्रवर्ती सम्राट् होता है। इसी भाव का द्योतक 'दलाई' शब्द है जिससे गुयुक को 'दलाई खान' और तिब्बत के प्रधान लामा को 'दलाई लामा' (जगत्गुरु) कहते थे। चिंगिस खान (आसमुद्र क्षितीश) एशिया के सबसे बड़े सार्वभौम साम्राज्य का निर्माता सिद्ध हुआ। यदि वह स्वयं समुद्र तक नहीं पहुँचा तो उसके पोते प्रशान्त से बाल्तिक और रोम सागर तक के प्रदेश के स्वामी अवश्य रहे।

मंगोलिया पर एकछत्र शासन कायम करने के बाद चिंगिस खान ने अपने राज्य और सेना का पुनर्गठन किया। उन्हें कबीलाशाही सेना से नफरत थी। अतः उन्होंने कबीलों को तोड़-फोड़ कर सामन्ती उलूसों में बदल दिया और सामन्ती पदों पर अपने परिवार के लोग या 'नुकुरों' में से छाँटे हुए उच्च कुलों के व्यक्ति नियुक्त किये। उन्हें अपने उलूसों में से उसकी सामर्थ्य के अनुसार दस हजार (तूमान), एक हजार (मिंघन) सौ (ज़गून) या दस (अरबान) सैनिक शाही फौज में भेजने पड़ते थे। इनके अलावा उन्होंने अपना निजी अंगरक्षक दल (केशिक) संगठित किया। इसमें दस हजार सैनिक भर्ती किये गये। इसका एक दस्ता 'तूरगाउत' दिन में और दूसरा 'केब्तेउत' रात को पहरा देता था। इसका अनुशासन बड़ा कठोर था। सिपाही के ड्यूटी पर पहली बार न आने पर ३० कोड़े मारे जाते, दूसरी बार न आने पर ७०, और तीसरी बार न आने पर ३७ कोड़े मार कर उसे निकाल दिया जाता। साथ ही इन सिपाहियों का मान भी बड़ा था। उनमें से हर एक फौज के हजारी अफसर के बराबर था। खान से पूछ कर ही उसे सजा दी जा सकती थी। इसके अलावा चिंगिस खाँ ने अपने दरबार की व्यवस्था और दरबारियों और मन्त्रियों के ओहदे और अधिकार निश्चित किये जिससे केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति का पता चलता है।

चिंगिस खाँ ने समाज की व्यवस्था के लिए जो नियम बनाये उन्हें 'यस्साक' कहते हैं। मिस्री इतिहासकार मकरीजी ने उनका विस्तृत परिचय दिया है। उनके अनुसार झूठी गवाही, दुराचार, व्यभिचार, अप्राकृतिक यौन सम्बन्ध, जादूगरी, बुलावे पर सैनिक सेवा पर न आने, विदेशी दासों को शरण देने और घोड़े के मूल्य के बराबर वस्तु की चोरी करने की सजा मृत्युदण्ड है। इसी प्रकार आपसी झगड़े करना, दूसरों के झगड़ों में शरीक होना और किसी के काम में दखल देना अपराध घोषित किये गये हैं। ये नियम समाज की शान्ति और स्थायित्व के लिए हैं।

खान और सामन्तों के सम्बन्धों को इस प्रकार निश्चित किया गया है कि जो कोई सामन्तों, सरदारों और जाति के और बड़े आदमियों द्वारा 'कुरिलताई' (महासभा) में चुने गये बिना 'कागान' (प्रधान खान) की उपाधि धारण करे वह मृत्युदण्ड का अधिकारी हो। इसी तरह जो सामन्त कागान के अलावा और किसी से ताल-मेल करे उसे भी मौत की सजा दी जाय। हर छोटे-बड़े के लिए कागान की इज्जत करना और उसके सामने

झुकना जरूरी था। एक बार घुड़दौड़ में ओगोदाई कागान का बड़ा भाई चगताई उसे पछाड़ कर आगे निकल गया तो उसे अपराधी की तरह उससे माफी माँगनी पड़ी। सैनिक अनुशासन के कठोर नियम थे।

चिंगिस खाँ व्यापार के महत्त्व को खूब समझते थे। इसलिए यस्साक का एक नियम यह था कि जो क्रमशः तीन बार दिवालिया हो जाय और लोगों का माल हजम कर ले उसे मौत की सजा दी जाय। इसका मन्शा व्यापार में ईमानदारी पैदा करना था।

यस्साक के कुछ नियम धर्म, सदाचार और पारिवारिक जीवन के बारे में थे। धरती और आकाश के स्वामी तेंग्री में श्रद्धा रखना और उसे बलि-पूजा आदि देना जरूरी था। पूजा के वक्त टोपी उतार कर और पेटी को कमर पर से खोलकर कन्धे पर डाल कर सात बार घुटने टेकने पड़ते थे। बिजली की गड़गड़ाहट तेंग्री के रोष का प्रतीक मानी जाती थी इसलिए उस वक्त डेरे-तम्बू में छिप जाना लाजमी था। चश्मों और नदियों में देवतत्व माना जाता था, अतः उनमें नहाना, कपड़े धोना और पानी गन्दा करना अपराध था। मंगोलों का विश्वास था कि सब धर्मों के पण्डित-पुरोहित भिन्न-भिन्न रूपों में तेंग्री की उपासना और गुणगान करते हैं। अतः उन सबका आदर करना, उन्हें भोजन-वसन देना और उनके उपदेशों को ध्यान से सुनना सबका कर्तव्य था। मंगोल मुसलमानों की तरह खाने के लिए मारे जाने वाले जानवर के गले की नस को धीरे-धीरे काटना महापाप समझते थे। वे उसे बाँध कर उसकी छाती चीर देते थे। कुछ नियम शादी-विवाह, रिश्ते-नाते आदि के बारे में थे।

ये नियम बहुत-कुछ चिंगिस खाँ के बनाये हुए थे। वे धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे और अक्सर तेंग्री के ध्यान में मग्न हो जाया करते थे और कई-कई दिन तक बुरक़ान-क़लदून की पहाड़ी पर या अपने तम्बू में समाधिस्थ रहते थे जबकि उनके तम्बू के चारों ओर असंख्य लोग 'तेंग्री-तेंग्री' का पाठ करते थे। इन चिन्तन के क्षणों में उन्हें यस्साक़ के बहुत से नियम और क़ानून सूझे होंगे। ये बहुत दिनों तक मंगोलों में चालू रहे। बाबर ने अपनी जीवनी में लिखा है कि "मेरे पूर्वज और परिवार के लोग बड़े पवित्रभाव से चिंगिस खाँ के नियमों का पालन करते थे और अपने भोजों, दरबारों, उत्सवों, विनोद-मण्डलियों, उठने-बैठने आदि में कभी उनके विरुद्ध नहीं चलते थे।"

बारहवीं सदी के अन्त और तेरहवीं सदी के शुरू में चीन, तुर्किस्तान और ख़्वारज़्म की आन्तरिक व्यवस्था खराब थी। उत्तरी चीन में किन सम्राटों के विरुद्ध किसानों का लालकुर्ती नामक आन्दोलन छिड़ा हुआ था। दक्षिणी चीन में सुङ अधिकारियों के भयंकर अत्याचार, सामन्तों और सौदागरों के भीषण शोषण और खुश्की और सैलाब की आफतों से त्राहि-त्राहि मची थी। रंगरूट भर्ती करने वाले और कर वसूल करने वाले अफसरों

की सख्तियों का कोई ठिकाना न था। अतः जनता में भयानक विद्रोह भभक रहा था। तुर्किस्तान के क़ाराखिताई राज्य में नईमान और मेरकित नामक मंगोल जातियों के सरदार तोड़-फोड़ करते रहते थे। साथ ही वहाँ के मुसलमान काफिरों के शासन से नाखुश थे। १२०७ ई० से उनमें क़ाराखिताई के खिलाफ आन्दोलन चल रहा था। साथ ही युइग़ुर उन्हें हटाने की घात में थे। उनके शासक ने चिंगिस खाँ की मातहती क़ुबूल करली थी। ख़्वारज़्म की हकूमत की बाहरी शान-शौकत और कुछ ऊपरले दर्जे के लोगों की खुशहाली के पीछे साधारण जनता की भारी टीस और कसक छिपी थी। ख़्वारज्मी अफसरों की सख़्ती और ज़ुल्म की हद न थी। इसलिए मध्य एशिया में बकरे की खाल की बनी ऊँची टोपी पहिने ख़्वारज़्मी बहुत नफरत की निगाह से देखे जाते थे। उनके शासन की गड़बड़ को शिहाबुद्दीन मुहम्मद अन् नसावी ने सुल्तान जलालुद्दीन मन्कूबिर्नी के 'जीवन-चरित' में इस प्रकार व्यक्त किया है: "इस कृतघ्न जगत् को धिक्कार है जिसमें कोई व्यक्ति धोखे से मारे गये आदमी का फातिहा पढ़ने तक से मजबूर है, उसका नाम तक नहीं ले सकता; उन आदमियों को भी धिक्कार है जो इस शरीर से चिपटे हैं जिसके द्वारा कोई भी आशा पूरी नहीं हो सकती"।

इस सामाजिक अशान्ति और अव्यवस्था के बावजूद चीन, तुर्किस्तान और सुग़्द काफी तरक्की पर थे। समरक़न्द बहुत बड़ा शहर था। इसके दो भाग थे: अन्दरूनी शहर (शहरिस्तान) और ४४ वर्ग मील रकबे का बाहरी शहर जो २७ मील लम्बी शहरपनाह से घिरा था। इसमें पानी का माक़ूल इन्तज़ाम था। आठ नहरों से ६८० नालियों के जरिए हर जगह पानी पहुँचता था। सड़कों पर पत्थर का पक्का खड़ंजा था, उनके मोड़ों पर ठण्डे पानी के फव्वारे चलते थे, चौराहों पर सरू के पेड़ों को जानवरों की शक्लों में तराशा गया था, करीब-करीब हर घर में फलदार पेड़ों से हरा-भरा बगीचा था। बाज़ारों में ज़रफ्शाँ की घाटी के सूती और रेशमी वस्त्र, फरग़ना के हथियार और धातु के सामान, ताँबे आदि के बरतन और प्याले, डेरे, रकाब, लगाम और तस्मे आदि अनेक क़िस्म के माल बिकते थे। वहाँ के कागज़ के कारखाने दूर-दूर तक मशहूर थे। वहाँ के बरफ के डिब्बों में जमाये हुए खरबूज़े-तरबूज़ हर जगह शौक़ से खाये जाते थे।

समरक़न्द की तरह बुख़ारा भी बहुत प्रसिद्ध था। वहाँ के मस्जिद-मदरसे और सफ बुनने की दस्तकारी नामी थे। धार्मिक केन्द्र होने के कारण वहाँ बाहर के बहुत आदमी आते थे जिनसे बड़ी भीड़-भाड़ रहती और अक्सर गन्दगी भी हो जाती थी। ताशक़न्द हथियार बनाने के धंधे का केन्द्र था। वहाँ ऊँची जीन, तीर-तरकश, ढाल-तलवार, डेरे-तम्बू, कोट-लबादे बहुत ज्यादा तादाद में बनाये जाते और घुमन्तू लोगों को घोड़े, चमड़े, समूर, लोमड़ी, खरगोश, मोम, शहद और नीली आँखों वाले गोरे स्लाव

दास-दासियों के बदले बेचे जाते थे। वहाँ से थोड़ी दूर पर उतरार भी इस व्यापार की बड़ी मण्डी बन गया था। इधर ख़्वारज़्म के नख़लिस्तान में रूसी स्तेपों के लोगों और यूराल नदी के दक्षिण के घुमन्तू तुर्कों का ताँता बँधा रहता था। खुरासान में शहरी तरक्क़ी का सुनहरा दौर था। हेरात में हवा से चलने वाली चक्कियाँ, १२,००० दुकानें, ६,००० गर्म पानी के हम्माम, ६५६ मदरसे और ४,००,००० से ऊपर आदमियों की बस्ती थी। नीशापुर अपने बेहतरीन जलवायु, फरहतबख़्श बाग-बगीचों, खुशबूदार गुलाब की क्यारियों और खुशहाल लोगों की दिलचस्प जिन्दगी की वजह से इस्लामी दुनिया में सब से ज्यादा मशहूर था। वहाँ माल-मते से लदे कारवाँ और क़ाफलों का सिलसिला बना रहता था।

इस तरक्क़ी से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बड़ा बढ़ावा मिला था। जब कभी कहीं कोई सैनिक गड़बड़ हो जाती तो सारे व्यापारी-जगत् में इसका प्रभाव पड़ता। व्यापारियों को अक्सर सरकारी अफसरों को काफी घूस-भेंट चढ़ानी पड़ती थी। अन्-नसावी ने लिखा है कि एक-एक दिन में उसे एक-एक हज़ार दीनार भेंट में मिले। इसलिए इन संकटों से बचने के लिए व्यापारी एकछत्र साम्राज्य और शासन-व्यवस्था के बड़े इच्छुक थे। अतः बार्थोल्ड के शब्दों में चिंगिस ख़ाँ का हित मुसलमान व्यापारियों के हित से पूरी तरह मेल खाता था, जबकि मुहम्मद ख़्वारज़्मशाह के साथ उनकी पटरी नहीं बैठती थी। असल में मंगोल साम्राज्य की स्थापना के बाद व्यापारियों को बड़ी सुविधा और सुरक्षा मिली। फ्लोरेन्स के व्यापारी फ्रांसिस बालदूची पिगोलोत्ती के वर्णन से पता चलता है कि १३४० ई० में आज़ोफ सागर के तट पर ताना नामक बन्दरगाह से व्यापारियों के काफले सीधे चीन तक जा सकते थे। उन्हें रास्ते में कोई खतरा नहीं था और न किसी रक्षक-दल की ज़रूरत थी। इसलिए यह स्वाभाविक-सा मालूम होता है कि व्यापारी-जगत् ने मंगोल साम्राज्य का स्वागत किया होगा।

चिंगिस ख़ाँ ने १२११ ई० में उत्तरी चीन के किन राज्य के विरुद्ध युद्ध छेड़ा जिसे १२३४ ई० में उनके उत्तराधिकारी ने सफलतापूर्वक पूरा किया। १२१८ ई० में उन्होंने क़राखिताई राज्य पर हमला किया और ख़्वारज़्वशाह से सुलह करनी चाही। लेकिन वहाँ उनके राजदूतों का अपमान हुआ। इसलिए उन्होंने ख़्वारज़्मी राज्य पर धावा बोल दिया। १२२० ई० में वे खुद बुखारा पहुँचे। अनेक शहर बर्बाद किये गये। १२२१ में चिंगिस ने वंक्षु पार कर खुरासान और अफगानिस्तान पर कब्जा करना शुरू किया। जलालुद्दीन ख़्वारज़्मशाह का पीछा करते हुए वे गज़नी और सिन्धु तक आये, लेकिन पंजाब में नहीं घुसे। हिन्दुकुश के दक्षिण में मई १२२२ में उन्होंने प्रसिद्ध ताओ-वादी पण्डित छाङ-छुन से भेंट की जो बुलावे पर चीन से आये थे। उस समय उनपर

बुढ़ापे का असर होने लगा था। इसलिए उन्होंने छूटते ही छाङ-छुन से पूछा, "सिद्ध ! तुम इतनी दूर से जीवन बढ़ाने की कौन सी औषधि हमारे लिये लाये हो?" उसने उत्तर दिया, "मैं जीवन की रक्षा करने का उपाय जानता हूँ लेकिन मेरे पास ऐसा कोई रस नहीं है जो इसे बढ़ा सके"। ठीक-ठीक तो कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन हो सकता है कि संजीवनी बूटी के बारे में निराश होने पर चिंगिस ने भारत का ध्यान छोड़ मंगोलिया लौटने का विचार किया। १२२५ ई० में वे अपने देश पहुँचे और १८ अगस्त, १२२७ ई० को घोड़े से गिर कर चोट खाने से उनकी मृत्यु हो गयी। उनके उत्तराधिकारियों ने चीन से पौलेण्ड तक एक अत्यन्त विशाल साम्राज्य की स्थापना की।

मंगोलों ने बेतहाशा बर्बादी मचायी लेकिन साथ ही भौगोलिक क्षेत्रीयता भी खत्म की। उनमें निर्दयता तो थी लेकिन उनके दिल और दिमाग़ के दरवाज़े और खिड़की सदा खुले रहते थे और उनमें धार्मिक कट्टरता या तंगख्याली नहीं थी। अतः उनके शासन में सब धर्मों की आज़ादी और आदर रहा और सब देशों के आदमी बहुत तेज़ी से एक-दूसरे के सम्पर्क में आये और ज्ञान-विज्ञान की खोजें, दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने में पहुँच कर फली-फूलीं।

## ईरान का इलखानी युग और तैमूरी युग

१२५१ ई० की क़ुरिलताई (जनसभा) में मंगोल ख़ान मंगू ने अपने छोटे भाई हुलागू को ईरान का उपराजा नियुक्त किया। २ जनवरी, १२५६ ई० को उसकी सेना ने आमू दरया पार किया और १३ फरवरी, १२५८ ई० को बग़दाद को ध्वस्त करके खिलाफत का अन्त कर दिया। ईरान में मंगोल राज्य कायम हो गया जिसे इलखानी राज्य कहते हैं। हुलागू बौद्ध था और बोधिसत्त्व मैत्रेय की भक्ति करता था पर उसकी पत्नी दोकूज़ खातून ईसाई थी। उसका पुत्र अबाक़ा भी ईसाई विचारों का बौद्ध था। इस ज़माने में ईरान में बौद्धों और ईसाइयों का ज़ोर रहा। लेकिन १९ जून, १२९५ ई० को गाज़ान ख़ान ने और उसके साथ दस हजार मंगोलों ने इस्लाम स्वीकार किया। तब से इलख़ानी साम्राज्य ईरान की मुस्लिम संस्कृति में समाने लगा। मंगोल ख़ान और सरदार शराब और ऐयाशी की ज्यादती से निकम्मे हो गये। १३३४ ई० में हुलागू के वंश का अन्त हो गया। इसके बाद भयानक गड़बड़ी रही। इसमें एक चरवाहे के लड़के तैमूर की बन आयी। उसने अपनी ताक़त बढ़ा कर ईरान पर हमले शुरू कर दिये और १३८६-७ ई० में इसे पूरी तरह फतह कर लिया। इसके बाद उसने विभिन्न देशों पर अनेक आक्रमण किये, १३९५ ई० में मास्को पर धावा किया और १३९८ ई० में दिल्ली में क़त्ल-ग़ारत का बाज़ार गर्म किया, १३९९ ई० से १४०४ ई० तक पश्चिमी एशिया में खून की नदियाँ

बहायीं और १४०४ ई० में चीन की ओर रुख किया और रास्ते में १८ फरवरी, १४०५ ई० को खुद इस दुनिया से कूच किया। १४५० ई० के बाद उसके वंश का क्षय होने लगा। क़ाराक़ोयूनलू नामक दल का जोर बढ़ा। अगली सदी में शाह इस्माईल सफवी ने ईरानी राजवंश की स्थापना की।

यद्यपि शुरू में मंगोलों ने तोड़-फोड़ और तहस-नहस ही की, फिर भी कालान्तर में उन्होंने घुमन्तू जीवन छोड़ कर घर बसा कर रहना सीख लिया और धीरे-धीरे जमीन-जायदादें बनाना शुरू कर दिया। इलख़ानी युग में चलती जमीन को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है: (१) 'युर्त', जो स्तेप के चरागाह की तरह विशिष्ट दलों और कबीलों की सामूहिक सम्पत्ति समझी जाती थी; (२) 'इंजू', जो राजकीय परिवार के लोगों में बाँट दी जाती थी और जिसकी आय से उनके खर्चे चलते थे और फौज रखी जाती थी; (३) 'दीवानी', जो खास तौर से राजा की अपनी जायदाद होती थी, लेकिन इसमें और 'इंजू' में कोई खास भेद नहीं था; (४) 'ऊकाफ़', जो धार्मिक संस्थाओं या विशिष्ट अभिप्रायों के लिए निश्चित होती थी; और (५) 'मिल्की', जो लोगों की वैयक्तिक सम्पत्ति थी। राजा और उसके कर्मचारियों को हर क़िस्म की जमीन को ज़ब्त करके 'इंजू' में बदल देने का हक़ था।

मंगोल सरदार बड़े-बड़े रेवड़ रखते थे। सरकारी दफ्तर में गाज़ान के वक्त से उनका हिसाब रखा जाने लगा। पशुओं पर १ प्रतिशत की दर से कर लिया जाता था। इसे 'क़ुबचूर' कहते थे। किसान साल में दो बार जो कर देते थे उसका नाम भी 'क़ुबचूर' था। इसके अलावा देहात पर एक और कर लगाया जाता था जिसका नाम 'क़िलान' था। लगता है कि यह 'क़िलान' एक प्रकार की बेगार थी। अक्सर कर वसूल करने के ठेके दे दिये जाते थे। ठेकेदार ज्यादातर लगान हज़्म कर जाते थे। इससे सरकार का दीवाला निकलने की हालत पैदा हो जाती थी और जब कोई ज़रूरत पड़ती तो लोगों पर विशेष कर 'निमारी' लगाये जाते थे।

सरकारी अफसर और उनके वेश में चोर-डाकू, भगोड़े और गुण्डे देहातों को लूटते और किसानों को तंग करते थे। वे लोगों के गधे-खच्चर छीन लेते थे जिससे वक्त पर खेतों में काम करना मुश्किल हो गया और अनाज की उपज बहुत घट गयी। सलजूक़ों की तरह मंगोल भी अपने अफसरों के खर्चे के लिए देहात पर हुण्डियाँ काट देते थे, जिन्हें बड़ी सख्ती से, आम तौर से फौज की मदद से, वसूल किया जाता था। इससे लोग सरकारी अफसरों की शक्ल देखते ही गाँव छोड़ कर भाग जाते थे। रशीदुद्दीन ने अपनी 'जामी-उत-तवारीख़' में लिखा है कि एक बार जब एक ज़मींदार यज्द के एक गाँव फिरोज़ाबाद में पहुँचा तो उसे तीन दिन तक खोज करने पर भी कोई किसान नहीं

मिला, सिर्फ हुण्डी-पर्चे लिये हुए सत्रह लगान वसूल करने वाले कर्मचारी हाथ पर हाथ धरे बैठे मिले, सब लोग डर के मारे रफूचक्कर हो गये।

आर्थिक स्थिति को बिगड़ता देखकर गाज़ान ने कुछ सुधार शुरू किये। लगान वसूल करने वाले कर्मचारियों को हुण्डी काटने की मनाही कर दी गयी। लगान को 'गर्मसीर' और 'सर्दसीर' नाम की दो किस्तों में बाँटा गया जो गर्मी और सर्दी की फसलों में अदा की जाती थीं। काश्तकारों को ज़मीन का मालिक बना दिया गया और झगड़े वाली ज़मीन के खरीदने पर पाबन्दी लगा दी गयी। जो शख्स बंजर ज़मीन को तोड़ लेता वही उसका मालिक करार दे दिया जाता। हट्टे-कट्टे किसानों से बेगार लेना बन्द किया गया जिससे वे अपने खेतों पर ज्यादा काम कर सकें। सिपाहियों (चिरीक) को अनाप-सनाप हुण्डी काटने व लूट-खसोट करने की इजाज़त देने के बजाय नकद मुआवज़ा देने का प्रबन्ध किया गया। जब यह योजना न चली तो सिपाहियों को ज़मीनें जागीरों (इक़्ता) के रूप में दी जाने लगीं। ये ज़मीनें रहन-बै नहीं की जा सकती थीं। जो आदमी अपनी ज़मीन की तरक्की करके पैदावार बढ़ाता उसे इनाम दिया जाता और जो ऐसा न कर सकता उसे सजा दी जाती। हर सिपाही को सरकारी पैर (अम्बार) में ५० 'मन्नी तबरीज' (अनाज) बतौर लगान देना पड़ता। मंगोल 'इक़्ता' सलजूक़ी 'इक़्ता' से भिन्न था। सलजूक़ों में 'इक़्ता' पाने वाला सरकार और ज़मींदार का मध्यवर्ती होता था, पर मंगोलों में 'इक़्ता' हासिल करने वाला सरकार और किसान का मध्यवर्ती होता था। इसके अलावा सलजूक़ी इक़्तादार उसी वक्त तक इक़्ताओं पर अधिकार रखते थे जब तक वे प्रशासन का काम करते, किन्तु मंगोल युग में लोगों ने बड़ी-बड़ी जायदादें अपनी निजी सम्पत्ति के रूप में पैदा कर लीं।

तैमूर ने भी मंगोलों की तरह ज़मीन को 'युर्तों' में बाँट दिया। लेकिन यह व्यवस्था ज्यादा देर तक न चल सकी। शाह रुख के मरते ही अमीरों ने छीना-झपटी शुरू कर दी। जो कुछ किसी के हाथ लगा उसने हड़पा। देहात खाली और वीरान हो गये। सारे ईरान में महामारी और भुखमरी फैल गयी।

इलखानी युग में ईरान और चीन में गहरा सम्बन्ध था। साथ ही ईरान और यूरोप में दूतों और एलचियों का आना-जाना बना था क्योंकि इलखान मिस्र के खिलाफ यूरोप के ईसाई राज्यों से दोस्ती और मदद चाहते थे। इससे व्यापार को भी बढ़ावा मिला और तबरीज़ में वेनिस और जनोवा के व्यापारियों के लिए दफ्तर खुल गये। कश्मीर से बहुत से लोग, खास तौर से बौद्ध, ईरान में जा बसे। अलाउद्दीन-अता-मलिक जुवैनी की 'तारीख-ए-जहाँगुशा' (१/४४) में इन्हें 'तोयिन' कहा गया है जो चीनी शब्द ताओ-जेन से निकला है। अलाउद्दौला सिमनानी की 'अल-उर्वत-उल-वुसक़ा' में बौद्धों और

उनके शास्त्रार्थों की चर्चा है। रशीदुद्दीन की 'जामी-उत-तवारीख़' का एक भाग कश्मीर के बौद्ध भिक्षु कमलश्री की मदद से लिखा गया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन बौद्धों के प्रभाव से हलाकू ने खुद बौद्ध मत में दीक्षा ली। इस प्रकार मंगोल शासन में ईरान में सब धर्मों और देशों के लोग आपस में घुलमिल कर रहने लगे। इससे ज्ञान-विज्ञान में युगान्तरकारी प्रगति हुई। १२५१ ई० में हुलाकू ने फारस और बग़दाद के युद्धों में एक हज़ार चीनी इंजिनियरों से तोपखाने और गुलेल चलाने का काम लिया और १२७२ ई० में क़ुबिलै खाँ ने चीन में फानचिङ के घेरे में अलाउद्दीन और इस्माईल नाम के दो फारसी इंजिनियरों को नियुक्त किया। इसी प्रकार हुलाकू ने मरग़ाब की वेधशाला में, जो उस युग के सब से बढ़िया औज़ारों से लैस थी और जिसके साथ ४,००,००० पुस्तकों का एक पुस्तकालय था, नसीरुद्दीन तूसी के साथ मिलकर 'ज़ीज' (पंचांग) तैय्यार करने के लिए फू-मेङ-ची आदि चीनी ज्योतिषियों और यह्या-इब्न-मुहम्मद-इब्न-अबुलशुक्र-अल-मग़रिबी-अल-अन्दलूसी आदि स्पेन के विद्वानों को बुलवाया। चीनी और यूरोपीय विद्वानों और वैज्ञानिकों का यह सहयोग 'रिसालत-अल-ख़िता-वल-इग़ुर' आदि ज्योतिष के ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित है। चीन में मंगोल राज्य की स्थापना के बाद अरब वैज्ञानिक भी बस गये। इनमें अता-अबू-अहमद-अल-समरक़न्दी का नाम उल्लेखनीय है जो १३६२ ई० में युवान वंश के राजकुमार चेन-सी-वू-चिङ के निमंत्रण पर चीन गया। उसके एक ग्रन्थ की पाण्डुलिपि पेरिस के राष्ट्रीय पुस्तकालय में सुरक्षित है जिसके मुखपृष्ठ पर चीनी और अरबी दोनों लिपियों के लेख हैं। ज्योतिष की तरह आयुर्वेद में भी चीनी-अरब सम्पर्क और सहयोग से अभूतपूर्व उन्नति हुई। रशीदुद्दीन-फज़्लुल्लाह-अबुलख़ैर की प्रेरणा से लिखा गया 'तन्कसूक-नामा-ए-इलख़ान-दर-फुनून-ए-उलूम-ए-ख़िताई' शीर्षक ग्रन्थ इस सहयोग का अमर प्रतीक है। इन क्षेत्रों के अलावा इस काल के अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति इतिहास-लेखन के क्षेत्र में हुई। इस युग में सब से पहले विश्व-इतिहास लिखने का विचार पैदा हुआ। रशीदुद्दीन-फज़्लुल्लाह-अबुलख़ैर की 'जामी-उत-तवारीख़' उस युग के समस्त ज्ञात विश्व का इतिहास एक ग्रन्थ में लिखने का सब से पहला प्रयास है। उनके प्रभाव से १३१७ ई० में अबू-सुलेमान-दाऊद-बनाकती ने 'रौज़तु-अली-ल्-अलबाब-फी-तवारीख़-अल-अकाबिर-वल-अन्साब', जिसे 'तारीख-ए-बनाकती' भी कहते हैं, में विश्व-इतिहास लिखने की एक और सुन्दर चेष्टा की।

यह धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण ग़ाज़ान के मुसलमान बनने पर ख़त्म हो गया। किन्तु मुसलमानों में भी काफी बैचेनी थी। मंगोलों के कुश्तोख़ून और क़त्लो-ग़ारत ने सबके हौसले पस्त कर दिये। इससे आर्थिक और सामाजिक सुधार की चेतना

ख़त्म हो गयी। लोगों के पास सूफी-साधुओं का सहारा लेने के सिवाय कोई चारा न रहा। अतः सूफी मत का काफी विकास हुआ। मुहियुद्दीन इब्न-अल-अरबी का अद्वैत-वाद काफी फला-फूला। फख्रुद्दीन ईराक़ी, औहदुद्दीन किरमानी, महमूद-ए-शबिस्तरी, रबिई बूशंजी आदि कवियों ने इस मत को सुन्दर काव्य का कलेवर दिया। तैमूरी युग में इब्न-ए-यामीन, मुहम्मद शीरीं मग़रिबी, शाह निअमतुल्लाह आदि ने इस परम्परा को जीवित रखा। तैमूर के काल में ही असतराबाद के फज्लुल्लाह (१३४०-१३९३ ई०) ने 'हुरूफी' मत की नींव रखी। इसके अनुसार अक्षरों से बने शब्द प्रकृति की विभिन्न प्रक्रियाओं के प्रतीक हैं। इस मत को कुफ्र समझ कर दबाया गया लेकिन इसके सिद्धान्त बेक्ताशी सम्प्रदाय में संक्रान्त हो गये जो तुर्की के मध्यम वर्ग में बहुत फैला।

इलखानी और तैमूरी युग में साहित्य की धारा बराबर चलती रही। धीरे-धीरे मंगोलों को काव्य-कला से प्रेम हो गया और उन्होंने कवियों को आश्रय देना शुरू किया। इस युग के कवियों में क़ाआनी, इमामी, मज्दुद्दीन हमगार आदि प्रसिद्ध हैं। अबू सईद के मरने पर ईरान में जो कई राजवंश कायम हुए उनमें कवियों को आश्रय देने की होड़ लग गयी क्योंकि कवि दरबारी सजावट और शान-शौकत के निशान समझे जाते थे। ४५ वर्ष के अरसे में क़रीब १२ पहले दर्जे के कवियों ने साहित्य रचा। इनमें क़सीदे, गज़ल और मसनवी का लेखक ख्वाजू किरमानी (मृ० १३४१ ई०) व्यंग्य और कटाक्ष का विशेषज्ञ और 'अख़लाक़-अल-अशराफ' शीर्षक तात्कालिक समाज के व्यंग्यचित्र का रचयिता उबैद-ए-ज़ाक़ानी (मृ० १३७१ ई०), राजप्रशस्तियों का प्रणेता सलमान-ए-सावजी (मृ० १३७८ ई०) और फारसी साहित्य की महान् विभूति हाफिज़ शीराज़ी (मृ० १३८९ ई०) अग्रगण्य हैं। हाफिज़ का दीवान फारसी भाषा की अमर निधि है। इसके पद्यों का उन्माद और माधुर्य निराला है। इनमें वसन्त, गुलाब, बुलबुल, शराब, यौवन और आनन्द का दिव्य संगीत है। कवि 'गुल-ओ-मुल' (पुष्प और मधु) की मस्ती में झूमकर विश्व के समस्त सौन्दर्य को अपनी आँखों में समेटने को आकुल है। वह दुनिया को आवाज़ देकर कहता है:

बया ता यक इमशब तमाशा कुनेम।
चु फरदा शवद कार-ए-फरदा कुनेम॥

(आओ! एक रात मिलकर आनन्द करें, जब कल होगा तो कल का काम करेंगे।)

उसे धर्म के दिखावटी उपचारों में कोई रुचि नहीं है। वह भावों की तीव्रता पर ज़ोर देता है। अज्ञात नियति द्वारा संचालित इस संसार-चक्र में प्रेम और उन्माद ही मनुष्य के सब से अमूल्य कोश हैं। इन्हीं के द्वारा उसे चरम तत्त्व की कुछ झलक मिलती है:

दर अजल परतव-ए-हुसनत ज़ि तजल्ली दम ज़द।

इश्क़ पैदा शुद व आतिश बहमा आलम ज़द ।।

(अनन्त में तेरे सौन्दर्य की किरण ने अपने प्रकाश की साँस फूँकी तो प्रेम का जन्म हुआ और सारा विश्व उसकी आग से जलने लगा।)

ईरान के लोग हाफिज़ के दीवान को बहुत पवित्र समझते हैं। क़ुरान के बाद इसे ही पाक माना जाता है। लोग-बाग आँख मींच कर इसके पन्ने खोलकर और पद्यों पर उँगली रखकर भविष्यवाणियाँ किया करते हैं।

तैमूरी युग में राजाओं को साहित्य में और भी रुचि होने लगी। इस युग का सब से बढ़िया कवि जामी (१४१४-१४९२ ई०) है। उसने सात मसनवी और तीन दीवान लिखे। उसका 'लैला-मजनूँ' और 'यूसुफ और ज़ुलेखा' प्रसिद्ध हैं। इनके गीतों में प्रकृति-प्रेम, रवानी, ताज़गी और रोमांस है। इसके अलावा क़ासिम-अल-अनवार (ज़० १३५६ ई०) में तसव्वुफ का रंग है और किताबी नीशापुरी (मृ० १४३४ ई०) में शब्द-चातुर्य है। इस युग के साहित्य का तुर्की और भारतीय साहित्य पर काफी प्रभाव है लेकिन यह सारा साहित्य राजदरबारों और अभिजात वर्गों से सम्बन्धित है।

इलखानी युग में कला, शिल्प और स्थापत्य का भी विकास हुआ। चौदहवीं सदी में विशाल भवनों का निर्माण हुआ। इन इमारतों में सुन्दर कटनइ के काम की गचकारी मिलती है। तैमूरी युग में बाहरी तड़क-भड़क और रंगीन और फूलदार मोज़ेक का बड़ा रिवाज हुआ। इस काल की इमारतों में गुम्बजों और मीनारों की बहुतायत रहती है और द्वार, ईवान और ताख़ बहुत ऊँचे रहते हैं। तरह-तरह के भड़कीले डिज़ाइन अपनी रंगामेज़ी रमक-दमक, पेचीदगी और अक्सीरियत में बेजोड़ हैं। स्थापत्य के साथ चित्रकला भी उभरी। अरधून ने तबरीज़ के चितेरे अल-मूमीन-इब्न-शरफ-शाह की कृतियों पर स्वयं अपने दस्तख़त किये। इस चित्रकला पर बौद्ध और चीनी प्रभाव स्पष्ट है। बादलों, अज़दहों, हुमा (फिनिक्स), पानी के पौदों और उड़ती हुई चिड़ियों के चित्र चीनी शैली के हैं।

## तुर्किस्तान का चग़ताई युग

चिंगिस खाँ ने अपनी जिन्दगी में ही अपने लड़कों के उलूस (इलाके) कायम कर दिये जिससे उनमें बाद में टकराव न हो। उनके दूसरे लड़के चग़ताई के हिस्से में इस्सिक-कुल का इलाका, बलकाश नदी के पूर्व-दक्षिण में इली नदी की घाटी और चू और तलास के स्तेप आये। मोटे तौर पर पुराना क़ाराखिताई इलाका चग़ताई का राज्य बन गया। चग़ताई को मंगोल यस्साक़ में बड़ी श्रद्धा थी और मुसलमानों के मुकाबले में ईसाइयों से

ज्यादा उन्स था। मार्कोपोलो ने तो यहाँ तक लिखा है कि कुछ लोगों के मतानुसार वह ईसाई हो गया था। यह बात तो ठीक नहीं जँचती लेकिन इसमें शक नहीं है कि उसके राज्य में मुसलमान का नाम ही गाली और व्यंग्य का सूचक बन गया था, जैसा कि तबक़ात-ए-नासिरी में लिखा है।

चग़ताई के मरने पर उसके बेटों-पोतों में झगड़े खड़े हो गये जो बराबर चलते रहे। इस बीच में उन्होंने अफगानिस्तान और हिन्दुस्तान की तरफ बढ़ने की बहुत सी कोशिशें कीं। १२६७ ई० में तूवा ने पंजाब को रौंदा लेकिन अलाउद्दीन ख़ल्जी (१२६५-१३१५ ई०) ने उसे खदेड़ दिया। उसके पुत्र क़ुतलूक़ खोजा ने १२६६-१३०० ई० में दिल्ली तक मारधाड़ की। १३०३ ई० में फिर तूरगाई १,२०,००० सैनिक लेकर दिल्ली की दीवारों के बाहर तक छा गया। १३०४ ई० में फिर ४०,००० घुड़सवार पंजाब को रौंदते हुए अमरोहे और दिल्ली तक धँस आये लेकिन सेनापति तुग़लक ने उन्हें मार भगाया। मुल्तान को ज़रूर उन्होंने बर्बाद कर दिया। किन्तु ईरान और चीन के मंगोलों ने उन पर दोनों तरफ से हमले शुरू कर दिये। इससे उन्हें हिन्दुस्तान में ज्यादा कामयाबी न मिल पायी और उनके हमले विफल ही रहे।

चौदहवीं सदी के मध्य के लगभग चग़ताई राज्य दो भागों में बँट गया—वंक्षु पार का राज्य और मुग़लिस्तान यानी इस्सिककुल का इलाका। तुग़लुक तैमूर के जमाने में इन दोनों भागों की एकता फिर से कायम हुई लेकिन इसके बाद तैमूर लंग ने इस सारे प्रदेश को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

सब मंगोल राज्यों में चग़ताई का उलूस ही ऐसा था जो बहुत समय तक घुमन्तू रहा। उन्हें नगरों के स्थायी जीवन से कभी ज्यादा प्रेम नहीं रहा। अतः उनके युग में तुर्किस्तान पतन की ओर चलने लगा। खेत और खलिहान चरागाहों का रूप लेने लगे। नवम्बर १२५३ ई० में जब रुब्रुक उधर से गुजरा तो उसे उजड़े शहर और कल्लर जमीनें ही मिलीं। नागरिक जीवन की अवनति से व्यापार में भी घटी आयी। किन्तु ख़्वारज़्म, विशेषतः वहाँ की राजधानी डरगंज, व्यापार का केन्द्र रही। वहाँ एक खास किस्म का कपड़ा बनता था जिसे 'ओरगण्डी' कहते थे। हिन्दी शब्द 'आरकण्डी' इसीसे निकला है। पेगोलोत्ती ने लिखा है कि वहाँ कारखानों का बहुत बड़ा पड़ाव था और ईसाइयों की बड़ी बस्ती थी। वहाँ को होकर १३३८ ई० में वेनिस के व्यापारी गियोवन्नी, मार्को सोरांजो, मारिनो कोन्तारिनी और वाल्दोवीनो क्वैरिनी दिल्ली पहुँचे। वहाँ उन्होंने मुहम्मद-बिन-तुग़लक़ को काफी भेंट दी और बदले में उसने उन्हें २,००,००० वसेन्त भी दिये, लेकिन इस धनराशि का ज्यादातर हिस्सा कराधिकारियों को बख़्शीश देने में उड़ गया। १३६३ ई० में वेनिस के व्यापारी आँद्रिओलो दान्दोलो ने

फिर उधर को सफर किया। १३६२ ई० के करीब वहाँ शान्ति और सुरक्षा कुछ ज्यादा थी और इटली के जवाहरात और शीशे के सामान के अलावा काफी चीनी सामान भी बिकने आता था।

धर्म के मामले में चग़ताई मंगोल पुराने शमनी रस्म-रिवाज पर चलते थे। उन्होंने बौद्ध, ईसाई और बाद में इस्लाम की ओर भी झुकाव किया लेकिन वे कट्टरता के फन्दे में नहीं फँसे और उनमें काफी लोच-लचक रही।

चग़ताई का नाम पूर्वी तुर्की भाषा के साथ नत्थी हो गया है। चग़ताई कवियों ने फारसी नमूनों का अनुकरण जरूर किया, जैसा ख़्वारज़्मी के 'मुहब्बतनामे' के आधार पर लिखे गये सीदी अहमद (१४३५-१४३६ ई०) के 'तअश्शुकनामे' से जाहिर होता है, लेकिन उनकी भाषा में फारसी की अपेक्षा ज़्यादा सरलता है, उनकी विचारधारा अधिक सीधी है और उनकी रचनाएँ जीवन के ज्यादा नज़दीक हैं। तैमूर लंग के समकालीन कवि अमीर सैफुद्दीन 'सफीई' ने तुर्की और फारसी में पाँच कविताएँ लिखीं। पन्द्रहवी सदी में सक्क़ाकी, उलूग़ बेग, लुत्फी और मीर हैदर ने इस भाषा में रचनाएँ कीं। इस सदी के उत्तरार्ध में इस भाषा का सबसे श्रेष्ठ कवि मीर अली शीर (१४४०-१५०१ ई०) हुआ। उसका 'दीवान' और 'महाक़मत-अल-लुघतैन' आदि मशहूर हैं। उसकी इन रचनाओं में काफी मौलिकता है। उसका आश्रयदाता सुल्तान हुसैन (१४६९-१५०६ ई०) भी अच्छा कवि था। उसके पुत्र ग़रीबी ने भी एक 'दीवान' लिखा। जब उज़बकों ने तैमूरियों को निकाल दिया तो वे भी चग़ताई नमूनों पर डटे रहे। उनके ज़माने की रचनाओं में अबुल ग़ाज़ी बहादुर खाँ और सूफी अल्लाह यार की कृतियाँ तो अच्छी हैं, लेकिन इनके अलावा और कोई खास बात नहीं है।

## भारत की तुर्की सल्तनत

छठी सदी में 'तू-ब्यू' ने अफगानिस्तान को जीत कर सिन्धु तक धावे किये और तुर्की शाही राजवंश की स्थापना की। नवीं सदी में हिन्दू शाहियों ने उन्हें हटा दिया। दसवीं सदी में तुर्कों ने फिर, जो उस समय मुसलमान हो गये थे, हिन्दू शाहियों का अन्त किया। उनके राजा महमूद गजनवी ने भारत पर अनेक हमले किये किन्तु उसके उत्तराधिकारियों का शासन लाहौर तक ही रहा। बारहवीं सदी के अन्त में शिहाबुद्दीन गोरी ने गजनवी शासन को बिलकुल समाप्त किया और ११९२ ई० में तरावड़ी के युद्ध में पृथ्वीराज चौहान को परास्त कर उत्तरी भारत पर अधिकार कर लिया। उसके गुलाम सेनापति कुत्बुद्दीन एबक ने २४ जून १२०६ ई० को दिल्ली में तुर्की मुस्लिम सल्तनत का श्रीगणेश किया। इस परम्परा में इल्तेमश (१२११-१२३६ ई०) और गियासुद्दीन

बलबन (१२६६-१२८६ ई०) शक्तिशाली सुल्तान हुए। १२९० ई० में खल्ज़ जाति के एक तुर्क सरदार जलालुद्दीन ने सल्तनत को हथिया लिया और उसके भतीजे अलाउद्दीन (१२९६-१३१५ ई०) ने दक्षिण में प्रवेश किया और उसके सेनापति मलिक काफूर ने कोरोमण्डल के तट तक धावे किये किन्तु १३२० ई० में उसके वंश का अन्त हो गया और एक नये बने हुए मुसलमान खुसरो खाँ के नेतृत्व में हिन्दुस्तानियों ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। लेकिन कुछ ही महीने बाद तुर्की सरदारों ने गियासुद्दीन तुग़लक को अपना नेता बनाकर खुसरो खाँ को दूर किया। इस तुग़लक वंश में मुहम्मद-बिन-तुग़लक (१३२५-१३५१ ई०) प्रसिद्ध हुआ। उसने भी दक्षिण में प्रसार किया और अपने विस्तृत साम्राज्य को चौबीस सूबों में बाँटा। लेकिन उसके ज़माने में ज्यादातर खलबली रही। उसके चचेरे भाई फीरोज (१३५१-१३८८ ई०) ने कुछ शान्ति के काम किये लेकिन उसकी धार्मिक कट्टरता ने असन्तोष फैला दिया। उसके उत्तराधिकारी निकम्मे सिद्ध हुए। १३९४ से १३९७ ई० तक सुल्तान महमूद पुरानी दिल्ली में और नुसरतशाह नयी दिल्ली (फिरोजाबाद) में अपनी-अपनी हुकूमत चलाते और आपस में लड़ते-झगड़ते रहे। इस गड़बड़ में १३९८ ई० में तैमूर लंग ने दिल्ली तक मारधाड़ और लूटपाट की। इसके बाद १४५१ ई० तक सैय्यद शासकों की हुकूमत रही। इस उथल-पुथल में सल्तनत टुकड़े-टुकड़े हो गयी। बंगाल में इलियास शाह ने स्वतंत्र राज्य कायम किया। उसका वंशज हुसैन शाह (१४९३-१५१८ ई०) बड़ा प्रतापी और विद्या-पारखी था। जौनपुर में १३९८ ई० के बाद मुबारक शाह शर्क़ी ने अपनी अलग हुकूमत बनायी। उसके छोटे भाई इब्राहीम (१४००-१४४० ई०) का काफी नाम है। गुजरात में भी तैमूर के हमले के बाद मुजफ्फरशाह आजाद हो गया और उसके पोते अहमदशाह (१४११-४३ ई०) ने अहमदाबाद की नींव रखी और वहाँ अपनी राजधानी बनायी। इस वंश में महमूद शाह बेगरहा (१४५९-१५११ ई०) बहुत मशहूर हुआ। मालवे में भी तैमूर के हमले के बाद एक आजाद हुकूमत बनी और वहाँ के शासक होशंग शाह (१४०५-३२ ई०) ने माण्डू में अपनी राजधानी कायम की। दक्षिण में हसन उर्फ़ गंगू बहमनी ने १३४७ ई० में एक लम्बा-चौड़ा राज्य कायम किया। तब से १४८२ ई० तक अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक यह राज्य फला-फूला। इसमें निजाम का इलाका, बम्बई प्रेजीडेन्सी का बड़ा भाग और मद्रास प्रेजीडेन्सी के 'उत्तरी सरकार' शामिल रहे। १४८२ ई० के बाद यह राज्य बीदर की बरीदशाही, बीजापुर की आदिलशाही, अहमदनगर की निजामशाही, गोलकुण्डा की कुतबशाही और बरार की इमादशाही हुकूमतों में बँट गया। इनके दक्षिण में विजयनगर का हिन्दू राज्य था। उसके और इनके झगड़े चलते रहे। इस विघटन की अवस्था में १४५१ ई० में

बहलोल लोदी ने दिल्ली में तुर्क शासन ख़त्म कर अफगान या पठान हुकूमत कायम की। इस वंश का आखिरी राजा इब्राहीम लोदी २१ अप्रैल १५२६ ई० को पानीपत के युद्ध में मुग़ल सेनापति बाबर से लड़ता हुआ मारा गया। दिल्ली की सल्तनत का अन्त हो गया और मुग़ल बादशाहत शुरू हो गयी जिसके बारे में आगे कुछ कहा जायेगा।

सल्तनत काल के समाज को मोटे ढंग से तीन बड़े टुकड़ों में बाँटा जा सकता है—तुर्की शासक दल, भारतीय मुसलमान और भारत के गैर-मुसलमान जिन्हें उस काल में 'हिन्दू' कहने लगे थे।

तुर्की शासक दल के भी दो भाग थे 'उमरा' और 'उलमा'। 'उमरा' के तीन दर्जे थे : खान, मलिक और अमीर। 'खान' के जुलूस में ६ झण्डे और १० कोतल घोड़े चलते थे पर 'अमीर' के आगे ३ झण्डे और २ घोड़े ही चलते थे। उनके 'शुग़ल' (दरबारी ओहदे) और 'इक़्ता' (जागीरें) भी अलग-अलग श्रेणी की होती थीं। 'इक़्तादार' अपनी जागीर के प्रबन्ध में स्वतन्त्र था। वह लगान वसूल करके उससे अपना और अपनी फौज का खर्च चलाता और अपनी जागीर को ठेके पर भी उठा सकता था। इक़्ता मौरूसी या पैतृक नहीं थी लेकिन जब केन्द्रीय शासन कमजोर हो जाता तो इक़्तादारों को निकालना या बदलना आसान काम न होता। इक़्ताओं की जाँच के लिए निरीक्षक जरूर भेजे जाते थे लेकिन उनका ज्यादा असर न था और सीमावर्ती इलाकों में तो उन्हें कोई नहीं पूछता था। इन 'उमरा' की दौलत का कोई ठिकाना न था। फीरोज तुग़लक के एक सरदार मलिक शाही ने जेवर और जायदाद के अलावा ५०,००० तन्का (एक तन्का १७५ ग्रेन चाँदी का होता था, बाद में इसे रुपया कहने लगे थे) की वरासत छोड़ी; एक और व्यक्ति बशीर ने १६ करोड़ की सम्पत्ति जमा की; बाद में मियाँ मुहम्मद काला पहाड़ के पास ३०० मन सोना था। जो सरदार दरबारी ओहदों पर थे उनकी तनख्वाह बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। सद्र-ए-जहाँ और शेखुल-इस्लाम को ६०,००० तन्का सालाना मिलते थे, मन्त्रियों का वेतन ४०,००० से २०,००० तन्का सालाना तक था, सचिवालय के लोगों को १०,००० तन्का मिलते थे। आम सिपाही को २३४ तन्का दिये जाते थे और अगर वह दो-अस्प (दो घोड़े वाला) होता तो ७८ तन्का का एक और भत्ता मिलता। इन आमदनियों का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि उस जमाने में चीजों के भाव इतने कम थे कि ५ तन्का में एक परिवार और उसके साथ लगे आराम से गुजारा कर सकते थे। उस काल में चीजों के भाव इस तालिका से स्पष्ट हो जायेंगे :

| वस्तु | अलाउद्दीन | मुहम्मद तुग़लक | फीरोज तुग़लक | विवरण |
|---|---|---|---|---|
| गेहूँ | ७.५० | १२ | ८ | ये भाव जीतलों में प्रति मन के हिसाब से दिये गये हैं। एक तन्का में ६४ ताँबे के जीतल होते थे। इसलिए एक जीतल को पुराने पैसे के बराबर समझना चाहिए। |
| जौ | ४ | ८ | ४ | |
| धान | ५ | १४ | —— | |
| दाल | ५ | —— | ४ | |
| चीनी | १०० | ८० | —— | |
| गुड़ | ६० | ६४ | १२० | |
| भेड़-बकरे का मांस | १० | ६४ | —— | |
| घी | १६ | —— | १०० | |

बहलोल लोदी के वक्त बहलोली नाम का सिक्का चलाया गया। इसका मूल्य १/६४ तन्का या १.६ जीतल के बराबर था। एक बहलोली में एक घुड़सवार अपने साईस के साथ दिल्ली से आगरे तक का सफर मय खाने-पीने के खर्च के कर सकता था। इब्राहीम लोदी के जमाने में एक बहलोली में १० मन अनाज, ५ सेर तेल और १० गज मोटा कपड़ा मिल जाता था। प्रान्तों में भी चीजें काफी सस्ती थीं। इब्न बत्तूता ने बंगाल में कुछ चीजों के भाव ये लिखे हैं : मुर्गी=१ जीतल, मेण्ढा=१६ जीतल, एक मन चावल=८ जीतल, एक मन गुड़=३२ जीतल, एक मन चीनी=१ तन्का, बकरा=३ तन्का, दास=८ तन्का। मूल्यों की इन तालिकाओं को दृष्टि में रखकर यह अनुमान करना चाहिए कि हजारों-लाखों की तनख्वाहें और भत्ते और जायदादें पाने वाले लोगों की दौलत कितनी थी। लेकिन ये अफसर और अमीर खर्चीले भी पूरे थे। अमीर खुसरो के नाना के यहाँ २०० तुर्क और २,००० हिन्दी गुलाम और नौकर सिर्फ उनकी अपनी सेवा के लिए थे और ५० या ६० गुलाम तो सिर्फ सभा में पान पेश करने के लिए थे। अगर कोई सुन लेता कि किसी खान या मलिक ने ५०० आदमियों को खाना खिलाया है तो वह १,००० को निमन्त्रित करता। अगर कोई घोड़े पर निकलता हुआ २०० तन्का खैरात करता तो दूसरा ४०० तन्का बाँटने का इरादा करता। अगर कोई किसी पान-गोष्ठी में ५० घोड़े और २०० खिलअत (वस्त्रों के जोड़े) अता करता तो दूसरा १०० घोड़े और ५०० खिलअत देने की योजना बनाता। इस तरह की फिजूलखर्ची के कारण 'उमरा' हमेशा ऋण के भार से दबे रहते। वे हुण्डी-पर्चे (तमस्सुक) लिखकर सेठ-साहूकारों से, जिन्हें मुलतानी कहते थे, रुपया उधार लेते और अपने खर्चे चलाते। बड़े कर्जों पर सूद

की दर १०% सालाना थी और छोटों पर २०%। खास तौर से, जैसा इब्न बत्तूता ने लिखा है, ये मुलतानी लोगों को नजर-भेंट के लिए रुपया उधार देते और जब बदले में उन्हें सुल्तान से इनाम मिलते तो उनमें से मोटे हिस्से बाँटते।

तुर्क सरदार अपनी जातीय श्रेष्ठता के विषय में बड़े सजग थे। वे और जाति के लोगों, खास तौर से हिन्दुस्तानियों को पास तक न फटकने देते। उन्होंने चालीस आदमियों की एक जमाअत बना रखी थी जो राजकाज में पूरा दखल रखती। उनकी मर्ज़ी के बिना किसी सुल्तान का गद्दी पर आना और उसपर क़ायम रहना मुमकिन न था। बलबन के जमाने में उनका पूरा जोर था। बलबन खुले आम कहता था कि मैं "अफ़रासियाब का वंशज हूँ किसी छोटे कुल के आदमी को देखते ही मेरा खून खौलने लगता है"। उसने फख्र बाउनी जैसे देशी रईस से इसलिए मिलने से इन्कार कर दिया कि उसका वंश ऊँचा न था। अलाउद्दीन ने तुर्कों का ज़ोर घटाने के लिए कुछ देशी सरदारों को भी ऊपर उठाना शुरू किया लेकिन तुग़लकों के आते ही यह नीति बदल दी गयी। मुहम्मद-बिन-तुग़लक ने विदेशों से आदमी बुलवाकर उन्हें ओहदे देने शुरू किये। उसके राज्य में विदेशी को 'अइज्ज़' (सम्मान्य) कहा जाता था और, जैसा इब्न बत्तूता ने लिखा है, अधिकतर दरबारी, मन्त्री, सचिव, कर्मचारी, न्यायाधीश आदि विदेशी थे। हर विदेशी से—उसके लिए खुरासानी शब्द चल पड़ा था—भारत में बसने की ज़िद की जाती थी। लेकिन ये लोग लूट-खसोट और जमा-जोड़ में ज्यादा रुचि रखते थे। अतः सुल्तान को उनसे निराशा हुई और उसने कुछ पद देशी आदमियों को, जिनमें कुछ हिन्दू भी थे, देने शुरू किये, लेकिन इससे तुर्क भभक उठे और उनका रोष बर्नी के लेखों में जाहिर है।

'उमरा' के अलावा 'उलमा' की भी बड़ी इज्ज़त थी। ये ज्यादातर विदेशी, खास तौर से तुर्क, थे। मंगोलों के हमलों से मध्य एशिया से बेहद लोग भाग कर भारत आ गये थे। ये कट्टर, कठमुल्ले और पुराणपन्थी थे। इनका मत था कि मुसलमानों को शरीयत की लकीर का फकीर होना चाहिए। ये कहते थे कि सुल्तानों को ग़ैर-मुसलमानों का पूरी तरह सफाया कर देना चाहिए और अगर यह मुमकिन न हो तो उन्हें इतना जलील और तंग करना चाहिए कि वे सिर न उठा सकें और इस्लाम क़ुबूल करने पर मजबूर हो जायँ। पर सुल्तानों के लिए ऐसा करना सम्भव न था क्योंकि अधिकतर जनता हिन्दू थी जो सख्ती करने पर भी मुसलमान होने के लिए तैय्यार न थी। ये मुल्ला-मौलवी बड़े-बड़े पग्गड़ बाँधते और 'दस्तारबन्दान' कहलाते। इनमें सैयद नोकीली टोपियाँ ओढ़ते और 'कुलाहदारान' कहलाते। ये क़ुरान, हदीस, तफसीर, फिक़ह (धर्मशास्त्र), मन्तिक़ या कलाम (तर्कशास्त्र) आदि के विद्वान् होते और कभी-कभी तिब्ब

(आयुर्वेद) और गणित में भी दिलचस्पी दिखाते। उस काल की बड़ी-बड़ी शिक्षा-संस्थाएँ, जैसे दिल्ली के मुइज्ज़िया और नासिरिया मदरसे, उनके हाथ में होते। मस्जिदों, उनसे लगे मकतबों का प्रबन्ध, उक़ाफ (धार्मिक अभिप्राय से दान की हुई सम्पत्ति) की देखरेख और न्यायाधीश (क़ाज़ी) का काम भी उनके सिपुर्द होता। उनमें से कुछ तो इतने ढेठे थे कि सुल्तान इलेतमिश से उसके गुलामी से आज़ाद किये जाने का प्रमाण माँगने की हिम्मत करते, लेकिन ज्यादातर इतने दब्बू थे कि रज़िया के गद्दी पर बैठने पर चुप्पी साधे रखते या कैक़ुबाद के रोज़े न रखने या नमाज़ न पढ़ने पर आँखें मूँदे रहते। अमीर ख़ुसरो ने लिखा है कि उनमें पाखण्ड और अहंकार के सिवा कुछ न था। उसके मतानुसार उनसे साधारण घरबारी लोग हज़ार गुने बेहतर थे।

उलेमा के अलावा सैय्यद, शेख, पीर, सूफी, सन्त दूसरी दुनिया की बातें करते और अलौकिक सिद्धियों का दावा करते। लोग-बाग इनकी खानक़ाओं में गण्डे-ताबीज लेने जाते, इनके आशीर्वाद की बड़ी कद्र करते और इनके लंगरों के लिए भेंट-खैरात भेजते। इनमें से कुछ संन्यासी भी थे लेकिन ज्यादातर घरबारी थे। ये शान्तिपूर्ण पवित्र जीवन पर बहुत ज़ोर देते और अद्वैत-द्वैत की चर्चा भी करते, किन्तु शरीयत के पाबन्द होते और रोज़े-नमाज़ को बहुत ज़रूरी समझते। उनमें से कुछ, जैसे सुहरवर्दी, ठाट-बाट से रहते और कुछ, जैसे चिश्ती या शत्तारी, ग़रीबी और सादगी की जिन्दगी बिताते और बड़े आदमियों से ज्यादा वास्ता रखना पसन्द न करते। इनके अनेक सिलसिले और उनके सन्तों के अपने-अपने इलाके (विलायतें) थे। साधारण जनता में उनका बड़ा मान था।

तुर्क मुसलमानों के अलावा हिन्दुस्तान के कुछ लोग भी—खास तौर से शहरों और क़स्बों के निवासी—मुसलमान हो गये थे। चौदहवीं सदी में सैय्यद-मुहम्मद-बिन-नासिरुद्दीन-जाफर-मक्की-अल-हुसैनी ने लिखा कि लोग पाँच कारणों से मुसलमान बने; (१) मौत के डर से (२) अपने परिवारों को ग़ुलाम बनाये जाने से बचाने के लिए (३) इनाम, भत्ते, वृत्ति (मवाजिब) और लूट के माल (ग़नैम) के लोभ से (४) मुसलमानों के प्रचार के कारण और (५) अन्धविश्वास से, जैसे मुसलमानों को अपने से श्रेष्ठ और अपने शासक मानकर। किन्तु बाहर से आये हुए मुसलमान इन्हें घटिया समझते थे और अक्सर अच्छे पदों पर लगाने में हिचकते थे। यह बात कि इनमें गहराई की कमी थी और ये बहुत-कुछ नाम के ही मुसलमान थे इससे जाहिर है कि ख़ुसरो खाँ के १५ अप्रेल, १३२० ई० को दिल्ली के तख़्त पर बैठते ही गोहत्या बन्द कर दी गयी, मस्जिदों में मूर्तियाँ स्थापित की जाने लगीं और हिन्दू धार्मिक कृत्यों का बोलबाला हो गया और कुछ लोग यहाँ तक बढ़ गये कि क़ुरान को कुर्सी की जगह इस्तेमाल करने लगे।

लेकिन चूँकि मुस्लिम शासन फिर मज़बूत हो गया और ब्राह्मण लोग उन्हें अपने धर्म में दोबारा शामिल करने में हिचकते थे, इसलिए उनके सामने मुसलमान बने रहने के सिवा और कोई चारा न था। साधारण लोग—कारीगर और दस्तकार और शहरी लोग—जो शासन से सम्बन्धित होने और उससे लाभ उठाने के लिए मुसलमान हो गये थे, हिन्दुओं की तरह ही पेशेवर जातियों के रूप में अपने-अपने अलग महल्ले-टोलों में रहते और अपनी-अपनी बिरादरियों में ही रोटी-बेटी का रिश्ता रखते। उनमें पुरानी मान्यताएँ और रस्म-रिवाज काफी बने रहे, लेकिन वे अपनी उन्नति के लिए अरब और तुर्क वंशों से अपना फर्ज़ी सम्बन्ध कायम करने लगे और अक्सर कट्टरता में सब से आगे बढ़ गये।

देश की अपार जनता, खास तौर से देहात के लोग, मुसलमान नहीं बने। उनके लिए 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग चल पड़ा। उस काल के साहित्य में 'हिन्दू' शब्द से गैर-मुस्लिम भारतीय के अलावा किसान का भी बोध होता था। ये लोग देश की अर्थ-व्यवस्था के आधार थे। सब उत्पादन उन के अध्यवसाय पर निर्भर था। तुर्क शासकों और 'उमरा' की शान और समृद्धि उनके खून-पसीने का फल था। अतः इन दोनों वर्गों के हितों में मौलिक अन्तर था क्योंकि एक शोषक था तो दूसरा शोषित था। सल्तनत का राजनीतिक सिद्धान्त था कि जनता ('हिन्दू' किसान) की समृद्धि विद्रोह का कारण है और उसकी दरिद्रता शान्ति की गारण्टी है। अतः उसकी नीति उन्हें दबाकर रखने और उभरने न देने के उपायों पर आश्रित थी। अलाउद्दीन ने किसानों से उपज का आधा लगान के रूप में वसूल करने और इसके अलावा जिज़या, गृहकर, चरागाह की चुंगी आदि के रूप में शेष भाग का बहुत सा हिस्सा ले लेने का नियम बनाया और साथ ही उपज के दाम गिराकर बहुत सस्ते कर दिये। ग़यासुद्दीन तुग़लक़ का विचार था कि किसान के पास सिर्फ इतना अनाज छोड़ा जाय जिससे वह सिर्फ अपना गुज़ारा कर सके और साथ ही ज़मीन छोड़ कर भी न भागे। मुहम्मद-बिन-तुग़लक एक कदम और आगे गया। उसने लगान दसगुना और बीसगुना कर दिया। लगान के अलावा अब-वाब (अतिरिक्त कर) लगाये। घरी और चराई लागू की। इससे देहात में हाहाकार मच गया। बर्नी की 'तारीख-ए-फीरोज़शाही' की रामपुर पोथी से पता चलता है कि लोगों ने नाराज़ होकर अनाज के खलिहानों को जला डाला और मवेशियों को घर से निकाल दिया और दस-दस बीस के मण्डल बनाकर गाँव छोड़ जंगलों और तालाबों के किनारे शरण ली। देहात को खाली देखकर मुहस्सिल और बरवातदारान (लगान वसूल करने वाले) कोरे कागज़-पत्तर लिये राजधानी में मुंह लटकाये आ गये। सुल्तान आग-बगूला हो गया और लश्कर लेकर दोआब में चढ़ गया। मृतकों के खलिहान लग गये, खून की नदियाँ बह गयीं। बरन के कोट के बुर्जों पर लोगों को ज़िन्दा लटका दिया

गया। जानवरों की तरह लोगों को चुन-चुन कर मारा गया। लेकिन विद्रोह की ज्वाला बढ़ती ही गयी। गड़बड़ इतनी ज्यादा थी कि यातायात और डाक-सफर की अच्छी व्यवस्था होने पर भी अबोहर ने आगे इब्न-बत्तूता के साथियों पर हिन्दुओं ने धावा बोल दिया और दिल्ली से दक्षिण में कोल (अलीगढ़) के पास लोगों ने उसे घेर कर दबोच लिया और इत्तिफाक़ से ही उसकी जान बची। यह उपद्रव और विद्रोह बराबर चलता रहा और इससे दिल्ली के सुल्तान हमेशा परेशान और बेचैन रहे। बाबर ने अपनी 'तुज़ुक' में हिन्दुस्तान के किसानों की दर्दनाक तसवीर खींचते हुए लिखा है कि वे फटी लँगोटी बाँधते और सूखी खिचड़ी खाते और सदा एक गाँव से दूसरे गाँव, एक झोपड़ी से दूसरी झोपड़ी में जाते रहते। यदि हम इस बात पर विचार करें कि उस वक्त चीज़ों के भाव इतने कम थे कि करीब पाँच रुपये में एक पूरा कुनबा आराम से रह सकता था और अनाज, घी, चीनी और कपड़ा भुस के भाव बिकते थे और फिर भी एक ओर किसान बड़ी तंगी से पेट भरते और तन ढकते थे जबकि अमीर लोग दौलत में खेलते थे और सुल्तान के सर्दी के कपड़ों पर छः लाख तन्के खर्च होते और उसका एक-एक जूता-जोड़ा सत्तर हज़ार तन्कों का आता था, तो यह नतीजा एक दम निकाला जा सकता है कि किसान की करीब-करीब सारी पैदावार या उसका ज्यादातर हिस्सा, जबरदस्ती उससे छीन कर शासक-वर्ग के शौक़ और अय्याशी में बर्बाद किया जाता था। पन्द्रहवीं सदी में जब सल्तनत का ढाँचा हिलने लगा और इसका शीराज़ा बिखरने लगा तो दक्षिणी भारत से भक्ति-आन्दोलन की लहर उत्तर की ओर आयी और उसने जनता के सूखे और मुरझाये दिलों को कुछ तरावट दी। रामानन्द (१३७०-१४४० ई०), कबीर (१३९८-१५१८ ई०), चैतन्य (१४८५-१५३३ ई०), नानक (१४६९-१५३८ ई०), नामदेव (१४००-१४६० ई०) आदि ने शास्त्रों के घटाटोप को हटाकर सचाई, संयम, प्रेम और भक्ति का प्रचार किया, जाति-पाँति, मत-सम्प्रदाय के भेद-भाव का खण्डन किया, गृहत्याग, कृच्छ्र-साधना आदि को बेकार बताकर गृहस्थ जीवन और काम-धन्धे और व्यापार-व्यवस्था से रोटी कमाने पर जोर दिया और इस तरह लोगों का ढाढ़स बँधाया और उन्हें कुछ हौसला दिया। इस आन्दोलन के द्वारा उस काल के भयानक अत्याचार की सृजनात्मक प्रतिक्रिया प्रस्फुटित हुई।

सल्तनत काल में यदि एक ओर नृशंसता और निर्दयता मिलती है तो दूसरी ओर फ़य्याज़ी और अय्याशी दिखायी देती है। अमीर ख़ुसरो ने लिखा है कि उस काल में जब कोई नयी इमारत बनायी जाती थी तो उसे खून से धोया जाता, इसलिए अलाउद्दीन ने अपनी इमारतों के उद्घाटन पर हज़ारों बकरे जैसी दाढ़ी वाले मुग़लों का बध कराया। मुहम्मद-बिन-तुग़लक के महल के द्वार पर हत्यारे लोगों को खींच कर मारते-मारते

तंग हो जाते और लाशों का ढेर लगा रहता और तीन-तीन दिन तक वे सड़ती रहतीं। किन्तु महल के अन्दर 'हजार सुतून' हाल में लाल कन्नातों और पर्दों पर ज़री की कढ़ाई दमकती, कम्ख्वाब और जवाहरात से जड़ी खिलअतें चमकतीं और इनाम-इकराम में सोने-चाँदी की झड़ी लगती। सरकारी कारखानों में बेनज़ीर सामान बनता और गोदामों में जमा रहता। हर साल २,००,००० खिलअतें अता की जातीं और इन्हें तैय्यार करने के लिए ४,००० रेशम बुनने वाले और इतने ही ज़री का काम करने वाले लगाये जाते। दरबार में खुशामदी चापलूसों का जमघट रहता और इनमें कवि भी होते जो सुल्तान के मूड को देखकर तुकबन्दी करते। इस युग के कवियों में उबैद, बद्र-ए-छाछ और अमीर ख़ुसरो उल्लेखनीय हैं। ख़ुसरो (१२५३-१३२५ ई०) ने छः सुल्तानों का ज़माना देखा और चार क्रान्तियों के दर्शन किये। जब उनका आश्रयदाता क़त्ल कर दिया जाता और क़ातिल गद्दी पर आ जाता तो वे फौरन अपनी कविता का रुख बदल कर उसका गुणगान करने लगते। जैसे उनके क़सीदों में सचाई नहीं है वैसे ही हिन्दुओं के प्रति उनके रुख में साफदिली नहीं है। अलाउद्दीन के ज़माने में वे हिन्दुओं पर क़हर की बौछार करते हैं तो क़ुतबुद्दीन मुबारक और खुसरो खाँ के ज़माने में 'नू-सिपहर' (नव आकाश) नाम की रचना में उनकी तारीफों के पुल बाँधने लगते हैं। ख़ुसरो के नाम पर बहुत सी हिन्दी कविता भी चलती है, लेकिन इसमें से ज्यादातर सन्दिग्ध है, सिर्फ वे रचनाएँ सही मालूम होती हैं जिन्हें उन्होंने अपने दीवान की भूमिका में उद्धृत किया है। खुसरो के अलावा हसन, ज़िया नख्शाबी और ताजुद्दीन संगरेज़ा उस युग के नामी कवि हैं। मुसलमानों ने हिन्दी में प्रेमाख्यान लिखे जिनमें मलिक मुहम्मद जायसी (१४९३-१५४२ ई०) का 'पद्मावत' बहुत प्रसिद्ध है। इसे मध्यकालीन संस्कृति का दर्पण कहा जा सकता है। उस युग में हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्क से एक मिली-जुली भाषा का विकास हुआ जिसे अठारहवीं सदी में उर्दू कहा जाने लगा। दक्षिण में इसका विशेष रिवाज हुआ और बहमनी राज्य के प्रवर्तक अलाउद्दीन हसन बहमन शाह ने इसे राज भाषा बना दिया। बहाउद्दीन बाजन (मृ० १३८८ ई०) के 'खिजाना-ए-रहमत' और गेसूदराज के 'मीराज-अल-आशिक़ीन' में इसके शुरू के नमूने मिलते हैं। इस युग की अन्य-विषयक कृतियों में सदीरुद्दीन मुहम्मद औफी की 'जवामी-अल-हिकायात', मुहम्मद-बिन-मन्सूर क़ुरैशी उर्फ फख्र-ए-मुदाब्बिर की 'आदाब-अल-हर्ब-वल-शुजाअत' और ज़िया मुहम्मद का आयुर्वेद का ग्रन्थ 'मजमूआ-अल-जिअई' महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु समूचे साहित्य में कोई मौलिकता नहीं है। इतिहास के ग्रन्थ जैसे ज़ियाउद्दीन बर्नी का 'तारीख-ए-फ़ीरोजशाही' सचाई और सम्पूर्णता की दृष्टि से अनमोल है। इस काल में प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का विकास भी शुरू हुआ और भक्ति आन्दोलन से इसे काफी प्रेरणा मिली लेकिन

यह ज्यादातर धार्मिक मतवाद के साथ नत्थी रहा।

सल्तनत-काल में कला, खास तौर से स्थापत्य और संगीत, की खासी तरक्की हुई। क़ुत्बुद्दीन और अलेत्मिश ने पुराने हिन्दू मन्दिरों के मलवे से 'क़ुतुब मीनार' 'मस्जिद कुव्वत-अल-इस्लाम' आदि इमारतें बनवायीं लेकिन इनके मलवे के अलावा इनके बनाने वाले भी हिन्दू थे इसलिए इनमें हिन्दू कला के बहुत से निशान मिलते हैं। अलाउद्दीन के काल में स्थापत्य पर सलजूकी प्रभाव की झलक मिलती है। इसके नमूनों में, जैसे अलाई दरवाजा और खिज्री मस्जिद में, घोड़े के तरनाल के आकार की मेहराबें और उनकी सजावट महत्त्वपूर्ण है। तुग़लक युग की इमारतों की दीवारें मोटी, भारी और ढलुवा हैं। इसमें लाल पत्थर के ऊँचे चौखटों पर छोटे सफेद गुम्बज लगे होते हैं। लोदी युग में ढलवा दीवारों का रिवाज खत्म हो गया और भड़कीले रंगों और चमकीले टाइलों का प्रयोग बढ़ गया। बंगाल में ईंटों में ही एक-जैसे छोटे डिजाइन बनाये जाते थे और कुछ इमारतों में सफेद और नीले टाइल लगाये जाते थे। जौनपुर की इमारतों में खिल्जी नमूने की लेकिन बहुत ऊँची मेहराबों का रिवाज था। गुजरात और मालवा की इमारतों में हिन्दू शैली की पच्चीकारी का ज़ोर है। स्थापत्य के अलावा, संगीत में हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य बहुत प्रमुख है। १३७५ ई० में गुजरात के राज्यपाल मलिक शम्सुद्दीन अबू रजा ने 'ग़ुनीयत-अल-मुनीयाह' नाम का संगीत का ग्रन्थ लिखवाया जिसमें भारतीय संगीत का सुन्दर प्रतिपादन है। बीजापुर के आले आदिल शाह ने सरस्वती और गणेश के विषय में अनेक भजन लिखे। खुसरो का काम भी इस विषय में महत्त्वपूर्ण है।

## चीन का युआन युग

यह ऊपर कहा जा चुका है कि चिंगिस खाँ ने १२११ ई० में उत्तरी चीन के किन साम्राज्य के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया जिसे १२३४ ई० में उसके उत्तराधिकारी ओगोदै ने पूरा किया। इसके अगले वर्ष क़ाराकोरम की क़ुरिलताई में दक्षिणी चीन के सुङ राज्य को जीतने का फैसला किया और उसपर हमले शुरू कर दिये। ३ अप्रैल, १२७६ ई० को अन्तिम सुङ राजकुमार कुछ चीनी देशभक्तों के साथ एक जहाज में चीन से भागता हुआ केण्टन के दक्षिण-पूर्व में मारा गया। समूचे चीन पर अधिकार करने के दौरान में मंगोलों ने १२५८ ई० में कोरिया पर कब्जा कर लिया और जापान तक धावे किये हालाँकि उनमें उन्हें कामयाबी नहीं मिली। इधर दक्षिण-पूर्व में उन्होंने चम्पा, अनाम, जावा, स्याम, कम्बुज और बर्मा को रौंद डाला और दो बार लंका में और एक बार मेडागास्कर तक में अपने दूतमण्डल भेजे। इस युग में चीन के मंगोल राज्य का शासक क़ुबिलै खाँ हंगरी और पोलैण्ड तक फैले महान् मंगोल साम्राज्य का भी

क़ाग़ान था। इस प्रकार प्रशान्त से बाल्टिक तक एक अत्यन्त विस्तृत साम्राज्य का विकास हुआ।

क़ुबिलै ने चीन को अपना आवास बनाया और चीनी संस्कृति को अपनाना शुरू किया। उसका वंश चीनी वृत्तों में युवान वंश कहलाता है। इसने चीन में १३७० ई० तक राज्य किया। इसकी शासन-व्यवस्था थाङ और सुङ नमूने की थी। केन्द्रीय सरकार के दीवानी, सैनिक और निरीक्षक ये तीन अंग थे। इन तीन संस्थाओं के नीचे माल, रस्म, युद्ध, न्याय, लोक-कल्याण और लोकसेवा के छः मन्त्रालय थे। फिर देश के बारह प्रान्तों का प्रशासन था जिसे संगठित रखने के लिए उत्तर की फौजें दक्षिण में रखी जातीं और हर दूसरे साल प्रान्तीय सेनाओं की बदली की जाती। साथ ही यातायात की व्यवस्था को बहुत कारगर बनाया गया। सारे देश में डाक-पड़ावों का जाल बिछ गया। हर पड़ाव पर यात्रियों के लिए एक आवास था जिसके प्रबन्ध के लिए एक अफसर और घुड़सवार और पैदल सिपाही रहते थे। सूरज छिपने के बाद वह अपने मुन्शी को लेकर आवास में आता और यात्रियों की सूची बनवाता। एक दूसरा कर्मचारी उनके माल-मते को सम्भालता और उनके खाने आदि का इन्तज़ाम करता। रात के वक्त आवास में अन्दर से ताला डाल दिया जाता। सुबह ही फिर अफसर उनकी हाज़री लेता और उनके साथ दूसरे पड़ाव तक एक गाइड भेजता। उसे अगले पड़ाव के अफसर से उन यात्रियों की पहुँच का प्रमाणपत्र लेकर अपने पड़ाव के अफसर को देना होता, नहीं तो उनकी सलामती की ज़िम्मेदारी उसपर बनी रहती। करीब दो लाख घुड़सवार चिट्ठी-पत्री लिये हुए बराबर इन पड़ावों और सड़कों पर सफर करते। सड़कों के अलावा मंगोलों ने जहाज़रानी पर भी ज़ोर दिया। उन्होंने शान्तुङ प्रायद्वीप के समुद्री यातायात की व्यवस्था ठीक की और बड़ी नहर को पेकिङ के साथ जोड़ दिया। इस नहर के किनारे-किनारे हाङ्चू से पेकिङ तक एक ग्यारह सौ मील लम्बी सड़क बनायी गयी। इससे यह सफर चालीस दिन में पूरा किया जाने लगा। नदियों की जहाज़रानी को भी बढ़ावा दिया गया और बड़े-बड़े बन्दरगाहों पर गोदियाँ और जहाज़ बनाने के कारखाने खोले गये। मार्कोपोलो ने लिखा है कि हर साल दो लाख जहाज़ याङ-त्से-क्याङ में ऊपर आते और इससे ज्यादा नीचे जाते थे।

युवान युग में उद्योग, व्यापार, अर्थव्यवस्था और नागरिक जीवन का खूब विकास हुआ। मंगोल कारीगरों और दस्तकारों की इतनी क़द्र करते थे कि अगर कोई चीनी अपने आपको कारीगर या दस्तकार कह देता तो वे फौरन उसकी जान बख़्श देते। इन कारीगरों और दस्तकारों की तीन श्रेणियाँ थीं: (१) सरकारी कारीगर जो सरकारी कारखानों में काम करते और जिन्हें सरकार की ओर से कच्चा माल

मिलता या उसके खरीदने के लिए धन मिलता; (२) सैनिक कारीगर हथियार बनाने के कारखानों में काम करते और युद्ध में वर्क बेटेलियन में शामिल होते; और (३) अन्य स्वतन्त्र कारीगर जो अपना-अपना धन्धा करते लेकिन जिन्हें वेतन और भोजन पर सरकार को अपने काम के लिए बुलाने का हक़ होता। सरकारी कारखानों में श्रम-विभाजन चलता और प्रबन्धकों, निरीक्षकों और मिस्त्रियों की श्रेणियाँ काम करतीं। ये कारीगर गुलाम नहीं थे। वे आम लोगों की तरह रहते, जमीन खरीद-बेच सकते और बेगार से बरी होते। उन्हें निश्चित वेतन-भोजन मिलता, बीमारी में खास भत्ता मिलता और मरने पर उनके बच्चों को पेंशन दी जाती। उनके मुक़दमे सुनने के लिए अलग़ अदालतें होतीं जिनके फैसलों के खिलाफ अपीलें की जा सकतीं। उनकी संख्या करीब चार लाख थी। अकेले हाङ्चू में १६०० उस्ताद कारीगर थे जिनमें से हरेक के साथ तीन-तीन चार-चार सिखवड़ रहते थे। ये ज्यादातर कपड़ा और हथियार बनाने का काम करते थे। इन कारीगरों के अलावा गुलामों और अपराधियों से भी कारखानों में काम लिया जाता था, लेकिन दस साल काम करने पर उन्हें आजाद कर दिया जाता और पचास वर्ष की उम्र में बिना काम सरकारी भत्ता दिया जाने लगता।

स्वतन्त्र कारीगर श्रेणियों में संगठित होते। हर श्रेणी अपने सदस्यों की प्रतिद्वन्द्विता को रोकती, चीज़ों के दाम और वेतन के स्तर निश्चित करती, काम करने और आराम का समय बाँधती और चोर-डाकुओं से रक्षा का इन्तजाम करती। कुछ श्रेणियाँ मुफ्त अस्पताल चलातीं और अपनी श्मशान-भूमियों में मृतकों की अन्त्येष्टि का मुफ्त प्रबन्ध करतीं। आम तौर से हर श्रेणी का अपना अलग देवता होता और शहर की अलग गली में उनका निवास और व्यवसाय चलता। हर श्रेणी अपने अध्यक्ष और निदेशकों को खुद चुनती। हर सदस्य को निश्चित शुल्क, चन्दा आदि देना पड़ता।

कारीगरों के उत्थान और संगठन से देश की आर्थिक और औद्योगिक अवस्था में बड़ी उन्नति हुई। विभिन्न प्रदेशों और नगरों ने विभिन्न उद्योगों और वस्तुओं के विषय में विशेष ख्याति पायी। मार्कोपोलो के अनुसार पेकिङ में हर रोज रेशम की एक हज़ार गाड़ियाँ आतीं जिनसे कपड़ा और कसीदे का सामान बनाया जाता। खाइ-फोङ और सू-चेन ज़री और कम्ख्वाब के लिए नामी थे। याङ-च्यू चावल की मण्डी थी और हाङ्चू में चीनी का बहुत बड़ा बाजार था। हाङ्चू के बारे में इब्न-बत्तूता ने लिखा है कि यह पृथ्वी का सब से बड़ा नगर था। इसे घूम कर देखने ही में तीन दिन लगते थे। इसकी चहारदीवारी के भीतर छः शहर थे जिनकी अपनी अलग-अलग शहरपनाह थीं। इसी तरह पेकिङ में कई समकेन्द्रक चहारदीवारियाँ और उनके भीतर गुंजान बसे हुए शहर थे। केन्टन में एक नौ दरवाजों वाले विशाल मन्दिर के चारों ओर महल्लों और बाज़ारों

के दायरे थे। सब नगरों में शिफाखाने और कोयले से चलने वाले हम्माम थे। लेकिन श्मशान-भूमियाँ चहारदीवारी से बाहर थीं और वेश्याओं के हलके अलग थे। शहरों में हर जाति के अमीर व्यापारी रहते थे। बन्दरगाहों में 'दीवानों' के अधिकारी विदेशी व्यापारियों के ठहरने का खास इन्तजाम करते और उनके लिए गोदाम, मुद्रा-विनिमय आदि की व्यवस्था करते। त्स्वान-चू-फू (ज़ैतून) में तबरीज़ का शरफुद्दीन रहता था जिसका भारत में भी व्यापार था। केन्टन में सिंजार के औहदुद्दीन की गिनती बहुत अमीर आदमियों में थी; फूचो में मौलाना क़िवामुद्दीन अपनी विद्वता और पवित्रता के लिए प्रसिद्ध थे और हाङ्‌चू में मिस्र के उसमान-इब्न-अफ्फान ने एक बड़ा महल बनवाया था जिसके कारण इस शहर को उसमानिया कहने लगे थे। जब कोई मुसलमान बाहर से इन शहरों में आता तो ये मुस्लिम व्यापारी मिलकर उसे रुपया देते जिससे वह अपना कारोबार जारी कर सके। इन मुसलमानों की अपनी जमाअतें होतीं और वे अपने कानून के अनुसार रहते जिन्हें लागू करने के लिए शेख और काज़ी नियुक्त होते। मुसलमानों की तरह ईसाई भी चीन में काफी तादाद में बसे थे। वेनीसी और रूसी शहरों और बन्दरगाहों में तिजारत करते और अक्सर प्रशासन में भी हिस्सा लेते थे। यदि मार्को पोलो चेक्याङ के नमक के महकमे में मुलाजिम था तो १३२१ ई० में एक रूसी ने राजकीय परीक्षा में सब से ज्यादा अंक प्राप्त किये। इनके अलावा कश्मीर के बख़शी, तिब्बत के लामा और ध्यानभद्र आदि भारतीय पण्डितों का सामाजिक क्षेत्रों में बड़ा मान था। तुर्क, मंगोल और मध्य एशिया के लोग तो सत्ताधारी थे ही। जैसे विदेशों के लोग चीन में आये वैसे ही चीनी भी दूसरे देशों में जाकर बसे। तबरीज, नोवगोरोद और मास्को में चीनी मुहल्ले थे। पश्चिम की कला और संस्कृति पर उनकी गहरी छाप थी। इस प्रकार युवान युग में चीन में एक विस्तीर्ण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का उदय हुआ जिसके फ़लस्वरूप अनेक जातियों के लोग एक-दूसरे के गहरे सम्पर्क में आये।

युवान युग की सामाजिक व्यवस्था चार वर्गों पर टिकी थी: ये थे मंगोल सत्ताधारी, उनके ग़ैरचीनी लग्गू-भग्गू, उत्तरी चीन के हान और दक्षिणी चीन के लोग। मंगोल और उनके ग़ैर-चीनी सहचर अपने को चीनियों से अलग रखते। वे स्तेपी नमूने के खाल और समूर के कपड़े पहनते जबकि चीनी ढीली-ढाली सिल्की और सूती पोशाकें पहनते और नज़ाकत से छड़ियाँ लेकर चलते। वे घोड़ी का दूध, पनीर और कुमीज़ पीते जबकि चीनियों को शुरू से ही दूध और उससे बनी चीज़ों से नफरत थी। वे पानी को पवित्र समझ कर कभी न नहाते और न कपड़े धोते जिससे उनके शरीर से भयंकर दुर्गन्ध आती और चीनी यह समझ कर कि वे पेशाब मलते हैं कभी उनके पास तक न फटकते। उनमें स्त्री का दर्जा ऊँचा था और पुत्र के अभाव में पुत्री पिता की सम्पत्ति की

हक़दार होती थी, लेकिन चीनियों में ऐसा रिवाज न था। इस तरह मंगोल और चीनी लोगों के रहन-सहन में काफी फर्क था।

हालाँकि मंगोलों ने चीनी समाज के एक भाग को खुश करने के लिए कन्फ्यूशसी मन्दिरों को राजकीय संरक्षण दिया और कन्फ्यूशसी विद्वानों के कर माफ किये और क़ुबिलै ने सुङ शैली के लोक-कल्याण के मार्ग पर चलने वाले शासन को बढ़ावा दिया, पर उनके शासन में चीनियों को बहुत तकलीफ हुई और उनकी भावना को बड़ी ठेस पहुँची। दक्षिणी चीन के बौद्ध शासन के निदेशक ने सुङ काल के मक़बरे खुदवा दिये और उनमें रखे ताबूतों से बहुत सा सोना, चाँदी और जवाहरात निकलवा लिये। पश्चिमी प्रान्तों में लामा पेटियों में सोने के अक्षरों से लिखे प्रवेशपत्र बाँधे घोड़ों पर चर मुक्त रूप में घूमते थे। वे शहरों में बेरोकटोक जाकर गृहस्थों के घरों में घुस जाते औढ़े उन्हें बाहर निकाल कर उनका माल हड़प लेते और उनकी स्त्रियों से मनमानी करते। उन्हीं की तरह मुसलमान अफसर चीनी जनता को लूटते-खसोटते और उन्हें गुलाम की तरह समझते। अतः चीन में मंगोल शासन के खिलाफ व्यापक विद्रोह भभक उठा। होनान में पीली नदी के बाँधों पर काम करने वाले बेगारी बड़ी तादाद में उठ खड़े हुए। याङत्से नदी के दहाने के निचले भाग में नमक बनाने का काम करने वाले मज़दूरों ने बग़ावत कर दी। याङत्से प्रदेश के मध्य में क्रान्ति धधक उठी। लोगों ने चुन-चुन कर हर दाढ़ी वाले को मुसलमान समझ कर मारना शुरू कर दिया। बहुत से डाकुओं के गुट और गुप्त दल—इनमें से कुछ मैत्रेय बुद्ध का नाम लेकर—विद्रोह और क्रान्ति का नेतृत्व करने लगे। सुङ काल के अन्त में पश्चिमी शांतुङ प्रान्त में डकैती करने वाले सुङ च्याङ और उसके ३६ साथी, जिनकी संख्या उस वक्त १०८ मान ली गयी, देशप्रेमी, उदात्त वीर और दलित-शोषित जनता के संरक्षक मान लिये गये। उनके क़िस्से सर्वत्र प्रचलित हो गये और असंख्य लोगों को प्रेरणा देने लगे और एक विशाल साहित्य में समा गये जिसका उपबृंहित रूप 'शुइ-हू चुआन' शीर्षक उपन्यास में मिलता है जिसे श्रीमती पर्ल एस० बक ने 'आल मेन आर ब्रदर्स' (सब मनुष्य भाई-भाई हैं) नाम से अनूदित किया है। इनके पीछे 'श्वेत-कमल-दल' नामक बौद्ध संगठन के डाकुओं और लुटेरों के कथानक छिपे हैं। इस संगठन की स्थापना ११३३ ई० में किसानों के नैतिक सुधार के लिए हुई लेकिन युवान काल में इसने राष्ट्रव्यापी उपद्रव के द्वारा मंगोलों का अन्त करने का बीड़ा उठाया। मिङ वंश का संस्थापक युवान-चाङ, जो बाद में सम्राट् हुङ-वू (१३२८-१३९८ ई०) बना, शायद इस संगठन का सदस्य था। बाद में इस संगठन ने हुङ समाज का रूप धारण कर लिया जिसने मिङ और मंचू युग में काफी सरगर्मी दिखायी। इस प्रकार मंगोल शासन से तंग आकर चीनी जनता ने बग़ावत और डकैती

का बाज़ार गर्म कर दिया।

युवान युग में चीन में सब धर्मों की स्वतन्त्रता थी। ओदोरिक और मार्कोपोलो जैसे यूरोपियन पर्यटक वहाँ के सहिष्णुता और सद्भाव के वातावरण को देखकर चकित हो गये। लगभग सभी ईसाई सम्प्रदाय वहाँ पूरी आज़ादी से अपना प्रचार करते थे। सिर्फ नेस्तोरी चर्च के पच्चीस केन्द्र थे और पेकिङ में उनका आर्कबिशप रहता था। यूरोपियन राष्ट्रों से मित्रता रखने के लिए मंगोल शासक उनकी बड़ी ख़ातिर करते थे। मार्कोपोलो के अनुसार सिर्फ दक्षिणी चीन में सात लाख ईसाई थे। लेकिन मंगोलों को क्रूश (क्रॉस) से नफरत थी और वे इसे अशुभ समझते थे। अतः ईसाइयों को जलसे-जुलूसों में क्रॉस लेकर चलने की इजाज़त नहीं थी। मुसलमानों की तो व्यापार-जगत् पर बपौती थी। मिस्र और हब्श से चीन तक अरबी-मिश्रित फारसी खूब बोली और समझी जाती थी। जब मंगोल साम्राज्य की केन्द्रीय राजधानी क़ाराकोरम से पेकिङ आ गयी तो अनेक मुस्लिम व्यापारी, इंजीनियर, कारीगर, ज्योतिषी, सिपाही और ग़ुलाम चीन में जा बसे। युन्नान प्रान्त में सैय्यद अजल ने बहुत सी जल-योजनाएँ चालू कीं। लेकिन मुसलमान चीनी समाज में खप न पाये। बौद्ध धर्म तो उस काल का राजधर्म ही था। बुद्ध का नाम (चीनी में 'फो', तिब्बती में 'साक्य तुब्पा', मंगोल में 'सगमोनी बुरकान') देवत्व का सूचक था। मुहम्मद तक को 'फो' कहा जाता था। कश्मीर के दो भिक्षुओं, वातोची और नमो, ने लामा सम्प्रदाय की शुरुआत की थी जिससे टोने-टोटके बहुत ज्यादा बढ़ गये थे और शोबदेबाज़ी और चमत्कारों का जोर हो गया था। क़ुबिलै ने तिब्बती लामा फग्स-पा को सारा तिब्बत दान में दे दिया था। इस लामा ने मंगोल भाषा के लिए एक लिपि बनायी और लामा धर्मप्रभाकर शान्तिदेव के 'बोधिचर्यावतार' का मंगोल भाषान्तर किया। उस समय चीन में करीब ४२,००० विहार और मठ थे जिनमें २,१३,००० भिक्षु रहते थे। ताओ धर्म के तीन सम्प्रदाय चले और छान सम्प्रदाय को भी राज्य का आश्रय मिला। लेकिन मंगोलों ने अपना पैतृक शमन धर्म बिल्कुल नहीं छोड़ा। वे 'मोङ्के तेंग्री' (आकाश देवता) और 'नचिगाइ' (पृथ्वीमाता) के कपड़े और नमदे की मूर्तियों को पूजते रहे, हवा में और पृथ्वी पर 'क़ुमीज़' का तर्पण करते रहे और अपने अन्य उपचारों को मानते रहे। सांराश यह है कि उस युग में धार्मिक सहिष्णुता और स्वतन्त्रता होने पर अलौकिक बातों, अन्धविश्वासों, चमत्कारों और जादू-टोने-टोटकों का बोलबाला हो गया जिसने बौद्धिक और वैज्ञानिक प्रगति को रोककर मध्यकालीन मनोवृत्ति को जन्म दिया।

युवान काल में चीनी साहित्य में कुछ नयी विधाओं का रिवाज हुआ। विदेशी नमूनों पर आधारित 'चू' नामक नयी कविता लिखी जाने लगी। मनोरंजक नाटक का खूब

विकास हुआ। इसकी दो शैलियाँ थीं। उत्तरी शैली में कई अंक होते थे और दक्षिणी में केवल एक अंक। इस युग के नाटककारों में कुआन हान-चिङ (१२२४-१२६७ ई०) और वाङ शिह्-फू बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने पारिवारिक, सामाजिक और रोमान्तिक विषयों पर नाटक लिखे। उस जमाने में छोटी कहानी का भी रिवाज बढ़ा जो अगले मिङ काल में उपन्यासों में परिणत हुई।

कला के क्षेत्र में स्थापत्य और चित्रण ने बहुत तरक्की की। इब्न बत्तूता ने लिखा है कि चीनी चित्रकार अपने काम में इतने कुशल होते थे कि एक बार किसी व्यक्ति को देखते ही उसकी आकृति तैय्यार कर लेते थे और शाम तक उसकी तसवीर बना देते थे। हर विदेशी का चित्र बनाना ज़रूरी था और इससे अपराधियों की पहचान में बड़ी मदद मिलती। इस युग के प्रसिद्ध चित्रकार चाओ मेङ-फू ने प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर चित्रण किया। उसके बनाये हुए घोड़ों के चित्र बड़े रोचक हैं। लेकिन यह कला अनुकरण-प्रधान है। इसमें ज्यादा मौलिकता नहीं है।

# आठवाँ परिच्छेद

## मध्यकालीन स्तब्धता

### तुर्की और पश्चिमी एशिया का उसमानी युग

तुर्कों की एक शाखा अपने नेता उसमान (१२९९-१३२६ ई०) के नेतृत्व में एशिया खुर्द (अनातोलिया) पहुँची और उसने धीरे-धीरे एक विशाल साम्राज्य क़ायम किया। उस समय सलुजूकी राज्य जर्जर हो रहा था। पूर्व से मंगोल और पश्चिम से यूनानी इस पर आघात कर रहे थे। इस मारधाड़ में तुर्कों को बढ़ने का मौका मिल गया। पश्चिमी यूरोप से उन्होंने गोले-बारूद का प्रयोग सीखा जिससे उनकी सैनिक ताक़त बहुत बढ़ गयी और उनका साम्राज्य बहुत तेजी से फैला। सातवें उसमानी सुल्तान मुहम्मद द्वितीय फातिह (१४५१-१४८१ ई०) ने कुस्तुनतुनिया को जीत कर सारे यूरोप को भौचक्का कर दिया और उसके पौत्र सलीम प्रथम (१५१२-१५२० ई०) ने अरब और मिस्र पर कब्ज़ा करके इस्लामी जगत् में सनसनी फैला दी। सलीम के पुत्र सुलेमान (१५२०-१५६६ ई०) के काल में उसमानी साम्राज्य विकास की चरम सीमा तक पहुँचा। फारस की खाड़ी से पश्चिमी हंगरी तक और अल्जीरिया से अरब तक का विस्तृत प्रदेश इसके अधीन हो गया। इस महान् साम्राज्य का प्राशासनिक और सैनिक ढाँचा दास-प्रथा पर टिका था। आम तौर से सभी प्रधान राजकीय पद गुलामों को दिये जाते थे। युद्ध में पकड़े हुए बन्दी, बाजार में खरीदे हुए दास, स्वामियों द्वारा भेंट किये गये बालक और अपनी मर्ज़ी से उन्नति के विचार से आये हुए रंगरूट सुल्तान के गुलाम परिवार में शामिल थे। तूनिस और अल्जीरिया में बसे हुए उसमानी लोग, जिन्हें बर्बरी कोर्सेर कहते थे, पश्चिमी यूरोप में छापे मार कर असंख्य लड़के-लड़कियों को भगा लाते और तुर्की भेजते, इसी तरह क्रिम तातारी मस्कोवी और पोलैण्ड तक धावे मारते और बेशुमार लोगों को लाकर तुर्की में बेचते। चौथे-पाँचवें साल सरकारी अफसर भी प्रान्तों में जाकर ईसाई परिवारों के लड़के भर्ती करते। कभी-कभी मुसलमान भी चुपके से अपने लड़कों को ईसाइयों के घर रखकर भर्ती करा देते। इन लड़कों में से जो योग्य और प्रतिभाशाली होते वे सीधे सुल्तान या पाशा की सेवा के लिए छाँट लिये जाते। इन्हें 'इच-ओग़लान'

कहते थे। बाकी लड़के देहात में लोगों को दे दिये जाते और ज़रूरत पड़ने पर वापिस ले लिये जाते। इनका नाम 'अजम-ओग़लान' था। इन्हींमें से व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर 'जेनीसरी' चुने जाते। ये अत्यन्त अनुशासित और प्रशिक्षित सैनिक थे जो नीले रंग की वर्दी पहनते और बन्दूकों से लैस रहते थे। इनकी संख्या साधारण रूप से बारह हजार थी और ये तुर्की फौज के प्राण माने जाते थे।

गुलामों को सरकारी पदों पर नियुक्त करने से पहले बड़ी कड़ी शिक्षा-दीक्षा दी जाती थी। 'इच-ओग़लानों' को शिक्षा देने के लिए स्तम्बूल, गलाता और अद्रियानोपिल में तीन बड़ी-बड़ी संस्थाएँ थीं। वहाँ उन्हें अरबी और फारसी पढ़ायी जाती और खेल-कूद और सैनिक कृत्य सिखाये जाते। साथ ही उन्हें कोई न कोई दस्तकारी सिखायी जाती। 'अजम ओग़लान' अपने स्वामियों के पास से वापिस आने पर 'ओलाँदार' (गुटों) में बाँट दिये जाते जहाँ पढ़ना-लिखना सीखने की पूरी सुविधा थी। इस बीच में इन सबको मुसलमान बना लिया जाता।

जन्मजात प्रतिष्ठा और वरासत का सिद्धान्त इस शासन-व्यवस्था का शत्रु था। आम तौर से सुल्तान गुलाम औरतों से विवाह करते और उनकी सन्तान उनके बाद गद्दी पर बैठती। सुल्तान की लड़कियाँ भी गुलाम वजीरों और पाशाओं से ब्याही जातीं जो ऊँचे पदों पर पहुँचने पर भी 'कूल' (दास) ही कहलाते। उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम न होने से सुल्तान के मरते ही छीना-झपटी शुरू हो जाती। सगे भाइयों को ही नहीं चचा-भतीजों और चचेरे-ममेरे भाइयों को भी नये सुल्तान के अभिषेक के समय मौत के घाट उतारा जाता। उत्तराधिकार का मामला इतना पेचीदा था कि १६०३ ई० से सुल्तान के सबसे बड़े लड़के अथवा रिश्तेदार को खतरे से बचाने के लिए बन्द मकान में कड़े पहरे में रखा जाता। इससे अक्सर उनका दिमागी विकास रुक जाता। सुल्तान अब्दुल हमीद प्रथम (१७०४-१७८९ ई०) ४३ वर्ष तक बन्द रहने के कारण कुछ खब्ती सा हो गया और सुल्तान मुहम्मद पंचम रशीद (१९०८-१९१८ ई०) भी आधा पागल-सा था। इस तरह रूस के ज़ार निकोलस प्रथम के शब्दों में तुर्की का सुल्तान 'यूरोप का बीमार' बन गया।

सत्रहवीं सदी में कुछ योग्य राजनीतिज्ञों, विशेषतः कोप्रूलू वंश के कर्मचारियों ने, उसमानी राज्य के पतन को कुछ रोके रखा। उन्नीसवीं सदी में सलीम तृतीय (१७८९-१८०७ ई०), महमूद द्वितीय (१८०८-१८३९ ई०), अब्दुल मजीद (१८६१-१८७६ ई०) ने सेना, कानून और शासन में अनेक सुधार किये। अब्दुल हमीद द्वितीय (१८७६-१९०९ ई०) के काल में प्रतिक्रियावादियों का बोलबाला रहा, लेकिन मुहम्मद पंचम रशीद (१९०९-१९१५ ई०) के राज्य में सत्ता 'युवक-तुर्क-दल' के हाथ में चली गयी।

प्रथम महायुद्ध के बाद प्रेज़ीडेण्ट मुस्तफा कमाल अतातुर्क (१८८०-१९३८ ई०) ने १९२४ ई० में उसमानी खिलाफत को खत्म करके उसमानी इतिहास के रंगमंच पर पर्दा डाल दिया।

उसमानी युग में साम्राज्य प्रान्तों में बँटा हुआ था। हर प्रान्त का प्रशासक (पाशा) लगान वसूल कर उसे केन्द्र तक पहुँचाने, फौज भर्ती करने और अन्दरूनी शान्ति बनाये रखने का जिम्मेदार था। लगान वसूल करने के पट्टे लम्बरदारों को दिये जाते थे। कुल भूमि तीन भागों में बँटी हुई थी—(१) 'मीरी', जो राजकीय सम्पत्ति थी, (२) 'वक्फ़', जो धार्मिक संस्थाओं के लिए नियत थी, और (३) 'मुल्क' जो किसानों के मकानों से सटी हुई थी और उनकी सम्पत्ति मानी जाती थी। किसानों को 'रईय' (बहुवचन 'रेआया') कहते थे। इस शब्द का अर्थ 'चरागाह के पशु' है। इस तरह किसान पशु और सुल्तान उसका चरवाहा समझा जाता था। मिस्र में 'रेआया' को 'फल्लाहीन' कहते थे। उनसे लगान (खराजी मुकासम) वसूल करने वाले ठेकेदारों या जागीरदारों को 'साहिब-ए-अर्ज़' या 'मुलतज़िम' कहते थे। लेकिन उन्हें किसानों को बेदखल करने का हक़ नहीं था।

किसानों से बँधे हुए लगान (खराजी मुकासम) के अलावा गेहूँ, जौ, राई आदि पर अबवाब (उस्र) और कुछ अन्य भेंट (रुसूम) ली जाती थी। उन्हें खेतों में निश्चित मात्रा में बीज बोना पड़ता और एक साल के बाद दो साल के लिए भूमि को खाली रखना पड़ता। अगर वे ऐसा न करते तो उनका कब्ज़ा खत्म हो जाता या उन्हें जुर्माना देना पड़ता, जिसे 'फिफ्त बोज़न' या 'बोज खक्की' कहते थे। खेती का ढंग पुराना था। लकड़ी के हल-पाथों को बैल खींचते थे। पैदावार मामूली थी, कर ज़्यादा थे और किसानों की ज़िन्दगी मुसीबत और तकलीफ में ही गुज़रती थी। उनके आपसी झगड़े उन्हें सबसे ज़्यादा तबाह करते थे। शाम में 'क़ैस' और 'यमन', लबनान में 'लाल' और 'सफेद' और मिस्र में 'साद' और 'हराम' नाम के विरोधी गुट गाँव-दर-गाँव मौजूद थे और उनके फूट और फसाद से देहात की ज़िन्दगी दूभर थी। इनके अलावा बद्दू लोग अक्सर छापे मार कर लोगों का बेतहाशा नुकसान करते थे और स्थानीय सरदारों (अयान) की ज़्यादतियों का कोई ठिकाना न था।

शहर चहारदीवारी से घिरा और मुख्य बाजारों (सूक़) में बँटा होता था। रिहायशी मुहल्ले 'हारों' में विभक्त थे। प्रत्येक 'हार' के मस्जिद, गुसलखाना और बाज़ार अलग होते थे। इसका अपना निजी दरवाज़ा भी होता था। इसमें वही लोग रहते थे जो रिश्ते, पेशे या धर्म की दृष्टि से एक दूसरे से सम्बन्धित थे। हर 'हार' का अलग 'शेख' होता था। काहिरा में सब 'हारों' का एक प्रधान 'शेख' भी होता था जो नगर की सारी जनता

का नेता और प्रतिनिधि माना जाता था। दमिश्क में उसका समकक्ष 'रईस' कहलाता था।

शहर के व्यवसायी, व्यापारी और दस्तकार श्रेणियों और निगमों में संगठित थे। इन श्रेणियों और निगमों को 'ताइफ' या 'सिन्फ' कहते थे और इनके अलग-अलग मुखिया, कानून और कर होते थे। हर 'ताइफ' का मुखिया 'शेख' कहलाता था। आम तौर से वह 'हार' का शेख भी होता था। जब कभी 'हार' में कई 'ताइफ' रहते तो 'हार' का 'शेख' सुरक्षा का प्रबन्ध करता और 'ताइफ' का 'शेख' अपने धन्धे की देखभाल करता। अठारहवीं सदी में 'ताइफ' का प्रबन्ध एक समिति के हाथ में आ गया था जिसे 'इखतियारियें' कहते थे और जिसके कार्यकर्त्ता 'काख्या' और 'यिगितबशी' कहलाते थे। ये सब लोग 'ताइफ' के सदस्यों द्वारा चुने जाते थे।

दस्तकारों के 'ताइफों' या 'सिन्फों' में उस्ताद (उस्त), शिक्षित (कल्फा) और सिखवड़ (चिरक) एक कठोर मर्यादा में बन्धे हुए थे। हर 'ताइफ' की दुकानों की संख्या निश्चित थी। दुकान खोलने और चलाने के अधिकार को 'गेदिक' कहते थे। इसे बेचा या रहन किया जा सकता था। लेकिन यह उसी दशा में पैतृक था जब पुत्र पिता के समान अपने हुनर में पक्का हो। राजकोश में फीस जमा कराकर और जरूरी औजार जमा करके नयी 'गेदिक' भी हासिल की जा सकती थी। दस्तकारों 'ताइफ' द्वारा सम्मत नमूनों की वस्तुएँ ही बना सकते थे। वस्तुओं के भाव राज्य द्वारा निश्चित किये जाते थे।

जब कोई सिखवड़ काम सीख लेता तो 'ताइफ' के सब सदस्यों के सामने उसके पगड़ी बाँधी जाती थी। हर 'ताइफ' का किसी न किसी दरवेश सम्प्रदाय से सम्बन्ध था और उसका कोई न कोई पीर होता था जिसका नाम पद्य के रूप में दुकान में लिखा रहता था। पाँच-दस साल में 'ताइफ' अपना खास जलसा करता तो प्रदर्शनी का काम भी करता। वेश्याओं, फकीरों, डाकुओं, जेबकतरों और गुण्डों तक के अलग 'ताइफ', काख्या और पीर होते थे। राज्य की ओर से बाजारों, भावों, वजनों की देख-भाल की जाती थी, लेकिन 'ताइफों' का असर इतना था कि स्तम्बूल के चमारों और जीनगरों ने सुल्तान मुहम्मद फातिह को इस बात पर मजबूर कर दिया था कि पुलिस के आदमी उनके बाजारों में न घुसें। 'ताइफों' की ईमानदारी मशहूर थी।

व्यापारी काफले और कारवाँ बना कर चलते थे। देहात में इनके हफ्तेवार बाजार लगते थे। सबसे अमीर व्यापारी 'शाहबन्दर' (नगर सेठ) कहलाता था और प्रमुख व्यापारी 'अयान' (नगरपिता) होते थे। काहिरा के सराइबी और सफरकलानी परिवार अपनी धन-दौलत के लिए प्रसिद्ध थे। कालान्तर में शामी ईसाइयों और आरमीनियों का व्यापार बहुत बढ़ गया।

उसमानी राज्य का सामाजिक संगठन धार्मिक दृष्टि पर आधारित था। धार्मिक समूह को 'मिल्लत' कहते थे। इसमें धर्म और जातीयता के दोनों भाव निहित थे। दो बड़ी 'मिल्लत' इस्लाम और रूम थीं। इनके अलावा आरमीनियों और यहूदियों को भी 'मिल्लत' माना जाता था। जो लोग किसी मिल्लत में नहीं आते थे, उन्हें आरमीनियों में गिना जाता था। कैथलिकों की अलग मिल्लत न थी। प्रत्येक मिल्लत का धार्मिक नेता (मिल्लत बशी) अपने लोगों के वैयक्तिक कानूनों को चलाता था। विवाह, तलाक, वरासत, तबनियत आदि में गैर मुस्लिम मिल्लतों पर इस्लामी कानून लागू नहीं था। इससे विभिन्न जातियों और धार्मिक दलों की एक राज्य में रहने की समस्या तो कुछ सुलझी थी, किन्तु समाज अलग-थलग समूहों में बँट गया था जिससे इसकी गतिशीलता रुक गयी। बाद में साम्राज्य के यूरोपीय निवासियों को भी मिल्लत-प्रथा का लाभ मिल गया जो बाद में तुर्की की दुर्बलता का कारण बना।

इस्लामी मिल्लत मुल्ला-काजियों की परम्परा द्वारा अनुशासित थी जिसका मुखिया शेखुलइस्लाम कहलाता था। उसका दर्जा वजीरों के बराबर था और उसे सुल्तान तक के खिलाफ फतवा देने का हक़ था। उसका अपना स्टाफ और दफ्तर था। मुल्ला और उल्मा को तालीम के बारह दर्जों या जमाअतों से गुजरना पड़ता था। उन्हें लम्बे चोगे पहनने का हक़ था।

उसमानी युग में बहुत से सूफी सम्प्रदाय फले-फूले। इनमें बेक्ताशी सम्प्रयाय का विशेष महत्त्व है। इसका प्रवर्तक हाजी बेक्ताश उसमान के पुत्र के राज्यकाल में खुरासान से तुर्की आया। उसके सरल और पवित्र जीवन और करामातों का लोगों पर गहरा असर पड़ा। उसके मानने वाले आत्मा के आवागमन में विश्वास करते और चार और बारह इन दो संख्याओं को पवित्र मानते थे। उनके मुखिया की टोपी में बारह तिकोनी पट्टियाँ होती थीं उसके चारों ओर हरी पगड़ी बाँधी जाती थी। उनके गले में पत्थर का ताबीज़ बँधा रहता था। इसके अलावा वे दण्डा और फरसा रखते और सिर पर हुसैनी मुकुट बाँधते थे। ईसाइयों की तरह वे त्रिकवाद में विश्वास करते और अल्लाह-मुहम्मद-अली के त्रिक की पूजा करते। वे निश्चित समय पर मठ के मुखिया के सामने जमा होते, अपने पापों को स्वीकार करते और सामूहिक रूप से रोटी, पनीर और शराब का सेवन करते। बेक्ताशी स्त्रियाँ पर्दा नहीं करती थीं। इस सम्प्रदाय का जेनीसरी दल से गहरा सम्बन्ध था। बेक्ताशी सन्त जेनीसरी सैनिकों के पुरोहितों का काम करते थे। अतः जेनीसरी सैनिकों की बैठकों में बेक्ताशी सन्तों की कुटिया या मठ जरूर होता था। जेनीसरी दल के साथ उन्होंने कई विद्रोहों में भाग लिया। सैनिक शक्ति और सन्त मत का यह साहचर्य तुर्की के सामाजिक इतिहास की विलक्षण विशेषता है।

आजकल तुर्की में यह सम्प्रदाय नहीं पाया जाता लेकिन क़ाहिरा में अल-मुक़त्तम पर इसके सन्तों की खानक़ाएँ मिल जाती हैं।

उसमानी राज्य में कुछ और भी सूफी सम्प्रदाय चले। इनमें 'मलामती' हर क़िस्म के दिखावे के खिलाफ़ थे। वे शरीयत को नहीं मानते थे और अपने-अपने कामों को ठीक तरह से करना ही धर्म समझते थे। उनके सिद्धान्तों से प्रेरित होकर बारहवीं सदी में क़लन्दरों का प्रभाव बढ़ा। वे दाढ़ी-मूँछ, बाल और भौं मुण्डवाकर शरीयत का विरोध करते और झण्डे दिखाते और ढोल बजाते इधर से उधर घूमते रहते थे। पन्द्रहवीं सदी में हाज्जी बेराम ने उनकी एक नयी शाखा चलायी जिसे मेलामी कहते थे। वे अद्वैतवादी थे। इसलिए कट्टर मुसलमानों ने उनपर बड़े ज़ुल्म किये।

दरवेशों का एक सम्प्रदाय मेवलवी कहलाता था। इसका प्रवर्तक प्रसिद्ध सूफी कवि जलालुद्दीन रूमी था। इसके अनुयायी दाएँ पैर के बल चक्कर काटते थे जिससे इन्हें घिरनी आ जाये जो आध्यात्मिक विकास की साधन समझी जाती थी। इसलिए इन्हें 'नाचने वाले दरवेश' कहते थे। इनका शहरों पर बड़ा प्रभाव था और राज्य में इनकी बड़ी पूछ थी।

सीमावर्ती इलाकों के लोग सदा काफिरों से जंग और जिहाद करते रहते थे। इन्हें ग़ाज़ी कहते थे। इनके दलों और जमाअतों का नाम 'फुतूव' था। इन पर सूफियों का बड़ा प्रभाव था। वे शहरों में बस गये थे और उनका नाम 'अरवी' पड़ गया। वे अपने पीरों के सिलसिलों और तरीक़ों को मानते और उनकी खानक़ाओं और तकियों को पवित्र समझते थे।

अठारहवीं सदी तक सूफी या दरवेश सम्प्रदायों की संख्या ३६ हो गयी थी। उलमा पर भी उनका असर काफी हो गया था। वे उनकी करामातों में विश्वास करने लगे और उनकी तरह शराब, क़हवे, तम्बाकू, अफीम, हसीस आदि नशीली चीजों का प्रयोग करने लगे थे। सब जगह जादू, टोने, टोटके का रिवाज बढ़ चला था। मस्जिद और तकिये में फ़र्क़ कम रह गया था।

सोलहवीं सदी के बाद से तुर्की के मुल्ला-मौलवी बहुत कट्टर पुराणपन्थी हो चले थे। उन्होंने फारसी का पठन-पाठन इसलिए बन्द करा दिया कि उसका सम्बन्ध सूफियों से था। यहाँ तक कि तुर्की का अध्ययन-अध्यापन भी उनकी दृष्टि में अवैध था। जब सुल्तान अहमद तृतीय के एक वजीरेआज़म ने एक मदरसा बनवाकर उसमें फारसी और गणित पढ़ाने की व्यवस्था की तो उसकी हत्या करदी गयी और सुल्तान को गद्दी से उतार दिया गया। किताबों का छापना अठारहवीं सदी तक जघन्य अपराध समझा जाता था। उस समय तक ईसाइयों ने यूनानी, आरमीनी और अरबी के छापेख़ाने चला

दिये थे। यहूदियों के प्रेस भी चलने लगे थे। १७२८ ई० में स्तम्बूल में तुर्की भाषा का सब से पहला छापाखाना जारी हुआ, लेकिन मौलानाओं ने एक फतवे के द्वारा उसे केवल कोश और ऐतिहासिक और वैज्ञानिक सामग्री ही छापने की इजाज़त दी और धार्मिक पुस्तकों का छापना कुफ्र क़रार दिया। १७४५ ई० में इस छापेखाने के मालिक इब्राहीम की मृत्यु पर यह बन्द हो गया और अठारहवीं सदी के अन्त तक ठप रहा। इसमें सिर्फ १७ किताबें छपीं।

मुल्लाओं के असर से शिक्षा का क्षेत्र बहुत संकुचित होता जा रहा था। बायज़ीद द्वितीय ने एक गणितज्ञ ज्योतिषी को मदरसे का अध्यक्ष बनाया तो कुछ कठमुल्लों के इशारा पर उस पर विचार-स्वातन्त्र्य का इलज़ाम लगाकर उसे मार डाला गया। मुराद तृतीय के राज्यकाल में जब ग़लाता के तोपखाने के ऊपर पहली नक्षत्र-दर्शनशाला बनायी गयी और दूरदर्शक यन्त्र का काम देने के लिए एक ४० फुट गहरा गड्ढा बनवाया गया तो शेखुलइस्लाम ने यह फतवा देकर कि ज्योतिष-सम्बन्धी अनुसन्धान अशुभ है उस सारी इमारत को गिरवा दिया। चिकित्सा शास्त्र को छोड़ कर प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन का वहिष्कार था। इससे तंगख्याली बहुत बढ़ गयी और लोग कुए के मेढक की तरह कमनज़र हो गये। कहते हैं कि एक तुर्क महानाविक को मोल्टा पर अधिकार करने के लिए भेजा गया तो वह हफ्तों तक रोम सागर का चक्कर लगाकर आखीर में लौट कर बोला 'मालता योक़' (मालता कहीं नहीं है)। ऐसी मनोवृत्ति के लोगों का पतन निश्चित था।

शुरू में तुर्की लेखकों ने अरबी में ही साहित्य लिखा या अरबी ग्रन्थों की नकल की। सोलहवीं सदी से तुर्की में अपना साहित्य लिखा जाने लगा। तुर्की साहित्य के इतिहास को तीन भागों में बाँटा जा सकता है: (१) प्राग्रीतिकाल जो १३०१ से १५२० ई० तक रहा, (२) रीतिकाल जो १५२० से १७३० ई० तक रहा, और (३) रीतिकालोत्तर जो १७३० से १८६१ ई० तक रहा। पहले युग में अरबी-फारसी प्रभाव की प्रधानता थी। जलालुद्दीन रूमी के पुत्र सुल्तान वेलेद की रचनाएँ, आशिक़ पाशा का दीवान, ग़ाज़ी फाज़िल की गेलीपोली की विजय की कथा, मज़िनी ओग़लू का मुहम्मद का जीवन चरित्र, शेख़ज़ादा की चालीस वज़ीरों की कथा इस युग की प्रमुख कृतियाँ हैं। दूसरे युग के प्रमुख कवियों में फुज़ूली (मृ १५५६ ई०) ने आज़रबाइजानी बोली में कविताएँ लिखीं। उसके प्रेम गीतों में ताज़गी है। सुलेमान के मरसिए, नेफी के क़सीदे और नाबी की उपदेशात्मक गज़लें इस युग की प्रसिद्ध देन हैं। अहमद नदीम (मृत्यु १७३० ई०) ने भडकीली भाषा में अहमद तृतीय (१७०३-१७३० ई०) के क्लासिकल काल की रंगीनियों और शौकीनियों का चित्रण किया। इस युग में कन्द पुष्प का रिवाज इतना

बढ़ गया था कि एक-एक फूल हज़ारों रुपये में बिकता था। १५५४ ई० में वियना में इसे पसन्द किया जाने लगा था और १५६१ ई० तक यह नीदरलैंड्स में पहुँच कर सारे यूरोप में मशहूर हो गया था। नदीम के काव्य में इसके अनेक गीत गाये गये हैं। वैज्ञानिक साहित्य के क्षेत्र में हाज्जी ख़लीफा (मृ० १६५८ ई०) का 'कश्फ़-अल-जुनून-अन-अल-असामी-वल-फुनून' शीर्षक अरबी साहित्य का वृहत सूचीपत्र प्रसिद्ध है। भाषा शास्त्र, इतिहास, सन्तचरित आदि पर भी इस काल में कुछ अच्छे ग्रन्थ लिखे गये। तीसरे रीतिकालोत्तर युग का श्रीगणेश बेलीग, हिशमत, सुनबुलीज़ाद बेहलवी, नेशत और शेख ग़ालिब की रचनाओं से होता है। ग़ालिब का 'हुस्न-ओ-इश्क़' अनन्त सौन्दर्य और कोमलता का भंडार है। १८५६ ई० में इब्राहीम शिनासी ने फ्रांसीसी कवियों की रचनाओं का अनुवाद-संग्रह प्रकाशित किया और १८६० ई० में तुर्की भाषा में एक ग़ैर सरकारी समाचारपत्र छापना शुरू किया। उसके शिष्य नामिक कमाल (१८२६-१८७१ ई०) ने फ्रांसीसी लेखकों और विचारकों की धारणाओं का और अधिक प्रचार और प्रसार किया। अहमद वेफीक़ पाशा ने मोलिएर के नाटकों का स्थानीय दृश्यों और मान्यताओं की पृष्ठभूमि में सुन्दर रूपान्तर प्रस्तुत किया। यूसुफ कमाल पाशा ने भी फ्रांसीसी से अनुवाद किये और अहमद मिज़त ने तुर्की जीवन को लेकर कहानियाँ लिखीं। इन लेखकों की रचनाओं के फलस्वरूप १६०८ ई० में तुर्की साहित्य में नवीन प्रवृत्तियाँ आरम्भ हुईं।

तुर्की स्थापत्य पर बाइज़ेन्ताइन और फ़ारसी कला का गहरा प्रभाव पड़ा। फारस से कला और संस्कृति की लहरें निरन्तर तुर्की तक जाती रहती थीं और वहाँ के समाज को जीवन देती रहती थीं। १५१४ ई० में भी सुल्तान सलीम ने शाह इस्माईल सफवी को हराने के बाद तबरीज़ से सात सौ दस्तकारों और कारीगरों के परिवार तुर्की भेजे। किन्तु सफवी युग में ईरानी संस्कृति के स्रोत के सूख जाने से तुर्की का सामाजिक जीवन भी नीरस हो गया।

सुलेमान के स्थपति सीनान ने क़ुस्तुनतुनिया में अनेक महल और मस्जिदें बनवायीं। इनमें सुलेमानिया और सलीमिया मस्जिदें मशहूर हैं। इनमें फारसी शैली का मोज़ेक और सलजूकी ढंग के टाइलों की सजावट लुभावनी है। इनकी गुम्बजों की कतारें और नोकीली मीनारें भी बेजोड़ हैं।

## ईरान के सफवी, अफशारी और काज़ारी युग

लगभग ८५० वर्ष के अरब, तुर्क और मंगोल आधिपत्य के बाद सोलहवीं सदी में फिर से ईरान में सफवी नाम के स्थानीय राजवंश का शासन कायम हुआ। इस वंश

का प्रवर्तक अर्दबील-निवासी शेख सफीउद्दीन (१२५२-१३३४ ई०) अपने युग का प्रसिद्ध सूफी सन्त था और उसके वंशज एक प्रसिद्ध दरवेश-दल के पीर थे जो ईरान से तुर्की तक फैला हुआ था। उसका पौत्र ख़्वाजा अली कट्टर शिया हो गया था और ख़्वाजा अली के पौत्र शेख जुनैद (१४४७-१४५६ ई०) ने दस हज़ार सूफियों की फौज तैय्यार करके शीखानशाह से युद्ध किया। उसके पुत्र शेख हैदर (१४५६-१४८८ ई०) ने अपने अनुयायियों को बारह पट्टियों की लाल टोपी पहनने का आदेश दिया जिससे वे 'किज़िल-बाश' (लाल सिर वाले) कहलाने लगे। वह भी शीखानशाह के साथ युद्ध करता हुआ मारा गया। उसके पुत्र इस्माईल ने सफवी राजवंश की नींव रखी। यह ताज्जुब की बात है कि शान्तिप्रिय सूफी भी उस वक्त इतने जंगजू हो गये। लगता है उस समय की भयंकर अव्यवस्था और गड़बड़ी ने उन्हें ऐसा करने पर मजबूर कर दिया।

शाह इस्माईल सफवी (१४८६-१५२४ ई०) के वंशजों ने ईरान पर १७२२ ई० तक राज्य किया। वे कट्टर शिया थे और सुन्नियों की हस्ती को बिलकुल मिटाना चाहते थे। इसलिए तुर्की के उसमानी सुल्तानों और पूर्व में उजबकों से उनके बराबर युद्ध चलते रहे। उनके बाद अफगान लोगों ने ईरान को जीत लिया। १७२३ ई० में उनका नेता मीर महमूद गद्दी पर बैठा किन्तु उसके चचेरे भाई अशरफ ने उसे मार डाला और १७२५ से १७३० ई० तक खुद राज्य किया। १७३१ ई० में अफशार जाति के ऊँट चलाने वाले एक लुटेरे नादिर क़ुली ने अशरफ को हराया और १७३६ में नादिरशाह के नाम से खुद गद्दी सँभाली। उसने अफगानिस्तान को फतेह कर दिल्ली पर धावा किया और सारे उजबक प्रदेश और ईराक़ को अपने राज्य में मिलाया। किन्तु उसकी सख्ती और सुन्नी-परक नीति से देश में असन्तोष फैल गया। १७४७ ई० में उसकी हत्या के बाद ईरान में भयानक गड़बड़ मची। अहमद शाह अब्दाली के नेतृत्व में अफगानिस्तान आज़ाद हो गया। करीम खाँ ज़न्द (१७५०-७६ ई०) ने शीराज़ में स्वतन्त्र राज्य क़ायम किया, लेकिन १७६६ ई० में काजारों के नेता आक़ा मुहम्मद ने उसके वंशज लुत्फ अली खाँ को हराकर ईरान में काजारी राज्य चलाया जो १६२५ तक रहा। इस जमाने में ईरान में यूरोपीय प्रभाव पड़ा और आधुनिकता का श्रीगणेश हुआ।

ईरान का सामाजिक ढाँचा पुराने ज़माने से जैसे का तैसा चला आ रहा था। सफवी युग में 'लताइफ-अल-ज़राइफ' के लेखक अली-बिन-हुसैन-बिन-अल-वाइज़-अल-काशिफी ने लिखा है कि पैग़म्बर और इमामों के बाद क्रमशः राजवंश के लोग, अमीर, वजीर, और राजकीय कर्मचारी, क़ातिब (लिपिक), वैय्याकरण, व्याख्याता, शेख, उलमा और दार्शनिकों का दर्जा आता था। जमींदारों का एक वर्ग 'दिहक़ान' कहलाता था इनमें से कुछ खुद खेती करते और ज्यादातर किसानों को अपने नीचे रखते। उनमें

से प्रमुख सरदारों से लगाकर गाँव के मुखिया तक होते। ये गाँव का इन्तज़ाम करते और लगान वसूल करने की दलाली भी करते। इनके ऊपर राज्य की ओर से अफसर नियुक्त होते जिनकी पदवी 'ख़ान' थी। इनके ज़िम्मे लगान की एक निश्चित राशि खजाने में पहुँचाना था। वे एक किस्म के ठेकेदार-से हो गये थे। उनके ऊपर सूबेदार होते थे, जिनकी पदवी 'सुल्तान' थी। वे शाह की मन्त्रि-परिषद् के सदस्य होते थे। उनसे बड़ा 'वजीर' होता था।

सैद्धान्तिक दृष्टि से सब भूमि शाह की सम्पत्ति (मुल्की शाही) थी, लेकिन, असल में, वह लोगों की वैयक्तिक सम्पत्ति (अरबाबी) थी। इसका प्रमाण यह है कि शाह की तरह और लोग भी अपनी ज़मीन को 'वक्फ़' कर सकते थे। शाह तहमास्य ने उपज और चरागाह के मूल्य का १/६ लगान लेना शुरू किया और पशुओं और भेड़ बकरियों पर भी कर लगाया। घुमन्तू लोगों के दल 'जुम्म' कहलाते थे। उनके इलाके निर्धारित होते थे। इन्हें 'नाहिय' कहते थे। प्रत्येक 'नाहिय' के क़स्बों और गाँवों पर 'जुम्म' के सरदार का अधिकार होता था। वही लगान और चुंगी वसूल करके शाही खजाने में जमा करता था।

शहरों और क़स्बों के लोग खुद अपने प्रशासक चुनते, कचहरियाँ कायम करते और बाज़ारों के लिए नियम बनाते थे। वहाँ का समाज श्रेणियों और दलों में बँटा हुआ था। हर श्रेणी का अलग मुहल्ला या बाज़ार था। उसका अफसर 'रईस' या 'शहना' कहलाता था।

सफवी युग में राज्य का कुछ भाग शाह और उसके पुत्रों के सीधे शासन में था और बाकी ५० प्रदेशों में बँटा हुआ था जिसके प्रशासकों में से हरेक को ५०० से ३,००० तक घुड़सवार रखने पड़ते थे। यह प्रशासन सलजूक़ी युग के 'इक़्ता-अत्-तमलीक' (प्राशासनिक इक़्ता) से मिलता-जुलता था, लेकिन इसमें और उसमें फर्क यह था कि इसमें शाही देखरेख कुछ ज्यादा थी। शाह की ओर से तीन अफसर—जानशीन, वज़ीर और वाक़ियानवीस—प्रशासकों के साथ रहते थे। कभी-कभी शाह प्रादेशिक शासनों को खत्म करके सारे इलाके को 'खालसा' क़रार दे देता था।

सफवी युग में जागीरदारी ने नया रूप लिया। शाह अब्बास ने जब क़बीला-शाही सेना की जगह वैतनिक सेना बनायी और उसके वेतन की व्यवस्था का प्रश्न आया तो शाह की निजी जायदाद (खालसा) में से सैनिकों को वेतन के रूप में जागीरें और ज़मीनें दी गयीं। अक्सर जागीरें सैनिकों के समूहों को इकट्ठी दी जाती थीं और वे फिर उसे आपस में बाँट लेते थे। इन जागीरों को 'तुयुल' कहते थे। पैतृक पट्टे 'सोयुर-ग़ाल' कहलाते थे।

सफवी युग में एक खास बात यह हुई कि धार्मिक पेशे के लोग, मुल्ला, क़ाज़ी और मुजतहिद, ज़मींदार बन गये। इनमें से कुछ को लम्बे-चौड़े 'सोयूरग़ाल' मिल गये और कुछ बड़े-बड़े वक्फों के मुतवल्ली हो गये। इसका एक नतीजा यह हुआ कि धर्म और जमींदारी का नाता जुड़ गया। धर्म के नेता ज़मींदारी की हिमायत करने लगे। साधारण लोगों को उनसे यदा-कदा जो इन्साफ की उम्मीद रहती वह भी ख़त्म हो गयी।

सफवी युग में किसानों की हालत कुछ सुधरी। वे अच्छे जूते और कपड़े पहनते, चांदी के ज़ेवर क़रीब-क़रीब सब के पास होते, कुछ सोने तक के ज़ेवर बनवा लेते, उनके घरों में अच्छे सामान और बरतन होते, लेकिन वे अफसरों की सख्ती और सामन्तों और ज़मींदारों की धोखा-धड़ी से लाचार थे। फसल के बँटवारे के वक्त अक्सर उन्हें नुक़सान उठाना पड़ता।

नादिर शाह ने बहुत से 'तुयुल' और 'सोयूरग़ाल' (जागीर और पट्‌टे) ख़त्म किये और वक्फों की जायदादें ज़ब्त कीं और फौज को ज़मीनों के बजाय नक़द तनख्वाह देने की व्यवस्था की और जमीनों की नापतौल कराकर उनका नक़द लगान कायम किया लेकिन संग्रामों में जो सख्ती हुई उससे किसानों की क़मर टूट गयी।

काजार वंश के आगमन से फिर यह नीति बदल गयी। आक़ा मुहम्मद तो सैनिकों और कर्मचारियों को नकद तनख्वाह देने के कुछ पक्ष में था लेकिन उसके उत्तराधिकारियों ने इस नीति को छोड़ कर हर किस्म के सैनिक और प्राशासनिक कर्मचारी को तनख्वाह के एवज में जायदादें और जमीनें देना शुरू कर दिया। वे फारस को अपना देश नहीं समझते थे बल्कि अपनी जायदाद मानते थे जिसे पट्टे पर दें और ज्यादा से ज्यादा फायदा उठायें। इसलिए किसानों की हालत बेहद खराब थी। फ्रेजर ने उनकी दर्दनाक तसवीर खींची है। शाह और उसके प्रान्तीय प्रशासक और कबीलों के सरदारों की फौजों के सिपाही, जिन्हें 'गुलाम' कहते थे, किसानों पर बेहद जुल्म ढाते थे। फ्रेजर ने लिखा है : "गुलाम देश के आतंक हैं। वे इच्छानुसार घूमते हैं और अपने स्वामी के नाम पर अनेक बहाने बनाकर सामान, असबाब, घोड़े, मकान, उसमें रहने वाले स्त्री-पुरुष, जो चाहें, माँग लेते हैं। जरा सी भी हुज्जत करने पर उनका जवाब बन्दूकों के दस्तों या दण्डों की मार होता है। क़िसी की हिम्मत नहीं जो उनकी बात न माने। उन्हें रोकने का तो सवाल ही नहीं उठता। यदि कोई ऐसा करे तो उसे घसीट कर राजा के पास लाया जाता है जहाँ उसे कठोर दण्ड भुगतना पड़ता है।" अतः फतेह अली शाह की मृत्यु के कुछ पहले और बाद तेहरान और कज़वीन के बीच का सारा इलाका लूट-खसोट के कारण रेगिस्तान बन गया। जागीरदार और जमींदार अपनी जागीरों को निजी सम्पत्ति समझते और सरकारी

अफसर अपने व अपने महकमों के लिए किसानों से लगान के अलावा कर लेते जिससे 'तफाउत-ए-अमल' कहते थे। कुम्भ के निकट शम्साबाद में लगान अगर ६०० तूमान था तो 'तफाउत-ए-अमल' २६५०। भेंट-पूजा और रिश्वत (सूरसात) इससे अलग थी। और राज्य की ओर से विशेष माँगों (सादिरात) का तो कोई ठिकाना न था। इसलिए इस सदी के शुरू तक की हालत के बारे में अब्दुर्रहीम काशानी की १६०५-६ ई० की एक रिपोर्ट का हवाला देते हुए सरदार असद ने अपनी 'तारीख-ए-बख्तियारी' में लिखा है कि अगर कोई बख्तियारी किसी मुसाफिर तक को आता देख लेता तो वह यह समझ कर कि वह कहीं शाही दीवान का अफसर, या खान का हलकारा, या 'जाबितेहुकमराँ' का मुहास्सिल न हो, भाग कर छिप जाता। काशानी ने पुले इमारत और मलामीर के इलाके का दौरा करते हुए लोगों से पूछा कि वे सब्जी क्यों नहीं उगाते, तो एक बूढ़े ने जवाब दिया :

"आप जो कहते हैं सच है बशर्ते कि हम आजाद हों। मुझे इससे क्या फायदा है कि मैं अपनी जान खपाऊँ और मेहनत करूँ और उसका सारा फल हाकिम या जाबित आकर हथिया ले। और फिर, अगर मैं एक बार परिश्रम करके यह करूँ भी, तो यह मेरे परिवार पर हमेशा के लिए बोझ बन जाये। हर साल जाबित और हाकिम इतना ही मुझसे और उनसे माँगने लगें।"

इससे साफ जाहिर है कि काजारी युग में लोगों का हौसला, उमंग, चाह, सब कुछ खत्म हो गया।

सफवी शाह इस्माईल ने शिया मत को ईरान का राष्ट्रीय धर्म घोषित किया और सुन्नियों के विरुद्ध जिहाद बोल दी और प्रथम तीन खलीफाओं—अबू बक्र, उमर और उसमान—को, जो सुन्नियों की दृष्टि में परमपूज्य हैं, सार्वजनिक रूप से गाली देना, सबके लिए आवश्यक घोषित कर दिया। जब मस्जिदों और मदरसों में खुले आम इन खलीफाओं को कोसा जाता, तो सब सुनने वालों को कहना पड़ता, "बेश बाद कम मबाद"। यदि वे हुज्जत करते तो उनका सिर कलम कर दिया जाता। काज़रून के सुन्नी मौलवियों को मौत के घाट उतारा गया और उनके बुजुर्गों की कब्रें खुदवायी गयीं। सुन्नी ही नहीं सूफी और दरवेश भी, और बाद में बाबी और बहाई भी, इस दमन-नीति के शिकार हुए। सूफी खानक़ाओं को इस निर्दयता से खत्म किया गया कि आज ईरान में एक छोर से दूसरे छोर तक उनका नामोनिशान तक नहीं मिलता। इससे काव्य और साहित्य का ह्रास हो गया और समाज में खुश्की और नीरसता आ गयी और धार्मिक कट्टरता से दिल और दिमाग के खिड़की और दरवाजे बन्द हो गये।

उन्नीसवीं सदी में समाज की बेचैनी बाबी और बहाई आन्दोलनों में प्रकट हुई।

२३ मई १८४४ ई० को सैयद अली मुहम्मद ने अपने आपको बारहवें इमाम मेंहदी का 'बाब' (द्वार) घोषित किया। कुछ समय बाद वे अपने को 'नुक्ता-ए-आला' (महत्तम बिन्दु), 'नुक्ता-ए-बयान' (वाक्शक्ति का केन्द्र) और 'क़ाइम' (उत्थापक) बतलाने लगे। धीरे-धीरे वे स्वयं भगवान् का अवतार अथवा स्वरूप होने का दावा करने लगे। वे और उनके अनुयायी स्त्री-पुरुष की समानता में विश्वास करते थे, पर्दे की प्रथा के कड़े विरोधी थे और सुन्नत और वज़ू की जरूरत नहीं समझते थे। बाबी आन्दोलन जल्दी ही जोर पकड़ गया। अनेक दलित और शोषित लोग इसमें शामिल हो गये। खास तौर से छोटे दुकानदार, छोटे दर्जे के मुल्ला-मौलवी, बनिये-बक्काल और मझले वर्ग के लोगों ने इसे जोर-शोर से अपनाया। उनके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विचार, क्रान्तिकारी थे। अतः मशद, जन्दान, तबरीज आदि इलाकों में विद्रोह फैल गया। मजन्द-रान, ज़न्दान, यज़्द, नैरीज में बाबियों ने जमकर शाही फौजों से युद्ध किये और असीम शौर्य और साहस दिखाया। मजन्दरान में उन्होंने वैयक्तिक सम्पत्ति को खत्म करने और उसका समाजीकरण करने का बीड़ा उठाया। अतः सम्पत्तिशाली वर्ग घबरा उठा और उसके सहारे पर बाब को ९ जुलाई १८५० को मार दिया गया और भयंकर दमनचक्र चलाया गया। इस वातावरण में तीन बाबियों ने १५ अगस्त १८५२ ई० को नसीरुद्दीन शाह की हत्या करने की असफल चेष्टा की। तब तो बाबियों पर कत्ल-गारत की आँधी टूट पड़ी और करीब चालीस हजार बाबी मार डाले गये। बचे-खुचे बाबी अपनी जान लेकर मिर्जा याह्या के नेतृत्व में बगदाद की ओर चले गये। १८६३ में मिर्जा याह्या के सौतेले भाई मिर्जा हुसैन ने अपने आपको 'बहाउल्लाह' (दैवी ऐश्वर्य) घोषित कर बहाई सम्प्रदाय चलाया। उन्होंने ईरान की मर्मी परम्परा को यूरोप की प्रगतिशील उदारवादी विचार धारा से समन्वित कर एक नये विश्वधर्म की नींव रखी। १८९२ में बहाउल्लाह की मृत्यु पर उनका पुत्र अब्बास एफन्दी अब्दुलबहा उनके दल का नेता बना। उसने इस धर्म को आधुनिकता के साँचे में ढालकर सार्वजनिक परोपकारिता, मानव-प्रेम, लोक-मंगल और विश्व-शान्ति का उपकरण बनाया। इसमें पुजारी, पण्डित, रस्म, रिवाज कुछ नहीं होते। प्रत्येक व्यक्ति को अपने ढंग से पूजा-उपासना करने की आजादी होती है, क्योंकि इसके अनुसार सब धर्मों में सत्य का अंश है। बहाई धर्म बहुत से देशों में पाया जाता है। नीग्रो लोग इसमें बड़ी श्रद्धा रखते हैं। किन्तु ईरान में इसका निशान तक नहीं है।

सफवी-काजारी काल में ईरानी लोग मध्यकालीन अन्धकार में डूबे रहे। इसकी गहराई का अन्दाजा इस बात से किया जा सकता है बाबी जैसे प्रबुद्ध लोग भी आधुनिक विज्ञान की रोशनी को नहीं अपना सके। १८८५ ई० में मिर्जा नईम नामक बाबी कवि

ने एक कसीदे में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विषय में लिखा——

अज़ीं उलूम सूए-इल्मे-दीने हक़ बगिराय् ।
कि ग़ैर मआरफत हक़ हमा फरेब-फो-फसून ॥
फसूने-फलसफा मशनो के सरबसर सफा अस्त ।
फ़ुनूने दहरी व क़लबी तमाम जुहल-ओ-जनून ॥
चरा जनूने - तबइयी शमरदहे - तू उलूम ।
चरा उलूमे - इलहई गिरफ्ता - ए - तू जनून ॥
मक़ाले - ईं हुकमा चीस्त जुम्लगी मशकूक ।
कलामे - ईं जहला चीस्त सरबसर मज़नून ॥
उलूमशाँ पये - दफा हया व सिद्क़ - ओ- सफा ।
फ़ुनूनशाँ पये फिस्क-ओ-फसाद व मक्र-ओ-मजून ॥
हमा अबाह-ए-अर्ज़-अस्त ओ इशतराक-ए-हज़ून ।
हमा अशा अए फिस्क़ अस्त व इमतलाए बतून ॥

[इन विज्ञानों को छोड़ कर धर्म-विद्याओं को अपनाओ, क्योंकि धर्म-विद्या के अतिरिक्त सब धोखा और दम्भ है ।

दर्शन के धोखे में मत आ, यह एक ओर से दूसरी ओर तक मूर्खता है ।
भौतिक और मानसिक विज्ञान की बातें सब मूर्खता और पागलपन है ।
तू क्यों प्रकृतिकोविदों की गल्प को सच्ची विद्याएँ समझता है ?
और क्यों दैवी विद्याओं को गल्प मानता है ?
इन विचारकों की बातें क्या हैं ? सब सन्देहपूर्ण !
इन अनभिज्ञ लोगों के वचन क्या हैं ? सब अनुमानाश्रित ।
इनकी विद्याएँ मर्यादा, सत्य और आर्जव का नाश करने वाली हैं ।
इनकी कलाएँ पाप, उत्पात, प्रतारणा और अभिमान को बढ़ावा देती हैं ।
वे पृथ्वी का समाजीकरण और सम्पत्ति का साम्यीकरण चाहते हैं ।
उनका लक्ष्य पाप की वृद्धि करना और अपने पेट भरना है ।]

इन पंक्तियों से पता चलता है कि किस तरह उन्नीसवीं सदी तक ईरानी जनता वैज्ञानिक उन्नति और सामाजिक विकास से उदासीन होकर धार्मिक संकीर्णता और साम्प्रदायिक कूपमण्डूकता के अँधेरे में डूबी हुई थी । लेकिन यूरोप के प्रभाव से कुछ रोशनी की किरणें फूटने लगी थीं । चर्च मिशनरी सोसायटी ने नये ढंग के स्कूल जारी किये । १८७३ ई० में तेहरान में अमरीकन लोगों ने एक पाठशाला खोली जो १९२५ ई० में अमरीकन कॉलेज बन गयी । १८१० ई० में सबसे पहला ईरानी विद्यार्थी चिकित्सा

शास्त्र पढ़ने के लिए विदेश गया। १८५१ ई० में नसीरुद्दीन के योग्य मन्त्री मिर्जा तक़ी खाँ अमीरेकबीर ने दारूलफुनून स्थापित किया जिसमें सैनिक शिक्षा के अलावा चिकित्सा, भूगोल, रसायन, यन्त्रशास्त्र और विदेशी भाषाएँ पढ़ायी जाती थीं। १८१६ ई० के करीब अब्बास मिर्जा ने तबरीज में सबसे पहला छापाखाना खोला और १८३७ ई० में मिर्जा सालेह ने सबसे पहला फारसी का पत्र जारी किया। मिर्जा मलकूम खाँ (१८३८-१६०८ ई०) ने यूरोपियन संस्कृति को अपनाने की सिफारिश की और 'किताबचा-ए-ग़ैबी' नाम की अपनी पुस्तक में पश्चिमी ढंग के संविधान की रूपरेखा अंकित की। इन प्रवृत्तियों का पूर्ण परिपाक बीसवीं सदी में हुआ।

सफवी युग साहित्य-जगत् की मरुभूमि है। जहाँ कि ऊपर कहा जा चुका है शिया धर्मान्धता के कारण सफवी सम्राटों ने कवियों का बहिष्कार-सा कर दिया। अतः उस युग के कवि—फिग़ानी (मृ० १५१६ ई०), फैजी (मृ० १५६५ ई०), उर्फी (मृ० १५६० ई०), नज़ीरी (मृ० १६१२ ई०), तालिब-ए-आमुली (मृ० १६२६ ई०), साइब (मृ० १६६६ ई०) और अबू तालिब कलीम—ईरान छोड़ कर मुगल दरबार में दिल्ली आ गये। सफवी राज्य के अन्त और काज़ार वंश के शुरू तक शायद ही किसी कवि ने ईरान में कुछ लिखा हो। लेकिन काज़ार राजा फतेह अली शाह (१७६७-१८३४ ई०) ने अनेक कवियों को आश्रय दिया और खुद 'खाक़ान' उपनाम से कविता लिखी। इस युग के प्रमुख कवियों में सहाब (मृ० १८०७ ई०), मिजमर (मृ० १८१० ई०), सबा (मृ० १८२२ ई०), नशात (मृ० १८२८ ई०), विसाल (मृ० १८४६ ई०) नामी हैं। इस युग का सर्वश्रेष्ठ कवि क़ाआनी (मृ० १८५३ ई०) माधुर्य का गायक है। उसने अंग्रेजी और फ्रेंच से भी कई ग्रन्थों के अनुवाद किये। किन्तु उसकी रचनाओं में खुशामद और चापलूसी भरी पड़ी है। १६०६ ई० की क्रान्ति के बाद काव्य का लक्ष्य और स्वरूप बदला और दखव, आरिफ, सैय्यद अशरफ, बहार आदि ने नये सामाजिक और राजनीतिक विषयों को लेकर कविता की। इस काल के कवियों ने तीन बातों पर बहुत जोर दिया: (१) काज़ारशाह की अधिनायकशाही का विरोध, (२) उसके लग्गू-भग्गू मुल्ला-मौलवियों का भण्डा-फोड़, और (३) विदेशियों के शोषण और आधिपत्य की निन्दा। उन्नीसवीं सदी में मोलिएर के नाटकों के फारसी अनुवाद हुए और प्राचीन इतिहास को लेकर उपन्यास लिखे जाने लगे। शेख मूसा का उपन्यास 'इश्क़-ओ-सल्तनत' हखामनीशी सम्राट् कुरुश के वृत्तान्त से सम्बन्धित है और सनतीज़ाद की रचना 'इन्तक़ामख्वाहान-ए-मज़दक' सासानी युग का वातावरण प्रस्तुत करती है। हाज्जी जैनुल आबिदीन का 'सियाहतनामा-ए-इब्राहीम बेग' एक व्यंग्यपूर्ण यात्रा विवरण है जिसने १६०५-६ ई० की क्रान्ति पर बड़ा प्रभाव डाला।

जहाँ सफ़वी युग में साहित्य के क्षेत्र में विरक्ति रही, वहाँ अन्य कलाओं का काफी विकास हुआ। काफी मस्जिदें बनवायी गयीं जिनमें रोचक रंगामेजी, भड़कीली सजावट, दमकते चीनी के मोजेक और चिकने-चमकीले टाइलों का प्रयोग मिलता है। शाह अब्बास ने चीन से ३०० कुम्हारों को ईरान बुलवाया। इससे चीनी टाइल और बरतनों के उद्योग की बड़ी तरक्की हुई। चीनी प्रभाव के कारण टाइलों और मिट्टी के सामान पर अज़दहे, कमल और बादलों के डिजाइन बनाये जाने लगे। चित्रकला की उन्नति में बहज़ाद (१४४०-१५२४ ई०) का बड़ा हाथ है। उसने लघु-चित्रण को चरम सीमा तक पहुँचाया। उसके और उसके अनुयायियों के चित्रों में चमकदार अन्धे रंगों से सारी भूमि रंगी जाती थी। फूलों से लदे पौधे, गुलाब पर मँडराती हुई तितलियाँ और चहचहाती हुई बुलबुलें चितेरों के प्रिय विषय थे। मुलम्मे और चमकाने की कला भी बहुत चल पड़ी थी। मौलाना महमूद और यारी इस कला के उस्ताद थे। सूती, ऊनी और रेशमी कपड़ों और नमदों, गुदमों और गलीचों की दस्तकारी कमाल तक पहुँच गयी थी। इनमें बीच के पदक के चारों ओर वृक्षों, फूलों, जानवरों और कभी-कभी मनुष्यों के डिजाइन बनाये जाते थे। बाग बहार और गुलदस्ते इन कारीगरों के प्रिय विषय थे। इस कला में मीर सैय्यद अली, मुहम्मद हरवी, रिज़ाए अब्बासी आदि ने बड़ा नाम पाया।

सफवी काल की कला में तड़क-भड़क और शोबदेबाजी ज्यादा है और यह सजावट और शौक़ीनी का ही साधन है।

## भारत का मुगल युग

सोलहवीं सदी में तुर्कों और मंगोलों के एक मिश्रित दल ने जो मुग़ल कहलाने लगा था दिल्ली की सल्तनत पर अधिकार कर लिया। उनके नेता जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर ने १५१५ ई० में पंजाब पर हमले शुरू किये और २१ अप्रेल १५२६ ई० को पानीपत के मैदान में सुल्तान इब्राहीम लोदी को हराकर और १६ मार्च १५२७ ई० को खनवा की भूमि में राणा सांगा को पराजित कर उत्तरी भारत का साम्राज्य हासिल कर लिया। हालाँकि उसने बिहार और बंगाल के अफ़ग़ान शासकों को घाघरा के युद्ध में मई १५२९ ई० में करारी मार दी पर उन्होंने उसके पुत्र हुमायूँ को बहुत तंग किया और शेर शाह सूर के नेतृत्व में दिल्ली में फिर से अपने पैर जमा लिये। उधर हरियाणा के हिन्दुओं ने हेमू विक्रमादित्य के नेतृत्व में अपनी ताक़त बढ़ायी और शेरशाह के उत्तराधिकारियों से दिल्ली छीन ली। लेकिन हुमायूँ के पुत्र अकबर को ५ नवम्बर १५५६ ई० को उसके खिलाफ पानीपत के मैदान में निर्णायक विजय मिली। दिल्ली फिर से मुग़लों के हाथ आ गयी। उन्होंने सारे उत्तरी भारत और दक्षिण के बड़े भारी हिस्से पर कब्जा कर लिया।

१७०७ ई० में औरंगज़ेब की मृत्यु पर उनका साम्राज्य दोपहर के सूरज की तरह चमका लेकिन इसके बाद इस पर साँझ की वीरानी छाने लगी जो जल्दी ही रात की अँधेरी मुर्दनी में बदल गयी। अठारहवीं सदी में सिख, मराठे और जाट उठ पड़े, ईरानियों और अफगानों ने १७३६ और १७५६ में दिल्ली को लूट कर खुक कर दिया और अंग्रेजों ने २३ जून, १७५७ ई० को प्लासी के युद्ध में नवाब सिराजुद्दौला को हराकर बंगाल में अपने पैर जमा लिये। १२ अगस्त १७६५ ई० को दिल्ली के कठपुतले सम्राट् ने उन्हें बंगाल, बिहार और ओड़ीसा की दीवानी दे दी जिससे उनके फैलाव को कानूनी मान्यता मिल गयी। उन्नीसवीं सदी में उन्होंने उत्तरी भारत पर अपना सिक्का जमा लिया और रंजीत सिंह के समय सिखों ने जो सिर उठाया उसे कुचल दिया। १८५७ ई० में मुग़ल सम्राट् बहादुरशाह अनजाने बग़ावत का केन्द्र बना और दिल्ली से उसके वंश का खात्मा हो गया।

मुग़ल काल में समाज का ढाँचा बहुत कुछ सल्तनत युग जैसा रहा। फर्क इतना हुआ कि अभिजात शासक वर्ग की बनावट बदल गयी। मुग़ल और ईरानी और कुछ राजपूत ज़ोर पकड़ गये। लेकिन अधिकता विदेशियों की ही रही। अकबर के मन्सब-दारों में ७० प्रतिशत विदेशी मुसलमान, १५ प्रतिशत भारतीय मुसलमान और १५ प्रतिशत के करीब (४१५ में से ५१) हिन्दू थे। ता बर्निए ने लिखा है कि मुग़ल सम्राट् की देशी मुसलमान रियाया में से बहुत कम लोगों को अफसरी के पद दिये जाते हैं। बर्निए के अनुसार मुग़ल उमरा ज्यादातर आरामतलब और फिज़ूलखर्च थे और धन बटोरने और लुटाने में ही रुचि रखते थे। वे प्रायः शहरों में रहते, उनके कई-कई सहनों के महल-हवेली गद्दों, तकियों, पर्दों, फर्शों, पलंगों से चमकते, वे ज़री के जूते या बिना एड़ी के सलीमशाही सलीपर, चुस्त पाजामे (इज़ार) या शलवार क़बा, क़मीज़, दगला या फरग़ूल (सिमूर का लबादा) पहनते और सिर पर क़ुलाह ओढ़ते या पगड़ी बाँधते। उनकी स्त्रियाँ भी पाजामें, कुर्ते और दुपट्टे पहनतीं और कड़े, पहुँची, झुमके आदि ज़ेवरों से जगमगातीं। उनके दस्तरख्वाँ पर शर्बत, हलवा, फ़ालूदा, शकरपारा के अलावा कबाब, समूसा, पुलाव, दमपोख़्त, मछली, अचार आदि की रौनक रहती। चाय का तो रिवाज न था लेकिन क़हवा-काफी चलता और शराब तो जिन्दगी का सार ही समझी जाती। जब से बीजापुर से लौटते हुए एक राजदूत ने अकबर को एक हुक्का (चिलिम) भेंट किया तब से तम्बाकू पीने की प्रथा आम हो गयी। अफीम और भाँग काफी लोक-प्रिय थीं और पान-सुपारी और कपूर खाना-खिलाना शिष्टाचार का खास अंग माना जाता था। इन लोगों की फय्याज़ी का अन्दाज़ा अगर अब्दुर्रहीम खान-ए-खानाँ की बख़्शीशों से किया जा सकता है तो नज़ाकत का सबूत जाफर खाँ के घोड़ों के गलाब जल

से नहलाये जाने और उसके खरबूज़े की खुशबू ही से यह जाँच लेने कि इसकी बेल में मछली की खाद डाली गयी है से मिलता है। उनका शिष्टाचार लगा-बँधा, व्यवहार मँजा-सजा और बोलचाल धीमी, मीठी और लुभावनी थी। मिलने पर झुक कर सलाम करना, बोलते हुए मुँह पर रुमाल रखना, चलते हुए छड़ी के सहारे गिन-गिन कर कदम रखना और साफ-सुथरे और सजीले ढंग से रहना और दाढ़ी मुँड़वाना और मूँछें बुरकवाना संस्कृति के आवश्यक लक्षण थे। मूक-व्यवहार ही से अपने आशय को समझा देना और उसके द्वारा ही उसे समझ लेना क़ाबलियत की निशानी थी। अगर दरबार में जाते हुए किसी अमीर को किसी क़स्बे में उसके स्तर के अफसर खुद मिलने न आते बल्कि अपने प्रतिनिधि को भेजते तो वह समझ लेता कि बादशाह उससे नाराज़ है, और अगर उसके स्वागत का कोई प्रबन्ध न होता तो यह स्पष्ट था कि उसके प्रति विद्रोह का सन्देह है। सामाजिक आचार इतना रूढ़ हो गया था कि घर में तंगी होने पर भी बहुत से लोग बाहर निकल कर इसका पालन करने पर मजबूर होते। अय्याशी सब का शौक़ था। वेश्याओं का बड़ा आदर था। अठारहवीं सदी की प्रसिद्ध गणिका नूरबाई जब हाथी पर चढ़कर दिल्ली के बाज़ारों में निकलती और उसके वर्दी पहने हुए सेवक उसके पीछे चलते तो बहुतों की आँखें चुँधिया जातीं। ये अय्याश, नशीले, खुशामदी, चापलूस लेकिन मँजे और सुलझे हुए उमरा पैसे को पानी की तरह बहाते और एड़ी से चोटी तक कर्जों में डूबे रहते। कल (सुबह) उनका तकियाकलाम था। कोई बात होती या कोई काम आता तो वे उसे कल पर टालते। वक्त के साथ-साथ उनकी कितनी बेहूदगी बढ़ गयी थी इसका अन्दाज़ा उन्नीसवीं सदी के शुरू में मिर्ज़ा जहाँगीर के व्यवहार से किया जा सकता है जो हर घण्टे हौफमैन की चेरी ब्राण्डी के गिलास पीता और बीच-बीच में जब होश आता तो नाचने वाली स्त्रियों और गवैय्यों को अपने काम शुरू करने का इशारा करता, और ठेठ गर्मी में भी सिमूर से लदी नीली जाकट और लाल साटन की तातारी ढंग की पोशाक पहनता। उस जमाने के एक और शहज़ादे मिर्ज़ा बाबर को यूरोपियन ढंग के कपड़े पहनने और छः घोड़ों की बग्घी में निकलने का शौक था लेकिन वह इस बात की ज़िद करता था कि कोचमैन उससे ऊँची गद्दी पर क्यों बैठे। जब उसकी बग्घी चलती तो बराबर-बराबर एक घुड़सवार उसकी कली पकड़े चलता जिसकी लम्बी नली से वह तम्बाकू के कश लेता जाता। जीवन बख़्श कबूतरबाज़ी और पतंग उड़ाने में अपना ज्यादा समय बिताता। इस तरह मुग़ल अभिजात वर्ग निकम्मा, निठल्ला, और बेकार हो गया था।

मुग़ल काल में कुछ अमीरों की शौकीनी के कारण और कुछ विदेशी व्यापार की उन्नति के फलस्वरूप उद्योग धन्धों की बहुत तरक्की हुई। राज्य की ओर से बड़े-बड़े

शहरों में और उमरा के इलाकों में, कारखाने खोले गये जिनमें होशियार कारीगर और दस्तकार हिन्दू और मुसलमान दोनों, वेतन पर काम करते थे। बाद में यूरोपीय व्यापार-कम्पनियों ने भी अपने कारखाने जारी कर दिये थे। बहुत से कारीगर अपने घरों या दुकानों पर स्वतन्त्र रूप से अपने परिवार के लोगों या चेले-चाँटों के साथ काम करते थे। इन्हें या तो दलालों और आढ़तियों के द्वारा व्यापारियों से पेशगी रुपया मिल जाता था या ये अपना सामान अपनी मर्जी से बाजार भाव के अनुसार उन्हें बेंच देते थे। शहरों में कारीगर रोज दस से बारह घण्टे तक काम करते थे, और इनका दैनिक वेतन तीन से चार आने के बीच में था। चूँकि चीजें काफी सस्ती थीं–१६०० ई० में गेहूँ एक रुपये का दो मन दस सेर, चना तीन मन दस सेर, चावल एक मन चौदह सेर, घी दस सेर पाँच छँटाक, तेल तेरह सेर के करीब, शकर उन्नीस सेर और नमक सड़सठ सेर थे। और १७२६ ई० में गेहूँ एक रुपये का तीन मन ग्यारह सेर, चना चार मन ग्यारह सेर, चावल तीन मन तैंतीस सेर, घी करीब नौ सेर, तेल इक्कीस सेर मिलने लगे थे—इसलिए उनका गुजारा आराम से हो जाता था। उनमें जाति, व्यवसाय और निगम या श्रेणी (गिल्ड) मिलकर एक हो गये थे। हर जाति या व्यवसाय या निगम की पंचायत और मुखिया और दलाल होता था। शहर के कोतवाल को इन्हें नियुक्त करने का अधिकार था। उनके द्वारा वह उनके काम-धन्धे और भाव आदि की देखभाल रखता था। कभी-कभी वह अपनी मर्जी से चीजों के भाव तय करता जिससे काफी बेचैनी फैलती। बड़ौदा के सूबेदार ने जुलाहों को सस्ते भाव पर कपड़ा बेचने पर मजबूर किया और उनके एतराज पर उन्हें जेल में ठूँसा तो वे बिस्तर-बोरिया बाँधकर अहमदाबाद की ओर कूच कर गये और सूबेदार को खुशामद करके उन्हें वापस बुलाना पड़ा। लेकिन, जैसा बर्निए ने लिखा है, आम तौर से अमीर-उमरा उनसे डंडे और कोड़े के ज़ोर से काम लेते और उन्हें मन-माना वेतन देते थे। देहात में कारीगर—जिन्हें कमीन कहते थे—फसलाना अनाज पर काम करते और अपने छोटे-मोटे खेत-क्यार में मामूली खेती-बारी करते थे।

व्यापार की उन्नति से बंजारे, दुकानदार, सर्राफ, साहूकार, आढ़ती, व्यापारी आदि बहुत बढ़ गये। विशेष रूप से अग्रवाल, ओसवाल, पोरवार, श्रीमाल, माहेश्वरी, विजयवर्गी, सरावगी आदि मारवाड़ के लोग, गुजराती, पारसी, खोजा और बोहरा वगैरा पश्चिमी भारत के व्यापारी, चेट्टी और सेरकैल आदि दक्षिणी भारत के सौदागर और बंगाल के सुवर्णवणिक् सारे देश की अर्थ-व्यवस्था पर छा गये। इनमें अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध और गतिशीलता भी काफी थी। यदि बनारस के नाथजी गुजरात में प्रमुख थे तो मारवाड़ के जगतसेठ बंगाल में हावी थे और दक्षिण के नाथू कोठारी चेट्टी लंका, बर्मा, मलाया और फिलिपीन्स् में धन्धा करते थे। सत्रहवीं सदी में पुर्तगालियों की बपौती

टूटने से विदेशी व्यापार में सुविधा पैदा हुई तो भारतीय व्यापारियों ने पश्चिमी और पूर्वी जगत् में दूर-दूर तक अपना व्यापार फैलाया। अठारहवीं सदी में रामदुलाल दे ने अमरीका से व्यापार-सम्बन्ध कायम किये। अमरीका और बंगाल का व्यापार करीब-करीब सारा उसके द्वारा होने लगा। अमरीका में उसके नाम की इतनी ख्याति थी कि एक अमरीकन ने अपने जहाज़ का नाम रामदुलाल रखा और बहुत से अमरीकन व्यापारियों ने चन्दा इकट्ठा करके उसे भेंट करने के लिए जार्ज वाशिंगटन की पूरे कद की तसवीर बनवायी। उसने चीन और इंग्लैण्ड से भी काफी व्यापार किया और कलकत्ते की सब से बड़ी अंग्रेज़ी फर्म 'फेयरली फरगूसन एण्ड कम्पनी' की पूरी आढ़त का काम ले लिया। मुग़ल साम्राज्य की ओर से भी इन बढ़ते हुए व्यापारी-साहूकारों को कुछ मान्यता मिली, लेकिन उसके जमींदार-जागीरदारों से अभिभूत वातावरण में उन्हें तरक्की की पूरी गुंजायश नहीं दिखी। जागीरदार मौका देखते ही उन्हें खसोटने और निचोड़ने में कोई कसर न उठा रखते। ओविंगटन ने लिखा है कि सूरत के १५ से ३० लाख रुपये तक की हैसियत के व्यापारी डर के मारे तीन-चार हजार रुपये से ज्यादा खर्च न दिखाते और अपने धन को दबा कर रखते। जेम्स फोर्ब्स ने सिंध के एक वजीर द्वारा एक अमीर बनिये के दो दिन तक सताये जाने की दर्दनाक कथा लिखी है और जेम्स दगलस ने १७६८ ई० में पूना के सर्राफों पर किये गये अत्याचारों का विवरण प्रस्तुत किया है। इसलिए ये व्यापारी-साहूकार यूरोपियन शासन और खास तौर से अंग्रेज़ी राज्य को—क्योंकि अंग्रेज़ों ने धर्म के मामले में तटस्थता की नीति बरतने की अक़लमन्दी दिखायी—मुग़ल हकूमत से बेहतर समझते थे और उन्होंने इसके क़ायम होने में बड़ी मदद की। साथ ही उन्होंने अंग्रेजी रहन-सहन को अपनाना शुरू किया, अंग्रेजी ढंग के मकानों और फर्नीचर और कोच-बग्घियों में रुचि दिखायी और घड़ी बाँधने, चाय पीने, वाइन, ब्राण्डी और शाम्पाइन का शौक पैदा किया। यही नहीं, उन्होंने अंग्रेजी विचारधारा और खास-तौर से उदारवादी चिन्तन में पैठ लगायी और उसके सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति की नयी व्याख्या की। उनके माध्यम से भारतीय नवोत्थान का श्रीगणेश हुआ जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

मुग़ल समाज, संस्कृति और अर्थ-व्यवस्था का सारा ढाँचा देहात में काम करने वाले किसान-कमेरों पर टिका था। देश का काफी इलाका जंगल था और आबादी दस और चौदह करोड़ के बीच में थी। किसान अपनी-अपनी ज़मीनों के पूरी तरह मालिक थे और उनपर अलग-अलग लगान तशख़ीस होता था। जिस गाँव में सब किसान अपनी-अपनी ज़मीनों के मालिक होते और अलग-अलग अपना लगान देते उसे 'रइयती' कहते थे। इसमें तीन क़िस्म के किसान रहते थे: (१) 'रियाया खुदकाश्त' (जो अपनी ज़मीनें

खुद जोतते-बोते थे), (२) 'रियाया पैकाश्त' (जो रहते एक गाँव में थे और ज़मीन दूसरे गाँव की जोतते-बोते थे) और (३) 'रियाया मुक़र्ररी (जिनका लगान बँधा होता था)। इन सब को अपनी ज़मीनों के रहन-बै-इन्तक़ाल के पूरे हक़ थे। इन्हें 'मालिक' या 'अरबाबेज़मीन' कहते थे। कुछ मामलों में गाँव के लोग, खास तौर से एक खास जाति के लोग, इकट्ठे होकर काम करते थे। वे अपना-अपना लगान एक इकट्ठे कोश में जमा करते और उससे गाँव का सारा लगान अदा किया जाता और गाँव के आम खर्च पूरे किये जाते। कोंकण के गाँवों में तो सामूहिक कोश का बड़ा ही रिवाज था। 'पंचायत' और उसके 'मुक़द्दम' और चौधरी और पटवारी, जो सरकारी अफसर न होकर गाँव वालों का कारकुन था, सामूहिक कोश को रखते और सामूहिक कामों को चलाते।

'रइयती' गावों के अलावा बहुत से 'जमींदारी' गाँव भी थे। इनकी ज़मीनों के मालिक 'जमींदार' कहलाते थे। कुछ लोग पहले ही से ज़मीनों के मालिक चले आ रहे थे लेकिन वे अपनी 'रज़ामन्दी' से अपनी ज़मीनें किसानों (मुज़ारिआन) से जुतवाते थे। कालान्तर में ये किसान उन ज़मीनों के हक़दार हो गये थे हालाँकि नाम से ज़मींदार ही उनके 'मालिक' थे। इसलिए वे ज़ाब्ते का लगान सरकार को देने के साथ-साथ जमींदार को भी 'रुसूम-ए-जमींदारी' या 'मालिकाना' देते थे। इस प्रकार इन गावों में ज़मींदारी का अर्थ किसान के स्वामित्व के ऊपर कुछ लोगों का एक विशेष प्रकार का प्रभुत्व हो गया था। इसे बंगाल और उत्तरी भारत में 'दो-बिस्वीं' गुजरात में 'बाँठ' और दक्षिण में 'चौथ' कहते थे। सत्रहवीं सदी में कुछ ज़मींदारों को आस-पास के अपने-पराये सभी इलाके का लगान जमा करके सरकारी खज़ाने में जमा करने का हक़ दिया जाने लगा था। इन ज़मींदारों को 'ताल्लुक़दार' कहने लगे थे। इन्हें आजकल के 'लम्बरदार' समझना चाहिए।

लगान की दर बहुत ऊँची थी। शेरशाह और अकबर के ज़माने से उपज का १/३ लगान के रूप में लिया जाता था लेकिन औरंगज़ेब के जमाने में यह उपज का १/२ हो गया था और गुजरात में ३/४ तक पहुँच गया था। फसल की बटाई को 'ग़ल्लाबख्शी' कहते थे लेकिन जब ज़मीन की पैमायश कर उसका रक़बा निश्चित कर उसके हिसाब से इसकी दर और राशि निश्चित कर दी जाती थी तो उसे 'ज़ब्त' कहते थे। अक्सर सालाना हिसाब न लगाकर पिछले सालों की पैमायश को सही मान कर लागू रखा जाता था और उसके अनुसार लगान तय कर दिया जाता था। उसका नाम 'नसक़' था। 'माल' (लगान) के अलावा किसानों से अतिरिक्त कर (वुजूहात) लिये जाते थे और कुछ अहलकारों के हुक़ूक़ थे जिन्हें 'इख़राजात', 'अबवाब' या 'हूबूबात' कहते थे। पशुओं और चरागाहों पर अलग कर थे। हिन्दुओं से 'जज़िया' भी लिया जाता था जो कुल

लगान का ४ प्रतिशत होता था। अकबर ने इसे माफ कर दिया था लेकिन औरंगज़ेब ने फिर से चालू कर दिया था और उसके वक्त में इसकी कम से कम दर तीन रुपये दो आने सालाना प्रति व्यक्ति यानी एक कारीगर की करीब एक महीने की तनख्वाह के बराबर थी। इन सब करों के अलावा अफसर बेज़ाब्ता तरीक़े से 'सलामी', 'भेंट', पट्टेदारी', 'बालकटी', 'तहसीलदारी', 'खर्च-सादिर-ओ-वारिद' (अफसरों के दौरे का खर्च) वसूल करते थे। 'बेगार' और 'शिकार' इन सब के अलावा थी। इस तरह 'पेलसेअर्त के शब्दों में किसानों से इतना ज्यादा छीन लिया जाता था कि उनके पास पेट भरने को मुश्किल से सूखी रोटी बचती थी।

मुग़ल काल में मन्सबदारों और अफसरों को वेतन के रूप में जागीरें देने का रिवाज था। अकबर ने कुछ समय के लिए नक़द तनख्वाह देने की योजना चलायी लेकिन उसके नाकामयाब होने पर उसे जल्दी ही बन्द करना पड़ा। जागीरदारों को उतना ही उपज का भाग या लगान वसूल करने का हक़ था जितना सरकार का हिस्सा था। उससे ज्यादा वे वसूल नहीं कर सकते थे। जागीरदारी और खालिसा में फर्क सिर्फ इतना था कि उसमें किसान से सरकारी कर जागीरदार के कारिन्दे वसूल करते थे और खालिसा में उसे सरकारी अफसर वसूल करते थे। इसे 'फ्यूडल' प्रथा नहीं कहा जा सकता। लेकिन जागीरदार और उसके कारिन्दे, हालाँकि उनकी देखभाल के लिए सरकारी अफसर होते थे, किसानों के साथ मनमानी करते थे और उनके ठेकेदारों (इजारादारों) के ज़ुल्म की तो हद ही न थी। इसलिए किसान बहुत तंगी में थे और बर्निए, मानूची, सादिक़ खाँ, खाफी खाँ, भीमसेन आदि ने उनकी दिक्क़त की दर्दनाक तसवीर खींची है। अतः खेती-बारी में कमी आ गयी, देहात उजाड़ हो गये, आर्थिक व्यवस्था शिथिल हो गयी और सिखों, सतनामियों, जाटों, मराठों आदि के विद्रोह के माध्यम से ग्रामीण क्रान्ति भभक उठी जिसने मुग़ल साम्राज्य का अन्त कर दिया।

मुग़ल काल में हिन्दू और मुसलमान दोनों तंगनज़र हो गये थे। हिन्दुओं की संकीर्णता 'गीर्वाणपद-मंजरी' और 'गीर्वाणवाङ्‌ मंजरी' जैसी बच्चों को संस्कृत पढ़ाने की पाठ्य-पुस्तकों से स्पष्ट है जिनमें केवल प्रान्तों और प्रदेशों के दुराचारों की फिहरिस्तें हैं और लोगों को वहाँ जाने से मना किया गया है तो मुसलमानों की कुए के मेण्डक जैसी मनोवृत्ति मौलाना अब्दुल्लाह सुल्तानपुरी के इस मत से स्पष्ट है कि हज्ज करना इसलिए आवश्यक नहीं है कि मक्का-शरीफ जाने के लिए या तो ईरान के शिया राज्य में से गुज़रना पड़ता है या ईसाइयों के जहाज़ों पर सफ़र करना पड़ता है। हिन्दुओं और मुसलमानों ने कुछ मिल कर रहना सीखा था और दारा शिकोह, शेख मुहिबुल्लाह अलाहाबादी, भीखा साहब, यारी साहब, बुल्ला साहब आदि ने आपसी मेलजोल और प्रेमभाव की वंशी

बजायी लेकिन शेख अहमद सिरहिन्दी और शाहवलीउल्लाह आदि ने नफरत का ढोल पीटा और इन्हें दो क़ौमों में बदल दिया। होली, दीवाली, ईद, मुहर्रम और शबेबरात पर सब लोग एक दूसरे से मिलते, माता-शीतला और बीर-पीर की मन्नतें आदि करते और साधु-सन्तों, शेख-सूफियों के मठों, मज़ारों, खानकाओं पर गंडे-ताबीज़ और आशीर्वाद लेने भी पहुँचते लेकिन गोहत्या जैसे विषय पर भयंकर मनमुटाव और दंगे-फसाद में उलझते और एक-दूसरे की जान के दुश्मन हो जाते। २२ जुलाई, १८५४ ई० के एक आवेदन में दिल्ली के हिन्दुओं ने उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के लेफटीनेण्ट गवर्नर को लिखा कि अंग्रेजी राज्य के क़ायम होने पर उन्हें मुसलमानों के अत्याचार से मुक्ति मिली और उससे गोहत्या को बन्द करने का आदेश देने की प्रार्थना की। इस आवेदन और अन्य सामग्री से सिद्ध होता है कि हिन्दू और मुसलमान कभी एक क़ौम नहीं हो सके और आपस में लड़ते-झगड़ते ही रहे।

मुग़ल काल का साहित्य और कला नाजुक, नफीस लेकिन नक़ल पर निर्भर थी। बाबर के साथ मध्य एशिया से अबुल वाहिद फारिग़ी, नादिर समरक़न्दी और ताहिर ख्वान्दी भारत आये। कुछ दिनों तुर्की का दौर रहा लेकिन कुछ ही समय बाद फारसी ने इसे दबा दिया। सफवी राज्य में कवियों का जो बहिष्कार हुआ उससे मुग़ल युग में साहित्य की बहार आयी। उर्फी, ज़ुहूरी, नाज़िरी नीशापुरी और मलिक क़ुम्मी ने भारत आकर फारसी में कविताएँ लिखीं। जहाँगीर और शाहजहाँ के राजकवि तालिब आमुली, क़ुदसी मशहदी और कलीम हमदानी श्रेष्ठ कवि थे। किन्तु इनके काव्य की पृष्ठभूमि ईरानी है। कुछ रचनाओं में, जैसे ज़ुहूरी के 'साक़ीनामा' और ग़नीमत कुन्जाही के 'नैरंग-ए-इश्क़' में अस्वस्थ रसिकता का वातावरण मिलता है जो मुग़ल साम्राज्य के पतन का परिचायक है। मिर्ज़ा अब्दुल क़ादिर बेदिल की रचनाओं में कुछ मौलिकता है लेकिन वह बौद्धिक व्यायाम में पलट सी गयी है। उनमें प्रेम की सरसता ने दर्शन की दुरूहता का रूप ले लिया है। इस युग में चन्द्र भानु 'बरहमन', आनन्दराम मुखलिस, लाला अमानत राय, लाला हुकमचन्द श्री गोपाल 'तमीज़', बसावनलाल 'बेदार' आदि हिन्दुओं ने भी फारसी में साहित्य लिखा और हिन्दू धर्म के विषयों को प्रमुखता दी। अनेक हिन्दू और मुसलमान लेखकों ने संस्कृत ग्रन्थों के फारसी अनुवाद किये और इतिहास-लेखन में विशेष प्रगति की। देशी भाषाओं के साहित्य का रूप भी इस युग में निखरा और इस कार्य में हिन्दू और मुसलमानों का सहयोग रहा। अठारहवीं सदी में दक्षिण में बोली जाने वाली हिन्दी को 'उर्दू' कहा जाने लगा और उत्तरी भारत में इसका प्रचार हो गया। लेकिन इसकी शैली फारसी ही रही। सिराजुद्दीन अली खाँ आरज़ू (१६८९-१७५६ ई०), मीर तक़ी मीर (मृ० १८१० ई०)

मुहम्मद रफी 'सौदा' (१७१३-८१ ई०) और असदुल्लाह खाँ 'ग़ालिब' (१७९६-१८६९ ई०) ने उर्दू साहित्य की श्रीवृद्धि की किन्तु इसकी परिकल्पनाओं को विदेशी परिधि में बाँधे रखा। भुनी हुई सुपारी पर ग़ालिब ने जो कविता लिखी उसमें आठ में से सात उत्प्रेक्षाएँ विदेशी हैं। इस युग की उर्दू कविता में भारतीय पर्वत, नदी, पेड़, पौधे, फूल आदि की चर्चा बहुत ही कम मिलती है। उर्दू कविता का हिन्दी रीति-काव्य पर भी काफी प्रभाव है। इस सभी साहित्य में महफिलों की रंगीनी और रसिक लोगों की शौक़ीनी या बौद्धिक वर्ग का खिलवाड़ ज्यादा है।

साहित्य की तरह मुग़ल काल की कला भी फारसी शैली की चेरी है। फिर भी इसमें, जैसे फतेहपुर सीकरी और सिकन्दरा के स्थापत्य में, भारतीय तत्त्व मिल जाते हैं। जहाँगीर को बाग़ात और चित्रों से प्रेम था तो शाहजहाँ को स्थापत्य और रत्न-विन्यास में रुचि थी। उस काल की कृतियाँ सौन्दर्य और सौष्ठव के अपूर्व निदर्शन हैं। मरते हुए अफीमची इनायत खाँ का चित्र जीवन के एक नाजुक मोड़ का गहरा अध्ययन है तो ताजमहल चारुता और भव्यता के स्वप्नलोक की साक्षात् प्रतिकृति है। इस कला में सादगी और सजावट, गहराई और समन्वय भावना और विशालता का सुन्दर संगम है। इसमें मुग़ल युग का वैभव, गौरव और एश्वर्य व्याप्त है। किन्तु इसमें शास्त्रीयता और वस्तुपरकता भी है और एक ऐसा वातावरण है जो लालित्यपूर्ण होते हुए भी भारतीयता से भिन्न दीखता है।

मुग़ल चित्रकला ने राजस्थानी चित्रकला को प्रेरित किया। इस कला में संगति, प्रेमभाव और भक्तिभाव मिश्रित है। इसमें स्त्री-पुरुष-पशु-पादप-मयी सम्पूर्ण प्रकृति प्रतीकात्मक होकर अनन्त प्रेम के अनुसन्धान में संलग्न दीखती है। कृष्णलीला, रागमाला, बारहमासा आदि के चित्रण करते जान पड़ते हैं। इस कला से डोगरी, बसोली, कुल्लू और कांगड़ा की पहाड़ी शैलियाँ निकली हैं। इनमें कृष्णलीला, नायक-नायिका-भेद, साकेत आदि विषयों को तात्कालिक राजपूत संस्कृति के वातावरण में प्रस्तुत किया गया है।

## दक्षिण-पूर्वी एशिया का गतिरोध

१२९२-९३ ई० के मंगोल आक्रमण ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के इतिहास को नया मोड़ दिया। थाई, वियतनामी और जावा के लोगों में तबदीली आयी। पुराने राज्यों की जगह नये राज्य क़ायम हुए। शैव, वैष्णव, महायान और तांत्रिक धर्मों के बजाय इस्लाम और हीनयान बौद्ध धर्म का प्रसार शुरू हुआ। सोलहवीं सदी से यूरोपियन शक्तियों का जोर बढ़ने लगा और जल्दी ही सारे प्रदेश पर उनका शासन छा गया।

व्यापार और आर्थिक प्रक्रिया में तेज़ी आयी लेकिन इसका सारा फायदा विदेशी लोगों ने उठाया। स्थानीय लोग नींद में सोते और शोषण से पिसते रहे। समाज और संस्कृति स्थावर और स्तब्ध हो गये।

१२९३ ई० में राजकुमार विजय ने धोखे से मंगोल आक्रमणकारियों को मार कर मजपहित (विल्वतिक्त) में नये साम्राज्य की नींव रखी। इस वंश के राजाओं ने प्रसिद्ध मन्त्री गजमद की देखरेख में सारे दक्षिण-पूर्वी द्वीप समूह पर अपना आधिपत्य क़ायम किया और स्याम, वियतनाम और भारत तक के देशों से सम्बन्ध बनाये। ऐसा लगा कि श्रीविजय का साम्राज्य फिर से जी उठा हो। लेकिन मजपहित राज्य में श्रीविजय जैसी फुरती न थी। यह देहात के कृषि-प्रधान समाज से नत्थी था जबकि व्यापार-जगत् में मुसलमानों का बोलबाला हो रहा था और तटवर्ती इलाक़े में उनकी बस्तियाँ दमादम उठ-उभर रही थीं। इन बस्तियों में मलक्का सब से प्रमुख थी। इसे १४०१ ई० में मजपहित राज्य से भागे हुए एक परमेश्वर नाम के सरदार ने बसाया था। लेकिन उसे स्याम की बढ़ती हुई ताक़त से लोहा लेना पड़ा। स्याम में बौद्ध धर्म का ज़ोर था और मजपहित में शैव, वैष्णव और महायान का प्रचार था। अतः इन दोनों राज्यों से पूरी तरह विरोध प्रकट करने के लिए परमेश्वर ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया। इससे उसे भारत के गुजराती मुसलमान व्यापारियों का समर्थन मिल गया और सुमात्रा के तट पर स्थित पसई, पेरलाक और पेदिर की मुस्लिम रियासतों का सहयोग प्राप्त हो गया। साथ ही उसने चीन से मित्रता और मातहती के सम्बन्ध रखे। इससे मलक्का का मुस्लिम राज्य व्यापार का केन्द्र बन गया और सारे इलाके में उसकी तूती बोलने लगी। किन्तु १५११ ई० में पुर्तगालियों ने मलक्का पर अधिकार कर लिया और हिन्दू, बौद्ध और जावानी व्यापारियों के सहयोग से दक्षिण-पूर्वी एशिया पर अपना अधिकार जमा लिया। लेकिन साथ ही उन्होंने ईसाइयत के प्रचार का जोर से बीड़ा उठाया। इससे लोगों में तेज प्रतिक्रिया हुई और वे इस्लाम की ओर ज्यादा झुकने लगे। एक प्रकार से इस्लाम, व्यापारिक उत्थान और स्थानीय स्वतन्त्रता पर्यायवाची बन गये। १६४१ ई० में डच लोगों ने मलक्का पर क़ब्ज़ा कर लिया। इससे पहले वे जावा के मुस्लिम मतराम के राज्य को परास्त कर द्वीप समूह पर अपना सिक्का जमा चुके थे। डच शासन में क़हवे और गन्ने की खेती को बड़ा बढ़ावा मिला और गर्म मसालों की पैदावार नियंत्रित ढंग से चलायी गयी। इससे एक ओर आर्थिक प्रगति हुई लेकिन साथ ही शोषण और दमन का चक्र तेज़ हुआ। फलतः नूतन जागृति की पृष्ठभूमि तैय्यार हुई जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

मंगोल आक्रमण से बर्मा और हिन्दचीन के प्रायद्वीप में भी इतिहास ने पलटा खाया। १०४४ ई० से चले आ रहे पगन राज्य की धज्जियाँ उड़ गयीं और शान शासकों

के नेतृत्व में छोटी-छोटी रियासतों की बाढ़ सी आ गयी। पन्द्रहवीं सदी में इनमें से तीन राज्य, इरावदी की घाटी में आवा, सित्तांग नदी की ऊपरली वादी में तूंगू और उसके दहाने में पेगू, प्रमुख हुए। तेरहवीं सदी में दक्षिणी चीन के नान-चाओ प्रदेश के थाई लोग—'थाई' शब्द का अर्थ 'स्वतन्त्र' है—दक्षिण की ओर बढ़ने लगे। उन्होंने १२१५ ई० में उत्तरी बर्मा में मोगौंग और १२२३ ई० में सालवीन नदी के तट पर मुओंग नाई के राज्यों की स्थापना की। उनकी एक शाखा ने मेनाम घाटी के ऊपरले भाग में कम्बोदिया की चौकी सुखोथाई में अपने पैर जमा लिये। उन दिनों कम्बोदिया का विशाल और समृद्ध साम्राज्य अपने आन्तरिक वैमनस्य के कारण जर्जर हो रहा था। सूर्यवर्मा द्वितीय और जयवर्मा सप्तम जैसे शौक़ीन सम्राटों के विशाल निर्माण-कार्यों और ठाठ-बाट के क़ायम रखने के लिए लोगों पर जो कर लगाये गये थे, उनसे किसान और व्यापारी की कमर टूटी जा रही थी। ये सम्राट् लोगों को अपने पैरों की धूल समझते और उनके शरीर और सम्पत्ति पर अपना पूरा अधिकार मानते थे। अतः समाज में दरिद्रता और असन्तोष का ज्वार उमड़ रहा था। थाई लोगों ने इसका लाभ उठाकर अपनी शक्ति को बढ़ाया। उनके यशस्वी सम्राट् राम खमहेंग (१२७५-१३१७ ई०) ने कम्बोदिया के लोगों के दुख दूर किये, करों और बेगार में बहुत कमी की, खेती और व्यापार के लिए आसानी पैदा की, न्याय-व्यवस्था को सुलभ और सुगम बनाया और जनता से ज्यादा सम्पर्क क़ायम करने के लिए खुले दरबार में लोगों की शिकायतें सुनना शुरू किया। उसके अभिलेखों से पता चलता है कि उसकी सारी नीति कम्बोदिया की व्यवस्था के बिलकुल विपरीत थी। समाज-सुधार के साथ-साथ उसने सैनिक शक्ति का भी प्रसार किया और इन दोनों के योग से दक्षिण में पेनांग द्वीप से उत्तर में च्याङ्माई प्रदेश में हरिपुंजय तक का सारा इलाका जीत लिया। बर्मा में मर्तबान का शासक वारेरू भी उसके अधीन था और कई और रियासतें उसके प्रभुत्व को मानती थीं। राम खमहेंग के उत्तराधिकारी धार्मिक वृत्ति के किन्तु दुर्बल शासक थे। अतः १३५० ई० में च्याङ्माई शाखा के एक साहसी राजकुमार रामाधिपति ने सुखोथाई पर कब्ज़ा कर के अयोध्या में नयी राजधानी बनायी। उसका राज्य मेनाम की निचली घाटी और मलाया प्रायद्वीप के काफी बड़े भाग पर फैला था। उसने मनुस्मृति के क़ानूनों को थाई रिवाज के साथ समन्वित कर समाज की व्यवस्था को सुदृढ़ किया। इसके बाद के थाईदेश (स्याम) के इतिहास को हम चार भागों में बाँट सकते हैं: (१) चौदहवीं सदी के मध्य से सोलहवीं सदी के बीच तक—इस काल में पूर्व और उत्तर की ओर उसके राज्य का विस्तार हुआ; (२) सोलहवीं सदी का उत्तरार्ध—इसमें बर्मा से भयंकर संघर्ष चला, तूंगू के राजा बायिन्नौंग ने १५६४ ई० और १५६९ ई० में अयोध्या पर कब्जा कर लिया। उधर कम्बोदिया के शासक आंग-

चान (१५१६-१५६६ ई०) ने अंकोर को दुबारा जीत कर स्याम पर धावे शुरू किये और १३५३ ई० में फा न्गुम ने लान छाङ के नाम से लाओस का स्वतन्त्र राज्य कायम किया, किन्तु स्याम के पराक्रमी नेता नरेश्वर ने १५८४ ई० में फिर से अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और १५९३ ई० में तेनासेरिन और तवोय तक के इलाके को हथिया लिया; (३) सत्रहवीं सदी जिसमें स्याम के शासकों ने यूरोप के देशों से गहरे सम्बन्ध कायम किये, और (४) अठारहवीं सदी जिसके पूर्वार्ध में समृद्धि रही लेकिन उत्तरार्ध में पतन शुरू हुआ और १७६७ ई० में बर्मियों ने अयोध्या का ध्वंस कर दिया। बर्मा के बारे में ऊपर कहा जा चुका है कि सोलहवीं सदी में तूंगू सम्राट् बायिन्नौंग के नेतृत्व में उसके राज्य का बड़ा विस्तार हुआ, किन्तु उसके पुत्र नन्दबायिन के राज्यकाल के अन्तिम काल से उसका पतन शुरू हो गया। अठारहवीं सदी में अलौंगपाया ने अराजकता का अन्त कर रंगून में राजधानी कायम की। स्याम से युद्ध छिड़ गया और असम की ओर भी प्रसार चल पड़ा। उन्नीसवीं सदी में जब बगयीदॉ (१८१९-१८३७ ई०) के जमाने में बर्मियों ने ब्रह्मपुत्र की घाटी पर हमला किया तो उन्हें अंग्रेजी शासन से टक्कर लेनी पड़ी। वियतनाम में अन्नम और चम्पा का द्वन्द्व बराबर चलता रहा। मंगोलों के आक्रमण ने उन्हें कुछ समय के लिए एक कर दिया लेकिन १३१२ ई० में फिर उनका संघर्ष भभक उठा। चीन के मिङ सम्राटों द्वारा अन्नम पर अधिकार कर लिये जाने के फलस्वरूप चम्पा को कुछ अवकाश मिला। किन्तु १४२८ ई० में अन्नम में द्वितीय ले वंश के आगमन से प्रशासन में सुधार हुआ और फिर चम्पा से झगड़ा शुरू हो गया। १४७१ ई० में चम्पा का क्षेत्र बहुत संकुचित हो गया। फिर भी उत्तर और दक्षिण का झगड़ा शान्त न हुआ। ले राजवंश के स्थान पर दक्षिण में १५५८ ई० से न्गुयेन वंश और उत्तर में १५९७ ई० से त्रिन्ह वंश प्रमुख हो गये। १६२० ई० से इनमें संघर्ष छिड़ गया। इसी दौरान में वहाँ यूरोपीय शक्तियों का सम्पर्क हुआ। दक्षिणी वियतनाम ने यूरोपीय लोगों के सहयोग से अपनी सैनिक शक्ति बढ़ायी। १६७४ ई० से उत्तरी वियतनाम ने चीनी सीमा के प्रदेश पर ज्यादा ध्यान देना शुरू किया। तब से एक सदी के करीब तक उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम में शान्ति रही। किन्तु दक्षिण में ज्यादा तरक्की दिखायी दी।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के सामाजिक और सांस्कृतिक ढाँचे में काफी विविधता थी। स्थानीय रस्म-रिवाज, रीति-नीति, रहन-सहन के रंग-बिरंगे धागों से इसका ताना-बाना बना। चौदहवीं सदी में मजपहित साम्राज्य में एक वर्गीकृत और व्यवस्थित समाज के दर्शन होते हैं। इसके तीन वर्ग इस प्रकार थे; (१) राजकीय अभिजात वर्ग—इन्हें 'क्षत्रिय' कहते थे, आजकल इनका नाम 'प्रियंयी' है, (२) धार्मिक वर्ग—इन्हें 'सफेद रंग वाला' (अपिन्धय) कहा जाता था, आजकल ये 'सन्त्री' कहे जाते हैं, और (३) साधारण खेती-

बारी करने वाले लोग——इनके लिए 'अनक थानी' शब्द का प्रयोग होता था, आजकल इनका नाम 'अबन्गन' हो गया है।

अभिजात वर्ग के 'क्षत्रियों' में से प्रदेशों के गवर्नर (अधिपति) और मन्त्री (पतिह) रखे जाते थे। इन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें (सीम) मिली होती थीं। ये अपने-अपने प्रदेशों में स्वतन्त्र से होते थे लेकिन मार्च में वार्षिक राजकीय उत्सव के अवसर पर कर और भेंट लेकर इनके लिए मजपहित में आना जरूरी था। इनका ठाठ-बाट राजकीय ढंग का था। इसका अन्दाजा मजपहित के राज-दरबार की शान-शौकत से लगाया जा सकता है जिसका विनाद-प्रपंच कवि ने अपने प्रसिद्ध काव्य 'नगरकृतागम' में ज्वलन्त वर्णन किया है। इसके अनुसार मजपहित लाल ईंटों की ऊँची चहारदीवारी से घिरा था। इसके पश्चिमी दरवाजे से प्रवेश कर एक बड़े मैदान में आते थे जिसके चारों तरफ ऊँचे पेड़ों की कतारें थीं और फूलों का फर्श बिछा था और जिसके बीच में एक झील थी। इसके बाद एक दूसरा दरवाजा आता था जिसके लोहे के किवाड़ सजावट और कारीगरी का अद्‌भुत नमूना थे। इसके अन्दर खेल के मैदान, शाही चबूतरा आदि थे और उनके बराबर में दरबार-हाल, समिति-कक्ष, शिव-बौद्ध पुरोहितों के प्रासाद और गजमद का भव्य महल और राजकीय आवास थे। बड़े-बड़े पिंजरों में देश-विदेश के पक्षी चहचहाते थे, दंगलों के लिए चीते चीत्कार करते थे, संगीत, नाटक, कठपुतली के तमाशे (वायाङ), भोज और पान का समा रहता था। सन्तरियों की पंक्तियों से लैस राजमार्गों पर भेंट लाने वाले मंत्रियों, दूतों और पर्यटकों का ताता बँधा था। चारों ओर समृद्धि और भव्यता का वातावरण था। छोटी मात्रा में इसी शैली पर प्रदेशों के गवर्नरों और अन्य अधिकारियों के आवास थे।

धार्मिक वर्ग के लोक 'भुजंग', 'विकु' (भिक्षु), 'द्विज', 'देवगुरु' आदि नामों से अभिहित थे। जो भूत-प्रेत की साधना-उपासना करते थे उनका नाम 'हुलुन ह्यंग' था। दरबार में सब सम्प्रदायों के पण्डे-पुरोहित रहते थे। किन्तु इनमें शैव और बौद्ध मतों के दो प्रधानाचार्य प्रमुख थे। इन लोगों को जो जागीरें दी जातीं थीं उन्हें 'धर्ध' कहते थे। शैव आचार्यों और पुरोहितों की बस्ती को 'मण्डल' कहते थे। 'मंडल' के लोग खेती-बारी करते थे। उस काल में शैव और बौद्ध धर्म तन्त्र के माध्यम से मिलजुल कर एक होने लगे थे। इनके साथ प्रकृति-पूजा और प्रेत-साधना का भी समावेश हो गया था। श्रावण-भाद्रपद और फाल्गुन-चैत्र में दो बड़े राजकीय उत्सव होते थे जिनका आशय मृत्युलोक की देवी और चावल की देवी को प्रसन्न करना था। दक्षिणी समुद्र की पूजा के लिए एक विशेष उपचार था। पहाड़ की पूजा दक्षिण-पूर्वी एशिया के धर्मों का शुरू से ही सामान्य लक्षण था। नदियों की पूजा भी प्रचलित थी। सूर्य की पूजा का काफी महत्त्व था।

तीसरे वर्ग को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है (१) भूमिधर और किसान, और

(२) कारीगर और दस्तकार। पहले हिस्से के तीन विभाग किये जा सकते हैं: (१) जमींदार (अकुवु) और भद्रलोग (अन्देन), (२) स्वतन्त्र किसान (रामस) और सामूहिक बस्तियों (डपुर) के महत्तर (बुयुत), और (३) कमेरे, बन्धक, मजदूर, सेवक आदि ('भेर्त्य' या 'कवुल')। जमींदार और स्वतन्त्र किसान पूरी तरह से अपनी-अपनी जमीनों के मालिक होते थे। इनसे कर और कभी-कभी बेगार ली जाती थी लेकिन इन पर ज्यादा सख्ती करना मुमकिन न था क्योंकि इनके इलाका छोड़ कर चले जाने का खतरा बना रहता था। ज्यादा मेहनत का काम 'भेर्त्य' या 'कवुल' से लिया जाता था। जो लोग कर्ज़ और जुर्माना नहीं चुका सकते थे वे 'भेर्त्य' या 'कवुल' बनते थे। उन दिनों मुर्गे लड़ाने का बड़ा रिवाज था। लोग कर्ज काढ़ कर मुर्गों को लड़ाई कराते और उनमें सट्टे लगाते थे। अक्सर इन कर्जों की अदायगी मुश्किल होती थी। इसलिए लोग काफी तादाद में 'भेर्त्य' हो जाते थे। इनमें दाम देकर खरीदे हुए लोग शामिल नहीं थे। कुछ 'भेर्त्य' ऊँचे पदों तक पहुँच जाते थे।

कारीगर, दस्तकार, कलावन्त, गवैय्ये, व्यापारी आदि राजाओं, राजकुमारों, भद्रपुरुषों, धर्मगुरुओं, जमींदारों और महत्तरों के साथ नत्थी होते और उनके आश्रय से गुजारा करते थे। उनकी बस्तियाँ (कलग्यन) धार्मिक आबादियों या दरबारी हलकों से सम्बन्धित रहती थीं और वे उनकी आवश्यकताओं का सामान तैयार करते थे। जावा के कारीगर बड़े कुशल थे। बढ़ईगीरी, लोहारी और जहाज बनाने के काम में उन्हें बड़ा अभ्यास था। वे बन्दूक, लोहे की नोक वाले भाले, खुखरी, खंजर, बड़े धनुष, विषैले बाण फेंकने वाली नलकियों और सारे शरीर को ढक लेने वाली लकड़ी की ढाल बनाने में सिद्धहस्त थे। यूरोपियन लोगों ने उनकी गोला-बारूद बनाने और बन्दूक-तोप चलाने की क्षमता की काफी तारीफ की है। किन्तु मजपहित समाज का ढाँचा खेती-प्रधान था। चावल की उपज इसका मुख्य आधार था। अतः उद्योग-व्यापार इसकी खेती और इससे सम्बन्धित धार्मिक उपचार और उस पर आश्रित राजकीय व्यवस्था से नत्थी था। उसे विकास और प्रसार का समुचित अवसर नहीं मिल रहा था। यही कारण था कि इससे संलग्न लोग शैव-बौद्ध धर्म से हटकर इस्लाम की ओर प्रवृत्त हो रहे थे क्योंकि मुसलमान उद्योग और व्यापार की उन्नति के साथ नत्थी थे।

मजपहित काल में लोगों का जीवन परम्परागत था। वे कमर से ऊपर नंगे रहते और नीचे तहबन्द या सरौंग जैसा वस्त्र (कैन) पहनते और उसके ऊपर पटका बाँधते थे। लेकिन जेवर पहनने का रिवाज जोरों पर था। धार्मिक लोग सफेद रंग की जाकट पहन लेते थे। जूते पहनने का रिवाज कम था। लम्बे बालों की चोटी बनाकर गुद्दी पर जूड़ा बाँधा जाता था और उसमें मुड़ा हुआ कंघा फँसाया जाता था। मकानों के अहाते बाड़

या दीवार से घिरे होते थे। उनके अन्दर छोटे एक-मंजिले मकान और ज्यादातर खुले चबूतरे होते थे। लोग एक-मंजिले मकान इसलिए बनाते थे कि इनके सिरों पर कोई चल न सके। मकानों में बुनाई के काम की चटाइयाँ बिछी रहती थीं और उन पर लोग पलथी मार कर बैठते थे। लोगों को खेल-कूद, नाच-तमाशे, मुर्गे और चीते लड़ाने का शौक था। कठपुतली के खेल 'वायाङ' का धार्मिक महत्त्व था। इनके कथानक रामायण-महाभारत से लिये जाते थे और ऐसा विश्वास था कि इनके आयोजन से आपत्तियाँ टल जाती हैं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है तटवर्ती बस्तियों के लोगों ने राजनीतिक और व्यापारिक उद्देश्य से इस्लाम धर्म स्वीकार किया। चूंकि मजपहित काल में शैव-बौद्ध धर्म कृषि-प्रधान भूमि-व्यवस्था के साथ जुड़ गया और इसमें श्रीविजय काल की व्यापारिक प्रगति की क्षमता न रही, इसलिए व्यापारी वर्ग को इसे छोड़ कर तात्कालिक आर्थिक जगत् में व्याप्त इस्लाम को ग्रहण करना पड़ा। कुछ लोगों ने, जैसे मलक्का (इस शब्द का अर्थ 'निर्वासित' है, चूँकि परमेश्वर पालम्बांग से भाग कर आया था, इसलिए उसके द्वारा बसायी गयी इस बस्ती को 'निर्वासित' नाम दे दिया गया) के संस्थापक ने, स्याम के प्रभाव से बचने के लिए बौद्ध धर्म के बजाय इस्लाम को पसन्द किया। लेकिन उनका इस्लाम थोथा था। इसलिए परमेश्वर (उसने मुसलमान होने पर अपना नाम इस्कन्दर शाह रख लिया था) के उत्तराधिकारी श्रीमहाराज ने प्राचीन शैलेन्द्र नाम ग्रहण कर इस्लाम को तिलांजलि दी और हिन्दू रस्म-रिवाज जारी कर दिये। मलक्का के एक और शासक मुहम्मद ने अपने पिता की मक्का की यात्रा करने के बारे में निन्दा की और कहा कि मलक्का क्या मक्का से कम है! बाद में जावा में इस्लाम के फैलने पर भी लोग अपने पुराने रीति-रिवाजों से चिपके रहे और इस्लामी तर्ज-तरीकों की निन्दा करते रहे जैसा कि 'सेरत देर्मगण्डूल' और 'सेरत चेण्टिनी' आदि साहित्यिक कृतियों से स्पष्ट है। ये लोग ज्यादातर अद्वैतवादी सूफीमत के हामी रहे जिसमें सहिष्णुता की काफी गुंजायश थी।

मुसलमान बस्तियों में व्यापार की स्वभावतः बहुत उन्नति हुई। इन बस्तियों के रहन-सहन का अन्दाजा मलक्का की सामाजिक व्यवस्था से लगाया जा सकता है। इसका आधार व्यापार था। बाहरी माल पर ६% चुंगी और १% भेंट ली जाती थी। देशी माल पर इसकी दर ३% थी। प्रशासन राजा के अलावा 'बेन्दहर' (मुख्य मन्त्री-कोषाध्यक्ष) 'तेमनगोंग' (पुलिस और न्याय का अध्यक्ष), 'लक्ष्मण' (जहाजी बेड़े का नायक) और चार 'शाहबन्दरों' (बन्दरगाह के अध्यक्षों) के हाथ में था। ये 'शाहबन्दर' क्रमशः चीनी चाम, स्यामी और पूर्वी बोर्नियो के व्यापारियों, जावा, पालम्बांग और हिन्देशियायी सौदागरों, मालाबार तट और बंगाल की खाड़ी के इलाके के वणिकों और गुजराती लोगों के आवास

का प्रबन्ध करते, उनके लिए गोदामों का इन्तजाम करते, उन्हें 'बेन्दहर' से मिलाते और उनसे कर और भेंट वसूल करते थे। मलक्का के निवासी अनेक जातियों और देशों के थे। जावा के व्यापारी गर्म मसाले की तिजारत पर एकाधिकार बनाये हुए थे। उनके गोदामों और कारखानों में हजारों गुलाम और मजदूर काम करते थे। वे कम खर्च, सदाचारी और अमन-पसन्द थे, लेकिन बूगी और अचेह् के लोग झगड़ालू और तेज़ मिजाज़ थे और उनकी वजह् से रात को इतना ख़तरा रहता था कि लोग अपने-अपने जहाजों पर सोते और पहरा रखते थे। मलय लोग सुस्त और पिछड़े थे और ज्यादातर खेती-बारी और मछली पकड़ने का काम करते थे। इनसे ऊपर विदेशी कारीगर-दस्तकार और व्यापारी थे। और सबसे ऊपर शाहबन्दर और राजकीय कर्मचारी थे जो बड़े ठाठ-बाट से रहते थे। इस त्रिवर्गीय समाज में करीब ६० देशों के लोग थे जो लगभग ८० बोलियाँ बोलते थे किन्तु मलय भाषा सम्पर्क भाषा थी और सब इसे आराम से समझते और बोलते थे। शहर के बीच से एक नदी जाती थी जिसके ऊपर पुल था। इसके दक्षिणी भाग में राजा, उमरा और अन्य कर्मचारी रहते थे और मस्जिद थी और उत्तरी भाग में व्यापारियों के मकान और गोदाम थे। मकान लकड़ी और पत्थर के थे। आम आदमी कमर से नीचे सरोंग पहनते थे लेकिन कुछ प्रतिष्ठित व्यक्ति रेशम की बण्डियाँ पहनते और उनके नीचे खुखरियाँ रखते थे। पुराने हिन्दू रस्म-रिवाज जारी थे। जादू-टोने में विश्वास था। समुद्री मार्गों की सुरक्षा का अच्छा प्रबन्ध था और भारत के सूती कपड़े और दक्षिण-पूर्वी एशिया के गर्म मसाले बहुत बड़ी मात्रा में बिकते थे।

मलक्का में अनेक समृद्ध हिन्दू व्यापारी भी थे। इनमें तीन-चार जहाजों के पूरे माल को एकदम खरीदने की ताकत थी। ये अपने निजी गोदामों में से ही माल निकालकर कई जहाज़ लाद सकते थे। एक हिन्दू व्यापारी निनन चेट्टी बेन्दहर हो गया था। एक और व्यापारी कुरिया देव के हाथ में मोलुक्कस की तिजारत थी। ये बहीखाता रखने में बड़े निपुण थे। अक्सर मुसलमान व्यापारी भी मालाबार के हिन्दू नैयरों को रोकड़ के काम के लिए रखते थे। तॉमस बौरे जैसे पश्चिमी लेखकों ने उनकी हिसाब-किताब की क्षमता की बड़ी तारीफ की है। हिन्दू व्यापारियों के पास शहरी मकानों के अलावा देहात में भी बाग-बगीचों और झील-तालाबों से लैस बँगले थे। ये लोग पढ़े-लिखे और संस्कृति और कला और संगीत के शौकीन थे। जावा के उतिमुति राजा जैसे व्यापारी चावल की तिजारत पर अधिकार बनाये हुए थे। गुजराती मुसलमान ज्यादातर खुरदाफरोशी और छोटी तिजारत करते थे और बंगाली दर्जी और मछुए का काम करते थे। इन व्यापारी क्षेत्रों में पूँजीवादी व्यवस्था अंकुरित हो रही थी लेकिन मलक्का का मुसलमान शासक उनके साथ चाहे जैसा व्यवहार कर सकता था। वह उनकी बहन-बेटियों को हरम में

डाल सकता था, उनके मरने पर उनकी जायदादों पर कब्जा कर सकता था। उन्हें यूरोप के व्यापारियों जैसे अधिकार प्राप्त न थे। अतः स्पष्ट है कि पुर्तगालियों के आने पर उन्होंने मुसलमानों के बजाय उनका साथ देना मुनासिब समझा।

दक्षिण-पूर्वी द्वीप समूह की सामाजिक व्यवस्था पर विचार करने के बाद अब बर्मा, थाईदेश और कम्बोदिया के विषय में कुछ कहना जरूरी है। बर्मी समाज को चार भागों में बाँटा जा सकता है : (१) अभिजात राजकीय वर्ग, (२) धार्मिक वर्ग, (३) व्यापारी वर्ग और (४) जन-साधारण। राजकीय वर्ग में राजा और उनके प्रधान प्रशासकीय पदाधिकारी, जैसे 'कोन्नै' (सेनापति और प्रधान मन्त्री) 'तोलदम' (रंगून, मर्तबान आदि के राज्यपाल), और अन्य 'उमरा' शामिल थे। ये शानदार पालकियों में शहर में निकलते या चमचमाती कश्तियों में सैर करते थे। हाथियों का बड़ा मान था, सफेद हाथी की तो पूजा होती थी, और हर विदेशी को हाथियों के लिए भेंट देनी पड़ती थी। धार्मिक वर्ग में हीनयानी बौद्ध थे। बीस वर्ष की आयु में शिक्षा समाप्त कर प्रत्येक प्रत्याशी को गुरु के समक्ष जाना होता था जो उसकी परीक्षा कर उसे दीक्षा देता था। इसके बाद शहर में घोड़े पर उसका जुलूस निकाला जाता था। कुछ दिन बाद उसे चीवर और पात्र दिया जाता था और वह चुपचाप भिक्षाटन करता और जो मिलता उससे गुजारा करता था। हर परीवा को लोग मठों में भोजन भेजते थे जिससे भिक्षु अपना भोज मनाते थे। वर्ष में ३० दिन उपवास के होते थे। धर्म-प्रवचन के अतिरिक्त भिक्षु अधिकारियों द्वारा शपथ-ग्रहण और मुहादे-संधि के अवसरों पर मन्त्र पढ़कर सुगन्धित द्रव्यों का हवन करते और राख पर अधिकारी का हाथ रखवाते जो शपथ या संधि के पालन का प्रतीक माना जाता था। शिक्षा और साहित्य बहुत-कुछ उनके हाथ में था और दैनिक जीवन में उनका बड़ा मान था। व्यापारी वर्ग में देशी और विदेशी दोनों शामिल थे। बाहर के माल पर १२% चुंगी थी। बन्दरगाह पर निरीक्षक माल की कड़ी जाँच करते थे। इसके बाद व्यापारी को किराये पर मकान मिल जाता था। किराया छमाही था। सौदे सरकारी दलालों के द्वारा होते थे जिन्हें २% की आढ़त मिलती थी। दलाल पर्चों के भुगतान के जिम्मेदार होते थे। उनका सौदा करने का तरीका गुप्त था। वे कपड़े के नीचे हाथ की उंगलियाँ भिड़ा कर बेच-खोच करते थे। कर्जा न देने पर साहूकार कर्जदार को बन्द कर सकता था। आम लोग मेहनती, ईमानदार और शान्तिप्रिय थे। वे सफेद धोती पहनते और सिर पर बालों के जूड़े पर सफेद पगड़ियाँ लपेटते थे। पान खाने से उनके दाँत काले रहते थे। उनमें यौन व्यसन ज्यादा था और जननेन्द्रिय में घंटियाँ बाँधने का रिवाज था। देहात में खेती-बारी चलती थीं लेकिन लूटमार और अराजकता भी जारी रहती थी। सामन्तों और अमीरों के ठाठ-बाट, महलों और पगोड़ों की तड़क-भड़क, सोने-चाँदी, हीरे-मोती की

जगमगाहट किसानों और कारीगरों से लिए हुए करों पर निर्भर थी।

स्याम में राजा 'प्र चाओ' (सर्वेश्वर) कहलाता था। वह सब भूमि का अधिपति माना जाता था। वह अपने सामन्तों और कर्मचारियों को सेवा के बदले जागीरें देता था, लेकिन ये जागीरें कुछ समय के लिए या ज्यादा से ज्यादा जीवन भर के लिए होती थीं। इनके पैतृक या परम्परागत होने का कोई सवाल न था। हर जागीरदार को फौज रखनी पड़ती थी। इसके अलावा राजा की निजी फौज भी होती थी। हर आदमी के लिए कर देना, बेगार करना और फौज में शामिल होना लाजमी था। राम तिबोदी द्वितीय के काल से राज्य को सैनिक इलाकों में बाँटने और अठारहवाँ वर्ष पूरा करने पर हर आदमी को अनिवार्य रूप से भर्ती करने की पद्धति चल पड़ी थी जो १८९९ ई० तक रही। प्रत्येक सामन्त, जागीरदार या कर्मचारी को राजकीय उत्सवों पर अयोध्या में पहुँच कर कुश्ती-दंगलों और सैनिक क्रीड़ाओं में भाग लेना पड़ता था। मृत्युदण्ड पाने वाले अपराधियों को भी इन प्रतियोगिताओं में भाग लेने की छूट थी। यदि वे अपने हुनर और बहादुरी के कारण उनमें जीत जाते तो उन्हें माफ कर दिया जाता था। हाथियों, विशेषतः सफेद हाथी, की बड़ी पूजा होती थी। उसके मूत्र को लोग श्रद्धा से मुख पर लगाते थे। १५५२ ई० में जब सफेद हाथी मरा तो राज्य भर में एक महीने का शोक मनाया गया और चन्दन की चिता पर उसका दाह कर्म किया गया। हाथी को लेकर ही स्याम और बर्मा में भयंकर युद्ध छिड़े। धर्म के मामले में पूरी सहिष्णुता और स्वतन्त्रता थी। हालाँकि प्रायः सब थाई बौद्ध थे अयोध्या में करीब ३०,००० मुसलमान और बहुत से ईसाई थे। बौद्ध भिक्षु टखनों तक का पीला चीवर पहनते, दाईं बाहु को खुला रखते और अपने दर्जे के अनुसार पेटी बाँधते। उनका सिर घुटा होता, पैर नंगे रहते और हाथ में कागज का एक बड़ा छाता रहता। वे खाने-पीने में बड़े संयमी होते, अनेक व्रतोपवास करते और ज्योतिष-शकुन आदि में प्रवीणता रखते। शिक्षा का सारा कार्य उनके द्वारा चलता। सन्त पूजा के साथ उनमें पितरों का भी काफी मान था और उनकी मूर्तियाँ चौकस रखी जाती थीं। आम तौर से लोग श्रद्धालु, संयमी, सशक्त, शान्तिप्रिय और लम्बे थे। खेती और मछली पकड़ना उनके खास धन्धे थे। लेकिन विदेशी तिजारत भी चलती थी।

कम्बोदिया में राजा, धार्मिक वर्ग को छोड़ कर, सब लोगों का स्वामी माना जाता था। आंग चान के विषय में क्रूज ने लिखा है कि वह समस्त भूमि का अधिपति था। जब कोई गृहपति मरता तो उसकी सारी जायदाद राजा की हो जाती, उसके परिवार के लोग चोरी-छिपे जो कुछ बचा पाते वही उनका होता। लेकिन भिक्षुओं की स्थिति स्वतन्त्र और सम्मानपूर्ण थी। अतः कुल आदमियों का एक तिहाई भाग भिक्षु था। भिक्षुओं के कई दर्जे थे। सब से बड़े 'महा संगरेअच' राजा से भी ऊँचे माने जाते और उससे

ऊपर बैठते थे। 'नेअक सामदच' राजा के बराबर समझे जाते थे। 'मेथेअ' साधारण भिक्षु थे और उनका दर्जा राजा से नीचे था। सब से छोटे भिक्षु 'चाओ कू सेस' और 'साखी सेस' कहलाते थे। सब श्रेणियों के भिक्षुओं का बड़ा मान था। ब्राह्मण भी बड़े-बड़े पदों पर थे। आंग चान (मृ० १५६६ ई०) के सभी बड़े सलाहकार प्रायः ब्राह्मण थे। वे परमेश्वर (प्रेअस बरम एइसौर) में विश्वास करते थे। उनका धर्म-दर्शन त्रिमूर्ति की परिकल्पना पर आधारित था। लेकिन वे 'प्रेअस पूत प्रेअस सेअर मेत्रेई' बोधिसत्त्व मैत्रेय की भी पूजा करते थे। इन लोगों को ईसाइयों से विरक्ति थी। कम्बोदिया में लाख, हाथीदाँत, सूखी मछली और चावल का व्यापार होता था।

मध्यकालीन दक्षिण-पूर्वी एशिया के समाज की कुछ झाँकियाँ देने के बाद वहाँ के साहित्य और कला के बारे में भी कुछ कहना जरूरी है। मजपहित काल में जावा में दरबारी साहित्य का काफी विकास हुआ। राजा, उसकी रानियाँ और सभासद स्वयं कवि थे। विनाद-प्रपंच द्वारा लिखित 'नगरकृतागम' और एक अन्य लेखक का 'परतरोन' इस साहित्य के अच्छे नमूने हैं। लेकिन इनमें भारतीय शैली, छन्दों और शब्दों की प्रचुरता है और एक गढ़ी-गढ़ाई भावभूमि मिलती है। इस साहित्य के नमूने पर बाद में बाली में 'उसन' और 'किटुंग' लिखे गये। इस दरबारी साहित्य के साथ-साथ एक लोक साहित्य की धारा भी चली। इसमें स्थानीय छन्दों और शब्दों की अधिकता थी और इसके विषय प्राचीन आख्यानों के लिये गये थे। इसमें 'अजी सक' 'लोरो योन्ग्रोंग' और 'देवी कदितो' के क़िस्से मशहूर हैं। इस्लाम के आने के बाद हमजा फन्सूरी और उसके शिष्य शम्सुद्दीन ने 'वुजूदिया' सूफीमत पर किताबें लिखीं। लेकिन गुजरात से गये हुए नूरुद्दीन और कुछ सैयदों ने कट्टरता फैलायी। इन लोगों के शास्त्रार्थ अरबी के उच्चारण, क़िबला की स्थापना, रमज़ान के उपवास के आदि और अन्त आदि औपचारिक विषयों को लेकर चलते थे। किन्तु, जैसा कि 'सेरत चेन्तिनी' आदि ग्रन्थों से पता चलता है आम आदमी इन झगड़ों और पचड़ों से सही इस्लाम नहीं समझता था और औपचारिक मामलों में ज्यादा रुचि नहीं रखता था। मध्यकालीन कला में भी स्थानीय तत्त्व की प्रमुखता है। 'वायाङ' शैली की मूर्तियाँ और चित्र और स्थानीय शैली के भवन मजपहित काल से ही प्रमुख रहे हैं।

बर्मा में वहाँ की भाषा का साहित्य पन्द्रहवीं सदी के उत्तरार्ध से शुरू हुआ। इसकी सबसे पहली रचनाएँ राज-प्रशस्तियाँ या ऐतिहासिक काव्य थे। कुछ प्रकृति और प्रेम से सम्बन्धित थीं और कुछ ने बौद्ध जातकों से प्रेरणा पायी। थिलवुन्था, रतथर और अग्गत्थमदी का नाम जातकों के कथानकों पर साहित्य लिखने वालों में प्रमुख है। सैनिक कवि नवदे ने तुंगू राजवंश के कृत्यों का वर्णन किया। पदेथयाजा (१६८४-

१७५४ ई०) ने सब से पहला नाटक लिखा और कृषक जीवन की भी चर्चा की। ज्यादातर लेखकों का ध्यान पूर्वजन्म की कथाओं पर रहा। स्थापत्य और कला में भड़कीलापन और दिखावट ज्यादा रही और मौलिकता की कमी हुई।

थाईदेश के साहित्य का स्वर्णकाल नारायण (१६५७-१६८८ ई०) का युग है। यह राजा स्वयं कवि था। उसने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें बहुतों का सम्बन्ध रामायण और जातकों के कथानकों से है। उसके युग के कवियों में महाराजगुरु श्रीप्राज्ञ, श्री महोषध, खुन देवकवि आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें बौद्ध कथानकों की भरमार है लेकिन निराशा का स्वर भी है। नारायण ने यात्रियों के अपने सगे-सम्बन्धियों से बिछुड़ने के अवसाद का मार्मिक चित्रण किया है। इसके बाद महाधम्मराज परमकोश (१७३३-५८ ई०) के राज्यकाल में उसके बड़े भाई धम्माधिपेश ने बौद्ध विषयों पर रोचक और प्रभावशाली कविताएँ लिखीं। इनमें मालेय्य थेर का वृत्तान्त अत्यन्त हृदयद्रावी है। स्थापत्य और शिल्प का अयोध्या में बहुत विकास हुआ लेकिन इसके निदर्शन नष्ट हो गये हैं और उनका कुछ आभास बेंकोक के भवनों में मिलता है। इस कला पर ख्मेर प्रभाव काफी गहरा है हालाँकि इसकी अपनी सत्ता है।

कम्बोदिया में सृष्टिविद्या से सम्बन्धित 'त्रिवेद' और रामकथा का रूप 'रामकीर्ति' उल्लेखनीय हैं। साथ ही अंकोरवाट के मन्दिरों के बौद्ध शिलालेख भावपूर्ण और श्रद्धासिक्त हैं, वैसे हीनयानी धर्म कला और साहित्य की उन्नति में बाधक सा है। इसने उपदेशात्मक साहित्य को ज्यादा प्रेरणा दी है जिसके नमूने 'श्बप प्रोस' (पुत्रों का उपदेश) और 'श्बप स्रेई' (पुत्रियों का उपदेश) है। इस काल के स्थापत्य या शिल्प में भी कोई मौलिकता नहीं है।

## चीन के मिङ और मंचू युग

युवान युग के अन्त की गड़बड़ी में चू युवान-चाङ ने मिङ (शानदार) राजवंश की नींव रखी। उसने जल्दी ही सारे देश पर अपना शासन जमा लिया। उसके उत्तराधिकारी युङ-लो (१४०३-१४२५ ई०) के राज्यकाल में विजय और विस्तार की गति तेज हो गयी। एक ओर मध्य एशिया के ओइरात और तातार लोगों के खिलाफ उसने पाँच बार खुद चढ़ाई की और दूसरी ओर उसके महानाविक चेङ-हो ने सात बार जहाज़ी बेड़े लेकर अरब और अफ्रीका तक धाक जमायी। इन बेड़ों से चीनी जहाज़रानी के अद्भुत् विकास का पता चलता है। इनमें जिन जहाज़ों ने भाग लिया वे ४४४ फुट लम्बे और १८० फुट चौड़े थे। हरेक में कई-कई जलरोधी कमरे बने थे जिनमें नाविक अपने ताले लगाकर सामान रखते थे। बहुत से लकड़ी के गमलों में तरकारी और अदरक तक उगाते

थे। नौ-शास्त्र और क़ुतुबनुमा का प्रयोग होता था। इन यात्राओं और अभियानों के फलस्वरूप सारे जलमार्गों पर चीन का सिक्का जम गया और पालेम्बाग, लंका, हुरमुज और अफ्रीकी तट के शासक शुतरमुर्ग, ज़ेब्रा, जिराफ आदि अनोखे उपहार लेकर चीनी दरबार में उपस्थित हुए। ये चीनी समद्र-यात्राएँ एशिया के इतिहास में विशेष महत्त्व रखती हैं।

मिङ काल में मध्य एशिया के मंगोलों, जिन्हें 'उत्तरी डाकू' (पेइ लू) कहते थे, ने चीनी शासन को काफी तंग किया। वे सरहद पर घोड़ों की मण्डियाँ लगाते और उनमें चीनियों को मनमाने दामों पर घोड़े खरीदने पर मजबूर करते थे। अक्सर उनके दल माल ले कर राजधानी आते और बदले में रेशम-कपड़े आदि ले जाते और साथ ही हुल्लड़ और ऊधम मचाते थे। इनके अलावा जापानी लोग, जिन्हें 'दक्षिणी लुटेरे' (नान खू) कहते थे समुद्री तटों पर लूटमार करते थे। सोलहवीं सदी से पुर्तगाली और अन्य यूरोपीय लोग चीन आने लगे थे। उनकी धर्मान्धता, ऊधमबाजी और लूट-खसोट के कारण उन्हें 'समुद्री राक्षस' (याङ कुइ त्जू) और 'लाल दाढ़ी वाले' (हुंग माओ)—लाल दाढ़ी चीनी बौद्धों में राक्षसों का चिह्न मानी जाती थी—कहते थे। लेकिन उनसे काफी व्यापारिक लाभ था। इसके अलावा उन्होंने चीनी गणित, भूगोल, ज्योतिष और तोपखाने में नये विचारों का सूत्रपात किया और चीनी जीवन-पद्धति में मक्का, आलू, मटर, तम्बाकू, अफीम आदि का प्रयोग चालू किया और चश्मा लगाने का रिवाज चलाया मगर साथ ही सूज़ाक आदि रोगों को भी फैलाया। इन विदेशियों के व्यवहार से तंग आकर चीनियों ने सभी बाहर के देशों से नाता तोड़ने का निर्णय किया। तब से चीनी जीवन में संकीर्णता आने लगी और दुनिया से अलग-थलग अपने सीमित क्षेत्र में पुरानी परम्पराओं से चिपटे रहकर दुबके रहने की आदत बढ़ने लगी। चेङ-हो के नाविक अभियानों के सारे विवरण जला दिये गये और उनकी परम्परा को बेकार समझा गया। १६१६ ई० में सम्राट् वान-ली ने रूस के ज़ार को एक पत्र में लिखा कि "अपने रिवाज के अनुसार न मैं अपने राज्य से कहीं बाहर जाता हूँ और न अपने दूतों या व्यापारियों को जाने देता हूँ"। कुछ इक्का-दुक्का नाविक या व्यापारी जरूर बाहर जाते-आते रहे, जैसे १५८५ ई० में तीन चीनी फिलीपीन से मेक्सिको और वहाँ से स्पेन और यूरोप गये लेकिन राज्य की सामान्य नीति विदेशों से सम्बन्ध रखने के विरुद्ध रही।

मिङ राज्य के अन्तिम वर्षों में बड़ी अव्यवस्था और अराजकता रही। राज्य के प्रति लोगों की आस्था उठ गयी और वे ह्वाङ-त्सुङ-शी के शब्दों में यह सोचने लगे कि "मानवता का सब से बड़ा शत्रु राजा है। इस वातावरण में मंचुओं ने, जो नूरहाची (१५५६-१६२६ ई०) के काल से अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे और अपना संगठन मज़बूत कर रहे थे,

१६४४ में चीन की राजधानी पर अधिकार कर छिङ वंश की स्थापना की। इस वंश में खाङ-शी (१६६१-१७२२ ई०) और छ्यान-लुङ (१७३६-१७६६ ई०) जैसे प्रतापी राजा हुए। खाङ-शी ने मंगोलिया और तिब्बत को वश में किया। और रूस से लोहा लिया और छ्यान-लुङ ने तारिम घाटी की रियासतों को कब्जे में कर इस प्रदेश को शिनजंग (नव राज्य) का नाम दिया और नेपाल, अन्नम और बर्मा तक अपना आधिपत्य जमाया। इन राजाओं के दिमाग़ कुछ खुले थे। इन्होंने जेसविट पादरियों से बहुत सी वैज्ञानिक बातें ग्रहण कीं। रिक्की की एक सुई की घड़ी और विश्व का नक्शा काफी पसन्द किया गया। वेरबीस्त द्वारा प्रचलित तोप ढालने की विधि एकदम अपना ली गयी। इस विधि से ढाली गयी ३०० तोपों के द्वारा ही खाङ-शी मंगोलों के खतरे को सदा के लिए खत्म करने में सफल हुआ। जेसविट पादरियों ने चीन में उक़्लदस की ज्यामिति का प्रचार किया, बुखार के इलाज के लिए क्विनीन का प्रयोग जारी किया और पश्चिमी तरीक़ों से देश का सर्वेक्षण किया। उनके सम्पर्क से चीन में नये ज्ञान-विज्ञान की ज्योति जागती-सी दिखायी दी, लेकिन यह फौरन ही मध्यकालीन अन्धकार में खो गयी। मंचू लोगों ने चीनी रूढ़ियों और परम्पराओं को इतनी कट्टरता से अपनाया कि उनकी लोच और लचक खत्म हो गयी। सांस्कृतिक अभिमान और संकीर्णता से मदान्ध होकर उन्होंने सभी विदेशियों को बर्बर मान कर उनसे नाता रखना अपनी शान के खिलाफ समझ लिया। छ्यान-लुङ ने अंग्रेज़ी सम्राट् जोर्ज तृतीय को अपना मातहत समझते हुए उसके राजदूत लार्ड मेकार्टने को करवाहक के रूप में दरबार में स्थान दिया और एक अत्यन्त अभिमानपूर्ण पत्र में उसके 'आदरपूर्ण समर्पण भाव' की सराहना करते हुए उसके व्यापार के प्रस्ताव को यह कहते हुए ठुकराया कि "हमारे दिव्य साम्राज्य में सब वस्तुएँ प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं और मैं विचित्र या विदेशी वस्तुओं का कोई महत्त्व नहीं समझता और तुम्हारे देश की बनी हुई चीजों की कोई उपयोगिता अनुभव नहीं करता।" १७६५ ई० में डच राजदूत को भी ऐसा ही जवाब दिया गया और १८१६ ई० में रूसी राजदूत को इसी तरह लौटाया गया। उस समय हर विदेशी राजदूत को दरबार में तीन बार घुटने टेक कर नौ बार दण्डवत् प्रणाम करना पड़ता था। इस पद्धति को 'कोतो' कहते हैं। इससे बहुत से विदेशी नाखुश थे किन्तु यह अनिवार्य था। इस अभिमान और संकीर्णता के कारण चीनियों का मानसिक क्षितिज तंग हो गया और वे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ने लगे। उदाहरण के लिए ख़्वान-युवान (१७६४-१८४६ ई०) द्वारा तैय्यार किये गये एक भौगोलिक सूचीपत्र में पुर्तगाल को मलक्का के नजदीक दिखाया गया, इंग्लैण्ड और हालैण्ड को एक बताया गया, फ्रांस और पुर्तगाल को अभिन्न सिद्ध किया

गया, इटली और स्याम को पड़ोस में रखा गया और इन सभी देशों को बौद्धधर्मावलम्बी घोषित किया गया। इस वातावरण में मंचू साम्राज्य पतन की ओर चलने लगा और उन्नीसवीं सदी में चीन पर यूरोपीय लोग हावी हो गये जिसकी चर्चा आगे की जायगी। १२ फरवरी १९१२ को इस राजवंश का अन्त हो गया और इसकी जगह गणतंत्र की स्थापना हुई।

मिङ काल के समाज को मोटे तौर से तीन भागों में बाँटा जा सकता है। ऊँचे वर्ग में विद्वान्, प्रशासक और उच्च कर्मचारी थे। मझले वर्ग में छोटे उपाधि-प्राप्त (चिन-शिह) लोग, जमींदार, व्यापारी और नगरनिवासी थे। निचले वर्ग में किसान और कारीगर थे। ऊँचे वर्ग में २५,००० ऊँची उपाधि-प्राप्त विद्वान् और करीब ५,००,००० दरम्यानी उपाधि-प्राप्त लोग थे जिनमें से १००,००० से ऊपर प्रशासकीय पदों पर थे और ८०,००० सैनिक अफसर थे। उपाधि-प्राप्त करना मेहनत का काम था। कुछ लोग उपाधियाँ खरीद लेते थे और कुछ उन्हें वरासत में पाते थे, लेकिन उनका इतना मान नहीं था जितना अध्ययन और परीक्षा द्वारा उन्हें प्राप्त करने वालों का। इस वर्ग के लोग लम्बी आस्तीन के झोकले लबादे और ऊँचे छज्जेदार टोप पहनते और साईसों और कुलियों द्वारा उठायी जाने वाली कुर्सियों में एक जगह से दूसरी जगह जाते और हर काम और बात में शालीनता, गम्भीरता और सौम्यता प्रकट करते। मंचू काल में इस वर्ग में और भी परिष्कार हुआ और औचित्य का आदर्श और नाक रखने का भाव हद से ज्यादा बढ़ गया। 'विद्वान्' नाम के उपन्यास में वाङ यू-हुइ नामक पात्र यह कामना करता हुआ दिखाया गया है कि उसकी विधवा पुत्री की मृत्यु हो जाय तो अच्छा हो क्योंकि वह उसके ऊपर भार बन कर औचित्य का उल्लंघन कर रही है जो उसके नाम को गन्दा करता है। ऐसे ही विचार उस समय इस वर्ग के आम लोगों के थे। किन्तु इनकी शिक्षा सैद्धान्तिक और साहित्यिक और अव्यावहारिक थी, क्योंकि उनका विश्वास था कि इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर जो मानसिक विकास होता है उससे मनुष्य हर प्रकार का दायित्व निभा सकता है।

दूसरे मझले वर्ग के लोग पहले वर्ग के लोगों से घटिया उपाधियाँ रखते और कस्बों या देहात में बड़े मकानों में रहते। उनमें कुछ लोग जमींदार होते और कुछ व्यापारी। वे अपने-अपने काम-धन्धे के अलावा सार्वजनिक कार्यों का निरीक्षण करते, स्थानीय कन्फ्यूशियस के मन्दिरों की देख-रेख करते, वैयक्तिक पाठशाला और विद्यालय चलाते, स्थानीय इतिहास और सूचना कोश तैयार करते और दान-संस्थाओं और रक्षा-दलों का प्रबन्ध करते। वे बड़े मृदुभाषी और मीठा व्यवहार करने वाले थे और आने वालों को बड़ी नफासत से चीनी के प्यालों में चाय पेश करते। वे मेज-कुर्सी पर चपातियों

से भोजन करते, पहले मांस और फिर चावल की प्लेटें खाते और उसके बाद गर्म शराब पीते। त्यौहारों पर वे दावतों, जुलूस और नाटकों का आयोजन करते। उनकी स्त्रियाँ पर्दे में रहतीं और बन्द कुर्सियों में घर से बाहर निकलतीं। बहुपति विवाह का रिवाज था लेकिन व्यभिचार बुरा समझा जाता था। संयुक्त परिवार की प्रथा थी। हर परिवार में पाँच पुश्तों तक के लोग साथ रहते थे। परिवार अपने हर सदस्य के कार्य-कलाप का पूरी तरह जिम्मेदार होता था और उसके भोजन, वसन, शिक्षण का प्रबन्ध करता था। पितृ-भक्ति, पुत्र-प्रेम और भ्रातृ-स्नेह उच्च गुण माने जाते थे। इस वर्ग के लोग बेगार और शारीरिक दण्ड से मुक्त थे। उनपर कर भी नहीं के बराबर थे। उनके साथ बहुत से ग्रामीण पिछलगे रहते थे। मिङ साम्राज्य के अन्तिम काल में जब देहात में ज्यादा अफरा-तफरी मची तो हजारों लोग जमीनें-जायदादें इनके सिपुर्द कर इनके कमेरे बन गये जिनमें से बहुतों की स्थिति दास से बेहतर नहीं थी।

मझले वर्ग का एक भाग व्यापारी और सौदागर था। चीनी समाज में व्यापारियों का कभी विशेष आदर नहीं रहा और हमेशा इन्हें शोषक समझ कर तिरस्कृत किया जाता रहा। मिङ काल में इन्हें बढ़िया किस्म का रेशम पहनने तक की मनाही थी। ये लोग श्रेणियों और निगमों में बँटे थे लेकिन इनके कारोबार की जाँच करने के लिए सरकारी निरीक्षक होते थे। हर निगम के मुखिया को सरकार से प्रमाण-पत्र लेना पड़ता था और वह अपने निगम के सदस्यों के व्यवहार का जिम्मेदार होता था। व्यापारियों को यात्रा के लिए सरकार से अनुमति-पत्र लेना पड़ता था। लोहा, नमक आदि बहुत से धन्धों पर सरकार का अधिकार था। चीनी बरतनों के भट्टे भी सरकारी थे। १३७५ ई० में कागज के रुपये के प्रचलन से व्यापार में खलबली मच गयी।

मंचू काल में माल विभाग से व्यापारियों को नमक के ठेके मिलते थे। हर ठेके का प्रमाण-पत्र लेने के लिए व्यापारी को कर देना पड़ता था। व्यापारी अपने प्रमाण-पत्र को बेच भी सकता था। इस मामले में काफी घपला और घोटाला था। घूस और चोर-बाजारी काफी चलती थी। चीनी व्यापारियों को विदेशी व्यापारियों से अलग-थलग रखा जाता था। सरकार द्वारा प्रमाणित दलाल (या-हाङ) व्यापारियों की निगरानी और उनसे कर-वसूली करते थे। दलालों की फर्में ('हांग', इसका अंग्रेजी रूप 'होंग' है) तीन दलों में बँटी थीं जो क्रमशः उत्तरी जगत, दक्षिण-पूर्वी एशिया और यूरोप के व्यापार की देख-रेख करती थीं। यूरोप के व्यापार का संचालन करने वाले दलालों के दल में छः से बारह तक फर्में थीं और इन्होंने एक निगम बना रखा था जिसे कुङ-हाङ (अंग्रेजी 'कोहोंग') कहते थे। उनकी गारण्टी प्राप्त किये बिना कोई विदेशी जहाज केण्टन नहीं आ सकता था और न बिना उनकी इजाजत चीनी लोगों से सम्पर्क स्थापित कर सकता

था। ये लोग अपने काम के सिले में मोटी आढ़त और दलाली लेते थे और उसमें से काफी रकमें सरकारी अफसरों को देते थे। इनके और केन्द्रीय सरकार के बीच की कड़ी विदेशी व्यापार का अध्यक्ष था जिसे होप्पो कहते थे। वास्तव में उस युग के सरकारी अफसरों के हित विदेशी व्यापार से इतने ज्यादा जुड़ गये थे कि राज्य के लिए इसकी अवहेलना करना सम्भव नहीं रह गया था।

तटवर्ती व्यापार के साथ-साथ आन्तरिक व्यापार भी काफी बढ़ गया। शान्सी के व्यापारियों और साहूकारों ने देश भर में अपनी शाखाओं का जाल बिछा दिया। कुछ फर्में केन्द्रीय सरकार तक धन पहुँचाने का बीमा करने लगीं। इनके घुड़सवार रक्षक चाँदी के बक्सों के साथ-साथ चलते। बीमा और साहूकारा इन फर्मों की बपौती हो गया।

समाज के सबसे निचले वर्ग में किसान और कारीगर थे। कुछ भूमि सरकारी थी और अधिकतर लोगों की वैयक्तिक सम्पत्ति थी। हर खेत किस्म और उर्वरता के अनुसार वर्गीकृत था। शिशिर और ग्रीष्म में दो बार लगान वसूल किया जाता था। १५२२-६७ ई० में एक नयी व्यवस्था जारी की गयी जिसके अनुसार जिले की कुल भूमि को दस बराबर हिस्सों में बाँट दिया गया और हर साल एक हिस्से से कुल का लगान और बेगार वसूल की जाने लगी। इसी प्रकार परिवारों को ११० घरों की इकाइयों में बाँटा गया जिनमें १० सरदार और शेष उनके द्वारा अनुशासित होते थे। हर साल एक सरदार परिवार दस अन्य परिवारों के साथ सरकारी बेगार करते थे। इस व्यवस्था को 'ली-चिया' पद्धति कहते थे। एक और श्रम-पद्धति 'च्युन-याओ' थी जिसके अनुसार वयस्क पुरुषों को सरकारी दफ्तरों (यामेन) में काम करना पड़ता था। डाकघरों और सैनिक चौकियों पर भी अनिवार्य रूप से बेगार ली जाती थी। सोलहवीं सदी में लगान और बेगार को एक ही व्यवस्था में समन्वित कर दिया गया। इसका नाम 'ई-श्याओ-प्यान' था।

मिङ शासन में लगान वसूल करने वाले बिचौलियों को खत्म कर स्थानीय लम्बरदार नियुक्त किये गये। हर इलाके का सबसे बड़ा भूमिधर लगान वसूल करने के लिए मुकर्रर किया गया। उसके साथ एक रोकड़िया, बीस नापने वाले और एक हजार माल ढोने वाले रहते थे। हालाँकि यह व्यवस्था भ्रष्टाचार को रोकने के लिए की गयी लेकिन यह स्वयं अत्याचार का कारण सिद्ध हुई। ये लम्बरदार किसानों से बहुत से फर्जी कर वसूल करते और उनके घरों, कपड़ों, पशुओं और औजारों तक पर कब्जा कर लेते। इस शोषण और भ्रष्टाचार को रोकने के लिए लम्बरदार के साथ और अफसर लगाये गये। १४३० ई० में तीन और चार से बारह तक परिवारों को सामूहिक रूप से लगान वसूल करने के लिए नियुक्त किया जाने लगा और 'ई-श्याओ-प्यान' पद्धति के चालू होने पर लम्बरदार

प्रथा को समाप्त कर हर किसान को सीधे खजाने में लगान जमा कर रसीद लेने का हक़ दिया गया।

मंचू काल में किसानों पर और भी ज्यादा सख्ती हुई। मंचू लोगों को जमीनें देने के लिए चीनियों से जमीनें छीनी गयीं। मंचू लोगों के इलाके चीनियों से अलग किये गये और इसके लिए चीनियों को अपनी जगहों से दूर उखाड़ फेंका गया। भूमि ही नहीं शहरी जायदाद भी इसी तरह जब्त कर मंचू लोगों में बाँटी गयी। इस छीना-झपटी से बचने के लिए बहुत से चीनी 'थू-छुङ' (एक प्रकार के पिछलगे या दास) की हैसियत से मंचू 'ध्वजों' (सैनिक दलों) में शामिल हो गये। वे इस रूप में अपने स्वामियों की ओर से खेती-बारी करते लेकिन साथ ही अन्य अपराध और लूट-मार भी करते जिससे शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा हो गया और १६४७ ई० में इस प्रथा को बन्द करना पड़ा। चीनियों और मंचुओं का मनमुटाव काफी गहरा और लम्बा चला और थान स्यु-थुङ (१८६५-१८६८ ई०), हू हान-मिन (१८७६-१६३६ ई०) आदि विचारकों ने चीन की सारी बुराइयों के लिए मंचुओं को दोषी ठहराया।

मंचू युग में किसानों से चावल-कर (त्साओ-ल्याङ) और दो अन्य कर—भूमिकर (ति-फू) और व्यक्ति-कर (तिङ-फू)—जिन्हें बाद में भूमि-व्यक्ति-कर (ती-तिङ) में मिला दिया गया था—लिये जाते थे। हर प्रान्त के लिए लगान के कोटे बँधे थे। यह कोटा पूरा करके जो बचता था उससे स्थानीय प्रशासन का खर्च चलता था। लगान वसूल करने वाले अमीन अपने अलग भेंट-चढ़ावे ऐंठते थे। जिन्सी लगान में से उनकी कटौती अलग बँधी थी और नकदी लगान पर वे बाजार भाव से ज्यादा धन के विनिमय की आढ़त लेते थे। उदाहरण के लिए लगान चाँदी के सिक्कों में देय था, लेकिन वे किसानों से उसे ताँबे के सिक्कों के रूप में वसूल करते थे और उनसे उन सिक्कों को चाँदी के सिक्कों में बदलने की चालू दर से ज्यादा आढ़त लेते थे। इनके अलावा जन्मदिवस, शपथ-ग्रहण, त्यौहार आदि पर परम्परा से अफसरों के कुछ नजराने बँधे थे। उनके घोड़ों, तम्बुओं, रोशनियों आदि के कुछ और खर्च लिये जाते थे। इन गैर-सरकारी रुसूम को काफी सख्ती से वसूल किया जाता था। आन्हवेइ, क्याङ्सी, ह्पेई और हूनान के प्रान्तों में इन रुसूम की राशि लगान की रकम से कई गुणा ज्यादा थी। इन रुसूम में ज़मींदारों, उपाधि-प्राप्त लोगों और सरकारी अफसरों के असंख्य दल शामिल थे। छोटे से बड़े तक सब अधिकारी और कर्मचारी रिश्वत लेते-देते थे। इस रिश्वत का सैलाब किसानों से उमड़ कर प्रशासन के सारे दर्जों को सींचता हुआ केन्द्रीय शासन के समुद्र में लीन हो जाता था। एक तात्कालिक लेखक फेङ कुइ-फेन की गणना के अनुसार हर चौकीदार की रिश्वत की आमदनी १०,००० तैल चाँदी ('तैल' शब्द हिन्दी 'तोला' का समकक्ष है और १ १/२

औंस के बराबर है ) और लिपिकों की २०,००० से ३०,००० तैल तक थी। अक्सर ये लोग अपना नज़राना वसूल कर लेते और सरकारी लगान छोड़ देते थे।

किसानों का कष्ट और असन्तोष विद्रोहों और आन्दोलनों के रूप में व्यक्त होता था। लोग खेत-बारी छोड़ कर चोरी-डकैती में लगते थे। मिङ युग के उपन्यास 'शुइ-हू'—(इसका अंग्रेजी अनुवाद पर्ल एस० बक ने 'आल मैन आर ब्रदर्स' (सब मनुष्य भाई-भाई के नाम से किया है)— में उत्तर-सुङ काल के डाकू सुङ च्याङ और उसके १०८ साथियों की जो रोंगटे खड़े कर देने वाली कथाएँ हैं वे तात्कालिक प्रशासकीय अत्याचार और कृषक-विद्रोह का सजीव चित्र प्रस्तुत करती हैं। इस उपन्यास में राजमन्त्रियों और कर्मचारियों को पापी, शोषक, क्षुद्र भ्रष्टाचारी और निकृष्ट-डरपोकों के रूप में उपस्थित किया गया है और डाकुओं को वीर और साहसी नेताओं के रूप में सामने लाया गया है। इस कृति में हमें जंगली गुफाओं, पहाड़ी आवासों, अनजानी सड़कों, दूर-पार की सरायों और खेत-खलिहानों में फैले हुए दारिद्र्य और उसके कारण उमड़ते हुए विद्रोह के दर्शन होते हैं। मिङ काल के अन्त में यह विद्रोह बहुत बढ़ गया और मंचू काल में बहुत तीव्र और विस्तीर्ण हो गया। 'श्वेत-कमल-समाज' (पाइ-ल्यान च्याओ) नाम की एक बौद्ध संस्था ने बुद्ध के आगमन और मंचुओं के भावी विनाश का प्रचार शुरू कर दिया। १८१३ ई० में होनान, शान्तुङ और चिहली प्रान्तों में इसकी 'अष्ट-चित्रित-समाज' (पा-कुआ च्याओ) और 'दिव्य-बुद्धि-समाज' (थ्यान-ली च्याओ) नामक शाखाएँ सक्रिय हो गयीं और दक्षिण में हुङ 'समाज' (हुङ मेन) अर्थात् 'त्रिक-समाज' (सान-हो हुइ) या 'स्वर्ग-और-पृथ्वी-समाज' (थ्यान-ती हुइ) आदि संस्थाएँ जोरों से उभरने लगीं। इनके अनुयायी वीरता, भाईचारे और राष्ट्रभक्ति के आदर्श पर चलते थे जो उन छत्तीस शपथों में निहित था जिन्हें हर सदस्य को दीक्षा के समय लेना पड़ता था। इनमें सबसे पहली शपथ यह थी कि "हुङ समाज में प्रविष्ट होने के समय से तुम्हारे माँ-बाप मेरे माँ-बाप हैं, तुम्हारे भाई-बहिन मेरे भाई-बहिन हैं, तुम्हारी पत्नी मेरी भाभी है और तुम्हारे बेटे-भतीजे मेरे बेटे-भतीजे हैं"। इस प्रकार इन समाजों ने उस काल की वर्गीकृत व्यवस्था के स्थान पर एक समानतापरक संस्कृति का सूत्रपात किया।

इन समाजों के अलावा 'थाई-फिङ' (दिव्य शान्ति) नामक व्यापक और सशक्त आन्दोलन उस काल की किसानों की क्रान्ति का वाहन बना। १८५३ ई० में इसके नेताओं ने 'दिव्य राज्य की भूमि-व्यवस्था' (थ्यान-छाओ थ्यान-मू चिह-तू) शीर्षक विज्ञप्ति में घोषणा की कि सब भूमि को ६ भागों में बाँट कर परिवारों में उनके सदस्यों की संख्या के अनुपात से वितरित की जायेगी। हर व्यक्ति का हिस्सा समान होगा चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। सोलह वर्ष से कम आयु के व्यक्ति का भाग वयस्कों के भाग से आधा होगा।

फसल के कटने के वक्त हर पच्चीस परिवारों पर नियुक्त अधिकारी (लियाङ स्यू-मा) उपज का केवल इतना भाग उनके पास छोड़ कर जिससे अगली फसल तक वे अपना गुजारा कर सकें बाकी सब उनसे लेकर सरकारी कोश में जमा करेगा। हर आदमी को अनिवार्य रूप से खेती का काम करना होगा और हर स्त्री के लिए रेशम के कीड़े पालना और कपड़ा बुनना जरूरी होगा और हर परिवार को कम से कम पाँच मुर्गी और दो सुअर रखने पड़ेंगे और दल-अधिकारी इनमें से भी जरूरत के अनुसार उनके पास छोड़ कर बाकी सब सरकारी कोश में पहुँचायेगा। सरकारी कोश में से समान रूप से सबके शादी-ब्याह, रंज-गम और तीज-त्यौहार के खर्च पूरे किये जायेंगे। इस व्यवस्था में वैयक्तिक सम्पत्ति रखना पूर्ण रूप से अवैध था और सामाजिक विषमता जघन्य अभिशाप माना जाता था। इन लोगों ने इस आन्दोलन को चलाने के लिए चीन की पुरानी व्यवस्था से नत्थी कन्फ्यूशियसी धर्म को तिलांजलि देकर पश्चिम से प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयत को ग्रहण किया जिस प्रकार वर्तमान सदी में वहाँ के क्रान्तिकारियों ने अपनी विचार-धारा के रूप में पश्चिम से साम्यवाद को अपनाया। वास्तव में थाई-फिङ आन्दोलन और साम्यवादी क्रान्ति में बहुत अधिक समानता है। थाई-फिङ आन्दोलन बहुत तेजी से बढ़ा, १८५३ ई० में इसमें भाग लेने वालों ने नानकिङ में अपना शासन कायम कर लिया और अपने अधीन सब इलाके में दासता, जादूगरी, जुआ, शराब, अफीम और तम्बाकू की पूरी बन्दी कर दी और स्त्रियों के पैर बाँधने की प्रथा का निषेध कर उन्हें पूरी तरह पुरुषों के बराबर घोषित कर दिया। उन्हीं दिनों बौद्ध संस्था 'श्वेत-कमल-दल' के गुट (न्यान) हवाई और पीली नदियों के बीच के इलाके में सक्रिय हो गये और युन्नान में मुसलमानों ने विद्रोह कर दिया। ये आन्दोलन सुदृढ़ व्यवस्था के अभाव में दब गये किन्तु इनके फलस्वरूप मंचू शासन को आवश्यक सुधार करने पड़े और आधुनिकता की ओर चरण बढ़ाने का प्रयास करना पड़ा।

मिङ और मंचू काल साहित्य के विकास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। मिङ काल में पुराणपन्थिता और कृत्रिम रूढ़िवादिता के विरुद्ध ताङ शुन-चिह (१५०७-१५६० ई०) और ली चो-वू (१५२७-१६०२ ई०) ने आवाज उठायी। ली को गिरफ्तार कर जहर खाने पर मजबूर किया गया। किन्तु उसके प्रभाव से युवान चुङ-लाङ (१५६८-१६१० ई०) आदि का चिङ-लिङ आन्दोलन शुरू हुआ जिसने पुराने ढंग की शिक्षा-पद्धति और विद्वत्ता पर कठोर आघात किये। इसके फलस्वरूप 'वैयक्तिक निबन्ध' (श्याओ पिन वेन) और सामाजिक उपन्यास का प्रचलन हुआ। इन उपन्यासों में 'शुइ-हू' (सब मनुष्य भाई-भाई) जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, के अलावा 'सान-कुओ-चिह-येन-ई' (तीन राज्यों का लोकप्रिय उपन्यास), जिसमें १६८ ई० से २६५ ई० तक के वीरतापूर्ण आख्यानों

का रोमांचकारी वर्णन है, 'चिन-फिङ -मेङ्' (सोने का कमल), जिसमें एक छोटे मुफस्सल नगर के मध्यमवर्गीय परिवार की कहानी है, उल्लेखनीय हैं।

मंचू काल में रूढ़िवादिता और पुराणपन्थिता चरम सीमा पर पहुँच गयी । जो साहित्य रूढ़िवादी विचारों से मेल नहीं खाता था उसे नष्ट कर दिया गया । लगभग १३,००० ग्रन्थ नष्ट किये गये । चिन्तन और लेखन पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये गये । वाङ शी-हू को इसीलिए मृत्युदण्ड दिया गया कि उसने खाङ-शी द्वारा तैयार कराये गये कोश की आलोचना की । इससे साहित्य की प्रगति रुक गयी । उपन्यास के क्षेत्र में जरूर 'विद्वान्' (रू-लिन-वाइ-शिह) जिसमें पुराने ढंग के विद्वानों पर व्यंग्य कसे हैं, 'लाल कमरे का स्वप्न' (हुङ लू-मेङ), जिसमें रोमान्तिक प्रेम का वर्णन है, और 'दर्पण के फूल' (चिङ-हुवा-युवान), जिसमें 'गुलिवर की यात्राओं' की तरह सामाजिक विषमता और अन्याय की चर्चा है, लिखे गये, पर अधिकतर लेखक पुरानी परम्पराओं से चिपके रहे । इस युग के अन्त में, कुछ पश्चिमी प्रेरणा से, वू यू-याओ ली पी-युवान, त्सेङ पू आदि ने सामाजिक विषयों को लेकर साहित्य लिखा, लेकिन इसे युग की सामान्य प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता।

मिङ काल में ललित कलाओं का काफी विकास हुआ । विशेष रूप से स्थापत्य की पर्याप्त उन्नति हुई। इसमें रंगीन टाइलों के प्रयोग से भड़क पैदा की जाती थी। इसकी उत्तरी शैली में छत का घुमाव तम्बू की छत की तरह धीमा और हल्का होता था और सजावट भी कम थी, और दक्षिणी शैली में छत का घुमाव गहरा होता हुआ किनारों पर एकदम ऊपर की ओर मोड़ लेता था और नगरों पर आख्यानिक देवी-देवताओं की मूर्तियों की भरमार रहती थी। इस युग में नगरों और दुर्गों के निर्माण की कला का भी विकास हुआ और वस्त्र, कम्बल, गलीचे, हाथीदाँत, जड़ाई, चीनी बरतनों की दस्तकारी बहुत आगे बढ़ी।

मंचू युग में चीनी मिट्टी की दस्तकारी में बहुत प्रगति हुई । इसकी सजावट पर यूरोपीय प्रभाव भी दृष्टिगत होता है। साथ ही चित्रकला में चार चाँद लगे। वाङ नाम के चार चित्रकार प्रकृति-चित्रण में अद्वितीय हैं। युन शू-फिङ (१६३३-१६९० ई०) के चिड़ियों और फूलों के चित्र अत्यन्त सुन्दर हैं । किन्तु बाद में यह कला निर्जीव और अनुकरण-प्रधान हो गयी । स्थापत्य के क्षेत्र में सफेद संगमरमर के महल और उनमें लाल खम्भों पर टिकी सोने से जड़ी छतें उल्लेखनीय हैं, किन्तु सामान्यतः पतन का वातावरण दृष्टिगत होता है।

## मध्यकालीन जापान

बारहवीं सदी की गड़बड़ से ११९२ ई० में 'शोगून-व्यवस्था' का जन्म हुआ। योरी-

तोमो ने 'शोगून' (सेनापति) की उपाधि धारण कर सैनिक शासन (बाकूफू) का सूत्रपात किया जो दीवानी शासन के साथ-साथ उन्नीसवीं सदी के मध्य तक चलता रहा। शीघ्र ही योरीतोमों के वंशजों की ताक़त कमजोर हो गयी और होजो परिवार के लोगों का प्रभुत्व बढ़ गया। ११९९ ई० से १३३३ ई० तक उनका जोर रहा। चौदहवीं सदी में मंगोलों के आक्रमणों ने होजो शासन को कड़ा झटका दिया। उधर भोग-विलास और भ्रष्टाचार से इसकी जड़ें हिल गयीं। आपसी मारकाट और छीना-झपटी ने इसका शीराजा बिखेर दिया। फलतः सम्राट् ने आशीकागा परिवार की मदद से शान्ति क़ायम की। १३९२ ई० से १६०३ ई० तक आशीकागा परिवार का प्रभुत्व रहा। किन्तु सामन्तों के युद्ध, बौद्ध सैनिक-भिक्षुओं के संघर्ष, शोगूनों की विलासिता और उससे उत्पन्न करों का भार और फलतः जनता का विद्रोह बढ़ते रहे। सोलहवीं सदी में पुर्तगालियों ने गोला-बारूद और ईसाइयत का प्रचार किया। व्यापार के लोभ से बहुत लोग ईसाई हो गये। सन्त ज़ेवियर के १५४९ ई० में जापान पहुँचने के थोड़े ही समय में २०० गिरजाघर खुल गये और डेढ़ लाख आदमियों ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। इस उथल-पुथल के काल में निचले दर्जे के सैनिक वर्ग उभरे। ओदा नोबूनागा (१५३४-१५८२ ई०) ने धर्म-संघों की शक्ति नष्ट की। हिदेयोशी (१५३६-१५९८ ई०) ने इस काम को पूरा किया, सामन्तों की स्वायत्तता को समाप्त किया और देश को एक सूत्र में बाँध कर विदेशों को जीतने तक के मंसूबे बनाये। तोकूगावा इएयासू (१५४२-१६१६ ई०) ने राजनीतिक और सैनिक संगठन को मज़बूत किया और १६०३ ई० में तोगूगावा शोगून शासन की नींव रखी जो १८६७ ई० तक चला। इस लगभग ढाई सौ वर्ष के लम्बे काल में जापान में शान्ति रही, किन्तु संकीर्णता भी बढ़ी और एक ओर सामाजिक व्यवस्था में सख़्ती पैदा हुई और दूसरी ओर आर्थिक प्रगति और बौद्धिक विकास ने नये युग के दरवाज़े खोलने शुरू किये।

जापानी समाज चार भागों में बँटा है। ये चार भाग हैं 'शी' (सैनिक), 'नो' (किसान), 'को' (कारीगर), और 'शो' (व्यापारी)। मध्य-काल में यह विभाजन निखर गया और इससे सामन्ती व्यवस्था का विकास हुआ। ग्यारहवीं सदी से ही देहाती नेता एक सैनिक अभिजात वर्ग का रूप लेने लगे। देहात में कुछ तो जमींदार ('रयोके' या 'रयोशू') थे, कुछ उनके कारिन्दे और ज्यादातर किसान जिनकी कई श्रेणियाँ थीं। इन सब के उपज में अपने-अपने हक़ और लाग थे जिन्हें 'शिकि' कहते थे। राजनीतिक गड़बड़ में इनमें से फुर्तीले और ताक़तवर लोग सैनिक संगठन करने लगे। वे घोड़ों पर चढ़ते, तीर-कमान और मुड़ी हुई तलवारों का प्रयोग करते और रंगीन चमड़े के फीतों से जुड़ी लोहे की छोटी-छोटी पट्टियों से बने हलके और मुड़वा कवच पहनते थे। उनके

साथ पैदल सैनिक रहते जिन्हें 'समुराई' (सेवक) कहते थे और जो स्वामी-भक्ति को वैयक्तिक सम्बन्धों और खान्दानी रिश्तों से ज्यादा महत्त्व देते थे। स्वामी और सेवक का यह संबंध पुश्तों तक चलता था। स्वामी अपने सेवकों को भूमि देता और सेवक उसके बदले सैनिक सेवा करते। सचाई, वफादारी और वीरता सबसे बड़े गुण माने जाते। आर्थिक लाभ को हेय और अवसरवादिता को जघन्य समझा जाता। सादगी, किफायत-शारी और सख्त जीवन पर बहुत बल दिया जाता। पुस्तकीय ज्ञान को भी साधारण माना जाता। मृत्यु की अवहेलना, रणभूमि में सम्मानपूर्वक वीरगति पाना और पराजय की अवस्था में आत्महत्या (इसे 'सेप्पूकू'—आँतें निकालना या 'हराकिरि' पेट—फाड़ना कहते हैं) करना योद्धा के प्रधान गुण समझे जाते। प्रत्येक योद्धा अपनी वंशावली और तलवार—जापान की मुड़ी हुई तलवारें मध्यकाल में सारे पूर्वी एशिया में मशहूर थीं और इनकी बाहर बहुत माँग थी और काफी संख्या में इनका निर्यात होता था—पर बड़ा गर्व करता था।

जैसे-जैसे समय बीतता गया एक ओर तो योद्धाओं में विलासिता बढ़ने लगी और दूसरी ओर ज़मीनों के बँटवारों से उनकी आर्थिक स्थिति कमज़ोर होने लगी। बहुतों के लिए घोड़े तक रखना कठिन हो गया और गुज़ारे के लिए अपने 'शिकि' (हक़) को गिरवी रखना पड़ा। इस हालत में एक नया स्थानीय योद्धा वर्ग उभरा। इसमें ज्यादातर 'जितो' और 'शुगो' (ग्रामरक्षक) श्रेणी के लोग थे जिन्हें कामाकुश काल में केन्द्र की ओर से देहाती इलाक़ों में नियुक्त किया गया था। आशीकागा काल में इनमें से बहुत से स्वतन्त्र सामन्त बन गये और उनके सहयोग पर शोगूनों के भाग्य का चक्र घूमने लगा। आगे चल कर ये सामन्त 'दैमयो' कहलाने लगे। सारा शासन वास्तविक रूप से इनके हाथ में आ गया। इनके अपने उप-सामन्त और उनके भी नीचे छोटे सामन्त होते थे। व्यवस्था की दृष्टि से एक ही पुत्र को सारी सम्पत्ति का वारिस बनाने और स्त्रियों को प्रत्येक अधिकार से वंचित करने की प्रथा चल पड़ी थी। किसानों से कर, बेगार और रंगरूट लिये जाते थे। व्यापारियों को भी बढ़ावा दिया जाता था क्योंकि उनसे करों और भेंट के रूप में काफी धन आता था। इस प्रकार 'दैमयो' (सामन्त) का गढ़ एक स्वतन्त्र आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक इकाई बन गया था जिसके अपने अलग क़ानून, रस्म और रिवाज थे।

'दैमयो' (सामन्तों) में आपसी युद्ध बराबर चलते रहते थे। इनमें पुराने सामन्त मिटते और नये उठते रहते थे। इन युद्धों के कारण अधिकांश लोगों को सैनिक कार्य में लगना पड़ता था। इससे तलवार चलाने वाले घुड़सवार के बजाय भाला चलाने वाले पैदल सिपाही (आशीगारू) का महत्त्व अधिक हो गया और धीरे-धीरे अभिजातवर्गीय

योद्धा और सामान्य सैनिक का भेद कम होने लगा। सामन्ती समाज में बड़ी उथल-पुथल हुई और निचले दर्जे के लोगों का बोलबाला हो गया। देहात दंगे-फसादों से गूँजने लगा। और विद्रोही लोग सामन्तों सूदखोरों और साहूकारों के ख़िलाफ हल्ला बोलने लगे। नये सैनिक संगठन सामने आने लगे जिनमें सामान्य लोगों की बहुतायत थी और धार्मिक सम्प्रदायों का बड़ा हाथ था।

तोकूगावा काल में सामन्ती-व्यवस्था को जैसे का तैसा रहने दिया गया पर उसे केन्द्रीय नियन्त्रण के शिकंजे में लाने की कोशिश की गयी। हिदेयोशी ने दैमयो पर कर तो नहीं लगाये किन्तु उन्हें सैनिक सेवा के लिए बाध्य किया और उनपर निर्माण का भारी बोझ लादा। बाद के शोगूनों ने दैमयों के आपस में शादी-विवाह और रिश्तेदारी करने, सैनिक व्यवस्था बढ़ाने, क़िलाबन्दी करने और पुराने क़िलों की मरम्मत कराने के लिए केन्द्रीय शासन की इजाज़त अनिवार्य घोषित की। इसके अलावा उन्होंने हर दैमयो की रियासत (हान)—इनकी संख्या पहले २९५ थी बाद में २६५ रह गयी—में निरीक्षक (मेतसूके) नियुक्त किये जो उनके शासन पर निगाह रखते और केन्द्र को उसकी नियमित सूचना देते थे। हर दैमयो के लिए एक दूसरे के शासन के समाचार केन्द्र तक पहुँचाना ज़रूरी कर दिया गया। १६४२ ई० से दैमयो को हर दूसरे साल चार महीने के लिए राजधानी में स्वयं रहकर शोगून की हाज़री देनी पड़ती थी और जब वे अपनी-अपनी रियासतों में जाते थे तो अपने बीवी-बच्चे बन्धक के रूप में वहाँ छोड़ने पड़ते थे। इसके लिए उन्हें राजधानी में भी अपने घर-बार रखने पड़ते थे जो आर्थिक दृष्टि से भार-रूप थे। इससे सामन्ती स्वायत्तता और अव्यवस्था को बहुत हद तक रोका जा सका और केन्द्रीय-व्यवस्था को सुरक्षित कर पारस्परिक सम्पर्क और नागरिक तथा व्यापारिक विकास को बढ़ावा दिया जा सका।

दैमयो की कई श्रेणियाँ थीं। तोकूगावा शोगूनों के गोती-नाती 'शिम्पान' कहलाते थे। इएयासू की सत्ता को मानने वाले दैमयो को 'फूदाई' कहते थे। अन्य दैमयो के वंशजों का नाम 'तोज़ामा' था। इन दैमयो के पिछलगों में से कुछ को ज़मीनें मिली थीं—उन्हें 'चिगयो-तोरी' कहते थे—और कुछ को चावल मिलता था—इनका नाम 'कुरामाई-तोरी' था। जिन्हें ज़मीनें दी जाती थीं वे उनके किसानों से कर और बेगार लेते थे, किन्तु इस कर को वसूल करने का अधिकार दैमयो के कर्मचारियों को था, न कि सीधे उनको। ये कर्मचारी कर वसूल करके 'चिगयो-तोरी' को दे देते थे। बाद में कर की दर तय करने और अपराधियों को दण्ड देने के लिए न्यायाधीशों को नियुक्त करना भी दैमयो ने अपने हाथों में ले लिया।

सैनिक वर्ग (दैमियो और समुराई) शेष समाज से भिन्न और ऊपर था। इसके

सदस्यों को दो तलवारें—एक छोटी और दूसरी बड़ी—रखने का अधिकार था। और लोग इस तरह तलवारें नहीं रख सकते थे। साथ ही उन्हें सामान्य आदमी को असम्मान प्रकट करने पर मार डालने (किरिसूते) का हक़ था। तोकूगावा काल में सैनिक और असैनिक वर्गों के भेद को बहुत स्पष्ट और निखरा रखा गया।

समाज का दूसरा वर्ग किसानों का था। कुछ लोग खुद खेती करते थे, कुछ दूसरों से करवाते थे। कुछ बड़े किसान (गोनो) थे और कुछ बवाँई या चाकरी (कोसाकू) से गुज़ारा करने वाले (गेनिन) थे। शासन की नीति यह थी कि किसान के पास सिर्फ इतना छोड़ कर जिससे वह साल भर तक अपना और अपने परिवार का पेट भर सके बाकी सब कुछ कर के रूप में ले लिया जाये। १६४६ ई० में 'केइयान नो फूरेगाकी' नाम का जो आदेश जारी किया गया उसमें किसानों को चावल के बजाय मकी, मोटा अनाज और सब्जी खाने और सिल्क के बजाय सूत और सन पहनने का हुक्म दिया गया। उपज का चालीस से साठ प्रतिशत तक भाग लगान के रूप में लिया जाता था। इसके अलावा फल, मछली और छोटे-मोटे व्यापार पर अलग कर थे। लगान को सरकारी गोदाम तक पहुँचाने और डाक-चौकियाँ चलाने के लिए भी अलग कर थे। सड़कों और बाँधों पर काम करने के लिए बेगार (सूकेगो) ली जाती थी। डाक के लिए घोड़े तलब किये जाते थे। १६४३ ई० से जमीन के रहन और बै की मनाही लागू की गयी और १६७३ ई० से उसके बँटवारे पर पाबन्दी लगायी गयी। बिना लिखित इजाज़त किसान के लिए रोज़गार की तलाश में या शादी में शरीक होने के लिए अपने इलाके से बाहर जाना अपराध था। गाँव में रात को घुमन्तू सैनिकों (रोनिन), व्यापारियों या फकीरों को टिकने नहीं दिया जाता था।

एक गाँव में औसतन पचास घर होते थे। सोलहवीं सदी के अन्त में गाँव की आबादी का ज्यादातर भाग उन भूमिधरों और किसानों का होता था जो हिदेयोशी के १५८८ ई० के तलवार छीनने के अभियान के बाद सैनिक कार्य छोड़ कर खेती करने लगे थे। इनमें कुछ बड़े थे, जिन्हें 'होन-ब्याकुशो' कहते थे और कुछ छोटे थे, जिनका नाम 'को-साकुनिन' था। इनके अलावा बहुत से कमेरे या मजदूर, ('हिकान या 'नागो') थे। गाँव के सभी लोगों की सामूहिक इकाई थी जो उनके वैयक्तिक कामों की जिम्मेदार थी। यह इकाई मुखिया ('ननुशी' या 'शोया') चुनती थी जो स्थानीय सरकारी अफसरों ('दैकान' और 'गुन्दै') के आदेशों के अनुसार काम करते थे। बहुत जगह कई-कई गाँवों के समूह (गो) बड़े मुखिया (ओ-शोया) के अधीन होते थे। गाँव के लोग पाँच-पाँच परिवारों के समूहों में बँटे थे। समूह अपने प्रत्येक व्यक्ति के कार्य का उत्तरदायी था और करों की अदायगी का ज़िम्मेदार था। इस व्यवस्था को 'गोनिन-गूमी' कहते थे।

सत्रहवीं सदी में खेती-बारी में बड़ी उन्नति हुई। रुई, तम्बाकू, तिलहन, नील, शहतूत आदि की खेती को बहुत बढ़ावा मिला। नारंगी, अंगूर, खरबूजे, तरकारी आदि ज्यादा उगाये जाने लगे। आबादी काफी बढ़ी और १७०० ई० तक ढाई करोड़ तक पहुँच गयी। मियाज़ाकी अन्तेई ने १६९६ ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'नोगयो ज़ेन्शो' (किसान की पुस्तिका) में खेती-बारी के नये तरीक़ों का प्रतिपादन किया। अतः खेती वाणिज्यपरक हो गयी।

समाज का तीसरा वर्ग कारीगरों का और चौथा व्यापारियों का था। हालाँकि कारीगरों का दर्जा किसानों से निचला था, लेकिन जो कारीगर अपने धन्धे में कुशल थे उनका बड़ा आदर था। कवच और तलवार बनाने वाले बड़ा महत्त्व रखते थे और उन्हें और बढ़इयों, सुनारों, बुनकरों, कलाविदों और अक्सर हलवाइयों को, जो शोगून के दरबार से नत्थी थे, एक तलवार रखने का अधिकार था। दैमयो की रियासतों में कारीगर गढ़ों और किलों में थोड़े वेतन पर काम करते थे। पर इनकी व्यवसाय-वार अलग-अलग श्रेणियाँ (ज़ा) थीं। नोबूनागा के शासन-काल में इन्हें तोड़ कर 'स्वतन्त्र दल' ('राकुइची' और 'राकूज़ा') बनाये गये। किन्तु बाद में जो सामाजिक जकड़बन्दी की नीति अपनायी गयी उसके फलस्वरूप नये संगठन (नाकामा) अस्तित्व में आये। कारीगरों और व्यापारियों के अलग-अलग 'नाकामा' थे। समय के साथ-साथ इनकी संख्या और शक्ति काफी बढ़ी।

खेती-बारी की उन्नति और कपड़े, काग़ज़, चीनी के बरतन और शराब खींचने के धन्धों के विकास से व्यापार की बहुत प्रगति हुई। सामन्ती वर्गों ने भी अपने बढ़ते हुए खर्च पूरे करने के लिए व्यापार को बढ़ावा दिया। देशी ही नहीं, विदेशी व्यापार भी बढ़ा। पूर्वी और दक्षिणी एशिया में जापानी व्यापारियों के दल बस गये। सत्रहवीं सदी के शुरू में फिलिपीन्स में जापानी व्यापारियों की संख्या ३,००० थी। स्याम में तो जापानियों ने स्थानीय राजनीति तक में भाग लेना शुरू कर दिया था। ये लोग खास तौर से जापान से चाँदी ले जाकर उसके बदले में चीनी रेशम खरीदते थे। व्यापार और ईसाइयत के गठबन्धन के कारण तोकूगावा शासन को राष्ट्रीय रक्षा और सामाजिक दृढ़ता के विचार से दोनों पर पाबन्दी लगानी पड़ी। १६३३ और १६३९ ई० के बीच जापानियों के देश से बाहर जाने और बाहर गये हुओं को वापस लौटने की मनाही की गयी और चीनी और डच व्यापारियों के नागासाकी से बाहर जाने पर रोक लगायी गयी। लेकिन इन पाबन्दियों के बावजूद व्यापार की प्रक्रिया चलती ही रही। नगरों में आढ़ती (नाकागाई) और थोक सौदागर (तोइया) उन्नति कर गये। ओसाका के चावल के आढ़तियों और हुण्डी-पर्चे के दलालों ने काफी रक़में कमायीं। सारे देश के

व्यापारी वर्ग पर इनका सिक्का जम गया। मितसुई परिवार जैसे व्यापारी घराने का आविर्भाव हुआ जिन्हें जापान के नवीकरण में काफी भाग लिया। नगरों के निवासी (चोनिन)—कारीगर और व्यापारी—मेहनती, खुशमिजाज़ और शौक़ीन तबियत के थे। उन्हें नाटक, होटल, चकलों और भोग-विलास के केन्द्रों में बड़ी रुचि थी। हँसी-मज़ाक और तड़क-भड़क पसन्द थी, वेश्याओं और गणिकाओं (गाइशा) के फैशन और श्रृंगार रुचते थे और खेल-तमाशों और प्रेम के रोमांसों में खासी दिलचस्पी थी, लेकिन साथ ही साथ ज़ेन परम्परा के कारण कुछ निग्रह और संयम का भाव भी था, जिससे शालीनता और बड़प्पन बने रह सके। इस नागरिक विकास से साहित्य, संस्कृति और कला में नयी प्रवृत्तियों का आविर्भाव हुआ जिनसे जापान में आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ।

व्यापारियों और सामन्तों ने मिलकर किसानों को लूटने पर कमर बाँधी। इससे अठारहवीं सदी में देहात में उपद्रव उठ खड़े हुए। १७३८ ई० में इवाकी प्रान्त में भारी करों के विरोध में ८४,००० किसानों ने विद्रोह कर सरकारी इमारतों को नष्ट किया। कुरूमे में ५०,००० लोगों ने एक अनुचित कर के विरोध में आन्दोलन शुरू किया। १७६४-६५ ई० में मुसाशी और कोतसूके में काफी गड़बड़ हुई। १७७३ ई० में हिदा में भयंकर दंगे हुए। १७८१ ई० में लोगों ने व्यापारियों द्वारा लगाये गये रेशम और कपास के परीक्षा-शुल्क का कड़ा विरोध किया। इस अरसे में सूखे और महामारी से जान और माल का बड़ा नुकसान हुआ। इस परिस्थिति में सैनिक-शासक वर्ग समुराई को अपना रवैया पलटना पड़ा। उन्होंने पाश्चात्य विद्या (रंगाकू) में रुचि लेनी शुरू की और १७८७ ई० में सुधारों का श्रीगणेश किया जिन्हें 'कन्सेई सुधार' कहते हैं। इनके प्रवर्तक मत्सूदैरा सादानोबू (१७५८-१८२९ ई०) का विचार था कि खेत में काम करने वाला किसान भी ऐसा ही आदमी है जैसा ऐश करने वाला दैमयो, अतः राज्य को सार्वजनिक हित को दृष्टि में रखकर काम करना चाहिए।

कामाकुरा और आशीकागा काल की अव्यवस्था से जो आतंक, निराशा और असन्तुलन फैला उसकी अभिव्यक्ति नये धार्मिक सम्प्रदायों में हुई। संसार से ऊब कर लोगों ने स्वर्ग की आस लगायी, दर्शन की बारीकियों को छोड़कर मुक्ति के मार्ग की तलाश की और भक्ति के आधार पर मानव समानता की परिकल्पना को मूर्त रूप दिया। हेई युग में ही कूया (९०३-९७२ ई०) ने बाजारों में 'नमू अमिदा बुत्सू' (नमो अमिताभ-बुद्धाय) के सार्वजनिक कीर्तन का प्रचार किया था। यही नहीं उसने लोकहित के लिए पुल बनवाये और कुए खुदवाये और मानव एकता का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए ऐनू लोगों में धर्म प्रचार किया। यदि कूया ने नृत्य पर जोर दिया तो रयोनिन (१०७२-११३२ ई०) ने संगीत पर। उसका विचार था कि एक व्यक्ति द्वारा 'नेमबुत्सू' (नमो

बुद्धाय) के जप से ही सबका कल्याण हो सकता है। इप्पेन (१२३९-१२८९ ई०) ने कहा कि अमिताभ बुद्ध की कृपा सब धर्मों और सम्प्रदायों पर व्याप्त है, अतः नये मठ मन्दिर बनाने के बजाय एक साथ मिल कर उसके नाम का कीर्तन करना आवश्यक है। होनेन शोनीन (११३३-१२१२ ई०) ने जोदो (पवित्र लोक) सम्प्रदाय की स्थापना की और अमिताभ बुद्ध के नाम के जप पर जोर देते हुए मन्दिरों, पुजारियों और उपचारों का निरर्थक सिद्ध किया। होनेन के शिष्य शिनरान (११७३-१२६२ ई०) ने हर समय अमिताभ बुद्ध के नाम के जप को भी बेकार बताया और केवल एक बार श्रद्धा से उसके नाम का स्मरण करना काफी समझा। उसने मठों की खुली आलोचना की और सब भिक्षुओं को विवाहित जीवन बिताने पर विवश किया। उसके सम्प्रदाय को 'सच्चा सम्प्रदाय' (शिन्शू) कहते हैं। पूर्वी जापान के एक मछुए के लड़के निचिरेन (१२२२-१२८२ ई०) ने बुद्ध बोधिसत्वों के विवाद को छोड़कर केवल 'पुण्डरीक सूत्र' के आधार पर धार्मिक जीवन का संगठन करने की चेष्टा की और इस उद्देश्य से 'होक्के' (पुण्डरीक) सम्प्रदाय की शुरुआत की। इसके अनुयायी अमिताभ का नाम जपने के बजाय 'नमू म्योहो-रेंगे-क्यो' मन्त्र द्वारा पुण्डरीक सूत्र को नमस्कार करते हैं। किन्तु वे बोधिसत्त्व चर्या के उत्सर्ग, बलिदान, शान्ति, वीर्य आदि गुणों को आत्मसात् करने और उन्हें जीवन में चरितार्थ करने पर भी बहुत जोर देते हैं। उनके अनुसार क्रोध, लोभ और अहंकार मनुष्य के परम शत्रु हैं। उनमें राष्ट्रीय भाव भी कूट-कूट कर भरा है। इस युग में एइसाई (११४१-१२१५ ई०) ने ११९१ ई० में चीन से छान (ध्यान) सम्प्रदाय को लाकर जापान में प्रतिष्ठित किया। इसका नाम जेन पड़ गया। इसमें आत्म-संयम, अनुशासन, प्राकृतिक जीवन पर बहुत जोर दिया जाता है। इसलिए यह सैनिक वर्ग को बहुत पसन्द आया और उसमें इसका बहुत प्रचार हुआ। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में बुद्धत्व निहित है और इसे ध्यान, मनन, चिन्तन द्वारा जाना जा सकता है। एइसाई ने जापान में चाय का प्रचार किया। तब से चाय पीने की रस्म जापानी संस्कृति का अभिन्न अंग बन गयी। आडम्बरहीन बगीचे में, सीधी-सरल कुटिया में, जहाँ गुलदस्ते में केवल एक ही फूल लगा हो, भूरे या काले रंग की खुरदरी केतली से चाय पीने का उपचार मानव और प्रकृति के समन्वय का प्रतीक हो गया। जेन भिक्षुओं ने विदेश नीति और प्रशासन में काफी भाग लिया और साहित्य और कला में नवीन सांकेतिक प्रवृत्तियों का सूत्रपात किया। इस युग में शिन्तो और बौद्ध विचार-धाराओं का भी सामंजस्य हुआ और यह माना जाने लगा कि शिन्तो देवता बोधिसत्त्वों के अवतार हैं। इस प्रवृत्ति को 'होन्जी सुइजाकू' कहते हैं।

तोकूगावा काल में बौद्ध सम्प्रदायों के बजाय कन्फ्यूशियसी मत का ज्यादा प्रचार हुआ क्योंकि यह लोक-व्यवस्था, सामाजिक मर्यादा और प्रशासनिक स्थायित्व से अधिक

सम्बन्धित था। फूजीवारा सेइका (१५६१-१६१६ ई०) ने चू-शी की विचारधारा का प्रसार किया और हायाशी परिवार के तीन पीढ़ियों के विचारकों ने इसे तात्कालिक राष्ट्रधर्म का रूप दिया। इसकी प्रेरणा से इतिहास-लेखन और प्राकृतिक विज्ञान में काफी प्रगति हुई। नाकाए तोजू (१६०८-१६४८ ई०) ने वाङ-याङ-मिङ के मत का अनुसरण करते हुए मानसिक संयम पर बहुत जोर दिया और कुमाजावा बानजान (१६१९-१६९१ ई०) ने सुधारवादी कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार की। यामागा सोको (१६२२-१६८५ ई०) ने सैनिक वर्ग को बौद्धिक कार्यों की ओर प्रवृत्त किया और उसमें राष्ट्रीय गौरव की भावना जाग्रत की। ओगयू सोराई (१६६६-१७२८ ई०) ने कन्फ्यूशियस की विचारधारा के बजाय श्युन-त्जू के यथार्थवाद को श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए यह प्रतिपादित किया कि हमें समाज की वास्तविक आवश्यकताओं को समझ कर उन्हें अपने प्रयास से पूरा करना चाहिए। अठारहवीं सदी में बुद्धिवाद का नारा ऊँचा उठा। कैहो सेइरयो (१७५५-१८१७ ई०) ने दार्शनिक और नैतिक चर्चाएँ छोड़कर सामाजिक और आर्थिक व्यवहार के नियमों की खोज पर जोर दिया। इस विचार-पद्धति के फलस्वरूप सेकी कोवा (१६४२-१७०८ ई०) ने गणित में न्यूटन और लाइपनित्स से मिलते-जुलते अनुसन्धान किये, सातो नोबूहिरो (१७६९-१८५० ई०) ने आर्थिक विकास के सिद्धान्तों की गवेषणा की, निनोमिया सोन्तूकू (१७८७-१८५६ ई०) ने योजना और सहकारिता की पद्धतियों का प्रतिपादन किया, और होन्द्रा तोशीआकी (१७४४-१८२१ ई०) ने पृथकता की नीति को छोड़ने की प्रार्थना करते हुए जापान को पूर्वी जगत् का इंग्लैण्ड बनाने की अपील की। अन्त में योशीदा शोईन (१८२९-१८५९ ई०) ने सामन्ती व्यवस्था के अन्त और साधारण जनता के उत्थान की माँग की।

मध्यकालीन जापानी साहित्य में कई प्रवृत्तियाँ दिखायी देती हैं। एक ओर निराशामूलक कथाएँ मिलती हैं तो दूसरी ओर वीरतापरक काव्य। इस समूचे साहित्य की मूल प्रवृत्ति को 'यूगेन' कहते हैं। इसका अर्थ सांकेतिकता या प्रतीकवाद समझना चाहिए। इसका सबसे स्पष्ट निदर्शन 'नो' नाटक है। इस प्रकार के नाटक का प्रख्यात रचयिता सेआमी (१३६३-१४४३ ई०) था। उसके नाटकों का प्रमुख पात्र भूत होता है जो अज्ञात जगत् की ओर संकेत करता है। इस साहित्य की एक अन्य प्रवृत्ति 'साबी' कहलाती है। इसका अर्थ पुरातन जीर्ण और एकाकी पदार्थों में अभिरुचि है। चाय का उपचार इसका सुन्दर निदर्शन है। इन प्रवृत्तियों पर जेन विचारधारा का गहरा प्रभाव है।

तोकूगावा काल के साहित्य में एक ओर कन्फ्यूशियसी संयम की झलक मिलती है तो दूसरी ओर इन्द्रियजन्य सुखों की अतृप्य प्यास व्याप्त है। इसकी आधारभूत प्रवृत्ति को 'उकीयो' कहते हैं। इसका अर्थ चलता-फिरता गतिशील संसार है। सागर की तरंगें

इसका प्रतीक हैं। इहारा साइकाकू (१६४२-१६६३ ई०) एजीमा किसेकी (१६६७-१७३६ ई०), उएदा आकिनारी (१७३४-१८०६ ई०) आदि के उपन्यासों में इसने कामिनी और कांचन की भूख और तड़प का रूप लिया है। नारी के सौन्दर्य का वर्णन इनकी प्रमुख विशेषता है। वेश्या-चरित भी इसमें काफी है। किन्तु चिकामात्सू (१६५३-१७२५ ई०) के नाटकों में वासना के साथ-साथ कर्तव्य की निष्ठा ('गिरि') के भी दर्शन हो जाते हैं।

१७ पदों की 'हैकू' नामक कविता मध्यकालीन जापान की विशेष देन है। इसमें जन-साधारण के मनोभाव प्रकट होते हैं। व्यापारियों के भावुक मनों को मोहने के लिए हल्के-फुल्के 'हैकाई' गीत भी बहुतायत से मिलते हैं। बाशो (१६४४-१६६४ ई०) इस शैली का प्रमुख कवि है।

मध्यकालीन कला भी उपर्युक्त उन्ही प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत है जो साहित्य में मिलती हैं। सुङ शैली के प्रकृति-चित्रण पर जेन प्रभाव बहुत गहरा है। सेस्शू (१४२०-१५०६ ई०) और मोतोनोबू (१४७६-१५५६ ई०) ने इस शैली को विकास के शिखर तक पहुँचाया। उनके सम्प्रदाय का नाम 'कानो' है। स्थापत्य के क्षेत्र में मकानों में 'तोकोनोमा' (ड्राइंग रूम) बनाना, जिसमें चित्र, चीनी बरतन, लाख की चीजें और अन्य कलाकृतियाँ सुरुचिपूर्वक सजायी हुई रहती हैं, इस युग की विशेषता है। उद्यान-रचना, वृक्षों, झाड़ियों, पोखरों, तालाबों आदि का कलापूर्ण ढंग से विन्यास करना, इस युग में बहुत विकसित हुई। मूसो कोकूशी (१२७५-१३५१ ई०) का नाम इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है। पुष्प-विन्यास भी इस युग में ऊँची कला बन गया। नाचने, गाने में काफी उन्नति हुई। कुश्ती-दंगल ('सूमो', 'जूदो') का रिवाज बहुत बढ़ा। मूर्ति-शिल्प, धातु की ढलाई-खुदाई की क्षमता, विशाल बुद्ध-प्रतिमाओं में दृष्टिगोचर है।

तोकूगावा काल की कला में 'कानो' सम्प्रदाय के तन्नयू (१६०२-१६७४ ई०) के चित्र उल्लेखनीय हैं। इस काल में चीन का प्रभाव काफी गहरा रहा। मारुयामा ओकयो (१७३३-१७६५ ई०) और शीबा कोकान (१७३८-१८१८ ई०) ने पाश्चात्य शैली का सूत्रपात किया। इससे यथार्थवादी कला का रिवाज बहुत बढ़ा। कपड़ों की कढ़ाई, बरतनों की चित्रकारी, लाख के सामान और लकड़ी के छापों की छपाई बहुत विकसित हुई। इस युग की कला में नागरिक विकास की प्रवृत्तियाँ झलकती हैं।

## नवाँ परिच्छेद

# आधुनिकता का आगमन

### तुर्की का कायाकल्प

१६८३ ई० से, जब उसमानी तुर्क वीयना के दूसरे घेरे में असफल रहे, उनका पतन शुरू हुआ। १६८६, १७१८, १७७४ और १८१२ ई० में उन्हें लगातार धक्के लगे और यह साफ हो गया कि पश्चिमी देशों के मुकाबले में सैनिक दृष्टि से तुर्क बहुत घटिया हैं। इसलिए सुल्तान सलीम तृतीय(१७८६-१८०७ ई०)के वक्त से पश्चिमी ढंग की सेना बनाने का काम शुरू हुआ जिससे इस इलाके में यूरोपियन प्रभाव और आधुनिकता की शुरुआत हुई। नये किस्म की सेना के लिए नयी शैली की शिक्षा जरूरी थी। इससे पश्चिमी ढंग के विद्यालय खुले। यूरोपियन शिक्षकों और अफसरों का बोलबाला हुआ। उनके लिए यूरोपियन ढंग के चिकित्सालय खुले। यूरोपियन विज्ञान और तकनीकी की दुन्दुभि बजी। इस सब काम के लिए धन की जरूरत थी। कुछ समय के लिए कर्ज लेकर काम चलाया गया, लेकिन इससे अर्थ-व्यवस्था टूटने लगी। इसलिए आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए उद्योग-व्यापार और खेती-बारी को सुधारने की जरूरत पड़ी। इसका अर्थ निहित स्वार्थों पर आघात करना था। इससे राजनीतिक संघर्ष पैदा हुआ। संवैधानिक परिवर्तन का स्वर गूँजा। इसके साथ-साथ आचार-विचार, रहन-सहन और तर्ज़-तरीक़े बदले। फलतः जीवन की पूरी व्यवस्था में उलट-फेर शुरू हो गया। संक्षेप में यही पश्चिमी एशिया में आधुनिकता की शुरुआत है।

पश्चिमीकरण की शुरुआत से सुल्तान सलीम तृतीय को तो अपने राज्य और प्राण दोनों से हाथ धोने पड़े, किन्तु अगले सुल्तान महमूद द्वितीय (१८०८-३९ ई०) को कुछ सफलता मिली। उसने २८ मई १८२६ ई० को नयी सेना के निर्माण की घोषणा की, १८२७ ई० में प्रबल विरोध के बावजूद भी ४ विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए पेरिस भेजा और इस्तम्बूल में चिकित्सा-शास्त्र का विद्यालय खोला, (१८३१-३४ में सैनिक संगीत का शिक्षणालय (म्यूजिका-ए-हुमायूं मकतबी) और सैनिक शास्त्र की अकादमी (मकतब-ए-उलूम-ए-हर्बिया) चलाये, १८३८ ई० में प्राथमिक और माध्यमिक स्तर की नागरिक

शिक्षा की ओर ध्यान दिया और वयस्क-विद्यालयों की योजना बनायी। इसके अलावा सुल्तान महमूद ने १८३१ ई० में सामन्ती व्यवस्था का अन्त किया और सैनिक जागीरों (तिमार) को हटाकर लगान वसूल करने के ठेके देने की व्यवस्था की।

नया दौर शुरू हो गया। १८२९ ई० में वेश-भूषा बदली। पगड़ी और लबादा सिर्फ मुल्ला-मौलवियों की पोशाक रह गयी। और लोगों के लिए तुर्की फुन्देदार टोपी (फैज), फ्रॉक-कोट, पाजामें और काले बूट जूते पहनना जरूरी हो गया। जेवर पहनना बुरा समझा जाने लगा। दाढ़ी बुरकवाने का रिवाज बढ़ गया। यूरोपियन ढंग की मेज-कुर्सी प्रयोग में आने लगी।

अगले सुल्तान अब्दुलमजीद के शासन काल (१८३९-१८६१ ई०) में लन्दन स्थित राजदूत मुस्तफा मुहम्मद रशीद पाशा (१८०२-५८ ई०) द्वारा सम्पादित 'खत्ते-शरीफ-ए-गुलखाने' नाम की राजकीय विज्ञप्ति ने सुधारों के द्वार खोल दिये। १८४७ ई० में मिली-जुली दीवानी और फौजदारी की अदालतें खोली गयीं जिनमें यूरोपियन और उसमानी न्यायाधीशों की संख्या बराबर थी और जिनके कायदे और जाब्ते यूरोपियन ढंग के थे। १८५५ ई० में गैर-मुसलमानों पर सदियों से चला आ रहा जिजया हटा लिया गया और अगले वर्ष सब धर्मों के मानने वालों की पूर्ण समानता के सिद्धान्त की घोषणा कर दी गयी। जीवन का हर क्षेत्र ही सुधारों से गूँजने लगा।

इसके बाद सुल्तान अब्दुलअजीज़ (१८६१-७६ ई०) ने १८६७ ई० में पेरिस की प्रदर्शनी देखी, १८६६ ई० में रेलमार्ग बनाने का काम शुरू किया, कुस्तुनतुनिया का विश्वविद्यालय और कानूनी शिक्षा का विद्यालय चालू किया और फ्रांसीसी ढंग की कानूनी-संहिताओं का ताँता बाँध दिया। वियना-स्थित उसमानी राजदूत सादिक रिफत पाशा ने 'यूरोप की दशा' शीर्षक अपने निबन्ध में सिद्ध किया कि वहाँ की तरक्की का सार वहाँ के लोगों की अधिकार-चेतना और कानूनी स्वतन्त्रता है। सादुल्लाह पाशा ने 'उन्नीसवीं सदी' नामक अपनी कविता में ऐसे ही विचार प्रस्तुत किये। इब्राहीम शीनासी, जिया पाशा और नामिक कमाल ने साहित्य में नयी विचार धारा का सूत्रपात किया जिसका लक्षण स्वतन्त्रता का मतवाद और संवैधानिकता का नारा था। पत्रकारिता के क्षेत्र में हलचल शुरू हुई। १८६२ ई० में शीनासी ने 'तसवीर-ए-इफकार' (विचारों का चित्र) नामक पत्र, और १८६७ ई० में अली स्वावी एफन्दी ने 'मुखबिर' (सूचक) और 'आईना-ए-वतन' (राष्ट्र-दर्पण) शीर्षक पत्रिकाएँ चालू कीं। इनकी उग्रवादिता से घबराकर सरकार ने मार्च १८६७ ई० में उन पर पाबन्दी लगा दी। इससे बहुत से पत्र और सम्पादक यूरोप चले गये। वहाँ उन्होंने 'येनी उसमानलीलार' ('नव उसमानी' या 'युवक उसमानी' या 'नव-तुर्क') दल बनाया। इस दल ने १८६८ ई०

में अपना पत्र 'हुर्रियत' (स्वतन्त्रता) निकालना शुरू किया। इस प्रकार साहित्यकारों और पत्रकारों ने मिलकर सुधारवादी कार्यक्रम की जोरदार माँग की। लेकिन यह मानना गलत है कि ये लोग पश्चिमी विचारों के अन्धे अनुयायी थे। इन्हें इस्लामी मान्यताओं में गहरी निष्ठा थी और ये उन्हें पश्चिमी विचारों से समन्वित करना चाहते थे। इनकी सांस्कृतिक चेतना और उदारवादी दृष्टि उस युग की महान् उपलब्धि है।

उन्नीसवीं सदी के आखिरी तीस वर्षों में राज्य की ओर से सुधारों को बन्द कर दिया गया लेकिन कुछ दिशाओं में काफी उन्नति हुई। जैसे १८६६ से जो रेलमार्ग बनाने का काम शुरू हुआ था वह १८८५ ई० के बाद काफी तेजी से बढ़ा। तार बिछाने में इससे भी ज्यादा उन्नति हुई। १८७८ ई० में कानून का, १८७९ ई० में ललित कलाओं का, १८८२ ई० में व्यापार का, १८८४ ई० में सिविल इंजीनियरी का, १८८९ ई० में पशु-चिकित्सा का, १८९१ ई० में पुलिस के काम का और १८६९ ई० में मनुष्य-चिकित्सा के विद्यालय खुले। मुस्तफा कमॉल ने 'पितृदेश-दल' और इस्माईल जम्बुलात और मिदहत शुक्रू ने 'उसमानी स्वतन्त्रता दल' कायम किये और 'इत्तिहाद और तरक्की' (एकता और प्रगति) की समिति ने विद्रोह का झण्डा फहराया और तुर्कीकरण की नीति को बढ़ावा दिया।

उपर्युक्त परिवर्तनों की विविध प्रतिक्रियाएँ सामने आयीं। काज़िम एफन्दी (१८५८-१९१९ ई०) का विचार था कि कुरान और शरीयत को अक्षरशः मानना ही लोगों का एक-मात्र धर्म है, उन्हें इनके अलावा और किसी चीज की जरूरत नहीं है। मुहम्मद सईद हलीम पाशा (१८६३-१९२१ ई०) का मत था कि कुरान और शरीयत में आधुनिक प्रगति के मंत्र निहित हैं और आधुनिक विज्ञान और तकनीक उन्हीं का विस्तार है, इसलिए उन्हें यूरोप से अपना लेने में कोई दोष नहीं है। जलाल नूरी (१८७७-१९३९ ई०) की धारणा थी कि सभ्यता के दो रूप हैं—तकनीकी और वास्तविक; यूरोप में पहले का विकास हुआ है और इस्लामी जगत् में दूसरे का। इसलिए यूरोप से पहले को अपनाकर दूसरे को शुद्ध रूप में सुरक्षित रखना चाहिए। अहमद मुख्तार और अब्दुल्लाह जौदत का कहना था कि सभ्यता एक ही है और वह यूरोप की है, इसलिए पूर्ण पश्चिमीकरण ही श्रेयस्कर है। १९१२ ई० में 'इजतिहाद' पत्रिका में प्रकाशित 'जाग्रत निद्रा' शीर्षक दो लेखों में अब्दुल्लाह जौदत ने तुर्की के भावी जीवन का जो चित्र खींचा उसमें एकपत्नित्व, स्वदेशी उद्योग, स्त्री-स्वतन्त्रता, धर्मनिरपेक्षता और पश्चिमी वेश-भूषा पर जोर दिया गया। ये विचार उस वक्त कपोल-कल्पना मालूम हुए लेकिन जल्दी ही ये मूर्त रूप में सामने आये।

प्रथम महायुद्ध में तुर्की की हार से उसमानी शासन समाप्त हो गया और मुस्तफा कमाल पाशा (१८८८-१९३८ ई०) ने ३१ अक्तूबर, १९२३ को गणतन्त्र की स्थापना और सब दिशाओं में आमूल परिवर्तन के द्वार खोल दिये। ३ मार्च, १९२४ को ख़िलाफत ख़त्म कर दी गयी। इसके फौरन बाद शरीयत का मन्त्रालय बन्द किया गया, धार्मिक विद्यालयों में ताले डाले गये, मुल्ला-काज़ी बर्खास्त किये गये और सब प्रकार के क़ानून बनाने के अधिकार विधान सभा ने अपने हाथ में ले लिये। ११ फरवरी, १९२६ को संसद ने स्विस क़ानूनों के नमूने पर जिस दीवानी के क़ानूनों की संहिता पास की उससे बहुपत्नी विवाह और पत्नी-त्याग बिलकुल उड़ा दिये गये, तलाक़ के मामले में पति-पत्नी दोनों को समान अधिकार दिये गये, निकाह के बजाय सिविल विवाह की प्रथा चालू की गयी, मुसलिम औरतों को ग़ैरमुसलिमों के साथ शादी करने की अनुमति दी गयी और प्रत्येक स्त्री-पुरुष को धर्म बदलने का क़ानूनी अधिकार दिया गया। २५ नवम्बर, १९२५ के एक क़ानून द्वारा सब आदमियों को तुर्की टोपी (फ़ैज़) पहनने के बजाय छज्जेदार टोप ओढ़ने का आदेश दिया गया जिससे नमाज़ पढ़ना मुश्किल हो गया और एक महीना बाद एक क़ानून द्वारा इस्लामी तिथिक्रम की जगह ग्रिगोरियन तिथिक्रम जारी किया गया जिससे रमज़ान में रोज़े रखने में दिक्क़त होने लगी। ३ नवम्बर, १९२८ को अरबी लिपि के बजाय रोमन लिपि सब जगह लागू कर दी गयी और १९१९ में माध्यमिक शिक्षा से अरबी और फारसी की शिक्षा को निकाल दिया गया। १९३३ ई० में अरबी के बजाय तुर्की में अज़ान देना ज़रूरी कर दिया गया। १९३५ में शुक्रवार (जुमे) की छुट्टी के स्थान पर आधे शनिवार और पूरे इतवार की छुट्टी शुरू की गयी। २८ जून, १९३४ को हर तुर्की नागरिक के लिए १ जनवरी, १९३५ से तुर्की उपनाम रखना लाज़मी हो गया और पुराने ज़माने से चले आ रहे सब लक़ब और ख़िताब ख़त्म कर दिये गये। इससे पहले ५ अप्रैल, १९२८ को यह तय कर लिया गया कि संविधान की दूसरी धारा से ये शब्द उड़ा दिये जायँ कि 'तुर्की राज्य का धर्म इस्लाम है'। ५ दिन बाद १० अप्रैल को इस निर्णय को क़ानूनी रूप दे दिया गया और तुर्की एक धर्मनिरपेक्ष (ला-दीनी) राज्य हो गया। इस प्रकार तुर्की के जन-जीवन का कायापलट होने लगा।

मुस्तफा कमाल अतातुर्क ने सामाजिक और सांस्कृतिक सुधारों के साथ-साथ आर्थिक मामलों पर भी काफी ज़ोर दिया। खेती का यन्त्रीकरण, उद्योगों का विकास और यातायात की उन्नति उसके कार्यक्रम के केन्द्रबिन्दु थे। १७ अप्रेल, १९२३ के इज़मिर के एक आर्थिक सम्मेलन में आर्थिक पैक्ट (मीसाक़-ए-इक़तिसादी) तैय्यार किया गया जिसमें वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का खण्डन निहित था और सब लोगों के सहयोग पर बल दिया गया था। १९२६ में स्विस क़ानूनी संहिता के लागू होते ही सामन्तशाही के सारे

चिह्न उखाड़ दिये गये। १६२७ और १६२६ के बीच भूमि-वितरण सम्बन्धी क़ानून पास किये गये। जून १६४५ को भूमि-सुधार-बिल पास हो जाने से ५०० दोनूम (१२३.५ एकड़) से ज्यादा ज़मीनें ज़ब्त कर उसे किसानों में बाँटने का काम शुरू हुआ। जिन लोगों की ज़मीनें ज़ब्त हुईं उन्हें गिरते हुए पैमाने पर बन्धों की शक्ल में २० क़िस्तों में अदा होने वाला मुआवज़ा दिया गया। इस क़ानून से ५० लाख आदमियों को फायदा हुआ। औद्योगीकरण के क्षेत्र में सरकार ने 'काद्रो' की नीति अपनायी जिसमें मार्क्सवाद, राष्ट्रवाद और सामूहिकता का पुट था। पहली पंचवर्षीय योजना १६३४ में शुरू होकर १६३६ में पूरी हुई। इस पर रूसी योजनाबन्दी का काफी प्रभाव था। ज्यादातर उद्योग राज्य के हाथ में थे। इससे औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि ०.१४ प्रतिशत से बढ़कर ०.२३ प्रतिशत हो गयी, जीवन का स्तर बढ़ा और व्यापारियों, तकनीशियनों और प्रबन्धकों का नया वर्ग ऊपर उभरा।

द्वितीय महायुद्ध के बाद से तुर्की में धीरे-धीरे पुरानी धार्मिक परम्परा उभर रही है। १६४६ से विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा फिर से चालू कर दी गयी और १६५० में इसे वैकल्पिक के बजाय अनिवार्य कर दिया गया। मस्जिदों में नमाजियों की हाजरी बढ़ने लगी। दुकानों पर अरबी के लेख दिखायी देने लगे। १६५० में ६,००० व्यक्तियों ने मक्के-मदीने का हज्ज किया। उस साल से अरबी में आज़ान लगने लगी, नक्शबन्दी और मौलवी सम्प्रदाय जारी हो गये, 'बूयुक-दोयू' (महान प्राची) जैसे धार्मिक पत्र छपने लगे और दुकानदारों और दस्तकारों में धार्मिक श्रद्धा बढ़ने लगी। इस धार्मिक उत्थान के कई कारण हो सकते हैं: (१) धर्मनिरपेक्ष वस्तुवाद की दार्शनिक प्रतिक्रिया, (२) सरकार में स्थायित्व की अनुभूति जिसके कारण प्रतिक्रियावादियों का संकट मालूम नहीं होता, (३) जनतन्त्र की प्रक्रिया से किसानों के हाथ में ज्यादा ताक़त आ जाना जो इस्लामी परम्परा में निष्ठा रखते हैं, और (४) रूस के विस्तारवाद का ख़तरा जिसे रोकने के लिए इस्लामी परम्परा उपयोगी हो सकती है। लेकिन आजकल सुलेमान देमोरल की 'जस्टिस पार्टी' की सरकार पश्चिमी देशों से अच्छे सम्बन्ध रखने के साथ-साथ रूस से भी रखना चाहती है और उसकी आर्थिक सहायता का लाभ उठाना चाहती है और अरब देशों से "ऐतिहासिक और नैतिक सम्बन्ध" दृढ़ करने पर तुली है।

## अरब जगत् की हलचलें

जुलाई, १७६८ में नेपोलियन की सेना सिकन्द्रिया में उतर पड़ी। उसे रोकने के लिए अंग्रेज़ों ने पश्चिमी एशिया में अपने अड्डे जमाने शुरू कर दिये। इन लोगों की घुसपैठ से इस्लामी जगत् में सुधारों की दन्दुभि बज गयी। इस मामले में मिस्र सब से

आगे निकला। १८०५ में मुहम्मद अली ने वहाँ का शासक बनते ही आधुनिकता के द्वार खोल दिये। सबसे पहले उसने सेना का पश्चिमीकरण किया। उसका खर्च चलाने के लिए अर्थ-व्यवस्था ठीक की। १८०८-१४ के बीच ज़मींदारी और इजारादारी (इलतिज़ाम) का ख़ात्मा हुआ और वक़्फों की जायदादों को मुआवज़ा देकर हथिया लिया गया। सब भूमि सरकारी हो गयी। किसान एक प्रकार के किरायेदार हो गये। उनका हलाई, बुवाई और कटाई का कार्यक्रम निश्चित किया गया और खाद्यान्नों को छोड़कर बाकी सब फसलें उनसे निश्चित मूल्यों पर खरीदी जाने लगीं। १८१२ के बाद खाद्यान्नों का सारा व्यापार भी सरकारी हो गया। कारीगरों को निजी तौर से काम करने की मनाही कर दी गयी, उनके लिए सरकारी कारखानों में काम करना लाज़मी हो गया। इब्राहीम पाशा ने गन्ने का फार्म और शक्कर का कारखाना जारी किया। १८२१ में मिस्र में दक्षिणी केरोलीना से एक खास क़िस्म का कपास का बीज लाया गया जिससे वहाँ कपास की खेती बहुत बढ़ी और वहाँ की अर्थ-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हुआ। शिक्षा की विशेष प्रगति हुई। इंजीनियरी, डाक्टरी आदि के विद्यालय खोले गये, छापाखाना चलाया गया और एक अख़बार निकालना शुरू किया गया। १८१३ और १८४९ के बीच ३११ विद्यार्थी सरकारी खर्चे पर पढ़ने के लिए यूरोप के विभिन्न देशों में गये। कुछ उतार-चढ़ाव के साथ यह आधुनिकता का कार्यक्रम चलता रहा। १८५१ में सिकन्द्रिया से क़ाहिरा तक रेल-मार्ग का काम शुरू हुआ और १८५९ में स्वेज़ नहर की खुदाई चालू हुई। लेकिन इन सब कार्यक्रमों में इतना धन खर्च हुआ कि सरकार कर्ज़े में डूब गयी और मिस्र पर अंग्रेज़ों के पंजे जम गये।

उन्नीसवीं सदी के आख़री भाग में मिस्र के सामाजिक ढाँचे में बड़ी तबदीली हुई। अभिजातवर्गीय ज़मींदारों और प्रशासकों तथा निचले दर्जे के नगरवासियों और किसानों के बीच व्यापारियों, तकनीकियों, विद्वानों और कारीगरों का एक मध्यम वर्ग उभरने लगा। इनमें उत्तरी यूरोप के लोगों के अलावा यूनान, इटली, माल्टा और साइप्रस के बनिए, ठेकेदार, दस्तकार, मिस्त्री और मज़दूर भी थे। ये लोग विदेशी दूतावासों की बस्तियों के निकट रहते थे। इनकी भाषा सामान्यतः फ्रांसीसी थी। ये आधुनिकता के अग्रदूत सिद्ध हुए।

शाम (सीरिया) में बशीर अल-शिहाबी (१७८८-१८४० ई०) ने आधुनिकता की शुरुआत की। उन्होंने सड़कें बनवायी, पुलों की मरम्मत करायी, १८३१ में जेसविट मिशनरियों को आने और विद्यालय खोलने की इजाज़त दी और अन्य कार्यक्रम चालू किये। अमरीकन प्रेस्बीटीरियन मिशन ने १८३४ में एक छापाखाना खोला, १८६० तक ३३ विद्यालय जारी कर दिये और १८६६ में सीरियन प्रोटेस्टेण्ट कॉलेज क़ायम

किया जिसने बाद में बैरूत के अमरीकी विश्वविद्यालय का रूप लिया। लेबनान में एक फ्रांसीसी कम्पनी ने १८६३ में बैरूत से दिमश्क तक सड़क बनायी और एक दूसरी कम्पनी ने १८६४ में बैरूत-दिमश्क-हौरान रेल-मार्ग जारी किया। १८९८ में जर्मन काइज़ेर विल्हेल्म ने येरूशलम और दिमश्क का दौरा करने के बाद बग़दाद रेलवे बनवायी जो शाम को दो हिस्सों में बाँटती थी। इन सब परिवर्तनों से समाज बदलने लगा। परम्परा से चले आ रहे समाज के दो वर्गों—सामन्त, ज़मींदार और मुल्ला वर्ग तथा किसान, मज़दूर और निर्धन लोगों के वर्ग—के बीच एक तीसरा चिकित्सकों, अध्यापकों, वकीलों, लेखकों और पत्रकारों का मध्यम वर्ग उभरने लगा। बड़े-बड़े परिवारों की जगह पति-पत्नी और नाबालिग़ बच्चों के छोटे-छोटे परिवारों का रिवाज बढ़ने लगा। स्त्रियाँ अपने अधिकार माँगने लगीं। विदेशी सामान की माँग होने लगी। सिगरट, शराब और नये फैशन के कपड़ों की धूम मच गयी। शहरों में रौनक़ आ गयी। साहित्य, पत्रकारिता और विचारों के क्षेत्र में खलबली बच गयी। अलेप्पो के एक ईसाई फरान्सिस अल-मर्राश (१८३६-१८७३) ने स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्तों की व्याख्या की। वहीं के एक मुसलमान अब्दुर्रहमान अल-कवाकिबी (१८४६-१९०६) ने 'अधिनायकशाही के लक्षण और अत्याचार के पाप' पर एक चुभता हुआ ग्रन्थ लिखा। पर १८६८ में लेबनान के ईसाई कवि इब्राहीम अल-यज़ीजी ने बैरूत के 'शामी साहित्यिक समाज' (अल जमीयाह् अल-इल्मियाह् अल सूरियाह्) की एक बैठक में 'उठो, ओ अरबो, जागो' शीर्षक फड़कती हुई कविता पढ़कर एकता का आह्वान किया और १८७० में बैरूत के ईसाई बुत्रूस अल-बुस्तानी ने राष्ट्रीयता का नारा उठाया। १८८० में सीरियन प्रोटेस्टेण्ट कॉलेज के पढ़े हुए २२ लोगों ने, जिनमें मुसलमान, ईसाई और द्रूज़ सभी शामिल थे, एक गुप्त समाज बनाया और शाम के शहरों की सड़कों पर इश्तिहार लगाये कि अरबी सरकारी कामकाज की भाषा हो, प्रेस पर से पाबन्दी उठायी जाये और शाम और लेबनान को राजनीतिक स्वतन्त्रता दी जाये। १८८३ में सरकारी दमन से तंग आकर इन लोगों को अपना दफ्तर क़ाहिरा ले जाना पड़ा। ईराक़ में मिदहत पाशा ने १८६९ के बाद सुधारों का दौर चलाया।

उपर्युक्त परिवर्तनों से इस्लामी मान्यताओं को बड़ा झटका लगा और उनकी नयी-नयी व्याख्याएँ सामने आयीं। मिस्र के रिफाआ राफी अल-तहतावी (१८०१-७३) ने फ्रांस में शिक्षा पायी और वापस आकर वोल्तेर और मोन्तेस्क्यू आदि के २० के करीब ग्रन्थों का अरबी अनुवाद किया। उसका विचार था शरीयत में नयी व्याख्याओं की सदा गुंजायश है जिनके माध्यम से इसे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के साथ समन्वित किया जा सकता है। ऐसा ही विचार खैरुद्दीन (१८१०-१८८९) ने व्यक्त किया। किन्तु

सैय्यद जमालुद्दीन अल-अफ़गानी (१८३६-१८६७) ने इसका समर्थन करने के साथ-साथ इस्लामी परम्परा की दृढ़ता पर काफी जोर दिया। इस्लाम की व्याख्या करते हुए उसने लिखा कि यह भगवान् के प्रति श्रद्धा के साथ-साथ बुद्धिवाद में विश्वास है। यह मनुष्य को अन्धविश्वास से ऊपर उठकर तर्क और युक्ति में विश्वास करने की प्रेरणा देता है। इस दृष्टि से क़ुरान को समझने पर लगता है कि इसमें विज्ञान की सारी बातें हैं, रेलवे और बिजली तक के संकेत हैं और आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं का आभास है। यूरोप ने इस क्षेत्र में जो उन्नति की है उसे अपनाना इस्लाम की अन्तरात्मा को पहचानना है। साथ ही इस्लाम सक्रियता और प्रगतिशीलता का पर्याय है और मनुष्य को कर्मठ और बलिष्ठ होने की प्रेरणा देता है। जमालुद्दीन के प्रतिभाशाली शिष्य मुहम्मद अबदूह (१८४६-१६०५) ने इस विचार-धारा के अनुकूल प्राचीन परिकल्पनाओं की नयी व्याख्या की, जैसे, 'मसलहा' को उपयोगिता, 'शूरा' को संसदीय लोकतन्त्र और 'इजमा' को लोकमत का पर्याय सिद्ध किया। उसकी प्रेरणा से मुहम्मद फरीद वजदी ने 'अल-मदनिय्या वल-इस्लाम' (संस्कृति और इस्लाम) में लिखा कि इस्लाम मानव समानता, राजकाज में परामर्श के सिद्धान्त, बुद्धि और विज्ञान के प्रभुत्व, लोकहित, जनकल्याण और प्रगति का दूसरा नाम है। एक अन्य लेखक क़ासिम अमीन ने 'तहरीर-अल-मरआ' (स्त्रियों की स्वतन्त्रता) और 'अल-मरआ-अल-जजीदा' (आधुनिक स्त्री) शीर्षक ग्रन्थों में सिद्ध किया कि इस्लाम स्त्री की स्वतन्त्रता का हामी, पर्दे के ख़िलाफ और बहुपत्नी विवाह के प्रतिकूल है। किन्तु कुछ लेखकों ने विज्ञान, आधुनिकता और इस्लाम को असंगत घोषित किया। शिबली शुमय्यिल (१८६०-१६१७) और फरह अन्तून (१८७४-१६२२) ने धर्म को एकदम दूर कर विज्ञान को अपनाने पर जोर दिया, ताहा हुसैन (जन्म १८८६) ने धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया और अब्दुल्लाह अल-क़ुसैमी ने 'हाज़ीं हियल-अग़लाल' (ये ज़जीरें हैं) नामक पुस्तक में यहाँ तक कहा कि इस्लाम मानव-प्रगति में बाधक है क्योंकि यह गतिरोध, निष्क्रियता, परलोक परायणता आदि पैदा करता है।

उन्नीसवीं सदी में इस्लामी जगत् पर यूरोप की उदारवादी विचारधारा का जो मोहन-मन्त्र था वह बीसवीं सदी में समाप्त हो गया। यूरोपीयन शक्तियों की लूट-खसोट से उनकी संस्कृति का थोथापन स्पष्ट हो गया। इससे राष्ट्रीय चिन्तन को बढ़ावा मिला। १८७६ में अरबी पाशा के नेतृत्व में 'राष्ट्रीय दल' (अल-हिज़्ब अल-वतनी) ने लोगों को आकृष्ट करना शुरू किया। इसके प्रवक्ता अब्दुल्लाह अन्-नदीम (१८४४-६६ ई०) ने 'अल-वतन' (राष्ट्र) नाम का नाटक लिखा जिसमें 'राष्ट्र' (वतन) एक प्रतीकात्मक पात्र के रूप में सहयोग के महत्त्व पर बल देता दिखाया गया। उसने अपने

लेखों में यूरोप की ताक़तों को अरब देशों का शत्रु बताया। इन विचारों का परिपाक मुस्तफा कामिल (१८७४-१९०८ ई०) की रचनाओं में पाया जाता है। १९०५ में प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'अल-शम्स-अल-मशरिक़ा (उदीयमान सूर्य) में उसने जापान से प्रेरणा लेने की हिमायत की। १९११ में जमील मर्दम और अब्दुल हादी आदि सात शामी विद्यार्थियों ने पेरिस में 'अल-जामिया अल-अरबिया अल-फतात' नामक संस्था जारी की, १९१३ में इसका दफ्तर शाम आ गया और इसकी सदस्यता २,००० तक पहुँच गयी। यह अरब राष्ट्रवाद की वाहन सिद्ध हुई। लेकिन इस राष्ट्रवाद का इस्लामी एकता के आदर्श से द्वन्द्व शुरू हो गया जो पश्चिमी एशिया के आधुनिक इतिहास का प्रमुख लक्षण है।

बीसवीं सदी में पश्चिमी एशिया में एक नये सामाजिक वर्ग का अभ्युदय हुआ। इसकी पुरानी पीढ़ी यूरोप के उदारवादी दर्शन में निष्णात थी और लोकतन्त्र और संविधान में गहरी निष्ठा रखती थी, लेकिन नयी पीढ़ी के लोग इसकी सामूहिकतापरक विचार-धारा से प्रभावित थे और इसके आधिपत्य से मुक्त होने के लिए इसे आवश्यक समझते थे। उनमें समाजवाद (इशतराकियाह), साम्यवाद (शुयुइय्याह) और राष्ट्रवाद (क़ौमियाह) का भाव पैदा हो रहा था। वे सामन्तवाद (इक़ताइय्याह) और साम्राज्यवाद (इस्तिमार) आदि शब्दों को घृणा के साथ प्रयुक्त करते थे। 'क्रान्ति' (अल-सवराह) शब्द उनकी ज़बान पर चढ़ गया था। वे गुप्त, दृढ़ और अनुशासित संगठनों में रहकर काम करना सीख रहे थे। ज़रा सी सख़्ती होते ही वे छिप जाते और मारधाड़ और तोड़-फोड़ में लग जाते। वे हथियार जमा करने, हिंसा और उपद्रव मचाने और अराजकता फैलाने के समर्थक थे। उनकी शाखा-उपशाखा समाज के हर वर्ग में मौजूद थी और ख़ास तौर से युवक सैनिक अधिकारी और अफ़सर उनसे प्रभावित थे। इस्लाम उनके लिए नामचारे की चीज़ थी और समाज-सुधार उनका मुख्य लक्ष्य था। वे दक्षिणपन्थी परम्परावादी वर्गों के खिलाफ तो थे ही, अपने को प्रगतिवादी कहने वाले व्यावसायिक राजनीतिक नेताओं से भी दूर रहना चाहते थे क्योंकि वे निहित स्वार्थों के हाथों बिके हुए थे। उनमें विद्यार्थी, मज़दूरों, छोटे दुकानदारों और नगरों के निचले वर्गों का ज़ोर था। इनकी दृष्टि में सैनिक क्रान्ति और सामाजिक उत्थान पर्यावाची थे। इनके द्वारा पश्चिमी एशिया में यूरोपियन देशों के आधिपत्य का अन्त हुआ।

## ईरान का जन-अन्दोलन और नवोत्थान

ईरान में भी, पश्चिमी एशिया के और देशों की तरह, आधुनिकता की शुरुआत सेना से हुई। यूरोपियन लोगों की ज्यादतियों का मुक़ाबला करने के लिए वहाँ के शासकों

को आधुनिक ढंग की सेनाएँ तैयार करनी पड़ीं। सब से पहले १८०७ में फ्रांसीसी मिशन की देख-रेख में सेना का पुनर्गठन किया गया। इसके बाद रूसी प्रभाव के कारण आज़र-बाइजान के गवर्नर अब्बास मिर्ज़ा ने नये ढंग की सेना की ज़रूरत अनुभव की और अंग्रेज़ अफसरों द्वारा इसकी शुरुआत की। साथ ही उसने नयी शिक्षा और नये उद्योगों का श्रीगणेश किया और १८१६ के क़रीब तबरीज़ में सबसे पहला छापाख़ाना जारी किया। उसने जिन विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए इंगलैण्ड भेजा उनमें मिर्ज़ा सालेह भी था जिसने १८३७ में सबसे पहले फारसी समाचार-पत्र निकाला। १८५१ में मिर्ज़ा तक़ी ख़ाँ अमीरेकबीर ने 'दारुलफुनून' की नींव रखी जिसमें सैनिक शिक्षा के अलावा चिकित्सा, भूगोल, रसायन, यन्त्रशास्त्र और विदेशी भाषाएँ भी पढ़ायी जाती थीं। बाद में वहाँ संगीत और कला की शिक्षा भी दी जाने लगी और नाटक खेलने के लिए एक रंगमंच बनाया गया। मार्के की बात यह थी कि इस संस्था में अरबी भाषा, धर्मशास्त्र और तत्त्वज्ञान की पढ़ाई के लिए कोई जगह नहीं थी। वहाँ के अधिकतर अध्यापक ऑस्ट्रियन थे। इस संस्था का पहला निदेशक रज़ा क़ुली ख़ाँ (मृत्यु १८७१ ई०) अपने युग का बड़ा विद्वान था। उसके बाद इतजादुल सुल्तानह (मृ० १८८१) इसका अध्यक्ष बना। उसने १८६३ में एक वैज्ञानिक गज़ट निकालना शुरू किया। इन लोगों ने साहित्य में नयी प्रवृत्तियों को जन्म दिया।

इस वातावरण में एक नया बौद्धिक वर्ग ऊपर उठने लगा और राजनीतिक और सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन की ज़रूरत महसूस करने लगा। ऐसे लोगों में मिर्ज़ा मल्कूम ख़ाँ (१८३८-१६०८ ई०) प्रमुख था। वह उन्नीसवीं सदी के यूरोपियन विचारों में निष्णात था और उसका विचार था कि सिर्फ़ यूरोप की संस्कृति और व्यवस्था को पूरी तरह अपनाने से ही लोगों का भाग्य बदल सकता है। अपनी पुस्तक 'किताबचा-ए-ग़ैबी' में उसने पश्चिमी ढंग के संविधान की रूप-रेखा सामने रखी। सुधारों की माँग बढ़ने लगी। १६०४ में स्थापित 'पुस्तकालय' सुधारवादियों का गढ़ बन गया। अनेक सभा-समितियाँ गुप्त या प्रकट रूप से राष्ट्रीय भावनाओं को जगाने लगीं। अक्सर इनमें अराजक दल का बोलबाला था। 'युवक तुर्क दल' के नमूने पर 'युवक फारसी दल' संगठित हो रहा था।

प्रथम महायुद्ध के बाद की गड़बड़ में कज़ाक दस्ते का एक अफसर रज़ा ख़ाँ ऊपर उभरा और जल्दी ही सारे ईरान का अधिपति बन गया और २५ अप्रैल, १६२६ को रज़ा शाह पहलवी के नाम से वहाँ का सम्राट हो गया। वह यह ठीक तरह से समझता था कि मजबूत शासन क़ायम करने के लिए पश्चिमी यूरोप के उद्योग, विज्ञान और संस्कृति को अपनाना आवश्यक है। इसलिए उसने तेज़ी से ईरानी समाज को पश्चिमी

संस्कृति का चोला पहनाना शुरू किया। सबसे पहले उसने आधुनिक हथियारों से लैस सेना तैयार की और यातायात के साधनों को बढ़ाने का बीड़ा उठाया। १९३४ तक २०,००० मील सड़कें बन कर तैयार हो गयीं और १९२८ और १९३७ के बीच केस्पीयन के तटवर्ती बन्दरगाह से फारस की खाड़ी पर स्थित बन्दर शापूर तक रेल की लाइन बनायी गयी जिसपर बेशुमार धन खर्च हुआ लेकिन १९३८-३९ में रेलगाड़ी चलने लगी। सरकार ने तार-कम्पनी का राष्ट्रीयकरण किया, अंग्रेज़ों से नोकझोंक कर तेल के मुनाफे की दर १६ प्रतिशत से २० प्रतिशत की और चीनी, चाय, नमक, अफीम आदि का व्यापार अपने हाथ में लिया। साथ ही उसने भूमि के सवाल पर ख़ास ध्यान दिया। १९३१ में व्यापार की संस्थाएँ क़ायम की गयीं जिससे गेहूँ आदि के मूल्य निर्धारित किये गये जिससे किसानों को अपनी आय का निश्चित अनुमान होने लगा। १९३७ में खेती-विकास का क़ानून लागू किया गया। इसे 'क़ानून-ए-उमरान' कहते हैं। इसकी पहली धारा के अनुसार किसी भूमि का मालिक या मुतवल्ली उसे चलती रखने, उसमें कूल बनाने, वहाँ स्वास्थ्य-केन्द्र खोलने और आबादी को साफ-सुथरी रखने का ज़िम्मेदार बनाया गया। दूसरी धारा के अनुसार ज़िला-परिषद् को ग्राम-विकास की योजना बनाने और इसमें ज़मींदार का भाग निश्चित करने का अधिकार दिया गया। तीसरी धारा के अधीन ज़रूरत पड़ने पर राज्य की ओर से कर्ज़ और तक़ावी देने की व्यवस्था की गयी और चौथी धारा में यह नियम बनाया गया कि यदि आर्थिक सहायता मिलने पर भी ज़मीन का मालिक ज़िला-परिषद् की योजना के अनुसार उसका विकास न करे तो उसका स्वामित्व समाप्त कर वह भूमि कृषि-निगम के हवाले कर दी जाये। किन्तु ज़मींदारों के प्रबल विरोध के कारण इस क़ानून पर अमल न हो सका। १९३९ में ज़मींदार और किसान में फसल बाँटने के बारे में क़ानून बनाया गया। इसकी पहली धारा के ज़रिए न्याय-मन्त्रालय को यह अधिकार दिया गया कि वह भूमि की क़िस्म, सिंचाई की सुविधा, मज़दूरी और बीज के हिसाब और पशुओं की ज़रूरत को देखते हुए ज़मींदार और किसान के हिस्से तय करे। किन्तु १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने से यह क़ानून खटाई में पड़ गया। इस तरह, यद्यपि जागीरदारी ख़त्म हो गयी, बड़े ज़मींदारों की ताक़त बनी रही जिससे किसानों की हालत में ज्यादा सुधार नहीं हो सका और बेगार-प्रथा चलती रही।

रज़ा शाह का विश्वास था कि मध्यकालीन संस्कृति से नाता तोड़े बिना ईरान का नवोत्थान सम्भव नहीं है। इसलिए उसने सबसे पहले धार्मिक वर्ग पर चोट की, १९३० और १९३५ के बीच इसके अधिकारों में कटौती की, उनकी काफ़ी जायदादें ज़ब्त कीं, दरवेशों के सम्प्रदायों का दमन किया, धार्मिक खेल-तमाशों पर पाबन्दी लगायी, मुहर्रम के दसवें दिन रोया-पीटी करना और ताज़िये निकालना बन्द किया, 'हाज्जी',

'करबलाई', 'मशहदी' आदि धार्मिक उपाधियाँ ख़त्म कीं, अरबी महीनों के बजाय फारसी महीने चालू किये, शरीयत के क़ानून के बजाय फ्रांसीसी और स्विस ढंग के क़ानून जारी किये, तलाक़ के क़ानून का नवीकरण किया, विवाह के लिए लड़कियों की उम्र ९ साल से बढ़ाकर १५ साल की और नये नमूने के न्यायालय जारीकर काज़ी-मुल्लाओं का महत्व ख़त्म किया। इस्लामी परम्परा को ढीली करने की इस प्रक्रिया में शिक्षा के विकास का बड़ा योग रहा। राज्य की ओर से आधुनिक ढंग के प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय खोले गये। जहाँ १९२१ में १ प्रतिशत जनता पढ़ना-लिखना जानती थी, वहाँ १९३९ में ३३ प्रतिशत बच्चे पाठशाला जाने लगे और १९३८ तक १,२४,००० वयस्क संध्या-कालीन कक्षाओं में जाने लगे। १९३५ में तेहरान विश्वविद्यालय में क़ानून, विज्ञान, साहित्य, देवतत्त्व और चिकित्सा के कक्ष खुल गये और एक इंजीनियरी का महाविद्यालय और, कुछ समय बाद, कृषि-विद्यालय भी चालू हो गये। इनमें पढ़ाने के लिए विदेशों से अध्यापक बुलाये गये।

स्त्री-शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए पर्दे की प्रथा को हटाना ज़रूरी था। शुरू में रानी बिना पर्दे के लोगों के सामने आयी। १९२८ से लड़कियाँ खुले मुँह स्कूलों में जाने लगीं। फिर शाह ने हिदायत की कि तेहरान के बढ़िया बाज़ारों में औरतें खुले मुँह चला करें। जो औरतें पर्दा करती थीं उन्हें सरकारी सवारियों का टिकट नहीं दिया जाता था, न उन्हें बाजारों में दुकानदार सौदा देते थे। मई, १९३५ में महिला सांस्कृतिक केन्द्र जारी किया गया जिसने इस काम को ज़ोरों से हाथ में लिया।

सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के रूप में वेशभूषा में भी तबदीली की गयी। पहले नोकदार पहलवी टोपी ओढ़ने का क़ानून बनाया गया और बाद में इसे हटाकर यूरोपियन ढंग के टोप-टोपियाँ पहनने की रस्म चलायी गयी। १९२८ में पुरुषों के लिए और १९३६ में स्त्रियों के लिए यूरोपियन ढंग के कपड़े पहनना क़ानूनी तौर से लाज़मी कर दिया गया।

इस सब कायापलट से साहित्य में नयी प्रवृत्तियाँ चलीं। मलिक-उश-शुअरा बहार (१८८३-१९५१ ई०) की रचनाओं में राष्ट्रवादी भावना और रीतिप्रधान शैली का सुन्दर समन्वय है। मुहम्मद रजा ईशाक़ी (१८९४-१९२४ ई०) ने ईरान के गौरव-पूर्ण अतीत का चित्रण कर नवोद्बोधन पैदा करने की कोशिश की है। अबुल क़ासिम आरिफ (१८८२-१९३४ ई०) और मुहम्मद फर्रुख़ी (१८८९-१९३९ ई०) ने प्रगति-शील बौद्धिक वर्ग की आशा-निराशाओं को व्यक्त किया है। अबुल क़ासिम लाहूती (१८८७-१९५७ ई०) की कविताओं में साम्यवादी क्रान्ति का अट्टहास है। नीमा यूशीज़ (१८९८-१९६० ई०) ने यूरोपियन तकनीक को अपनाया है। गद्य के क्षेत्र में सैय्यद

मुहम्मद अली जमालज़ाद (जन्म १८९७ ई०) ने व्यंग्यप्रधान कहानियाँ लिखी हैं, सादिक़ हिदायत (१९०३-१९५१ ई०) की कहानियों में चेख़फ जैसा व्यंग्य और यूरोपियन रोमान्तिकों जैसी निराशा है और आग़ा बुज़ुर्ग अलवी (ज० १९०८ ई०) की कहानियों में यथार्थवाद का बाहुल्य है और मध्यम वर्ग के जीवन की झाँकी है। इस समूचे साहित्य में आर्थिक और सामाजिक विषयों की विशद व्यंजना मिलती है।

## मध्य एशिया में नया जीवन

उन्नीसवीं सदी में रूस ने मध्य एशिया में अपना साम्राज्य क़ायम किया। खीवा, खोकन्द, बुखारा आदि के राज्य पतझड़ के पत्तों की तरह गिर गये। रूसी शासन में नये नगरों का निर्माण हुआ। ये नगर पुराने नगरों से अलग या उनसे सटे हुए थे। उनमें यूरोपियन नगरों जैसी सुविधाएँ थीं। १९१४ तक बिजली भी आ गयी थी। लेकिन पुराने शहरों में कोई खास विकास नहीं हुआ। रूसी शासन ने अपनी ताक़त मज़बूत करने के लिए यातायात की उन्नति शुरू की। १८८१ में केस्पीयन सागर के तट पर स्थित उज़ून अदा से किज़िल अरवात तक सब से पहली रेल की लाइन डाली गयी। १८८५ में इसे आमू दरया तक ले जाया गया और १८८८ में समरकन्द तक पहुँचाया गया। १८९८ में यह ताशकन्द तक जुड़ गयी। अगले साल यह अन्दीज्हान तक आ गयी। खेती-बारी की उन्नति के लिए मुर्ग़ाब और गोलोदनाया स्तेप की योजनाएँ चालू की गयीं और सिंचाई के साधनों को बढ़ावा दिया गया। भूमि-व्यवस्था में भी काफी सुधार हुए। ख़ानों के राज्य में सारी भूमि ख़ान की सम्पत्ति मानी जाती थी। इसका कुछ भाग उसके निजी प्रयोग के लिए था। कुछ लोगों को हमेशा के लिए पट्टे पर दिया हुआ था और कुछ वक्फ था। दूसरे प्रकार की भूमि के कुछ भाग पर लगान माफ था और बाक़ी पर उपज के पाँचवें हिस्से के बराबर 'ख़राज' और रकबे के हिसाब से एक और कर 'तनाप' लिया जाता था। रूसियों ने वक्फों को छोड़कर और सब भूमि एकदम हथिया कर किसानों में बाँट दी, ख़राज को उपज का १/१० कर दिया और १८७० में उसे तनाप के साथ मिला दिया। इससे खेती न करने वाले ज़मींदार खत्म हो गये। साथ ही खाली ज़मीनों पर या उस भूमि पर जहाँ पशु चरते थे काफी संख्या में रूसी बसा दिये गये। १९१७ तक उनकी संख्या २० लाख हो गयी। उनके द्वारा पश्चिमीकरण को बढ़ावा मिला। सफाई के नये तरीके जारी किये गये और स्त्रियों की हालत सुधारने और पर्दे को ख़त्म करने की ओर भी ध्यान दिया गया। इससे मुल्ला-मौलवी भड़के। १८९८ में एक सूफी सन्त मुहम्मद अली ने अन्दीज्हान में लोगों को भड़काया। लेकिन कुछ लोगों ने समय को पहचान कर आधुनिकता की ओर क़दम बढ़ाया।

इनका 'जदीद आन्दोलन' (उसूल-ए-जदीद) उल्लेखनीय है। १६०७ में त्रोइत्स्क में 'कज़ाक' अख़बार छपना शुरू हुआ। १६१२ में ओरनबर्ग में इसका एक संस्करण निकलने लगा। इसने एक ओर पुराणपन्थी विचारों, सार्वभौम इस्लामी भावनाओं और घुमन्तू जीवन के तरीक़ों का विरोध किया और दूसरी ओर उपनिवेशवाद और रूसीकरण की साम्राज्यशाही नीति के ख़िलाफ आवाज़ उठायी। इससे कज़ाक़ों में राष्ट्रवादी भावना का उदय हुआ। १६१७ में कज़ाक़ अख़बार से सम्बन्धित बौद्धिक लोगों ने 'अलाश उर्दा' नामक मध्यममार्गी विचारों का एक राष्ट्रवादी दल क़ायम किया। दिसम्बर १६१७ में ओरन्बर्ग में एक अखिल किरग़ीज़-कज़ाक़ सम्मेलन में स्वायत्त कज़ाक़ राज्य की घोषणा कर दी गयी। लेकिन यह और अन्य ऐसे ही आन्दोलन बोल्शेविक क्रान्ति में समा गये।

क्रान्ति के बाद सोवियत शासन ने मध्य एशिया के राज्यों का पुनर्गठन कर उन्हें तेज़ी से आधुनिक रूप दिया और विकास की ओर बढ़ाया। उस समय तक किरग़ीज़-कज़ाक़, उज़बक-ताजिक और तुर्कमान ये तीन राष्ट्रीय गुट उठ-उभर रहे थे। सोवियत शासन ने इन्हें छः में बदल दिया —कज़ाक़, किरगीज़, क़ाराकल्पक, तुर्कमान, उज़बक और ताजिक। इनके अलावा उइग़ुर और दुन्गन को 'नरोदनोस्त' (राष्ट्रीय इकाइयाँ) घोषित किया गया जिनकी राष्ट्रीय भाषाएँ तो हैं लेकिन जिनके पास अपने अलग राष्ट्रीय इलाक़े नहीं हैं। इस राष्ट्रीय नीति के अनुसार भौगोलिक कतर-ब्यौंत करते समय ऐसा किया गया कि कज़ाक सोवियत सोशलिस्ट गणगन्त्र में कज़ाकों को संख्या कुल जनसंख्या का २६ प्रतिशत ही रही और ताजिक सोवियत सोशलिस्ट गणतन्त्र में उनकी संख्या कुल जनता की ५५ प्रतिशत थी। जबकि ५ लाख से ऊपर ताजिक उज़बक और किरगीज़ गणतन्त्रों में रहते हैं और २० लाख अफ़ग़ानिस्तान में हैं, क़रीब १.२५ लाख उज़बक तुर्कमान गणतन्त्र में बिखरे हुए हैं और कज़ाक तो ज्यादातर अपने गणतन्त्र से बाहर हैं। ये सब गणतन्त्र विदेशी मामलों, विदेशी व्यापार और रक्षा के विषय में मास्को के अधीन हैं। इनमें भावनात्मक एकता उत्पन्न करने के लिए तीव्र प्रचार के अलावा अक्सर सफाया-अभियान भी चले हैं जिनमें काफी लोग मौत के घाट उतरे। डॉक्टर बेमिर्ज़ा हायित ने अपनी पुस्तक 'बीसवी सदी का तुर्किस्तान' (दमिश्तात १६५६) में १६३७ के सफाये का दर्दनाक चित्र खींचा है। कोई घर शायद ही बचा हो जिसपर इसका प्रभाव न पड़ा हो। फैज़ुल्लाह खोजायेक और अकमल इकरामोफ जैसे नेता इसकी भेंट चढ़े। राष्ट्रवादी प्रवृत्ति को प्रतिक्रियावादी कहकर दबा दिया गया।

सोवियत शासन में मध्य एशिया में अभूतपूर्व आर्थिक उन्नति हुई। कपास ओटने के उद्योग की पैदावार १६१३ में ४ प्रतिशत थी तो १६२० में ७०.६ प्रतिशत हो गयी। कपड़ा बुनने का काम क्रान्ति से पहले नगण्य था, १६४० में ११.७ करोड़ मीटर कपड़ा

बुना जाने लगा और १९५५ में यह संख्या २७.८ करोड़ हो गयी। कोयले की निकासी १९२४-२५ में १९१३ से ४२ प्रतिशत ज्यादा बढ़ गयी और १९२७ में २५९ प्रतिशत हो गयी। मोटे तौर से १९१३ में २ लाख टन कोयला निकलता था तो १९५५ में ६० लाख टन और १९६१ में ८५ लाख टन निकलने लगा। यह संख्या सिर्फ दक्षिणी राज्यों की है। कज़ाक़स्तान में ३.४५ करोड़ टन कोयला इसके अलावा निकलता था। कुल मिलाकर १९२६ और १९४० के बीच मध्य एशिया का उद्योग बारहगुना बढ़ गया। १९५० के बाद तो इसकी वृद्धि में बाढ़ ही आ गयी।

मध्य एशिया में भूमि का मामला टेढ़ा था। सोवियत शासन ने अमीर देहातियों के, जिन्हें 'बे' (रूसी 'कुलक') कहते थे, डंगर-ढोर, रेवड़ और ज़मीनें और खेती-बारी का सामान ज़ब्त कर ग़रीब किसानों में बाँटना शुरू किया। १९२८ से शुरू होनेवाली पंचवर्षीय योजना में छोटे-मोटे खेतों को मिलाकर बड़े-बड़े सामूहिक फार्म (कोल ख़ोज़) बना दिये गये और १९३२ तक ६० प्रतिशत जनता इनमें शामिल कर दी गयी। १९५३ में बंजर भूमि तोड़ने का अभियान शुरू हुआ। १९५३ में ९० लाख हेक्तर भूमि में खेती होती थी तो १९६१ तक २.८० करोड़ भूमि हलों तले आ गयी। सिंचाई की योजनाओं में तो तूफान जैसी तेजी आयी। १९३८ तक बोसागा कर्की नहर तैयार हो गयी, १९३९ में फरग़ना घाटी की नहर पर काम शुरू हो गया, १९५१ में क़ाराक़ूम की ५०० मील लम्बी नहर बनने लगी, १९५० में तुर्कमान नहर की घोषणा की गयी। इनके अलावा चरिचीक नदी पर चर्वाक जल-बाँध योजना और नारिन नदी पर तोक्तोगुल ज़ल-बाँध व्यवस्था चालू की गयी। इस सबसे सिंचाई का क्षेत्र बहुत बढ़ गया। क्रान्ति से पहले ३६ लाख हेक्तर भूमि में सिंचाई होती थी तो १९५७ तक ७० लाख हेक्तर भूमि में सिंचाई होने लगी। यातायात के साधन और नगर-निर्माण की उन्नति का तो कोई ठिकाना ही न रहा। इस सब विकास के पीछे सुनियोजित अर्थ-व्यवस्था, केन्द्रीकृत वित्त-विधान, सामूहिक समाज-तन्त्र और तीव्र उद्योगीकरण की नीति निहित है।

उपर्युक्त उन्नति और विकास के फलस्वरूप और साथ-साथ समाज में तेज़ तबदीली आयी। कुल-क़बीलों का महत्व ख़त्म हो गया। पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार कम होने लगे। बहुपत्नी विवाह, नाबालिग़ लड़कियों के विवाह की प्रथा और 'कलीम' (पत्नी-मूल्य) और 'केतर्म' (पत्नी-मूल्य चुकाने तक उसे रोक रखना) के रिवाज क़ानून द्वारा बन्द किये गये। अन्तर्गोत्रीय विवाह और पर्दे के ख़िलाफ़ तेज़ प्रचार शुरू किया गया। हज्ज और ज़ियारत, सुन्नत और त्यौहार, को हेय समझा जाने लगा। १९१७ से १९४१ तक धार्मिक मदरसे बन्द किये गये और १९३२-३८ के सफायों में मुल्ला-मौलवियों की कमी हो गयी। परन्तु १९५२ में बुख़ारा का मीर-ए-अदब मदरसा फिर से चालू कर दिया गया

और १६५८ में ताशक़न्द में बरक़ ख़ाँ का मदरसा चलने लगा। सोवियत रूस में ये दो ही मुसलिम धर्मतत्त्व की शिक्षा के केन्द्र हैं। मस्जिदों में जाने वालों की संख्या में भी क़मी आयी। १६१७ में २०,००० मस्जिदें चालू थीं तो १६५३ में, ताशकन्द के मुफ्ती के बयान के अनुसार, जिसमें शायद कुछ मुबालग़ा हो, कुल २०० या ३०० मस्जिदों में हाज़री होती थी। किन्तु फिर भी लोगों में इस्लामी परम्परा का काफी असर है और सुअर के मांस को बहुत बुरा समझा जाता है।

भाषा के मामले में अरबी, फ़ारसी और चग़ताई आदि साहित्यिक भाषाओं की जगह कज़ाक़, उज़बक और तुर्कमान आदि बोलचाल की भाषाओं का साहित्यिक विकास किया गया। इनकी राजनीतिक शब्दावली विशुद्ध रूसी थी, जैसे 'क्रान्ति' के लिए अरबी के 'इनक़िलाब' के बजाय रूसी का 'रेवोल्युत्सिया' अपनाया गया, तो साहित्यिक शब्दावली अरबी रहने दी गयी जैसे 'अदबियत' (साहित्यकता)। साथ ही प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के स्तरों पर रूसी भाषा की पढ़ाई अनिवार्य की गयी। इसे 'दूसरी देशी भाषा' का दर्जा दिया गया।

रूसी भाषा की शिक्षा में मध्य एशिया के कुछ लोगों ने काफी दिलचस्पी दिखायी। ताशकन्द के एक व्यापारी सैय्यद अज़ीम ने उन्नीसवीं सदी में रूसी भाषा सीखने पर जोर दिया। १८८४ में उसके पुत्र सैय्यद ग़नी के घर पर ऐसी एक पाठशाला खुल गयी। उसूल-ए-जदीद आन्दोलन के नेताओं ने भी रूसी भाषा की शिक्षा को महत्व दिया और इसके लिए विद्यालय जारी किये। क्रान्ति के बाद नये क़िस्म की शिक्षा का तेज़ी से प्रसार हुआ। १६२६ में अरबी लिपि के बजाय रोमन लिपि अपनायी गयी। इससे शिक्षा धर्म के बन्धन से मुक्त होने लगी। १६३७-३८ में तुर्कमानिस्तान जैसी पिछड़ी हुई रियासत में ६४ प्रतिशत बच्चे प्राथमिक पाठशालाओं में जाने लगे। इसके बाद चार वर्ष का अनिवार्य शिक्षाक्रम सात-साला कर दिया गया। १६५८ तक रूसी का अध्ययन अनिवार्य था किन्तु इसके बाद, जब लोगों को इसमें स्वाभाविक रुचि हो गयी, इसकी पढ़ाई वैकल्पिक कर दी गयी।

उन्नीसवीं सदी से मध्य एशिया के साहित्य में नयी प्रवृत्तियों का आविर्भाव हुआ। कवि फिरक़त (१८५८-१६०६) और अहमद कल्ला (१८२७-६७) को रूसी भाषा और साहित्य का अच्छा ज्ञान था। फिरक़त ने लिओ टॉल्स्टॉय के 'मनुष्य किससे जीवित रहता है' शीर्षक ग्रन्थ का चग़ताई या प्राचीन उज़बक भाषा में अनुवाद किया। यह मध्य एशिया की भाषा में पश्चिमी ग्रन्थ का पहला अनुवाद था। हमज़ा हकीम ज़ादा (१८८६-१६२६) जैसे लेखकों पर जदीद आन्दोलन का गहरा प्रभाव पड़ा। कज़ाक लेखकों में कुछ तो पुराणपन्थी थे जो रूसी संस्कृति को छोड़ कर अरबी और फ़ारसी

परम्परा और कज़ाक लोक-साहित्य से चिपटे हुए थे, लेकिन अधिकतर आधुनिक विचार-धारा के थे जो पुरानी क़बीलाशाही परम्परा को तोड़ कर कज़ाकस्तान को एक समुन्नत राष्ट्र बनाना चाहते थे। इन आधुनिक विचारों के लेखकों में चोकन वली खाँ, इब्राहीम अल्तिनसरीन और अबे कुननबे उल्लेखनीय हैं। इन तीनों को रूसी साहित्य का अच्छा ज्ञान था। वली खाँ ने ज्यादातर रूसियों को कज़ाक संस्कृति का परिचय दिया, अल्तिनसरीन ने कज़ाक भाषा को व्यवस्थित किया और इस भाषा में गद्य-शैली को जन्म दिया। कुननबे ने इस्लामी परम्परा के प्रति विरक्ति प्रकट की और कज़ाक संस्कृति को पश्चिमी विचारों का चोला पहनाने की कोशिश की। बीसवीं सदी में कज़ाक़ भाषा के प्रसिद्ध लेखक तुरैगिर (१८६३-१६२०) और बेतुरसून (१८७२-१६२८) हुए। इनकी रचनाओं में राष्ट्रवाद और आधुनिकता का गहरा पुट है। कज़ाक लेखक अयुएजोफ और मुकानोफ और तुर्कमान लेखक कर्बाबियेफ के उपन्यास और ताजिक लेखक सद्रुद्दीन ऐनी के संस्मरण उच्च कोटि के साहित्य में गिनने योग्य हैं। लोगों में पढ़ने-लिखने की आदत कितनी बढ़ी है इसका अन्दाजा इस बात से किया जा सकता है कि १६१३ में कज़ाक भाषा में १३ किताबें थीं तो १६५७ में ११६४ हो गयीं और इनकी ६६,०६,००० प्रतियाँ छपीं। इनके अलावा ४८३ अखबार और ११ रिसाले चालू थे। थियेटर, सिनेमा आदि के विकास का परिचय इस तथ्य से मिलता है कि १६१५ में सारे तुर्किस्तान में ५२ सिनेमाघर थे तो अब उनकी संख्या ७००० हो गयी है, इसके अलावा ३००० रेडियो प्रसारण केन्द्र हैं जो ५००,००० रेडियो सेटों के लिए विविध कार्यक्रम प्रसारित करते हैं। यही नहीं १६६० तक उजबेकिस्तान में २, कज़ाकस्तान में ४, ताजिकिस्तान में १ और किरगीज़िया में १ टेलीविजन प्रसारण केन्द्र हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सोवियत मध्य एशिया से कुल, कबीले आदि का भाव समाप्त हो गया है, घुमन्तू प्रवृत्तियाँ लुप्त हो गयीं हैं, शिक्षा धर्मनिरपेक्ष हो चुकी है, कानून आधुनिक हो गये हैं, पश्चिमी विचार-धारा, उद्योग, तकनीकी और रहन-सहन का विकास हो रहा है—संक्षेप में आधुनिकता का प्रसार हो रहा है।

## भारत में अंग्रेजी शासन और उसकी प्रतिक्रिया

सोलहवीं सदी से समुद्री रास्तों से यूरोपियन लोग व्यापार के लिए भारत आने लगे। इससे व्यापार को बढ़ावा मिला और एक व्यापारी और साहूकार मध्यम वर्ग ऊपर उभरने लगा। बहुत से लोगों ने, जो ठाकुरों या क्षत्रियों में गिने जाते थे, जैसे अग्रवालों ने, व्यापार-वाणिज्य अपनाया और वैश्यों का दर्जा पाया। ये लोग आर्थिक जगत् पर छा गये लेकिन मुगल काल का शक्तिशाली जमींदार-जागीरदार वर्ग इन्हें तंग करता और

खसोटता था जबकि अंग्रेज व्यापारी-वर्ग उनका समर्थक था। इसलिए शुरू में इस वर्ग ने अंग्रेजों का काफी साथ दिया और उन्होंने भी उसे बढावा दिया। इससे एक ओर व्यापारियों, दलालों, सर्राफों, साहूकारों, गुमाश्तों, पैकारों आदि का वर्ग उन्नति करने लगा और दूसरी ओर वकीलों, डाक्टरों, अध्यापकों, सरकारी अफसरों और पढ़े-लिखे लोगों का वर्ग ऊपर उठने लगा। ये लोग भारत में आधुनिकता के अग्रदूत सिद्ध हुए।

अठारहवीं सदी के अन्त में भारत के सामाजिक विकास में तीन खास मोड़ आये। १७९२ में अंग्रेजी शासन ने भारत में रहने वाले अंग्रेजों को हिन्दुस्तानियों से अलग-थलग रखने की नीति अपनायी। इससे पहले यहाँ आये हुए यूरोपियन हिन्दुस्तानियों से घुल-मिल कर रहते और उनकी तरह जिन्दगी बसर करते थे। वे हुक्का पीते, महफिलें बुलाते, नाच देखते, मुर्गों और मेंढों की टक्करों का मजा लेते, हरम रखते, हिन्दुस्तानी ढंग का खाना खाते और नवाबों जैसा जीवन बिताते थे। क्लॉड मार्टिन और नवाब समरू एकदम मुग़ल मन्सबदार-से लगते थे। हरयाणे का जॉर्ज टॉमस, जो जहाज साहब के नाम से मशहूर था, अंग्रेजी कतई भूल गया और एक बार जब लॉर्ड वेलेज़ली ने उसे पंजाब के बारे में एक रिपोर्ट भेजने को कहा तो उसने जवाब दिया कि मैं इसे फारसी में लिख सकता हूँ क्योंकि मेरी अंग्रेजी की आदत छूट गयी है। अगर यही प्रवृत्ति चलती रहती तो वक्त के साथ-साथ अंग्रेजों और हिन्दुस्तानियों की एक मिली-जुली जाति तैयार हो जाती। लेकिन १७९२ के फैसले से यह रुक गयी और हिन्दुस्तानी अंग्रेजों से अलग अपने ही तरीके से विकास की ओर चले। दूसरे, १७९३ के स्थायी बन्दोबस्त से बंगाल, बिहार, उड़ीसा और मद्रास के कुछ इलाकों में मालगुजारों को जमीन का मालिक और इसके असल स्वामियों को उनके किरायेदार घोषित कर दिया गया। इससे जमींदारों का एक नया वर्ग सामने आया। ये लोग अंग्रेजी शासन को लगी-बँधी मालगुजारी देते और किसानों से मनमाना लगान वसूल करते थे। ये लोग मालगुजारी से बचने के लिए अपने अधिकारों को और लोगों को बेच देते। इन्हें पत्नीदार कहते थे। ये एक ओर अंग्रेजी शासन को लगी-बँधी मालगुजारी देते और दूसरी ओर जमींदारों को मुस्तकिल मुनाफा देते और किसानों से जो चाहते वसूल करते। फिर ये पत्नीदार इसी तरह अपने अधिकार दर-पत्नीदारों को बेचते और वे उन्हें दर-दर-पत्नीदारों के नाम करते। यह प्रक्रिया इसी तरह चलती रहती और जमींदार और किसान के बीच आठ से लगाकर बारह और बीस तक मध्यवर्ती हो जाते। इन मध्यवर्तियों में से ज्यादातर शहरों में रहते और आराम की जिन्दगी बिताते। आखीर में उन्होंने मुगल काल के जागीरदार-मन्सबदारों को हटाकर उनकी जगह खुद ले ली। तीसरे, अंग्रेजी शासन ने हिन्दुस्तानी उद्योगों को खत्म कर हिन्दुस्तान को अपने उद्योगों की पैदावार की खपत का क्षेत्र बनाना शुरू किया। इससे यहाँ का व्यापार-वाणिज्य मन्दी

की ओर चलने लगा। बड़े-बड़े व्यापारी घराने अपनी पूँजी ज़मींदारियों में लगाने लगे। १८७२-७३ तक उनके मुनाफे तेरह गुने बढ़ गये। इस तरह उन्नीसवीं सदी में शहरों में रहने वाले, आराम-तलब, ऐशपरस्त, मुफ्तखोर ज़मींदारों का भाग्य दुपहरी के सूरज की तरह चमका और किसान की किस्मत मावस के चाँद की तरह लुप्त हो गयी। इस सदी के आखीर में विलियम डिग्बी ने हिसाब लगाया कि उत्तर प्रदेश में एक आदमी, उसकी पत्नी और दो बच्चों की आमदनी कुल मिलाकर तीन रुपये महीना से ज्यादा नहीं थी और आम तौर से भूमिहीन मजदूर को एक आना रोज मिलता था। दिल्ली के निकट जिला गुड़गाँव की फीरोजपुर तहसील के कोली-नाई रामसुख पुत्र लछमन ने बताया कि वह ज़मींदार के यहाँ एक आना रोज पर काम करता था। उसके माँ-बाप १६१७ के अकाल में खाना-कपड़ा न मिलने से मर गये। उसने कपड़ा बुनना शुरू किया। १ रु० का दो सेर सूत मिलता था जिससे ४० गज का थान तैयार होता था। इसकी कीमत १ रु० ५ आ० या १ रु० ६ आ० थी। इससे उसका गुजारा चलता था। १६२० में उसका विवाह हुआ जिसमें कुल ८ रु० खर्च हुए। उसके बच्चे छोटेपन से ही काम करने लगे। वे रूखा-सूखा खाते, उनके पास सर्दी के कपड़े नहीं थे, जेवर का तो सवाल ही क्या था। इस तरह देहात की किसान-कारीगर जनता गरीबी और गिरावट के गड्ढे में उतरती गयी और ज़मींदार ऐश और रोब में धँसते गये।

नया उभरता मध्यम वर्ग जो बाद में ज़मींदार वर्ग बन गया शुरू में यूरोपियन रहन-सहन को पसन्द करता था। उनके मकानों में शीशे के झाड़-फानूस, ड्राअर, डेस्क, कुर्सी-मेज होती। वे अंग्रेजी कोच-बग्घियों में सैर को निकलते—एक ने तो कोचमैन भी अंग्रेज रखा। उन्हें घड़ी बाँधने और चाय और शराब, विशेषतः शाम्पाइन, पीने का शौक था—इससे उस जमाने में अंग्रेजी शराब का आयात काफी बढ़ा। इन पर अंग्रेजी सभ्यता और ईसाई धर्म की तीन प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुईं—पुराणपन्थिता, सुधारवाद और उग्रनीति। राधाकान्त दे, गौर मोहन विद्यालंकार, भवानी चरण बनर्जी आदि पुराणपन्थी अंग्रेजी शिक्षा के समर्थक तो थे लेकिन अंग्रेजी विचारों का विरोध करते थे और प्रचलित रूढ़ियों से चिपके रहना चाहते थे। इसके विपरीत राजा राममोहन राय, द्वारकानाथ टैगोर, कालिनाथ राय चौधरी आदि सुधारवादी पूर्वी दर्शन और पश्चिमी विचारों के समन्वय द्वारा समाज को नयी दिशा में चलाना चाहते थे। तीसरी श्रेणी के हेनरी लुई विवियन देरोज़ियो, कृष्ण मोहन बनर्जी, रसिक कृष्ण मल्लिक, दक्षिण रंजन मुखर्जी आदि भारतीय जीवन की प्रत्येक रूढ़ि और परम्परा को उखाड़ कर पूर्ण पश्चिमीकरण का द्वार खोलने पर तुले थे। इन मत-मतान्तरों के होते हुए भी ये सब लोग नयी अंग्रेजी शिक्षा, नये साहित्य और पत्रकारिता के हामी थे। इनकी कोशिश से १८१६ में कलकत्ता में

हिन्दू कालेज चालू हुआ—यह नयी शिक्षा की प्रथम महत्त्वपूर्ण संस्था थी—१८२६ में 'बंगाल हेरल्ड' नामक अंग्रेजी अखबार और इससे पहले १८१८ में बंगला में 'बंगाल गजट' और १८२१ में 'संगबाद कौमुदी' निकलने शुरू हुए और समाज-सुधार की ओर कदम बढ़ाये गये। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि सुधारों के कार्यक्रम में पहल हिन्दुस्तानियों की तरफ से हुई जबकि अंग्रेज शासकों ने इस बारे में ढीलापन दिखाया।

मुगल शासन में देश के अन्दरूनी भाग संस्कृति के केन्द्र थे किन्तु ब्रिटिश शासन में बंगाल, बम्बई और मद्रास की प्रेजीडेन्सियाँ सामाजिक परिवर्तन के स्रोत बन गयीं। बंगाल प्रेजीडेन्सी में बंगाल के अलावा उड़ीसा, बिहार और छोटा नागपुर भी शामिल थे। यह इलाका ४५ जिलों में बँटा था और इसमें ब्रिटिश भारत की एक तिहाई जनता रहती थी। बंगाल में ब्राह्मणों, कायस्थों और वैद्यों का जोर था लेकिन क्षत्रिय-राजपूत और वैश्य इतने प्रमुख नहीं थे। ब्राह्मण धीरे-धीरे ज़मींदार बनते जा रहे थे—पूर्वी बंगाल में छः ब्राह्मणों में से एक ज़मींदार था तो पूर्वी-उत्तरी बंगाल में पाँच ब्राह्मणों में से एक जमीन की आमदनी पर निर्भर था, लेकिन जहाँ ब्राह्मण खेती भी करते थे वहाँ हाथ का काम छोटी जातियों के लोगों से ही लेते थे। उनकी पाँच उपजातियाँ और उनके अनेक विभाग थे। इन्हें 'कुलीन' कहते थे। ये अपनी लड़कियों का विवाह आपस में ही करते थे। अपने से छोटी उप जाति में विवाह करना वर्जित था। छोटी उपजाति के लोग अपना सामाजिक दर्जा बढ़ाने के लिए अपनी लड़कियाँ उनसे ब्याहते थे। उनमें दहेज खूब चलता था। मोटी रकमें लेकर ही वे किसी की बेटी को स्वीकार करते थे। इसलिए उनका यह बड़े मुनाफे का धन्धा था कि अनगिनत लड़कियों से विवाह करें और हरेक के माँ-बाप से रकमें वसूल करें। जैसा कि २७ दिसम्बर १८५५ के बर्दुआन के महाराजा बहादुर के एक आवेदन पत्र से प्रकट होता है, किसी-किसी कुलीन के तो सौ-सौ पत्नियाँ थीं और उनमें से अनेक का तो वे फेरे लेकर और दहेज और धन हथियाकर मुँह तक न देखते थे। यह आम बात थी कि कुलीन लोग गाँव-दर-गाँव घूमते, लड़कियों से विवाह करते, रकमें ऐंठते और बाद में उनकी शक्लें तक न देखते।

ब्राह्मणों, कायस्थों और वैद्यों के अलावा, जिन्हें 'भद्रलोक' कहते थे, वैश्यों की गिनती 'नवसाकों' (सत्शूद्र) में थी। इनसे नीचे सुवर्णवणिक, साहा, सुनार आदि तिजारतपेशा लोग थे। फिर कैवर्त्त, चाण्डाल आदि खेती करने वाले लोग थे।

बम्बई प्रेजीडेन्सी उन्नीसवीं सदी में काफी बढ़ी। १८४३ में सिन्ध और १८६२ में कनारा इसमें मिला दिया गया जिससे इसका रकबा १,२४,००० वर्गमील हो गया और इसमें २४ जिले आ गये। इसके बीच-बीच में देशी रियासतें भी थीं। इसका केन्द्र स्थल महाराष्ट्र था। वहाँ का सामाजिक विधान त्रिस्तरीय था। सबसे ऊपर ब्राह्मण थे।

उनकी बारह उप-जातियाँ थीं। इनमें देशस्थ और कोंकणस्थ या चितपावन तीन चौथाई के करीब थे। हालाँकि संख्या की दृष्टि से देशस्थ बढ़े हुए थे, सामाजिक महत्त्व कोंकणस्थ या चितपावनों का अधिक था। रत्नगिरि और पूना जिले, खास तौर से उनके नागरिक स्थान, उनके केन्द्र थे। सरकारी नौकरियों के अलावा वे वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, व्यापारी, साहूकार और बड़े जमींदार थे। थाना और कोलाबा जिलों के कायस्थ प्रभु लोगों से उनकी बड़ी चलती थी। कोई ब्राह्मण प्रभु के घर भोजन नहीं करता था और न उसे महादेव के मन्दिर में घुसने देता था। इन लोगों के नीचे मराठा और कुनबी किसान थे। उनमें ज़मींदारी के बजाय रैयतवाड़ी प्रथा थी। हर किसान से व्यक्तिगत रूप से तीस साल के लिए जमीन के लगान का मुहादा होता था। लेकिन वह कर्ज के भार से परेशान था और उसकी बेचैनी १८७५ के दंगों में व्यक्त हुई। बम्बई में गुजराती और मारवाड़ी बनियों, मेमन, बोहरा और खोजा मुसलमामन व्यापारियों और पारसी बौद्धिक और औद्योगिक वर्ग का बड़ा जोर था जिससे वहाँ का वातावरण कलकत्ते के मुकाबले में अधिक समन्वयपूर्ण था।

मद्रास प्रेजीडेन्सी में १,२०,००० वर्गमील भूमि थी। तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़ भाषा-भाषियों के अलावा वहाँ उड़िया बोलने वाले गंजम और विजगापटम के लोग भी रहते थे। वहाँ जातिप्रथा बड़ी उग्र थी। ब्राह्मण सबसे ऊँचे माने जाते थे। कुछ क्षत्रियों को छोड़कर वे स्थानीय द्रविड़ लोगों में आर्य माने जाते थे। मालावार के नम्बूदिरी ब्राह्मणों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। नैय्यर लोगों की स्त्रियाँ उनसे सम्बन्ध स्थापित करने में अपना सौभाग्य समझती थीं। तमिलनाद के ब्राह्मण स्मार्त और वैष्णव थे। तंजोर में कोई ब्राह्मण परिवार ऐसा नहीं था जिसके पास काफी जमीन न हो। हालाँकि मद्रास प्रेजीडेन्सी में भी रैय्यतवाड़ी व्यवस्था थी ब्राह्मण लोग अपनी जमीनें असामियों से जुतवाते थे। जो स्थान बम्बई प्रेजीडेन्सी में चितपावनों का था, वही मद्रास में आयंगारों का था। वे प्रत्येक व्यवसाय में बढ़े-चढ़े थे। समाज पर उनकी पूरी धाक थी। यद्यपि वहाँ क्षत्रिय और वैश्य बहुत कम थे और कायस्थ नहीं के बराबर थे, ८०% शूद्र कहलाने वाले लोगों में तमिलनाद के वेल्लाल और चेट्टी और तेलुगु इलाके के कपू या रेड्डी, कामा और बालिजा नायडू काफी महत्त्व रखते थे। इनसे नीचे अछूत थे जिनकी दशा बहुत खराब थी।

मद्रास शिक्षा का केन्द्र था। वहाँ हर चार में से एक व्यक्ति पढ़ा-लिखा था। वहाँ २५,००० बच्चे पाठशाला जाते थे जिनमें से ३/५ अंग्रेजी पढ़ते थे। विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में उत्तीर्ण छात्रों में ७३% ब्राह्मण थे।

इस प्रकार बंगाल के ब्राह्मण, कायस्थ और वैद्य 'भद्रलोक', बम्बई के ब्राह्मण और पारसी और मद्रास के ब्राह्मण शिक्षा और संस्कृति में सबसे आगे थे। इनमें से कुछ जमींदार

और कुछ सरकारी नौकरियों पर निर्भर थे। लेकिन बड़ी और बढ़िया नौकरियाँ अंग्रेजों के लिए सुरक्षित थीं। १८८७ में इण्डियन सिविल सर्विस के ८६० सदस्यों में सिर्फ १६ हिन्दुस्तानी थे। १८६७ तक छोटी नौकरियों में भी आधे से ज्यादा अंग्रेज थे या यूरोपियन थे। हिन्दुस्तानी मुलाजिमों में दस में से एक ही ऐसा था जिसे ७५ रु० मासिक या इससे ज़्यादा वेतन मिलता था। किन्तु धीरे-धीरे इन पदों पर हिन्दुस्तानी अधिक होते जा रहे थे। फिर भी अंग्रेज प्रशासक इन्हें उभरने नहीं देते थे। १८८२ में, जब दोसाभाई फ्रामजी नामक पारसी को बम्बई का कलक्टर बनाया गया तो यूरोपियन शासनधरों ने इसके खिलाफ नाराजगी जाहिर करते हुए सेक्रेट्री ऑव स्टेट को कई पत्र लिखे। इन बातों से पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों में, खास तौर से उनमें जिन्हें पढ़ने-लिखने के बाद भी आसानी से नौकरी या रोजगार नहीं मिल रहा था या जिन्हें ऊँचे पदों तक पहुँचने की सहूलियत नहीं थी, अंग्रेजी शासन के खिलाफ रोष बढ़ रहा था। इस तरह पढ़े-लिखे लोगों में दो वर्ग पैदा हो रहे थे—एक ज़मींदारों और उनके साथ लगे वकीलों का और दूसरा छोटे दर्जे के पढ़े-लिखे बेरोजगार लोगों का। ये नरम और उग्र राष्ट्रीयता के अगुवा बने।

१८५० के बाद भारतीय समाज में दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—एक देश-व्यापी संगठनों का निर्माण और दूसरी उद्योग और यातायात के साधनों के विकास द्वारा देश की एकता की अनुभूति। १८१७ में कलकत्ते में हिन्दू कालेज की स्थापना के बाद वहाँ के छात्रों ने एक संघ बनाया। इसके सदस्य 'यंग बंगाल' (तरुण बंगाल) कहलाते थे। वे नवीन विचारों में निष्णात थे। १८३८ में 'सोसायटी फॉर द् एक्वीजीशन ऑव जनरल नालेज' (ज्ञानोपार्जन समाज) बना और १८४३ तक इसके २०० सदस्य हो गये, जिनमें उस समय के बड़े नेता भी शामिल थे। १८४८ में बम्बई के एलफिन्स्टन कालेज में 'स्टुडेन्ट्स लिटरेरी एण्ड सायण्टिफिक सोसायटी' (छात्र-साहित्यिक और वैज्ञानिक समाज) बना जिसमें पारसी, गुजराती और महाराष्ट्री शामिल थे। २६ अक्तूबर १८५१ को कलकत्ता में 'ब्रिटिश इण्डिया एसोसिएशन', २५ अगस्त १८५२ को बम्बई में 'बाम्बे एसोसिएशन' और मद्रास में 'मद्रास नेटिव एसोसियेशन' कायम हुए। इनकी सदस्यता कुल, जाति, धर्म और स्थान की भावनाओं से परे थी। कालान्तर में 'ब्रिटिश इण्डिया एसोसिएशन' जमींदारों की संस्था बन कर रह गयी। देब, टैगोर, लाहा आदि परिवारों के लोग इस पर छा गये। भूमि-सुधार, जैसे १८५९ का 'टीनेन्सी एक्ट' और १८७० में स्थानीय सुधार के लिए लगाये गये अबवाब (कर), इसे अखरने लगे। इसलिए नयी संस्थाओं की आवश्यकता हुई। फलतः शिशिर कुमार घोष की 'इण्डिया लीग' और आनन्द मोहन बोस और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का 'इण्डिया एसोसिएशन' सामने आये। ये मध्यम वर्ग और रियाया के हितों की रक्षा के लिए आगे बढ़े। इनमें विद्यार्थियों का बोलबाला

हो गया। १८८० में जिलों में 'इण्डिया एसोसिएशन' की शाखाएँ खोलने का काम शुरू हुआ और १८८४ तक इसकी ४४ शाखाएँ कायम हो गयीं। इसने सबसे पहले किसानों के अधिकारों का सवाल उठाया और प्रतिनिधि शासन की माँग की। इन प्रवृत्तियों से घबराकर 'ब्रिटिश इण्डिया एसोसिएशन' ने 'नेशनल कान्फ्रेन्स' से सहयोग किया और १८८६ के 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' के कलकत्ता-अधिवेशन में मदद की, लेकिन जल्दी ही इसका महत्त्व घट गया। कलकत्ते के 'इण्डिया एसोसिएशन' की तरह महाराष्ट्र की 'पूना सार्वजनिक सभा' जो अप्रैल १८७० में बनी, और जोतीरॉव गोविन्दरॉव फूले का 'सत्य शोधक समाज', जिसका निर्माण १८७३ में हुआ, राजनीतिक जागृति के वाहन बने। ब्राह्म समाज, इसकी शाखा भारतवर्ष समाज, आर्य समाज और थियोसोफीकल सोसायटी अखिल भारतीय संगठन के आदर्श को लेकर चले। लन्दन में १८६५ में बनी 'इण्डियन सोसायटी' और अगले साल चालू हुआ 'ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन' भी अखिल भारतीय विचार-धारा पर अग्रसर हुए। इन सबकी प्रेरणा से प्रान्तीय संगठन समस्त भारत की दृष्टि से सोचने लगे। १८७७ में 'पूना सार्वजनिक सभा' ने दरबार के मौके पर दिल्ली आये हुए कलकत्ता और बम्बई के लोगों को इकट्ठा होकर काम करने की प्रेरणा दी। १८७९ में इण्डिया एसोसिएशन द्वारा कलकत्ते में आयोजित दो बैठकों में देश के सारे भागों से प्राप्त सन्देश पढ़े गये। १८८४ में कलकत्ते में नेशनल कान्फ्रेन्स हुई। उसी साल दिसम्बर में लार्ड रिपन को विदाई देने के लिए बम्बई में देश के सब भागों के लोग आये। उन्होंने वहाँ एक सम्मेलन करने की योजना बनायी। एक हताश किन्तु भारतप्रेमी अंग्रेज प्रशासक एलन आक्टेवियन ह्यूम ने उन्हें संगठित करने की कोशिश की। उसके दिमाग में अखिल भारतीय संगटन का भाव था। आखिर में दिसम्बर १८८५ में पूना में ऐसे संगठन की स्थापना का कार्यक्रम बनाया गया, किन्तु, वहाँ प्लेग फैल जाने से, यह काम बम्बई में किया गया। 'इण्डिनयन नेशनल कांग्रेस' का जन्म हो गया। बाद में यह गलत धारणा फैलायी गयी कि लार्ड डफरिन ने इस संस्था को 'इण्डिया एसोसिएशन' के प्रतिरोध के लिए बनवाया।

ऊपर हमने जिस एकता की प्रवृत्ति का जिक्र किया है उसे यातायात और उद्योगों के विकास से बड़ी सहायिता मिली। १८३३ से कुछ बाद कलकत्ते से पेशावर तक ग्राण्ड ट्रंक रोड बनाने का काम शुरू हुआ। १८५२ तक इसे ९६० मील तक तैय्यार कर लिया गया। १८८० तक २०,००० मील पक्की सड़कें हो गयीं और १९१४ तक ५०,००० मील हो गयीं। १९३८ में ६३,७०६ मील पक्की सड़कें मौजूद थीं, इनके अलावा २,२०,४८५ मील कच्ची सड़कें भी चालू थीं। १८५३ में बम्बई से थाना को सबसे पहली रेलगाड़ी चली। १८५९ तक ४३२ मील रेल की पटरी बिछा दी गयी। १८६९ तक ५,०१५ मील रेल

की लाइन हो गयी। १६३६ में ४१,१३४ मील रेल का सफर हो गया। तार का काम १८५२ में शुरू हुआ। १८५५ में ३,२५५ मील तक तार की लाइन डाल दी गयी। १८६० तक यह दसगुनी हो गयी। १६३६ तक ६३,१६० मील तक तार की सुविधा हो गयी। १८५१ में बम्बई में सबसे पहला रुई का कारखाना खुला, १८७६ तक ४७ रुई के कारखाने हो गये, १८८२ में इनकी संख्या ६२ हो गयी और १६०२-३ में यह २०१ तक पहुँच गयी। सन और अन्य वस्तुओं के कारखानों की भी ऐसी ही तरक्क़ी हुई। व्यापार की उन्नति से ज्वाइण्ट-स्टॉक कम्पनियों की धूम मच गयी। १८८१ में बंगाल में १७७, बम्बई में १००, मद्रास में ६३, मैसूर में ५४, यू० पी० में २४, पंजाब में १२ और सी० पी० में २ कम्पनियाँ थीं। १८८२ से १६०३ तक पन्द्रह वर्ष की अवधि में इन कम्पनियों की संख्या ८६५ से १,४४० हो गयी और इनकी भुगतायी हुई पूँजी १५० लाख पौण्ड से २६० लाख पौण्ड तक बढ़ गयी। १८५४ से सर चार्ल्स वुड की चिट्ठी ने शिक्षा को नया मोड़ दिया। १८७३ में कॉलेजों की संख्या ५५ थी और उनमें ४,४६६ विद्यार्थी पढ़ते थे, किन्तु १८६३ में १५६ कॉलेज हो गये और उनके छात्रों की संख्या १८,५७१ हो गयी। १८५६ में जाब्ता दीवानी और १८६१ में जाब्ता फौजदारी और ताज़ीरात-ए-हिन्द (भारतीय दण्ड-संहिता) लागू किये गये। इन सब परिवर्तनों से एक ओर देश की एकता को बढ़ावा मिला और दूसरी ओर पुरानी जातिपरक व्यवस्था के स्थान पर एक नयी वर्ग-व्यवसाय-परक व्यवस्था विकसित होने लगी।

बीसवीं सदी के शुरू होते ही जमींदार-वकील-धनपति के ऊँचे वर्ग और पढ़े-लिखे बेरोज़गारों या साधारण लोगों के मझले वर्ग में भिड़न्त होने लगी। १८८५ से १६०५ तक राष्ट्रीय आन्दोलन पहले वर्ग के हाथ में था तो १६०५ से १६१८ तक वह दूसरे वर्ग के हाथ में आ गया। इससे मध्यममार्गियों (मोडरेट) और उग्रवादियों (एक्स्ट्रीमिस्ट) का विभेद सामने आया। इस वातावरण में धर्म और राष्ट्रीयता का बन्धन जुड़ा, वेदान्त की राजनीतिक व्याख्या की गयी, आतंकवाद ने भी सिर उठाया, पश्चिम का सम्मोहन कम हुआ और भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की खोज तेज़ हुई। किन्तु इस सब से घबराकर मुसलमान अभिजातवर्ग जो पुरानी परम्पराओं से नत्थी था, शिक्षा में पिछड़ा हुआ था और जन-आन्दोलन से आतंकित था, अलग होने की बात करने लगा जिससे १६०६ में मुसलिम लीग का जन्म हुआ। आगरा-अवध और उत्तरी भारत में, जहाँ प्रेज़ीडेन्सियों के मुक़ाबले में बहुत पिछड़ापन था पठान, मुग़ल और सैय्यद अपनी ज़मींदारियाँ बनाये हुए थे और सरकारी नौकरियों में भी काफी हिस्सा रखते थे। ये लोग, राजा शिव प्रसाद आदि कुछ हिन्दुओं के साथ मिलकर, बंगालियों को बुरा कहते थे और उत्तरी भारत में उनके दखल को ख़त्म करना चाहते थे। ये लोग मुसलिम पृथकता-

वाद के प्रवर्तक बने।

१६१८ के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन मझले वर्ग से निकल कर जन-साधारण में फैलने लगा। किसान और मज़दूर जागने लगे। १६१७ में गांधी जी ने चम्पारन के किसानों को नील के फार्म चलाने वालों के विरुद्ध संगठित किया। गुजरात के बारदोली ज़िले में १६२७-२८ और १६३०-३१ में किसानों ने दो आन्दोलन चलाये। १६२७-२८ में बंगाल, बिहार, यू० पी० और पंजाब में किसान सभाएँ क़ायम हुईं। १६२८ में 'आन्ध्र प्रॉविन्शियल रायत्स् एसोसिएशन' बना। १६३५ में लखनऊ में 'ऑल इण्डिया किसान काँग्रेस' का पहला अधिवेशन हुआ। १६२० में नारायण मल्हार जोशी ने 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' चलाकर मज़दूरों को संगठित करना शुरू किया। १६२०-२१ में लगभग ५,००,००० मज़दूरों ने हड़ताल की। १६२२ में श्रीपाद अमृत डांगे ने 'सोशलिस्ट' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। १६२६ में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति का गठन हुआ। मज़दूर संस्थाओं में भेद और समझौते बराबर चलते रहे। इस जागृति के पीछे प्रथम महायुद्ध के बाद का आर्थिक उत्थान था और इसकी जड़ में सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तनों की चेतना थी जिसे गांधी जी ने एकता का मार्ग दिया।

साहित्य में ये नयी प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से मुखरित हुईं। बंकिम चन्द्र चटर्जी के उपन्यासों में राष्ट्रीय भावना का घोष और सांस्कृतिक मूल्यों की खोज है तो शरदचन्द्र चटर्जी के उपन्यास सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विषयों का विश्लेषण करते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर में समस्त सांस्कृतिक जीवन की नयी सृजनात्मक व्याख्या है तो मुहम्मद इक़बाल मनुष्य के गौरव, शक्ति और साहस के अमर गायक हैं। विष्णु कृष्ण चिपलूणकर की मराठी 'निबन्धमाला' में पश्चिमी शैली और सांस्कृतिक गौरव का संगम है तो तेलुगु लेखक वीरसालिंगम का 'राजशेखर चवित्रम्' ओलीवर गोल्डस्मिथ के 'विकार ऑव वेकफील्ड' के नमूने का है। दक्षिण में सुब्रह्मण्य भारती से उत्तर में मैथिलीशरण गुप्त तक राष्ट्रीय उद्बोधन और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का स्वर प्रबल है। मराठी में हरि नारायण आपटे और हिन्दी में प्रेमचन्द्र सामाजिक प्रश्नों से जूझते हैं। इस सब साहित्य में लोकजीवन का उद्वेलन और आन्दोलन व्याप्त है, नवनिर्माण और परिवर्तन की गूँज है, और एक तीखी चसक और कसक, तड़पन और थिरकन, बेचैनी और परेशानी है। यह नये भारत का बहुरूपदर्शी दर्पण है।

## दक्षिण पूर्वी एशिया में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद का द्वन्द्व

दक्षिण-पूर्वी एशिया में पन्द्रहवीं सदी से यूरोपियन लोगों का आना-जानाशुरू

हुआ जिसने शीघ्र ही उपनिवेशवाद का रूप धारण कर लिया। सबसे पहले पुर्तगालियों और स्पेनियों ने, और फिर अंग्रेज़ों, डचों, फ्रांसीसियों ने, इस इलाक़े में पैर जमाये। सत्रहवीं सदी में इन्दोनेशिया में डचों का कब्जा हो गया, अठारहवीं सदी में मलाया अंग्रेज़ों के अधीन हो गया और उन्नीसवीं में बर्मा भी उनके शासन में आ गया और इसी सदी के अन्त में कम्बोदिया, वियतनाम और लाओस पर फ्रांसीसियों का पंजा जम गया। सिर्फ़ थाईदेश (स्याम) स्वतन्त्र रहा। इस उथल-पुथल में इन देशों के समाजों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए और उनकी संस्कृतियाँ नयी दिशाओं में चलने लगीं।

डच गवर्नर-जनरल कून ने १६१६ में बेटेविया (यकर्ता) की स्थापना की। वहाँ से जावा के व्यापार का नियन्त्रण होता था। व्यापार की वस्तुओं में शक्कर प्रमुख थी, लेकिन १७२५ से क़हवा का निर्यात बढ़ने लगा था। इससे लाभ उठाने के लिए डच अधिकारी किसानों को क़हवा उगाने पर मजबूर करने लगे थे। उन्नीसवीं सदी में जब डच लोगों ने अंग्रेज़ों से इस इलाक़े का कब्ज़ा वापस लिया—अंग्रेज़ों ने इसे नैपोलियन कालीन युद्ध के समय जीत लिया था—तो उनके गवर्नर-जनरल वान देन बोश ने इस पद्धति को और मज़बूत किया। इस उत्पादन-व्यवस्था (कल्चर सिस्टम) के अनुसार हर किसान को अपनी भूमि के पाँचवें भाग में क़हवा, चाय, शक्कर आदि निर्यात की वस्तुएँ उगानी और डच सरकार को देनी पड़ती थीं। अक्सर उन्हें अपनी भूमि के एक तिहाई या आधे हिस्से पर ये फसलें उगानी पड़ती थीं। कहने को ये फसलें उगाकर देने पर लगान माफ हो जाता था लेकिन असल में यह लगान, जो उपज के मूल्य का २/५ था, ज्यों का त्यों बना हुआ था। क़हवे की खेती से तो चावल की पैदावार में कोई फर्क नहीं पड़ा, लेकिन नील और गन्ने की खेती से चावल की उपज इतनी कम हो गयी कि १८४० के क़रीब अकाल और भुखमरी से त्राहि-त्राहि मच गयी जिससे दूवेस देक्कर मुल्तातूली जैसे उदार विचारों के व्यक्तियों के हृदय भी पसीज गये। इस व्यक्ति ने 'मेक्स हावेलार' शीर्षक उपन्यास में जावा के लोगों की तकलीफ का दर्दनाक चित्र खींचा है।

जावा से क़हवे, शक्कर, नील, रेशम, चाय, तम्बाकू आदि का निर्यात १८३० और १८३५ के बीच दोगुना हो गया और अगले ५ वर्षों में चौगुने से भी ज्यादा बढ़ गया। फलतः १८३० के बाद के कुछ वर्षों में ६० लाख गिल्डर सालाना इन्दोनेशिया से हालैण्ड जाने लगा और इसके बाद के दो दशकों में यह डेढ़ करोड़ के करीब हो गया। १८७७ तक ८३.२ करोड़ गिल्डर वहाँ से हालैण्ड पहुँच गये। इससे वहाँ का औद्योगीकरण और विकास हुआ किन्तु इन्दोनेशिया दरिद्रता की दलदल में धँस गया।

उन्नीसवीं सदी के अन्त में फान देवेन्तर, फान कोल और ईदनबर्ग आदि उदार-दलीय व्यक्तियों ने, उपर्युक्त शोषण और दमन से ऊब कर, नैतिकता, सदाचार और

लोक-कल्याण की हिमायत की। अतः डच शासन यातायात के साधनों के विस्तार और शिक्षा, स्वास्थ्य और नागरिक योजनाओं के प्रसार आदि की ओर ध्यान देने लगा। लेकिन इस सब का लक्ष्य इन्दोनेशिया में रहने वाले डच लोगों को आराम पहुँचाना था। उदाहरण के लिए जावा में डच लोगों ने जो सबसे पहली पक्की सड़क बनवायी वह केवल डच लोगों के चलने के लिए थी, देशी लोगों के आने-जाने के लिए उसके बराबर के कच्चे रास्ते थे। इसी प्रकार अतजेह में सब से पहली रेल की पटरी वहाँ के युद्ध में डच सेना के अभियान के लिए बिछायी गयी। इनके बनाने में बेहद बेगार ली गयी जिससे जनता की कमर टूट गयी।

फिर भी उपनिवेशी शासन में लोगों के आपसी झगड़े मिट गये और छोटी-मोटी रियासतों की नोंक-झोंक ख़त्म हो गयी। उधर नयी शिक्षा से लोगों के दिमाग़ खुलने लगे। जापारा के शासक की पुत्री कार्तिनी (१८७६-१६०४ ई०) ने डच भाषा में नयी शिक्षा प्राप्त कर लड़कियों की शिक्षा के लिए एक विद्यालय खोला और स्थानीय उद्योगों के उद्धार का बीड़ा उठाया। उसके 'पत्र' तात्कालिक जीवन-पद्धति और नवीन विचार-धारा के दर्पण हैं।

डच शासन में समाज का ढाँचा बदलने लगा। इस समाज की इकाई गाँव था जिसे 'देश' कहते हैं। यह सामूहिक रूप से, अपने मुखिया द्वारा, कार्य करता था। प्रत्येक परिवार की भूमि, मकान, पशु आदि उसके नियन्त्रण में थे। अनाथ बच्चों का पोषण, सदाचार की देखरेख और शान्ति और सुरक्षा बनाये रखना उसका दायित्व था। आपसदारी और भाईचारे के इस वातावरण में सामाजिक प्रतिष्ठा का मानदण्ड धन-संग्रह न होकर लोकसेवा था। बहुत से 'देश' मिलकर एक जनपद बनाते थे और अनेक जनपद एक रियासत में शामिल होते थे। डच शासन में इस व्यवस्था को धक्का लगा। तिजारती शहरों और बन्दरगाहों का महत्त्व बढ़ने लगा। १६३० में इन्दोनेशिया की आबादी ५.६ करोड़ हो गयी जिसमें ४.१ करोड़ सिर्फ जावा में रहते थे और बाकी १.८ करोड़ अन्य द्वीपों में। इससे जावा में भूमि की समस्या उग्र हो गयी। हालाँकि ६० प्रतिशत लोग देहाती थे, ८ प्रतिशत शहरी हो गये और २ प्रतिशत पश्चिमी संस्कृति के रंग में रंग कर नये विचारों के अग्रदूत बनने लगे। इनमें राष्ट्रवादी विचार जमने और फूटने लगा।

१६०० में केवल ५ इन्दोनेशियाई विद्यार्थी हालैण्ड में पढ़ते थे। १६०८ में इनकी संख्या २३ हो गयी। इन्होंने वहाँ एक 'इण्डीज़ समाज' क़ायम किया। १६२२ तक इसके सदस्यों की संख्या काफी बढ़ गयी और इसका नाम 'पेरहिम्पुनान इन्दोनेशिया' (इन्दोनेशियाई संघ) रख दिया गया। इसके जो सदस्य हालैण्ड से पढ़कर इन्दोनेशिया

आते थे उनके सामने रोज़गार की बड़ी समस्या थी। एक तो उन्हें नौकरी मुश्किल से मिलती थी, दूसरे मिलती भी थी तो उसी दर्जे के चीनी और डच कर्मचारी से कम वेतन मिलता था। हालाँकि सरकारी सेवाओं में इन्दोनेशियाई और डच कर्मचारी ६ और १ के अनुपात में थे फिर भी ६२ प्रतिशत ऊँचे पदों पर डच ही काम करते थे और व्यावसायिक सेवाओं में भी उनका बाहुल्य था। जिन लोगों के विषय में ज़रा-सा भी चीख-पुकार करने का शक होता उन्हें जेल में ठूँस दिया जाता जैसा सुतान श्याहरीर के 'निर्वासिन से मुक्त' शीर्षक पत्र-संग्रह से प्रकट होता है। यह वातावरण, १६०५ की जापान की रूस पर विजय, १६११ की चीनी क्रान्ति और १६१६ की रूसी क्रान्ति से घनत्व प्राप्त कर, राष्ट्रवादी आन्दोलन का प्रेरक सिद्ध हुआ। २० मई, १६०८ को डॉ० वाहिदीन सुदीरो हुसोदो ने कुछ अभिजात वंशों के विद्यार्थियों के सहयोग से 'बूदी ओतोमो' (महान् उद्यम) नामक आन्दोलन जारी किया। इसे जावा-मदुरा की प्राचीन भारतीय परम्परा से काफी प्रेरणा मिली। साल ही भर में इसके सदस्यों की संख्या करीब १०,००० हो गयी। इसका उद्देश्य शिक्षा का विस्तार करना और खेती, उद्योग और व्यापार को बढ़ावा देना था। १६१३ के बाद इसके अनेक तरुण सदस्य अन्य उग्रवादी संगठनों में शामिल हो गये। इसमें उच्च वंशों के लोग सरकारी कर्मचारी और कुछ बुद्धिजीवी ही रह गये। परन्तु इसकी स्थापना की तिथि राष्ट्रीय जागृति दिवस के रूप में मनायी जाती है।

'बूदी ओतोमो' के एक सह-संस्थापक डॉ० सुतोमो ने १६२४ में सुराबाया में एक अध्ययन गोष्ठी चलायी। इसके बाद ऐसी ही अनेक गोष्ठियाँ बनीं। १६३१ में इनका एक संघ कायम हुआ और १६३५ में इस संघ और 'बूदी ओतोमो' के एकीकरण से 'पारिन्द्रा' (विशाल इन्दोनेशिया दल) नामक नरम विचारों का एक राजनीतिक दल बना जो उस समय बहुत शक्तिशाली था।

१६१२ में जोग्जाकर्ता में दीपोनेगोरो ने 'मुहम्मदिया' दल की नींव रखी। इसे पश्चिमी एशिया और मिस्र के आधुनिकतापरक सुधारवाद से प्रेरणा मिली। इसका आशय इस्लाम को आधुनिकता का चोला पहनाना था। इसके अधिकांश सदस्य नगरों के निवासी थे। १६२३ में इसकी १२ शाखाएँ खुल गयीं और १६३७ में उनकी संख्या ६१३ हो गयी। जिन दिनों यह दल कायम हुआ उसी समय बान्धनू रँगाई के कपड़े तैय्यार करने वाले कारीगरों ने चीनियों के मुकाबले से बचने के लिए 'शराकत दागांग इस्लाम' (इस्लामी व्यापार संघ) नामक सहकारी संस्था जारी की। १६१२ में इसका नाम 'शराकत-इस्लाम' (इस्लामी संघ) हो गया और उमर सईद जोकरोआमीनोतो ने इसका तेजी से प्रचार किया। १६१६ में इसके सदस्यों की संख्या ३,६०,००० हो गयी। इसमें मध्यम वर्ग

के लोग ज्यादा थे। परन्तु इसमें देहाती लोग भी काफी आ गये। वे आधुनिकता की बाढ़ के खिलाफ थे। इसके नेता हाजी अगुस सलीम और अब्दुल मुइस सुधारवादी तो थे पर क्रान्तिकारी नहीं थे, लेकिन सेमाऊन और दरसोनो पूँजीवाद के विरोधी और मार्क्सवाद के हामी थे। इन दोनों वर्गों में भेद बढ़ता गया और अन्त में फूट पड़ गयीं। १६२० में 'पेरसेरीकातान कोमूनिस इन्दोनेशिया' (इन्दोनेशियाई साम्यवादी दल) कायम हो गया। इसकी ओर लोगों का झुकाव ज्यादा होने लगा। धर्म की बात ज्यादा गले तले नहीं उतरने लगी। अतः 'शराकत-इस्लाम' का पतन होने लगा। इसमें नगरों के पश्चिमी ढंग से पढ़े-लिखे लोगों और देहात की रूढ़िप्रिय जनता का विरोध फूटने लगा। आखिर में देहाती लोगों ने 'नहदतुल उलमा' (विद्वज्जागृति) नामक अलग संस्था बना ली। १६२५ की हड़तालों के बाद डच शासन का दमनचक्र तेजी से चला।

इस प्रकार १६२१ में साम्यवादियों के अलग हो जाने से और १६२६ में रूढ़िवादियों के हट जाने से जब 'शराकत-इस्लाम' कमजोर होने लगा तो १६२७ में राष्ट्रवादी लोगों ने 'पेरसेरीकातान नासियोनाल इन्दोनेशिया' (इन्दोनेशियाई राष्ट्रीय दल) नामक धर्म-निरपेक्ष संस्था कायम की। इसका उद्भव डॉ० सुकर्नो के बान्दुंग अध्ययन केन्द्र से हुआ और इसके सदस्यों में ज्यादातर 'पेरहिम्पुनान इन्दोनेशिया' (इन्दोनेशियाई संघ) के विद्यार्थी थे। १६२६ में इसके सदस्यों की संख्या १०,००० तक पहुँच गयी। इसका लक्ष्य 'इन्दोनेशिया मेरदेका' (स्वतंत्र इन्दोनेशिया) था। डच शासन ने इसके साथ बड़ी सख्ती बरती। अतः १६३१ में इसके एक सदस्य सरतोनो ने एक नयी 'पार्तिन्दो' (पारताइ इन्दोनेशिया) कायम की किन्तु इसकी नीति-रीति कुछ मुलायम रखी। जेल से छूटने पर डॉ० सुकर्नो इसमें शामिल हो गया और जल्दी ही इसका अध्यक्ष चुन लिया गया। १६३३ तक इसकी ५० शाखाएँ और उनकी सदस्यता २०,००० तक हो गयी। डच शासन ने इसके प्रति भी क्रूरता दिखायी और डॉ० सुकर्नो को देश-निकाला दे दिया। इस बीच में कुछ लोगों ने एक नया दल 'गेरिन्दो' (गेराकान राकजात इन्दोनेशिया), अर्थात् 'इन्दोनेशियाई जन-आन्दोलन' कायम किया। इसमें उग्रवादी वामपन्थी राष्ट्रवादी शामिल थे, लेकिन इन्होंने फाशिस्त खतरे को देखते हुए डच शासन से सहयोग करना उचित समझा। इसी दौरान मुहम्मद हत्ता और सुतान श्याहरीर ने स्वदेश लौट कर 'क्लब पेन्दीदीकान नासियोनाल इन्दोनेशिया' (इन्दोनेशियाई राष्ट्रीय शिक्षा-गोष्ठी) जारी की। डचों को यह भी असह्य हुआ और उन्होंने हत्ता और श्याहरीर दोनों को पकड़ लिया। उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन में विघटन ज्यादा था। इसलिए १६३६ में आठ प्रमुख राष्ट्रीय दलों को मिला कर 'गाबुन्गान पोलितीक इन्दोनेशिया' (इन्दोनेशियाई राजनीतिक दल संघ) कायम किया गया। इसने एक 'कांग्रेस राकजात इन्दोनेशिया' (इन्दोनेशियाई जन-

सम्मेलन) बुलाया जिसने एक भाषा (बहासा इन्दोनेशिया), एक ध्वज (लाल और सफेद) और एक राष्ट्रगान (इन्दोनेशिया राजा) स्वीकार किया। डच शासन ने बड़ी निर्दयता से इस आन्दोलन का दमन शुरू किया। किन्तु द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। हालैण्ड इसमें उलझ गया। जापानियों ने जनवरी १९४२ में इन्दोनेशिया में कदम रखा। डच गवर्नर-जनरल दि योन्गे का विचार था कि इन्दोनेशिया पर उसके देशवासियों का शासन अगले ३०० वर्ष तक चलेगा, किन्तु ३ वर्ष बाद ही उसका शीराजा बिखर गया।

अब डच उपनिवेशी क्षेत्र से ज़रा अंग्रेजी हलके की ओर चलते हैं। १८२५ में स्टेमफोर्ड रेफल्स ने सिंहापुर को डच इण्डीस से अलग कर दिया था। अगले वर्ष पेनांग, वेलेज़ली प्रान्त, मलाका और सिंहापुर को जोड़कर 'स्ट्रेट्स सेटिलमेण्ट' कायम किया गया। १८७० के बाद टीन की निकासी और तिजारत के बढ़ने से अंग्रेज़ों ने मलय प्रायद्वीप की सलतनतों के मामलों में रुचि लेनी शुरू की और वहाँ अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये। १८९५ में चार प्रमुख सल्तनतों का एक संघ बना दिया गया। १९०९ में स्याम से हट कर चार और सल्तनत अंग्रेजों के असर में आ गयीं। १९१० से टीन के अलावा रबड़ भी उद्योग-व्यापार का केन्द्र बन गया। १८२० से ही चीनी मजदूरों का ताँता बँधा था, १९१० से भारतीय मजदूर भी भारी संख्या में पहुँचने लगे जिससे मलाया में बहुमुखी समाज बन गया।

१८३९ में जेम्स ब्रुक नाम के एक अंग्रेज ने बोर्नियो जाकर ब्रूनेई के राजकाज में दखल देना शुरू किया और अन्त में यह इलाका अंग्रेजों के अधीन हो गया।

उधर अंग्रेजों ने भारत से बर्मा में पैर फैलाने शुरू किये। १८२४ के युद्ध के बाद १८२६ में जो यन्दाबो की सन्धि हुई उससे अराकान और तेनासेरिम पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया और साथ ही उन्हें दस लाख पौण्ड का हर्जाना भी मिला। अंग्रेजों ने लकड़ी के धंधे को काफी बढ़ावा दिया और सागौन के जंगलों पर अधिकार जमाया। उनके राज्य में चावल की खेती तिगुनी हुई, लेकिन भाप के जहाजों के चलने से मल्लाहों का रोजगार जाता रहा। कारेन लोगों में ईसाई धर्म फैला और वे अंग्रेजी शासन के हामी हो गये। १८५२ से १८७८ तक बर्मा में मिन्दोन मिन का राज्य रहा। वह थाईदेश के राजा मोंगूत की तरह प्रगतिशील विचारों का शासक था। उसने भाप से चलने वाले जहाजों का प्रयोग शुरू किया, चीन से व्यापार जारी किया और आर्थिक मामलों में उन्नति की ओर ध्यान दिया। उसने जागीरदारी को खत्म करने की भी योजना बनायी और प्रशासन को ठीक करने के लिए फ्रांस और इटली से इंजीनियर और विशेषज्ञ बुलवाये।

१८८६ में बर्मा के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने पर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का वर्ग उभरने लगा। १९०८ में पहला बर्मी डिप्टी कमिश्नर हुआ और १९१७ में पहला

बर्मी हाई कोर्ट का जज बना। लेकिन उन्होंने बौद्ध धर्म और देशी सांस्कृतिक परम्परा के उत्थान का सूत्रपात किया। १९०६ में 'युवक बौद्ध संघ' संगठित हुआ। इसका उद्देश्य बौद्ध परम्परा को पश्चिमी विद्या से समन्वित करना था। १९०९ में 'बर्मा शोध समाज' बना। इसने सांस्कृतिक उत्थान में योग दिया। इन संस्थाओं में राष्ट्रवादी भावना का उदय हुआ। विद्यार्थी नेता, जिन्हें 'थाकिन' (स्वामी) कहते थे, राष्ट्रवाद के अग्रदूत बने। महायुद्धों के बीच के काल में इस भावना का विकास हुआ। परीक्षाओं में विफल और बेरोजगार विद्यार्थियों ने इसमें घी का काम किया। १९३५ में दोबामा दल और अखिल बर्मी युवक लीग के मिलन से 'दोबामा आसिआयोने' (हम बर्मी संघ) बना। इसके सदस्य क्रान्तिकारी विचार-धारा में निष्णात थे और साथ ही बर्मी परम्परा के भक्त थे। १९३६ की विद्यार्थी हड़ताल में यह आन्दोलन जोर पकड़ गया और थाकिन नू और थाकिन औंग सान जैसे नेता सामने आये।

थाईदेश, जापान की तरह, पश्चिमी देशों के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रहा। इसका कारण इन देशों के लोगों की आपसी स्पर्धा थी। किन्तु इसके बावजूद वहाँ आधुनिकता की प्रवृत्ति तेजी से पनपी और उसने यह सिद्ध कर दिया कि एशिया के किसी देश के अभ्युत्थान के लिए पश्चिमी देशों का आधिपत्य जरूरी नहीं है। चकरी राजवंश के शासक राम द्वितीय और राम तृतीय ने पश्चिमी वस्तुओं में रुचि दिखायी। अतः १९२८ में नीदरलैण्ड्स के एक प्रोटेस्टेण्ट मिशनरी ने थाई-अंग्रेजी शब्दकोश तैयार किया और टूटी-फूटी थाई भाषा में नयी इंजील का अनुवाद किया। १९३५ में एक अमरीकी प्रचारक ने सबसे पहला थाई भाषा का समाचार पत्र चलाया और एक और पादरी जेसे केसवेल ने राजकुमार मोन्गूत को अंग्रेजी पढ़ायी। एक अन्य पादरी डॉक्टर डान ब्रेडले ने १९३९ में सबसे पहले चेचक का टीका लगाना शुरू किया। १८५१ में गद्दी पर आते ही मोन्गूत ने तेजी से पश्चिमीकरण की नीति अपनायी। उसने पश्चिमी व्यापार के द्वार खोल दिये और काफी संख्या में पश्चिमी विशेषज्ञों को थाईदेश बुलवाया। तीन अमरीकी पादरियों की पत्नियों ने उसकी रानियों को अंग्रेजी पढ़ायी। उसका छोटा भाई युवराज चूड़ामणि तो पश्चिमी संस्कृति में निष्णात था। वह अंग्रेजी ढंग से रहता और अपनी पत्नियों को अंग्रेजी कपड़े पहनवाता। उसने अपने बड़े लड़के का नाम जोर्ज वाशिंगटन रखा, लेकिन उसे ईसाई नहीं बनने दिया। उसने सबसे पहला यूरोपियन ढंग का जहाज बनवाया और एक कश्ती में भाप का इंजन लगवाया। उसने एक खराद की मशीन भी बनायी और घड़ी की मरम्मत पर एक निबन्ध लिखा। राजा मोन्गूत ने लगभग ८० यूरोपियनों को रखकर सेना, चुंगी, टकसाल, सड़क, नहर, पुल, तार आदि के नवीकरण की शुरुआत की। साथ ही उसने बौद्ध धर्म में सुधार कर धम्मयुत्त सम्प्रदाय चलाया जिसके सिद्धान्तों में आधुनिक विज्ञान का समन्वय था।

उसका मत था कि बौद्ध धर्म आधुनिक विज्ञान के बहुत निकट है।

मोन्गूत का पुत्र चूलालोन्कोर्न भी अत्यन्त प्रबुद्ध व्यक्ति था। उसने गद्दी पर बैठते ही गुलामी को खत्म किया। १८७४ के एक कानून के अनुसार यह घोषणा की गयी कि गुलाम माँ-बाप की सन्तान बालिग होने पर स्वतन्त्र हो जायगी। १९०५ में गुलामी प्रथा को बिलकुल ही उड़ा दिया गया। १८७७ में धर्म-निरपेक्ष शिक्षा के लिए राजमहल में एक विद्यालय खोला गया और इसके लिए सरकारी छापेखाने से पुस्तकें छपने लगीं और साथ ही एक साप्ताहिक सरकारी गजट निकलने लगा। करीब ३०० विद्यार्थी प्रतिवर्ष पढ़ने के लिए विदेश जाने लगे। १८९९ में यूरोपियन तिथिक्रम अपनाया गया और इत-वार की छुट्टी की जाने लगी। १८७१ में धार्मिक सहिष्णुता की नीति की घोषणा की गयी और पत्रकारिता और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए पूरी स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया। १८७६ और १८८० के बीच नये ढंग का राजमहल बनाया गया और उसे यूरो-पियन ढंग से सजाया गया। १८९४ में उसमें बिजली लगायी गयी। १९०० में एक जर्मन फर्म ने २०० मील लम्बी रेलवे लाइन बिछायी। ट्राम, टेलीफोन, तार, अगनबोट चालू हो गये और एक घुड़दौड़ का मैदान तक तैयार हो गया। राजकुमार दामरोंग ने प्रशासन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सुधार किये और इसके सारे ढाँचे को बदला। १९०८ में फ्रान्सीसी वकीलों ने नयी दण्ड-संहिता तैयार की।

१९१० में चूलालोन्कोर्न की मृत्यु पर राजकुमार वचिरावूत राम षष्ठ के नाम से गद्दी पर बैठा। उसने सिर्फ पाँच पत्नियाँ रखीं और सारे हरम को बर्खास्त कर दिया। वह क्लबों, ड्रिल हाल और रगबी फुटबाल का बड़ा शौकीन था। उससे अगले शासक राम सप्तम ने बहुपत्नी विवाह को एकदम खत्म कर सिर्फ एक पत्नी रखी और राजकाज के खर्चों में काफी कटौती की। धीरे-धीरे पश्चिमी विचारों का ऐसा जोर हुआ कि लगभग ८० व्यक्तियों ने राजतन्त्र के खिलाफ आवाज उठायी और २४ जून १९३२ को खुद शासन सम्भाल लिया। इनका नेता फ्रांसीसी शिक्षित प्रीदी फानामयोंग था। लेकिन सेना ने उसके कार्यक्रम को साम्यवादी घोषित कर स्वयं सत्ता सम्भाल ली। अगले वर्ष एक विद्रोह को खत्म कर कर्नल लुआङ पिब्रुन सोन्ग्राम प्रबल हो गया। तब से राष्ट्रवादी भावना का विकास हुआ। इसका प्रथम प्रकोप चीनियों पर पड़ा। परन्तु औद्योगीकरण और विकास कार्यों में तेजी आयी। पिबुन सोन्ग्राम ने एक ओर पश्चिमी बूट-सूट-टोप से लगाकर 'हेल्लो' सम्बोधन तक अपनाकर पश्चिमीकरण को चरम सीमा तक पहुँचाया और दूसरे जापानी बूशीदो के नमूने पर 'वीरथम्' नामक एक राष्ट्रीय आचार संहिता बनायी और एक सैनिक युवक संघ का निर्माण किया जिस पर जापानी विचार-धारा की गहरी छाप थी।

हिन्द चीन में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में फ्रांसीसियों का दबाव बढ़ा। इसका

उत्तर देने के लिए एक युवक कैथलिक वियतनामी न्गुयेन तुओंग तो ने, जो १८६३ में फ्रांस और इटली की यात्रा से लौटा था, आधुनिक सुधारों के प्रस्ताव पेश किये। लेकिन पुराने ढंग के मेन्दरिन प्रशासकों ने उसकी एक न सुनी। इस सब इलाके पर फ्रांसीसी शासन जम गया। ढेर के ढेर फ्रांसीसी फ्रांस से आकर वहाँ के लोगों को चूसने लगे। १८९७ से १९०२ तक पॉल दूमे गवर्नर-जनरल रहा। उसने रेल, सड़कों, नहरों और बन्दरगाहों के विकास के लिए कर लगाये। लेकिन उसका लक्ष्य फ्रांसीसी हितों को बढ़ावा देना था। स्थानीय उद्योग या खेती के विकास का कोई सवाल नहीं था। १९०२ में यूरोपियनों ने वहाँ की २ लाख हेक्तर जमीन हथिया कर उस पर चाय, रबड़ और काफी के फार्म शुरू किये। परन्तु १९०८ में हेनोइ में 'एकोल फ्रान्सेज द्-एक्स्त्रेम ओरियां' जारी हुआ जिसने इस प्रदेश की प्राचीन संस्कृति की खोज में बड़ा योग दिया।

फ्रांसीसी आधिपत्य से समाज में उथल-पुथल शुरू हुई। गाँव के बड़े-बूढ़ों का महत्त्व गिर गया। पुराने रीति-रिवाज, पितृ-पूजा आदि ढीले पड़ने लगे। स्वतन्त्रता और अधिकारों का स्वर गूँजने लगा। कम्बोदिया में गुलामी की प्रथा खत्म हो गयी। किन्तु वियतनाम और तोंकिन में यूरोपियन और पश्चिमी लोगों का विरोध बढ़ने लगा। एक ओर रूढ़िवादी, दूसरी ओर विद्रोही युवक, तीसरी ओर शहरों के रहने वाले पश्चिमी संस्कृति में निष्णात व्यक्ति यूरोपियन आधिपत्य का भण्डाफोड़ करने लगे।

फ्रान्सीसी शासन का लाभ फ्रान्स की जनता के ही लिए था। १९३७ में हिन्द चीन में जो २०,५०० के करीब फ्रांसीसी व्यवसायी थे उनमें से ७२% पेन्शन पाते थे। इनके मुकदमे शुद्ध फ्रांसीसी अदालतों में ही चल सकते थे जो हेनोई और सैगोन में स्थित थीं। फ्रांसीसियों के अलावा इस युग में चीनियों को भी लाभ पहुँचा। १९३१ में उनकी संख्या ४,२०,००० हो गयी। फ्रांसीसियों ने अपने केन्द्रीकृत आधिपत्य को दृढ़ करने के लिए यातायात का विकास किया। १९१३ में लाल नदी से मेकोंग डेल्टा तक १००० मील लम्बी एक छोटी रेलवे लाइन बना कर तैयार की गयी। कुल मिलाकर हिन्द चीन में ३,००० किलोमीटर लाइन बिछायी गयी। ३६,००० किलोमीटर पक्की सड़कें बनायी गयीं। नदियों के यातायात को भी बढ़ावा दिया गया। लेकिन यह सब फ्रांसीसी उद्योग और व्यापार को बढ़ावा देने के लिए किया गया। स्थानीय उद्योग जैसे मिट्टी के बरतनों का धन्धा, टोकरे बनाना, सूती और रेशमी कपड़े बुनना आदि सब खत्म कर दिये गये। लोग सिर्फ खेती-बारी में लग गये और अपने स्वामियों के लिए चावल, शक्कर, तम्बाकू और चाय पैदा करने लगे। इस बढ़ती हुई दरिद्रता से असन्तोष फैला।

१८८० के बाद से वियतनाम के पुराने शासनाधिकारियों ने फ्रांसीसी शासन का विरोध शुरू किया। १९०५ से मध्यम और विद्यार्थी वर्ग सक्रिय होने लगे। १९१० में

चीनी नमूने की गुप्त गोष्ठियाँ बनने लगीं। १९१२-१३ में वियतनाम के उद्धार के लिए गणतन्त्री लीग कायम हुई। १९१६ में एक विफल राष्ट्रीय क्रान्ति भी भभकी। १९२० के बाद एक संविधान-दल राज्य सभाओं में मध्यम वर्ग के प्रतिनिधित्व की माँग करने लगा।

वियतनामी राष्ट्रीय आन्दोलन का सबसे पहला और प्रमुख नेता फान चू त्रिन्ह था। उसने १९०७ में आधुनिक ढंग का एक विद्यालय चलाया। लेकिन ९ महीने बाद फ्रांसीसी अधिकारियों ने उसे बन्द करा दिया। १९१५ में त्रिन्ह को पेरिस चला जाना पड़ा जहाँ उसे गिरफ्तार कर लिया गया। १९१६ की क्रान्ति उसी से सम्बन्धित है। १९२५ में वह वियतनाम आया लेकिन उसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गयी। वियतनाम का दूसरा राष्ट्रवादी नेता फान बोई चाङ था। उसने पश्चिमी देशों के विरुद्ध एक एशियाई संगठन क़ायम करने का विचार किया। इसके लिए उसने जापान की यात्रा की और चीनी क्रान्तिकारियों से सम्पर्क स्थापित किया। १९०६ में उसने होंग-कोंग में अपने क्रान्तिकारी कार्यों का अड्डा बनाया और १९०८ में पूर्वी एशिया की लीग में भाग लिया। लेकिन १९०७ के ज़ापानी-फ्रांसीसी समझौते से उसकी आशाओं पर पानी फिर गया। उसका बाद का ज़ीवन परेशानी और गिरफ्तारी में गुज़रा। किन्तु उसने १९२७ में तोंकिंग में घोर फ्रांसीसी-विरोधी राष्ट्रीय दल 'क्वोक-दान दांग' की स्थापना कर दी जिसने १९२९ के बाद एक क्रान्ति करने की कोशिश की।

१९३३ में फ्रांसीसी शासन ने सम्राट् बाओ दाई को संवैधानिक सुधारों के नेता के रूप में ऊपर उठाया और न्गो दिन्ह दिएम को सुधार-आयोग का सचिव नियुक्त किया लेकिन इस सबसे कोई खास नतीजा नहीं निकला।

१९२० के बाद न्गुयेन आई-क्वोक का साम्यवादी आन्दोलन चल पड़ा था लेकिन राष्ट्रवादी दल के मुक़ाबले में इसकी शक्ति कम थी। बाद में उसने हो ची मिन्ह का नाम धारण किया। द्वितीय महायुद्ध में उसने तोंकिंग में जापान के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया। इससे उसे अमरीका और चीन से सहायता मिली और वियतनाम में उसका सिक्का जम गया। जापान के समर्पण के बाद उसने वियत-मिन्ह कांग्रेस बुलायी और वह स्वयं इसका प्रधान चुना गया। २५ अगस्त, १९४५ को सम्राट् बाओ दाई ने उसे राजकाज सौंप दिया।

फिलिपीन्स में राष्ट्रवादी आन्दोलन दक्षिण-पूर्वी एशिया में सबसे पहले शुरू हुआ। इसका कारण यह था कि वहाँ पश्चिमीकरण सबसे पहले शुरू हुआ था। पढ़े-लिखे फिलिपीनो, जिन्हें 'इलुस्त्रादो' कहते हैं, स्पेनी शासन से नाराज़ थे। उनमें से कुछ लोगों ने, जो यूरोप में पढ़ते थे, १८८९ में 'ला सोलीदारीदाद' नामक पत्र निकालना

आरम्भ किया। इनमें एक युवक चिकित्सक डॉक्टर जोसे रिज़ाल बड़ा ओजस्वी था। उसके दो उपन्यासों, 'नोली मे तान्गेरे' (१८८७) और 'एल फिलिबुसतेरिस्मो' (१८९१), ने फिलिपीन्स में राष्ट्रवादी भावना फूँक दी। स्पेनी शासन ने इस भावना का घोर दमन किया और १८९६ में रिज़ाल को मृत्युदण्ड दिया। किन्तु इससे यह आन्दोलन सुधारवाद की सीमा को तोड़ कर क्रान्तिकारी परिवेश में आ गया। आन्द्रेस बोनीफासियो और एमीलियो आगीनाल्दो ने किसानों को संगठित कर 'कातिपुनान' नामक गुप्तदल बनाया। १८९८ में वहाँ एशिया के सबसे पहले अल्पजीवी गणतन्त्र की घाषणा की गयी। लेकिन अमरीका ने स्पेन को हराकर उपनिवेशवाद की विरासत ग्रहण की। स्वतन्त्रता की गति-विधि दबा दी गयी। सिर्फ इसका एक फल स्थायी सिद्ध हुआ। वह था स्वतन्त्र फिलिपीन चर्च जिसने रोम से अपना नाता तोड़ कर लातीनी के बजाय देशी भाषा को धार्मिक उपचार का माध्यम बनाया। धीरे-धीरे एक नया राष्ट्रवाद उभरा जिसका माध्यम 'नासियोनालिस्ता' दल था और जिसका नेता मानुएल लुइ केज़ोन १९३५ में फिलीपीन कोमन्वेल्थ का प्रथम अध्यक्ष बना। उधर किसानों की हालत खराब होती गयी। अमरीकियों ने ईसाई सन्तों और महन्तों की बड़ी-बड़ी जायदादें खरीद कर यह काँटा तो दूर किया लेकिन ये जायदादें जल्दी बड़े ज़मींदारों के हाथों में आ गयीं। १९१० से निर्यात के बढ़ जाने से और उसके लिए फसलें उगाने से देहात में और ज्यादा पतन हुआ। यह देहाती असन्तोष और किसानों की दरिद्रता नये व्यापक आन्दोलनों में फूट पड़ी जिनका प्रतीक १९३५ का 'सकदालिस्ता' उपद्रव है।

## चीन में राष्ट्रवाद और आधुनिकता का युग

मंचू काल के उत्तरार्ध में चीन में जो अहंकार, संकीर्णता और पृथकता का भाव उत्पन्न हुआ वह उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी शक्तियों के आघातों से छिन्न-भिन्न होने लगा। १८४१, १८६०, १८८३, १८९५ और १९०१ में क्रमशः चीन को इन शक्तियों ने ऐसे झटके दिये कि उसका दम्भ और अहंकार काफूर की तरह उड़ गया। वहाँ के शासक और बौद्धिक वर्ग ने जीवित रहने के लिए पश्चिमी देशों से कुछ सीखना शुरू किया। इस प्रक्रिया को हम चार युगों में बाँट सकते हैं। पहले युग (१८६१-७४) में कुछ त्सेङ कुओ-फान और ली हुङ-चाङ जैसे प्रबुद्ध प्रान्तीय प्रशासकों ने अनुभव किया कि पश्चिमी देशों से उनका तकनीकी ज्ञान, सैनिक विद्या, औद्योगिक विधान और यातायात की पद्धति सीखना जरूरी है। अतः उन्होंने १८६५ में शंघाई में किआङनान गोदी कायम की। अगले आठ वर्षों में इस गोदी से और १८६६ में स्थापित फूचो की गोदी से पन्द्रह जहाज़ बनकर निकले। इससे सैनिक संगठन के आधुनिकीकरण का क्रम शुरू हो गया। किन्तु

सैनिक व्यवस्था को आधुनिक रूप देने के लिए उद्योगों का विस्तार आवश्यक था। इसलिए १८७२ में ली हुङ-चाङ ने, जर्मन विशेषज्ञ गुस्ताफ देत्रिंग के परामर्श से, 'व्यापारी-भाप-जहाज़रानी-निगम' जारी किया और १८७६ में 'काइपिङ-खान-निगम' खोला जिसने मशीनें बनाने के कारखाने लगाये, इंजिन और कार बनानी शुरू की और स्थानीय टेलीफोन और तार की लाइनें लगायीं। १८७६ में एक अंग्रेज़ी फर्म ने शंघाई को वूसुङ से जोड़ने के लिए एक छोटी रेलवे लाइन बनायी किन्तु लोगों ने अन्धविश्वास के कारण इसका बड़ा विरोध किया। और एक व्यक्ति ने रेलगाड़ी के नीचे लेटकर अपने प्राण तक दे दिये। इस योजना के विफल होने पर 'काइपिङ-खान-निगम' ने १८८३ में सात मील लम्बी एक रेलवे लाइन बिछायी जो धीरे-धीरे २४० मील तक फैलकर १८९६ में पेकिङ की बाहरी बस्तियों तक पहुँच गयी। उन्हीं दिनों कारखाने लगने शुरू हुए। १८७८ में ली हुङ-चाङ ने सबसे पहले कपड़े का कारखाना खोला। उसके कुछ वर्ष बाद शंघाई में सूती कपड़े का कारखाना चालू हो गया जिसमें ४,००० मज़दूर काम करते थे। इस युग में विदेशी मामलों के दफ्तर 'त्सुङ्ली यामेन' में विदेशी भाषाओं और विद्याओं की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। किन्तु यह सब कुछ चीनी सांस्कृतिक परम्परा को दृढ़ करने के उद्देश्य से किया गया। लोगों का विश्वास था कि जीवन के इन बाहरी उपकरणों से पुरानी सामाजिक व्यवस्था और जीवन-शैली को मज़बूत किया जा सकता है।

१८९४ के युद्ध में जापान से मात खाने और १७ अप्रैल, १८९५ की शिमोनोसेकी की सन्धि में घोर अपमान और हानि सहन करने पर चीन में सुधारों का दूसरा दौर शुरू हुआ। इससे लोगों को लगा कि सिर्फ विज्ञान, उद्योग और विदेशी शिक्षा से देश की समस्या हल नहीं की जा सकती, उसके लिए राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था को बदलना ज़रूरी है। अतः खाङ यू-वेइ और लिआङ छो-छाओ आदि विचारकों ने 'पिएन-फा वेइ-शिन' (व्यवस्था को बदलो और सुधार करो) का नारा उठाया और राजनीतिक और सामाजिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन की माँग की। विद्वानों, अफ़सरों और ओहदेदारों ने अनेक अध्ययन-गोष्ठियाँ क़ायम कीं जिनमें १८९५ में स्थापित पेकिङ की 'छिआङ-श्युएह-हुइ' (शक्तिवर्धन-अध्ययन-कक्ष) उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने २ मई, १८९५ को एक आवेदनपत्र दिया जिसे 'दस हज़ार शब्दों की याचिका' कहते हैं और जिसमें शासन के सभी क्षेत्रों में सुधारों की माँग की गयी। इसके फलस्वरूप १८९८ में अनेक सुधार हुए। इस काल को 'सुधारों के सौ दिन' कहते हैं। इनमें शिक्षा, परीक्षा, कृषि, व्यापार, चिकित्सा, सेना, डाक और तकनीकी विषयों से सम्बन्धित चालीस से अधिक अध्यादेश जारी किये गये। लेकिन वाङ शिएन-छिएन (१८४२-१९१८), यूह ते-हुइ (१८६४-१९२७) और स्डु-लू (१८३६-१९०३) आदि पुराणपन्थी विद्वान-

अफसरों के विरोध के कारण इस सुधारवादी कार्यक्रम की इतिश्री हो गयी।

जब यह पुराणपन्थिता की लहर चली तो पश्चिमी देशों ने चीन की बन्दरबाँट शुरू की। फ्रांस ने युन्नान प्रान्त पर दावा किया तो ब्रिटेन ने केण्टन से याङत्ज़े घाटी तक के इलाके पर कब्जा जमाया, रूस ने मंचूरिया में पैर जमाये और जर्मनी ने शान्तुङ को हड़पा तथा जापान ने फूकिआन को हथियाया। यदि इनकी आपसी खींच-तान न होती तो ये सारे चीन को हड़प लेते। यह सब होते हुए चीनी शासनधर अशक्त-से देखते रहे। अतः लोगों में असन्तोष की ज्वाला धधकी जिसने 'ई-हो-छुआन' अर्थात् मुक्केबाजों के आन्दोलन का रूप लिया। इसमें ज्यादातर देहात के गँवार लोग शामिल थे। इन्होंने चीन में रहने वाले विदेशियों को मार भगाने का बीड़ा उठाया। मंचू शासन ने शुरू में इनकी राष्ट्रवादी भावना का आदर किया लेकिन बाद में, विदेशियों के डर से, उनका तिरस्कार कर दिया और सितम्बर, १९०१ की सन्धि से, जिसे 'बॉक्सर प्रोटोकोल' कहते हैं, इन्हें ४ करोड़ ५० लाख तैल, अर्थात् १० करोड़ पौण्ड का हर्जाना, जिसकी सालाना किस्तें १९४० में खत्म होनी थीं, देना मंजूर कर लिया। इसके अलावा पेकिङ में विदेशी सेनाएँ दूतावासों की रक्षा के बहाने जम गयीं। इस वातावरण में विद्वानों और विचारकों को समूची चीनी सांस्कृतिक परम्परा से विरक्ति होने लगी। आधुनिकता का तीसरा युग और पक्ष सामने आया। एक ओर मंचू शासन को उखाड़ फेंकने की भावना बढ़ी, दूसरी ओर विदेशी संस्कृति, विशेषतः जापानी जीवन-पद्धति के प्रति आकर्षण पैदा हुआ, और तीसरी ओर राष्ट्रवादी मनोवृत्ति का यथेष्ट विकास हुआ। लिआङ छी-छाओ (१८७३-१९२९) ने १९०२ में 'शिन-मिन त्सुङ-पाओ' (जनता का पुनरुद्धार) शीर्षक पत्र शुरू किया और १९०७ में 'चेङ-वेन शे' (राजनीतिक-सांस्कृतिक संघ) की बुनियाद रखी। होनान में थाङ थ्साइ-छाङ ने 'त्जु-ली हुइ' (स्वतन्त्रता समाज) कायम किया जिसने 'को-लाओ हुइ' (भाई बहन समाज) के साथ मिलकर १९०० में हान्को में विद्रोह किया। तीन वर्ष बाद उस इलाके में हुआङ-शिङ ने 'शिआ-शिङ हुइ' (चीन-पुनरुज्जीवन-समाज) स्थापित किया जिसने अफसरों विद्यार्थियों और गुप्त-समाजों के सदस्यों को संगठित कर १९०४ में चाङशा में क्रान्ति का बिगुल बजाया। इन सबसे प्रमुख डॉ० सन यात-सेन की 'थुङ-मेङ-हुइ' (संयुक्त लीग) थी जिसका गठन अगस्त, १९०५ में तोकयो के एक बड़े जलसे में हुआ। इसका पत्र ('मिन-पाओ' (जन-विवरण) नये विचारों का वाहन था। उसमें वाङ चिङ-वेइ, हू हान-मिन और चाङ पिङ-लिन जैसे प्रमुख लेखक इस बात पर जोर देते थे कि पश्चिम के देशों का मुकाबला करने के लिए चीनियों को धीरे-चलो की नीति छोड़ तेजी से परिवर्तन की ओर क़दम बढ़ाने चाहिए। उस ज़माने में येन फू (१८५४-१९२१) ने टी० एच० हक्सले के 'इवोल्युशन एण्ड एथिक्स' (विकासवाद

और नीतिशास्त्र) (१८६८), एडम स्मिथ के 'वेल्थ ऑव नेशन्स' (जातियों का धन) (१६००), जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' (स्वतन्त्रता के विषय में) (१६०३) और 'सिस्टम ऑव लोजिक' (तर्कशास्त्र) (१६०५) और मोन्तेस्क्यू के 'लेस्प्री द् लोवा' (क़ानूनों का मर्म) (१६०६) के चीनी अनुवाद प्रकाशित कर विचारों के क्षेत्र में खलबली पैदा कर दी। उसका विचार था कि पश्चिम की 'फाउसतियन-प्रोमीथियन संस्कृति', जिससे उसका अभिप्राय मानव की अदम्य और अक्षय शक्ति का साक्षात्कार और उपलब्धि था, चीन के पुनरुज्जीवन और पुनरुद्धार का एकमात्र उपाय है। पश्चिमी शिक्षा के प्रसार ने—उस समय १६०५ में ईसाई प्रचारकों द्वारा २,२०० बच्चों के स्कूल और ३८६ कॉलेज चलते थे जिनमें क्रमशः ४२,००० और १५,००० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे और काफ़ी विद्यार्थी विदेशों में पढ़ते थे, अकेले जापान में १३,००० थे—इन विचारों को और भी तेज़ कर दिया। इनके फलस्वरूप हू हान-मिन के ६ सिद्धान्त—राष्ट्रवाद, गणतन्त्र, भूमिका राष्ट्रीयकरण, चीनी एकता और संगठन, चीनी-जापानी सहयोग और चीनी क्रान्ति के लिए विदेशी सहायता—और सन यात-सेन के तीन सिद्धान्त (सान-मिन-चू-ई)—राष्ट्रवाद, लोकतन्त्र और सामाजिक न्याय अथवा जनता की आजीविका की सुरक्षा—फले फूले और १६११ की क्रान्ति में मुखरित हुए जिससे मंचू-शासन समाप्त हुआ और गणतन्त्र की स्थापना हुई।

१६१६ में यूरोप के प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर वारसाई की सन्धि द्वारा जब शान्तुङ प्रान्त के जर्मन उपनिवेशों को चीन को लौटाये जाने के बजाय जापान के हवाले कर दिया गया तो चीनियों को जँच गया कि पश्चिमी संस्कृति धोखे की टट्टी है और शोषण, अत्याचार और अवसरसेविता का दूसरा नाम है। इससे चीन में यूरोप का मोहनमन्त्र समाप्त हो गया। पेकिङ विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर ली ता-चाओ (१८८०-१६२७) ने रूस की अक्तूबर की क्रान्ति को युद्ध की सबसे बड़ी उपलब्धि सिद्ध किया और विश्व के भावी नवनिर्माण का प्रतीक बताया तो लिआङ शू-मिङ (जन्म १८६३) ने चीनी संस्कृति और इसकी समन्वय और औचित्य की भावना की श्रेष्ठता प्रतिपादित की और पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों से बचते हुए चीन के ग्रामीण जीवन और खेतीबारी की व्यवस्था को सुधारने की हिमायत की और इस उद्देश्य से एक ग्राम-नवनिर्माण-संस्थान और राष्ट्रीय समाजवादी दल क़ायम किये। उस समय विद्यार्थियों में बड़ी नाराजगी और खलबली थी। रोजगार की समस्या उन्हें परेशान किये हुए थी। शहरों की हलचल का उनके दिमाग़ों पर गहरा प्रभाव था। उनमें कुछ तो ऐश-ओ-आराम में अपना समय बिताते थे और कुछ किताबी कीड़े थे, लेकिन २० प्रतिशत के करीब सामयिक घटनाओं और घरेलू और विदेशी मामलों में रुचि रखते थे। इनमें क्रान्तिकारी और

अराजकतावादी विचारों का उफान आ रहा था। क्रोपोत्किन और तॉल्स्तॉय के ग्रन्थ खाङ यू-वेइ की रचना 'ता-थुङ-शू (एक विश्व), थान स्सु-थुङ की कृति 'रन-श्युएह' (परोपकारिता का दर्शन) और पुराना राष्ट्रवादी वृत्तान्त 'याङ-चू शर-रर ची' (याङ्चो के दस दिन का विवरण)—इसमें मंचू सेना के संहार की कथा थी—उनके क्षेत्रों में बड़े लोकप्रिय थे। ६ फरवरी, १६१६ को पेकिङ उच्च प्रशिक्षण विद्यालय के छात्रों के एक दल ने 'कुङ-श्युएह हुइ' (कर्म और अध्ययन समाज) की स्थापना की जो हाथ के काम को दिमाग़ी काम जैसा ही महत्त्व देता था और इस मत के खिलाफ था कि दिमाग़ी काम करने वाले हाथ से काम करने वाले से श्रेष्ठ हैं और उनके ऊपर शासन करने का अधिकार रखते हैं। इसके अलावा 'थुङ-येन-शे' (समान-वाणी-समाज) और 'कुन-श्युएह-हुइ' (सहकारी अध्ययन समाज) विद्यार्थियों को आलोड़ित कर रहे थे। इन सब दलों, गोष्ठियों और समाजों के सदस्यों ने ४ मई, १६१६ के विशाल प्रदर्शन में भाग लिया जिसे चीन के राष्ट्रीय दिवस के रूप में मनाया जाता है। जुलाई, १६२१ में कुछ विद्यार्थियों और अध्यापकों ने शंघाई में 'कुङ्चानताङ' (धन-वितरण-दल) क़ायम किया जिसे चीनी साम्यवादी या कम्युनिस्ट दल कहते हैं। बाद में इसके सदस्यों ने 'कुओमिनताङ' (राष्ट्रीय दल) से नाता तोड़ लिया और उस नीति का अनुसरण किया जिससे १६४६ में चीन में साम्यवादी शासन क़ायम हो गया।

ऊपर हमने चीन में राष्ट्रवाद और आधुनिकता की प्रवृत्ति के चार युगों और स्तरों की जो चर्चा की है उनमें समाज के कायापलट और संस्कृति के नये मोड़ों की कथा छिपी है। उन्नीसवीं सदी के मध्य से याङ्त्ज़े घाटी के शहरों के अमीर, व्यापारी और शिक्षित वर्ग उठ-उभर रहे थे। १८५३ से सरकार उनके दिये हुए लिकिन नामक कर पर निर्भर हो गयी थी। उधर यूरोपियन लोगों के सम्पर्क से उनके साझियों के रूप में एक और व्यापारी वर्ग सामने आ रहा था जिसे 'क्रोम्प्रादो' कहते हैं। 'रसल एण्ड कम्पनी' जैसी फर्मों में उनका और यूरोपियनों का साझा था। इससे वे मालामाल होते जा रहे थे। धीरे-धीरे इस नागरिक व्यापारी वर्ग के लोगों ने उपाधियाँ और जमीनें खरीद कर सरकारी सेवाओं में घुसना शुरू कर दिया।

उन्नीसवीं सदी के आखीर से शहरों में कल-कारखाने खुलने पर बहुत से लोग उनमें काम करने के लिए वहाँ जाकर रहने लगे। १६२० तक उनकी संख्या करीब बीस लाख हो गयी। उन दिनों कारखानों में मज़दूरों की हालत ख़राब थी। उन्हें हफ्ते में हर रोज़ काम करना और हर दिन बारह घण्टे की ड्यूटी देना पड़ता था। छुट्टियाँ नहीं के बराबर थीं। तनख़्वाहें बहुत कम थीं। गन्दगी की कोई हद न थी। बच्चों और औरतों से सख़्त काम लिया जाता था। रेशम के कारखानों में औरतें अपने बच्चों को खौलते पानी

की नाँदों के नीचे रखकर काम करती थीं। उनके रोने-चीखने से कान पड़ी आवाज़ भी सुनायी न देती थी। मजदूरों में अफीम, जुए, अय्याशी और बदमाशी की बुरी आदतें थी। उनमें हड़ताल करने की प्रवृत्ति भी बढ़ रही थी। १८६५ और १९१८ के बीच करीब १५० हड़तालें हुईं। ये लोग कन्फ्यूशियसी ढंग की संयुक्त-परिवार-पद्धति को चलाने में असमर्थ थे। इनमें पुरुष, पत्नी और नाबालिग़ बच्चों ही का परिवार होता था। अतः व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति बढ़ रही थी लेकिन साथ ही संगठन की भावना भी जड़ पकड़ रही थी। मई, १९२२ में साम्यवादी दल ने पहला अखिल-चीनी मज़दूर संगठन क़ायम किया। १९२७ के बाद कुओमिनताङ ने मज़दूरों को अपनी तरफ करने की कोशिश की और उनकी हालत में सुधार किये और काम करने का समय दिन में आठ घण्टे नियुक्त किया। १९३३ में सामाजिक मामलों का एक कार्यालय जारी किया गया जो कारखानों की जाँच करता और मज़दूरों के हितों की रक्षा करता था। १९३६ तक ८७२ पंजीकृत मजदूर संघ हो गये जिनके सदस्यों की संख्या ७००,००० थी।

जहाँ शहरों में व्यापारियों, मज़दूरों और विद्यार्थियों का नया समाज व्यक्तिवाद, लोकतन्त्र और सामाजिक समानता की ओर अग्रसर था वहाँ देहात पिछड़ेपन, गिरावट और ग़रीबी में ग्रस्त था। पुराने जमींदारों के बजाय जो नये शहरी ज़मींदार सामने आ रहे थे उन्हें किसानों से तनिक भी हमदर्दी न थी। १९२७ के करीब चीन की आबादी ४५ करोड़ थी जिनमें से ३५ करोड़ किसान थे। उनमें से हरेक के हिस्से में औसतन चार मू (१ मू=एक कच्चा बीघा) जमीन आती थी जबकि ज़मींदारों की जायदादें बड़ी लम्बी-चौड़ी थीं। एक सरकारी विवरण के अनुसार एक ज़मींदार की भूमि औसतन किसान की भूमि से १२८ गुनी थी। १९३४-३५ के राष्ट्रीय भूमि आयोग के विवरण के अनुसार एक ज़मींदार परिवार के पास यदि २,०३० मू जमीन थी तो किसान परिवार पर १५.८ मू। जेक बेल्डन ने चीनी गृह-युद्ध के समय जब पीली नदी के दक्षिण में होनान प्रान्त का दौरा किया तो उसे मालूम हुआ कि यदि पूरे दिन खच्चर गाड़ी पर चढ़कर देहात में घूमा जाये तो रास्ते में जो कोड़ियों गाँव आयेंगे वे सब एक ही ज़मींदार की जायदाद होंगे। उत्तरी काइनसु में उसे पता चला कि एक मन्दिर के पास २ लाख मू या ३३,००० एकड़ भूमि है। उसके महन्त लगान वसूल करते और सूद-बट्टे का काम करते थे। उनके बड़े-बड़े परिवार थे जिनमें अनेक रखेल स्त्रियाँ थीं। उनके सशस्त्र रखवाले ज़बरदस्ती लोगों से बेगार लेते थे। चिआङ काई-शेक के शासनकाल में जब मुद्रास्फीति शुरू हुई और कागज़ी नोटों की क़ीमत का कोई भरोसा न रहा तो छोटे-बड़े सभी अफसरों और सेनाधिकारियों ने ज़मीनें हथियानी शुरू कर दीं। इससे किसान ही नहीं, अमीर देहाती और छोटे ज़मींदार भी पिसने लगे। ज़ेचुआन प्रान्त में ज़मींदार वर्ग का २०

से ३० प्रतिशत तक भाग इन नये ज़मींदारों का था लेकिन उनके क़ब्ज़े में कुल भूमि का ६० प्रतिशत हिस्सा था। इससे ज़मीन की छीना-झपटी का कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। जेक बेल्डन ने अपनी पुस्तक 'चाइना शेक्स दि वर्ल्ड' (चीन संसार को हिलाता है) (न्यूयार्क १९४९) में देहाती लोगों और पुराने ज़मींदारों की तकलीफों का दर्द-नाक चित्र खींचा है।

सत्तारूढ़ होने पर चिआङ काई-शेक की नीति देश के सभी लोगों को साथ लेकर चलना था। लेकिन साम्यवादियों और वामपन्थियों की उग्र नीतियों से लोग सहम गये। दक्षिणपन्थी व्यापारियों और ज़मींदारों ने नवम्बर १९२५ में पेकिङ की पश्चिमी पहाड़ियों में एक बैठक की और रूसी सलाहकारों और साम्यवादी सदस्यों को कुओमिनताङ से निकालने का कार्यक्रम बनाया। इसपर वामपक्षी लोगों ने केण्टन में एक सभा कर इन प्रस्तावों को अवैध बताया और अगले सम्मेलन में दक्षिणपन्थियों को निकाल दिया। हानयाङ, हान्को और वूचाङ नाम के शहरों में, जिन्हें सामूहिक रूप से वूहान कहते हैं, करीब तीन लाख मज़दूर इन लोगों के साथ थे और देहाती इलाकों में लगभग १ करोड़ किसान उनके चलाये हुए संगठनों में शामिल हो रहे थे। नवम्बर, १९२६ में कुओमिन-ताङ की सरकार केण्टन से हान्को आने लगी तो वहाँ के लोगों ने, वामपक्षी दल ने, चिआङ काई-शेक की मर्ज़ी के खिलाफ वाङचिङ-वेइ को वापस बुलाकर अध्यक्ष बनाने का निश्चय कर लिया। चिआङ काई-शेक ने उन्हें समझाने के लिए हान्को का दौरा किया लेकिन जब उसे कामयाबी न मिली, तो उसने उन्हें कुचलने का निश्चय कर लिया और ७ मार्च, १९२७ को उनके खिलाफ खुली आवाज़ उठायी। लेकिन फिर भी वह कुओ-मिनताङ की एकता क़ायम रखना चाहता था। इसलिए जब १ अप्रेल को वामपक्ष का नेता वाङ चिन-वेइ चीन लौटा तो उसने उससे सुलह करने की कोशिश की। वाङ का रवैय्या तो मुलायम था लेकिन उसके साथी सख़्त थे। इसलिए चिआङ ने हांको के वाम-पक्षी दल से नाता तोड़कर नानकिङ में अपनी अलग सरकार क़ायम कर ली। इस वाता-वरण में उसपर दक्षिणपन्थी लोगों का प्रभाव बढ़ गया और उसकी सरकार उनके हाथों में चली गयी। ये लोग धड़ाधड़ अपने घर भरने लगे और किसानों का सफाया करने लगे। हालाँकि १९३० के एक भूमि सम्बन्धी कानून के अनुसार लगान उपज के ३७.५ प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकता था, ये लोग उपज का ६५ प्रतिशत तक वसूल करने लगे—कहीं-कहीं तो यह वसूली ९० प्रतिशत तक पहुँच गयी, खासकर उन इलाक़ों में जहाँ जापानी पिट्ठू जमे हुए थे। कहने को किसान अपनी ज़मीन का मालिक था और ज़मींदार को सिर्फ लगान देने का ज़िम्मेदार था, लेकिन वह कर्ज़ के भार से दबा था और ज़मींदार को कर्ज़दार को गिरफ्तार करके कालकोठरियों में डालने का अधिकार था। इसके अलावा

उसे बेगार लेने, शादी-विवाह का नियन्त्रण करने और घरेलू जीवन में दख़ल देने का हक़ था। बेल्डन ने लिखा है कि उत्तरी किआङ्सी में ज़मींदार गारे की गढ़ियों में रहते थे और उनके हथियारबन्द सैनिक आसपास के पन्द्रह-बीस गाँवों का नियन्त्रण करते थे—तिजारत के लिए ही नहीं बेटा-बेटी को ब्याहने और मुर्दे को दफनाने तक के लिए किसानों को उनसे इजाज़त लेनी पड़ती थी। ऐसी हालत में टी० वी० सूङ जैसे प्रमुख शासनधर कहा करते थे कि 'हमारी भूमि-व्यवस्था बिलकुल ठीक है' और छेन ली-फू जैसे कन्फ्यूशियसी विचारक मानते थे कि 'भूमि को बाँटने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि जब किसी परिवार का कर्ता मरता है तो वह अपनी भूमि को स्वयं अपने बेटों में बाँट देता है। इस प्रकार कुओमिनताङ के सभी सुधार-कार्यक्रम, जैसे १९३० का भूमि सम्बन्धी क़ानून, १९३४ का सहकारी समिति क़ानून और १९४० में खेती के विकास के लिए एक अलग मन्त्रालय की स्थापना, विफल हो गये। खेती-बारी का ह्रास होने लगा, किसान खेती-बारी छोड़ मज़दूरी या बटमारी करने लगे या वामपक्षी संगठनों में शामिल होकर क्रान्ति का आवाहन करने लगे, जिसके फलस्वरूप चीन में साम्यवादी शासन क़ायम हुआ। इस उथल-पुथल में पैदावार ठप्प हो गयी, खाने-पीने का सामान भी विदेशों से आने लगा, चीज़ों की कीमतें बढ़ गयीं और मुद्रा के दाम घटकर शून्य को छूने लगे।

उपर्युक्त सामाजिक उथल-पुथल की गूँज दर्शन, धर्म, साहित्य और कला के क्षेत्रों में सुनाई देती है। १९११ की क्रान्ति के बाद डॉक्टर चेन चुङ-यान के नेतृत्व में पुराणपन्थी विद्वानों के एक दल ने नव-कन्फ्यूशियसी संघ क़ायम किया और युआन शर-खाई ने कन्फ्यूशियसी धर्म को राज्यधर्म घोषित किया, किन्तु पेकिङ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर छेन तू-शिङ ने इसके ख़िलाफ आवाज़ उठायी और 'शिन छिङ-निएन' (नव-युवक) नामक अपने पत्र में इस विषय पर कई लेख लिखे। जुलाई १९१८ में इस विश्व-विद्यालय के अध्यापकों और छात्रों ने 'युवक-चीन-संघ' और 'पुनरुत्थान-समाज' क़ायम किये और 'शिन-छाओ' (नया ज्वार) शीर्षक पत्र निकालना शुरू किया। छेन तू-शिङ के मित्र हूशर (१८९१-१९६२) ने, जो १९१७ के बाद राष्ट्रीय विश्वविद्यालय में दर्शन का प्रोफेसर बना, उपयोगितावादी और परीक्षणवादी दर्शन का प्रतिपादन किया, चाङ चुन-माइ (जन्म १८८६) ने बर्गसों से मिलता-जुलता दर्शन प्रस्तुत किया और चाङ तुङ-सन ने एक प्रकार के संशोधित कान्तवाद को सामने रखा। १९२२ के पेकिङ के एक सम्मेलन में धर्म को ढकोसला सिद्ध कर समाज के लिए हानिकारक बताया गया।

इस युग में धर्म के क्षेत्र में समन्वय और आधुनिकता की प्रवृत्ति बढ़ी। १९१८ में पेकिङ में 'थुङ-शान शे' (शुभ-संगठन) क़ायम हुआ जिसमें कन्फ्यूशियस, लाओ-त्ज़ु और बुद्ध तीनों के धर्म का संगम था लेकिन संन्यास और अविवाहित जीवन का कड़ा

विरोध किया जाता था। १९२१ में उत्तरी चीन में त्सिनान में 'ताओ-ते शे' (पुण्याचार-संघ) की स्थापना हुई। इसके उपासनागृहों में कन्फ्यूशियस, लाओ-त्जु और बुद्ध के नाम और ईसाइयत और इस्लाम के प्रतीक होते थे। इसकी शिक्षाएँ विश्व-भ्रातृत्व और नैतिक सदाचार पर आधारित थीं। बौद्ध धर्म में थाई-शू ने नयी जान डाली। उसने भिक्षुओं को सामाजिक सेवा करने और विज्ञान और तकनीक को आत्मसात् करने की प्रेरणा दी। बहुत से बौद्ध उसके साथ हो गये। इनमें ता-शिङ, चर-फेङ, फा-फाङ, यी-हुआन आदि ने 'नव-बौद्ध-धर्म' की शुरूआत की। ऊ-याङ चिङ-वू ने नानकिङ बौद्ध संस्था क़ायम की जहाँ गवेषणा और शोध का काम होता था। इसके विद्वानों ने चीनी बौद्धिक पुनरुत्थान में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस युग में ईसाइयत भी काफी बढ़ी। १९३७ में चीन में करीब तीस लाख कैथोलिक और छः लाख से ऊपर प्रोटेस्टेंट थे। बड़े-बड़े सम्भ्रान्त परिवार ईसाई हो गये। चिआङ क़ाई-शेक स्वयं ईसाई था। उसने 'शिन शेङ-हुओ युन-तुङ' (नव-जीवन-आन्दोलन) चलाया जो सदाचार और स्वच्छता पर बड़ा ज़ोर देता था, लेकिन साम्यवादी विचारों की बाढ़ में यह लुप्त हो गया।

डाक्टर हू-शर और प्रोफेसर छेन तू-शिङ ने पुरानी शास्त्रीय भाषा और शैली के बजाय लोकभाषा (पाइ-हुआ) को राष्ट्रीय भाषा (कुओ यू) बनाने और उसमें साहित्य तैयार करने का बीड़ा उठाया। १९१९ तक इस नयी भाषा और शैली में क़रीब ४०० पत्र-पत्रिकाएँ छपने लगीं और अगले वर्ष इसकी शिक्षा प्राथमिक पाठशालाओं के प्रथम दो वर्षों में अनिवार्य कर दी गयी। इससे साहित्य का बड़ा विकास हुआ। १९२१ में १७२ साहित्यिकों ने 'मानवता के साहित्य' के सृजन के लिए एक 'साहित्य-अध्ययन-गोष्ठी' आयोजित की। उसी साल कुओ मो-रो, यूत्ता-फू, चाङ त्से-पिङ और तिएन हान आदि जापान से लौटे हुए विद्यार्थियों ने 'सृजन-संघ' की नींव रखी और इसके माध्यम से निराशा से रंगा हुआ व्यक्तिवादी और रोमान्तिक साहित्य तैयार किया। किन्तु १९२५ में जब देशव्यापी हड़तालों का ताँता बँधा तो यह संघ साम्राज्यवाद और सैनिक सरदारों की अराजकता से भिड़ने के लिए क्रान्तिकारी साहित्य निकालने लगा। १९२७ के बाद यह सर्वहारा साहित्य के निर्माण में जुट गया। १९३० में यह बन्द हो गया और साम्यवादी लेखकों ने एक अलग संघ बनाया। लू शुन इसका प्रधान था। उसकी गिनती इस सदी के चोटी के साहित्यकारों में है। उसकी रचनाओं में क्रोध, व्यंग्य और असन्तोष के स्वर गूँजते हैं। उसकी रचना 'आह क़ की कथा' सामाजिक अवस्था पर कटु व्यंग्य है। १९२३ में प्रकाशित उसका कहानी संग्रह 'ना हान' (चीख-पुकार) और १९२६ में प्रकाशित 'पाङ हुआङ' (हिचकिचाहट) तात्कालिक भावनाओं के दर्पण हैं। अक्तूबर, १९३६ में सभी सम्प्रदायों के लेखकों ने मिलकर एक 'साहित्यिक वृत्त'

बनाया और राष्ट्रीय एकता और देशभक्ति को अपना प्रमुख लक्ष्य घोषित किया।

साहित्य की तरह कला भी जन-जीवन के साथ जुड़ गयी। चिआङ-चाव हो ने अपने चित्रों में ग़रीबों की दुर्दशा दिखायी, चाओ वाङ-युन ने उजड़े खेतों की तसवीरें खींचीं, फेङ त्जु-खाइ ने युद्ध और शान्ति के हास्यमय चित्र प्रस्तुत किये और छिएन-यू और चाङ कुआङ-यू ने कार्टून और व्यंग्यचित्र में कमाल दिखाया। चित्रकला, स्थापत्य और शिल्प आदि में पश्चिमी नमूनों और आदर्शों की प्रेरणा से देशी शैली और परम्परा को नया स्पन्दन मिला।

## जापान में उद्बोधन और नवोत्थान

जापान में सोलहवीं सदी से यूरोप के लोगों का, विशेष रूप से पुर्तगालियों का, आना शुरू हुआ। जापान के लोगों ने उनके प्रति खासी रुचि दिखायी लेकिन धीरे-धीरे उनकी बदनीयती ज़ाहिर होने लगी। ऐसी ख़बरें फैलने लगीं कि स्पेनियों की नीति यह है कि वे विदेशों में पहले व्यापारी और धर्मप्रचारक भेजते हैं और, जब उनके अड्डे क़ायम हो जाते हैं, तो फौजें भेज कर जल्दी से उस देश को जीत लेते और अपने साम्राज्य में मिला लेते हैं। इससे सतर्क होकर जापानी शासन ने यूरोप के लोगों से हर क़िस्म के सम्बन्ध ख़त्म कर दिये, लेकिन फिर भी जापान में पाश्चात्य विद्याओं और ज्ञान-विज्ञान के प्रति रुचि बनी रही। १७२० से पश्चिमी ग्रन्थों को जापानी में अनूदित करने से पाबन्दी उठा ली गयी। १७७५ में कई जापानी चिकित्सकों ने देशीमा के स्वेडिश रेज़ीडेण्ट थुनबर्ग से शिक्षा ली। १८०९ और १८१७ के बीच जापानी शासन ने देशीमा के डच एजेण्ट द्वारा एक डच जापानी शब्दकोश तैयार कराया। १८५० तक ताकानो नागोहीदे ने डच भाषा की ५२ पुस्तकों का जापानी अनुवाद कर दिया। उन्नीसवीं सदी के शुरू में येदो में पाश्चात्य विद्याओं के अध्ययन के लिए अनेक संस्थाएँ और गोष्ठियाँ खुल गयीं।

उन्नीसवीं सदी में जापान पर पश्चिमी देशों का दबाव बढ़ा। मार्च १८५४ ई० में अमरीकी जहाजी बेड़े के नेता कोमोदोर मैथ्यू कलब्रेथ पेरी ने वहाँ के शासन को सन्धि करने पर मजबूर कर दिया, जिससे वहाँ के बन्द दरवाजे और खिड़कियाँ विदेशी हवाओं के लिए खुल गयीं। विदेशी प्रभाव की वहाँ अनेक प्रतिक्रियाएँ मिलती हैं। कुछ विचारकों, जैसे ऐजावा सेईशीसाई (१७८२-१८६३ ई०) और फूजीता तोको (१८०६-१८५५ ई०) ने 'सोन्नो जोई' (सम्राट् का उद्धार और विदेशियों का बहिष्कार) का नारा लगाया। साकूमा शोजान (१८११-१८६४ ई०) और उसके शिष्य योशीदा शोईन (१८३०-१८५९ ई०) ने मध्यममार्गी विचार-धारा अपनायी और 'तोयो नो दोतोकू सेईयो नो गाकूगेई' (प्राच्य नैतिकता और पाश्चात्य विज्ञान) की नीति पर जोर दिया। फूकूजावा

यूकीची (१८३४-१६०१ ई०) ने 'दोकूरीतसू जीसोन' (स्वाधीनता और आत्म-सम्मान) का मूलमन्त्र प्रस्तुत करते हुए पूर्ण पश्चिमीकरण और आधुनिकता का समर्थन किया। उसका विचार था कि जापान की उन्नति के लिए पश्चिमी विज्ञान, तकनीक और युद्धविद्या को सीखना ही काफी नहीं है बल्कि सिर से पैर तक पश्चिम की संस्कृति और जीवनशैली को अपनाना आवश्यक है। उसका 'जीवन-चरित' इन विचारों का मूर्तिमान् रूप है और इस काल की महत्त्वपूर्ण कृति है।

पश्चिमी प्रभाव के साथ-साथ जापानी समाज में परिवर्तन चल रहा था। प्राचीन काल का सामन्त वर्ग 'सामूराई' आर्थिक संकट के कारण व्यापारियों की ओर झुक रहा था। व्यापारी भी रिश्तेदारी से या रुपये के जोर से सामूराई का दर्जा पाते जा रहे थे। सामूराई वर्ग की धौंस-डपट उन्हें बहुत खलती थी। उधर किसान सामन्त और व्यापारी वर्ग की ज्यादतियों से बहुत तंग थे। उनमें शिक्षा बढ़ती जा रही थी और छोटे उद्योगों का विकास हो रहा था, लेकिन साथ ही असन्तोष उमड़ रहा था, जो अनेक उपद्रवों और विद्रोहों के रूप में फूट पड़ा। ये सब तत्त्व शोगूनी व्यवस्था के खिलाफ थे। अतः ३ जनवरी १८६८ ई० को इस प्रथा का अन्त हो गया और सम्राट् की शक्ति सर्वोपरि हो गयी। इस परिवर्तन को 'मेईजी ईशीन' (मेईजी पुनरुद्धार) कहते हैं। इसने आधुनिकता और पुनरुत्थान के द्वार खोल दिये।

सबसे पहले सामन्ती व्यवस्था पर आघात हुआ। २६ अगस्त, १८७१ ई० को सामन्ती रियासतों (हान) को पूरी तरह खत्म करने का फैसला किया गया। १० जनवरी, १८७३ ई० को सार्वजनिक सैनिक भर्ती का कानून बना जिससे सामन्त वर्ग की सदियों से चली आ रही सैनिक बपौती समाप्त हो गयी। १८७६ ई० के एक कानून द्वारा सामन्तों को दो तलवारें, जो उनके पद का विशेष चिह्न थीं और जिन्हें सामान्य आदमी को रखने का अधिकार नहीं था, रखने की मनाही की गयी। १८६६ ई० में सरकारी और व्यावसायिक नौकरियों पर से वर्ग-विषयक पाबन्दियाँ उठा ली गयीं। १८७१ ई० में सबसे निचले अन्त्यजों (एता) को भी, जिन्हें कोई छूना भी पसन्द न करता था, पूरी कानूनी बराबरी मिल गयी। धीरे-धीरे सामन्तों के भत्तों और मुआवज़ों में भी कटौती शुरू हुई। १८७६ ई० के एक कानून द्वारा सब भत्ते सरकारी हुण्डियों में इस तरह बदल दिये गये कि ज्यादा भत्ता पाने वालों को कम और कम पाने वालों को ज्यादा मुआवज़ा मिल सके। इस कतर-ब्यौंत में सामन्तों का बेहद नुकसान हुआ। १८८३ ई० के एक सर्वेक्षण के अनुसार ६,१६६ सामूराई परिवारों में से दो तिहाई बेहद गरीबी में थे, २,७०१ ने अपनी हुण्डियाँ या जायदादें बिलकुल खा-पटखा कर खत्म कर दी थीं और सिर्फ १०१ ही ऐसे थे जिनमें रोटी खाने की हिम्मत रह गयी थी। बड़े सामन्त (दैमयो) अपने

मुआवज़ों की रकमों को व्यापार में लगाने लगे और पूँजीपति बन गये। इस तरह सामन्ती व्यवस्था समाप्त हो गयी, लेकिन किसानों को कोई खास राहत न मिल सकी, जिससे मेईजी शासन के पहले दस वर्षों में २०० से अधिक विद्रोह हुए।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से जापान में आधुनिकता की प्रवृत्ति शुरू हुई। १८५० ई० में हीज़न की रियासत में एक डच पुस्तक की सहायता से लोहा गलाने की एक प्रतिध्वनिक भट्टी बनायी गयी। तीन वर्ष बाद इससे बने लोहे से तोपें ढाली जाने लगीं। काँसे की तोपों का रिवाज खत्म हो गया। शोगून-शासन ने १८५७ ई० में डच विशेषज्ञों की मदद से नागासाकी में लोहे की ढलाई का कारखाना जारी किया। १८६५ ई० में फ्रांसीसी सहायता से योकोहामा और योकोसूका में भी ऐसे कारखाने खुल गये। १८५२ ई० में सातसूमा में भाप से चलने वाले जहाजों के नमूने बनाये गये, १८५५ ई० में पश्चिमी ढंग का एक यान तैयार कराया गया और १८५७ ई० में, नागासाकी में, बिना पश्चिमी सहायता के, एक भाप से चलने वाला जहाज समुद्र में उतारा गया। १८८३ ई० तक नागासाकी की गोदी ने दस और ह्योगो की गोदी ने २३ भाप से चलने वाले जहाज तैयार किये। १८७२ ई० में तोकयो और योकोहामा के बीच १६ मील लम्बी रेल की पटरी बिछा दी गयी और इस पर गाड़ी चलनी शुरू हो गयी। १८८३ से १८६० ई० तक सरकारी रेल १८१ से ५५१ मील तक और निजी रेल ६३ से ८६८ मील तक फैल गयी। इस काम में पहाड़ी इलाका होने के कारण दिक्कत पड़ी लेकिन तार की लाइन बिछाने का काम बहुत तेजी से हुआ और १८८० ई० तक सारे बड़े शहरों में तार लग गया। १८६६ में हीजन में आधुनिक ढंग की कोयले की खान चालू हुई और १८८१ में लोहे की खान में काम शुरू हुआ। १८६८ में कपड़े का कारखाना, १८७१ में मशीनों के पुर्जे और सामान बनाने का कारखाना, १८७५ में सीमेण्ट का कारखाना, १८७६ में काँच का कारखाना और १८७८ में सफेद ईंटों के कारखाने जारी किये गये। सूती कपड़े का उद्योग इतना बढ़ा कि उन्नीसवीं सदी के अन्त तक इसमें कुल मजदूरों का ६३% भाग यानी २,४७,११७ मजदूर काम करने लगे। जापानी कपड़े सारी दुनिया की मण्डियों में छा गये। इस तरह जापान औद्योगिक उन्नति के पथ पर चल पड़ा।

इस युग की सबसे बड़ी घटना शिक्षा का विकास है। १८७१ में शिक्षा-विभाग चालू हुआ जिसने अगले वर्ष फ्रांसीसी पद्धति पर अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की। १८८६ तक सिर्फ ४६ प्रतिशत बच्चे पाठशालाओं में पढ़ते थे किन्तु १६०५ तक यह संख्या ६५% तक पहुँच गयी और इसके बाद और भी ऊँची उठी जिसके फलस्वरूप आजकल जापानी साक्षरता के आँकड़े दुनिया में सबसे ऊँचे हैं। नयी शिक्षा-पद्धति में पाश्चात्य विद्याओं का प्रमुख स्थान था। १८७१ में जर्मन डॉक्टरों ने जापानी चिकित्सा के तरीके

को यूरोपियन रंग दिया। १८७७ में हार्वर्ड के प्रोफेसर ई० एस० मोर्स ने जन्तु विज्ञान, पुरामानव विज्ञान, पुरातत्त्व विज्ञान और समाज विज्ञान के अध्ययन की आधार शिला रखी। पाश्चात्य साहित्य के अनुवाद का काम तेजी से चला। १८५९ में 'राबिन्सन क्रूसो', १८७० में सेम्वल स्माइल्स का 'सेल्फ हेल्प', १८८१ में जॉन स्टुअर्ट मिल का 'ऑन लिबर्टी' जापानी में भाषान्तरित हुए। इन सब कृतियों से बेन्थम और मिल की विचार-धारा का प्रचार हुआ, प्रयोगवाद और उपयोगितावाद की दुन्दुभि बजी, धर्मान्धता की मनोवृत्ति दुर्बल हुई और १८८९ के संविधान में धर्म-निरपेक्षता का सिद्धान्त मान लिया गया।

शिक्षा और चिन्तन के पश्चिमीकरण से जीवनशैली और संस्कृति बदली। १८७२ में सब दरबारी और सरकारी अवसरों पर पश्चिमी ढंग के कपड़े पहनना जरूरी कर दिया गया। सामूराई ढंग से सिर मुंड़वा कर बराबरी में बालों की लटें छोड़ने और उन्हें फिर ऊपर लाकर गाँठ बाँधने के बजाय यूरोपियन केश-सज्जा चल पड़ी। दाँतों पर ब्रश-मंजन करने का रिवाज इतना बढ़ा कि जापान में टूथपेस्टों की सबसे ज्यादा खपत होने लगी। हाथ मिलाने का शिष्टाचार आम हो गया। औरतों ने दाँतों को काला करना और भौंह मुँड़वाना छोड़ दिया और वे विक्टोरियन ढंग के कपड़े पहनने लगीं। १८६९ से रिक्शाओं में घूमने का रिवाज बढ़ा—यह शब्द जापान से चलकर सारी दुनिया में फैल गया। १८७२ से सड़कों पर गैस की रोशनी होने लगी और १८८७ में तोकयो में बिजली आ गयी। १८८० के बाद से विदेशी भाषा बोलने और बॉल-रूम में नाचने का फैशन चला और १८८३ में सरकार ने तोकयो में एक सार्वजनिक सम्मेलन-भवन (रोकूमेईकान) बनवाया। १८९६ में फ्रांसीसी और जर्मन नमूनों पर तैयार की गयी दीवानी के कानूनों की संहिता देश भर में लागू की गयी। १८७० में सबसे पहला जापानी दैनिक पत्र 'योको-हामा माईनीची शीम्बून' छपना शुरू हुआ और पाँच ही वर्षों में, १८७५ तक, सौ से अधिक जापानी पत्र-पत्रिकाएँ छपने लगीं। पत्रकारिता के विकास से संवैधानिक शासन की माँग बढ़ी और नये राजनीतिक दल सामने आये। ११ फरवरी १८८९ को सम्राट् ने नये संविधान की घोषणा की। इस तरह मेईजी पुनरुद्धार के एक पीढ़ी के अन्दर ही जापानी जीवन का ढंग आमूल बदल गया।

उपर्युक्त परिवर्तनों से, जिनका श्रेय पूरी तरह जापानी जनता को है, किसी विदेशी शक्ति ने जिन्हें जबरन उन पर नहीं लादा, जापान की ताकत इतनी बढ़ी कि उसने १९०४-५ में रूस को हराकर दुनिया को चकाचौंध कर दिया और एशिया में राष्ट्रवादी आन्दोलनों का तूफान जारी कर दिया। इस आश्चर्यजनक सफलता के बाद जापान में आर्थिक उन्नति का ज्वार उमड़ आया। १९०५ में ऐसे कारखाने, जिनमें १० व्यक्तियों से अधिक काम

करते थे, ६,७७६ थे जिनमें से ४४.३% यांत्रिक शक्ति से चलते थे। १६०८ में इन कारखानों की संख्या ११,३६० हो गयी और इनमें यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले ४६.३% हो गये। १६१४ में यह संख्या १७०,६२ पर पहुँच गयी और यान्त्रिक शक्ति का प्रयोग इनमें से ६०.६% में होने लगा। इन कारखानों में १६०५ में ५,८७,८५१ मजदूर काम करते थे, १६०८ में ६,४६,६७६ काम करने लगे और १६१४ में उनकी संख्या ८,५३,६६४ हो गयी। १६०५ और १६१४ के बीच रेलवे तिगुनी से ज्यादा हो गयी, लोहे और फौलाद की तैयारी चौगुनी और कोयले की निकासी दो गुनी। किन्तु साथ ही इनकी माँग भी बढ़ी और जापानी साधन लोहे की ४८% माँग, फौलाद की ३३% माँग और कोयले की २७% माँग ही पूरी कर सके। इससे एक ओर उदारवादी व्यापार वृत्ति बढ़ी और दूसरी ओर साम्राज्यवादी प्रसारवाद का जन्म हुआ।

प्रथम महायुद्ध ने जापान की आर्थिक उन्नति के स्वर्णयुग का द्वार खोल दिया। विदेशों से सामान के बड़े आर्डर आने लगे। १६१५ से १६१८ ई० तक विदेशी व्यापार की मात्रा २५% बढ़ गयी और उसके मूल्य में ३००% की वृद्धि हो गयी। निर्यात का ६०% भाग तैयार माल था तो आयात का ६६% भाग कच्चा माल। इससे धन का सागर उमड़ आया। चीजों के दाम १५०% बढ़ गये लेकिन वेतन में २०% की ही वृद्धि हुई। इससे दंगे-फसाद की झड़ी लग गयी। १६१८ ई० के बाद महायुद्ध समाप्त होते ही मन्दी की लहर आयी। आयात निर्यात से बढ़ गया। सब जगह टोटा दिखाई देने लगा। लेकिन १६३२ तक, जापान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मन्दी से निकल आया और जल्दी ही उसकी अर्थ-व्यवस्था ठीक हो गयी। जापानी सूती कपड़े की बाढ़ ने दुनिया को ढक लिया। १६३६ तक जापान ने सूती कपड़े के व्यापार में इंग्लैण्ड को पछाड़ दिया जो दुनिया का सबसे बड़ा सूती कपड़े का निर्यात करने वाला देश था। १६३७ तक जापान दुनिया का सबसे बड़ा रेयोन बनाने और बेचने वाला देश हो गया। १६१३ और १६२६ के बीच जापान में फौलाद की तैयारी चौदह गुनी हो गयी और १६२६ से १६३६ तक इससे भी दोगुनी हो गयी। बिजली की तैयारी १६१३ और १६२० के बीच दोगुनी हो गयी, अगले चार वर्षों में इससे चार गुनी ज्यादा बढ़ी और १६३७ तक इससे भी दोगुनी हो गयी। १६२०-२५ तक जापान में ज्यादातर मशीनरी बाहर से आती थी, लेकिन १६३६ तक जापान न सिर्फ अपनी जरूरत की पूरी मशीनें बनाने लगा बल्कि काफी मात्रा में उन्हें बाहर भी भेजने लगा। जापान की यह प्रगति दो दिशाओं में चली। एक ओर इससे विशाल आर्थिक संगठनों को बढ़ावा मिला, जिन्हें 'जाइबात्सू' कहते हैं, और दूसरी ओर छोटे उद्योगों का विस्तार हुआ। इस विकास से यूरोप के लोगों की आँखें चकाचौंध हो गयीं और साथ ही उनको मिर्चें भी लग गयीं। उन्होंने अनेक बन्धनों से जापानी उद्योग को कुचलना

चाहा जिसके कारण जापान में सैन्यवादी और साम्राज्यवादी प्रवृत्ति बढ़ी।

आर्थिक उन्नति के फलस्वरूप जापानी समाज का सारा ढाँचा बदल गया। तीन पीढ़ियों के संयुक्त परिवार समाप्त होने लगे और पति, पत्नी और छोटे बच्चों के पृथक् परिवार बनने लगे। लेकिन पारिवारिक परम्परा काफी दृढ़ रही जिसका पुष्ट प्रमाण यह है कि तलाक १८८३ में ३.३९% से घटकर १९०० में १.४३% हुए और १९५७ में और कम होकर ०.७९% हो गये, जबकि अमरीकी संयुक्त राज्य में वे १८६७ में ०.३% से बढ़कर १९३७ में २.२% हो गये। जापानी विवाह-विच्छेद को आधुनिकता और प्रगतिशीलता का पर्याय नहीं मानते।

१८७० और १८८० के बाद जापानी शहरों का बहुत विकास हुआ और वहाँ नयी संस्कृति के निशान दिखाई देने लगे। सड़कों पर बग्घियाँ दौड़ने लगीं, गैस के लैम्पों की रोशनी छिटकने लगी, पश्चिमी शैली के मकान बनने लगे, मांस की दुकानें और नाइयों के सैलून खुलने लगे और पश्चिमी केश-विन्यास और वेशभूषा से लैस नागरिक घूमने लगे। मजदूर हल्के पेय और बियर पीने लगे, पानशालाओं, भोजनालयों और विश्रान्ति-गृहों में जाने लगे और अख़बार पढ़ने, चश्मा लगाने और सिगरेट पीने के शौकीन हो गये। विद्यार्थियों को क्रीड़ा, चित्रपट और यौन विषयों में बड़ी रुचि हो गयी। कुछ निबन्धकारों ने १९३१-३२ के काल को 'एरो, गूरो, नानसेन्स' (वासना, विचित्रता और विवेक-हीनता) के युग का नाम दिया है।

शहरों में जहाँ पश्चिमी संस्कृति की चहल-पहल थी वहाँ गन्दी बस्तियों की भी बदबू थी और हुल्लड़बाजी का बोलबाला था। कारखानों की हालत काफी खराब थी। इससे मजदूर-संगठनों का विकास हुआ। साथ ही किसान-संगठन भी सामने आये। इनमें समाजवादी विचार-धारा ने जड़ें जमायीं। उग्र सिद्धान्त काफी फैले। विश्वविद्यालयों की विचार गोष्ठियों में इसका नया रूप उभरा। १९१८ में तोकयो विश्व विद्यालय के कानून-विद्यालय की शास्त्रार्थ-समिति के दो छात्रों ने योशीनो साकूजो के सहयोग से 'शीनजीन-काई' (नव-जन-संघ) कायम किया जिसका कार्यक्रम मानवता की मुक्ति और देश का विवेकपूर्ण सुधार था। यह संघ धीरे-धीरे मार्क्सवादी हो गया और इर्द-गिर्द के इलाके में सारे विद्यार्थी आन्दोलनों का केन्द्र बिन्दु बन गया। ऐसे ही संगठन और जगह भी बनने लगे। जहाँ निचले वर्गों में उग्रवादी विचार उभरे, वहाँ ऊँचे वर्गों ने जर्मन दार्शनिकता, विशेषतः हेगल के मतवाद में, रुचि प्रकट की।

विचारों और भावों की उथल-पुथल साहित्य के क्षेत्र में अच्छी तरह प्रतिबिंबित हुई। इसमें निराशा और अस्वस्थता के अलावा प्रकृतिवाद और व्यक्तिवाद की धूम मच गयी। यह माना जाने लगा कि जीवन की सिद्धि प्राकृतिक शक्तियों के दमन में निहित

नहीं है वरन् उसकी अभिव्यक्ति द्वारा सम्भव है। अतः यौन भावनाओं को खुली छूट दे दी गयी। तायामा काताई के उपन्यासों में यह प्रवृत्ति कूट-कूट कर भरी है। नातसूमे सोसेकी के उपन्यासों में भय, निराशा और सूनेपन की दुनिया चित्रित है। उसके 'द्वार' शीर्षक उपन्यास में मुख्य पात्र एक मित्र की पत्नी को भगाकर एकाकीपन का जीवन बिताता है जिसमें कहीं शान्ति की किरण नहीं है। अन्त में वह ज़ेन धर्म की शरण लेता है लेकिन वहाँ भी उसे शान्ति नहीं मिलती। 'यात्री' शीर्षक उपन्यास में नायक कुंठाओं और शंकाओं से इतना आक्रान्त है कि उसके सामने धर्म, उन्माद और मृत्यु के अलावा और कोई मार्ग नहीं है। 'मन' शीर्षक उपन्यास में नायक की जीवन-चर्या का अन्त आत्म-हत्या है। 'सड़क के किनारे की घानामक रस' निचना में वह मंम नियति के सामने घुटने टेक देता है। यह सारा साहित्य मूल्यों, मान्यताओं और आस्थाओं के विघटन का साक्ष्य देता है जो आधुनिकता की तीव्र प्रक्रिया का परिणाम है।

## दसवाँ परिच्छेद

# प्रगति के पथ पर

### पश्चिमी एशिया की उन्नति और क्रान्ति

द्वितीय महायुद्ध के बाद पश्चिमी एशिया पर से यूरोपियन लोगों का शिकंजा उठा और वहाँ आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन के द्वार खुले। इसके कुछ पक्षों पर यहाँ विचार करना है।

ईराक़ में भूमि-व्यवस्था क़बीलाशाही पर आधारित रही है। क़बीले का मुखिया 'शेख' कहलाता है। क़बीले में बहुत से कुल शामिल रहते हैं। क़बीले का मुखिया 'शेख' क़बीले की भूमि का प्रबन्ध करता है तो कुल का मुखिया 'सिरकाल' सिंचाई, बुवाई, कटाई आदि की देखभाल करता है। भूमि का स्वामित्व सामूहिक-सा होता है। लेकिन इस सदी में 'शेख' क़बीले की सारी भूमि के मालिक बन गये और 'सिरकाल' प्रबन्धक हो गये। साधारण किसान बँटाई देने वाले 'फल्लाहीन' रह गये जिनके न कोई अधिकार थे न जिनकी कोई पूछ। फसल का दो-तिहाई भाग उनसे लगान के रूप में ले लिया जाता था।

इस जमींदारी व्यवस्था को कमजोर करने के लिए १९५२ का भूमि-सुधार कानून बनाया गया। इससे ज़मींदारियों में कुछ कटौती जरूर हुई लेकिन ज़मींदारों और किसानों में काफी अन्तर बना रहा। इसलिए १९५५ में एक और कानून (नम्बर ५३) बना। इसके अनुसार चलती और बंजर जमीनों का आधा भाग 'शेख-सिरकालों' के लिए छोड़ कर आधा ७-२० दोनूम (१ दोनूम=०.६२ एकड़) प्रति परिवार के हिसाब से किसानों में इस शर्त पर बाँटने का विधान किया गया कि वे दस वर्ष तक उसे रहन-बै नहीं कर सकेंगे। लेकिन इस कानून के बावजूद वहाँ भूमि-सुधार कुछ ज्यादा आगे नहीं बढ़ सका, क्योंकि वहाँ के शहरी नेताओं और लोगों को देहाती जनता से कम हमदर्दी है।

१९५० से १९५४ तक ईराक में तेल की निकासी ४० लाख टन सालाना से बढ़कर ३ करोड़ टन हो गयी और उससे होने वाली आमदनी २० लाख पौण्ड से ६ करोड़ ७० लाख पौण्ड पर पहुँच गयी और १९६० में १० करोड़ की संख्या को छूने लगी। १९५२ के एक

कानून के अनुसार इस आय का ७०% भाग विकास-बोर्ड के सिपुर्द कर दिया गया जिसने १९५३ में विकास-मन्त्रालय का रूप ले लिया। इसकी सालाना आमदनी ५ करोड़ पौण्ड के करीब है। यह दो बड़ी योजनाएँ चला रहा है, दजला नदी पर बादी सरसार योजना और फरात नदी पर हब्बानिया योजना। पहली के अन्तर्गत समर्रा का बाँध और दूसरी में रमादी का बाँध बने हैं। इसके अलावा मौसिल में कपड़े का कारखाना और अन्य जगह सीमेण्ट और चीनी के कारख़ाने खुले हैं। बड़े शहरों में पानी की नली डाली गयी है और रेल और सड़क बनाने का काम तेज हुआ है। लेकिन बगदाद में एक ओर शाही महल के आस-पास शान-शौकत है तो पास ही में शेख उमर नाम के महल्ले में ४०,००० लोग कच्ची झोपड़ियों में रहते हैं और उनकी भैंसें कीचड़ उछालती फिरती हैं। इससे विकास और पिछड़ेपन का विरोध स्पष्ट हो जाता है।

शाम (सीरिया) में ईराक़ से कुछ ज्यादा उन्नति हुई है। वहाँ शेखों से ट्रैक्टर वाले व्यापारियों ने जमीनें पट्टे पर लेकर या खरीद कर उनमें नयी किस्म के फार्म चालू किये। अलेप्पो के पास एक आरमीनी पीएर मामारबाशी का इस किस्म का बहुत बड़ा फार्म है। अफसार और नज्जार बन्धुओं के फार्म भी बड़े नामी हैं। उनकी योजना है कि किसान-परिवारों को भूमि और पूँजी दी जाये। जो किसान ट्रैक्टर खरीदना चाहें वे उन्हें ऋण देते हैं। इन लोगों के प्रयास से शाम में खेती-बारी को आधुनिक रूप मिला है। लेकिन शाम के देहात में गरीबी भी बेहद है। इससे सुधारों की माँग जोरों पर है। कर्नल अदीब शिशकली के शासन में ३० जनवरी, १९५२ को सरकारी-भूमि-वितरण-अध्यादेश (नं० ९३) द्वारा बिना पंजीकरण (रजिस्ट्री) के भूमि पर कब्ज़ा रखना अवैध घोषित किया गया। चूँकि लोगों के पास ज्यादातर ज़मीनें बिना रजिस्ट्री के थीं इसलिए उन सबको सरकार ने ले लिया और गरीब किसानों को आसान क़िस्तों पर देना शुरू कर दिया। २९ अक्तूबर, १९५२ के एक अन्य अध्यादेश (नं० १३५) द्वारा सरकारी ज़मीनों के बारे में रजिस्ट्री की हुई और रजिस्ट्री न की हुई ज़मीनों का भेद मिटा दिया गया। इससे सरकार के पास किसानों में बाँटने के लिए ज़्यादा ज़मीन हो गयी। १९५५ में बआस दल के नेता अकरम हौरानी ने संसद में किसानों के अधिकारों की रक्षा के लिए एक बिल पेश किया। लेकिन १ फरवरी, १९५८ को संयुक्त अरब गणराज्य के बनने के बाद ही भूमि सुधार के काम में तेजी आयी। २७ सितम्बर, १९५८ का कृषि-सुधार-क़ानून ज़मीन की ज़ब्ती और वितरण से सम्बन्ध रखता था और ४ सितम्बर, १९५८ के कृषि-सम्बन्धी-क़ानून में किसानों के क़ानूनों को व्यवस्थित किया गया। इन क़ानूनों के अनुसार कोई व्यक्ति ८० हेक्तर सिंचाई की भूमि और ३०० हेक्तर वर्षा पर निर्भर भूमि से ज़्यादा नहीं रख सकता। बीबी-बच्चों के लिए इसके अलावा ४० हेक्तर सिंचाई की भूमि और १०० हेक्तर वर्षा पर निर्भर

भूमि रखी जा सकती है। इस प्रकार प्रत्येक परिवार पर १२० हेक्तर सिंचाई की भूमि और ४०० हेक्तर वर्षा पर निर्भर भूमि से ज़्यादा नहीं रह सकती। ज़मींदारों की जो ज़मीनें इस क़ानून से छीनी गयीं उनका मुआवज़ा तीन साल के लगान के सालाना औसत का दस गुना कायम किया गया। १९६१ तक ५,९३,७३५ हेक्तर भूमि ज़मीदारों से ली गयी और उसमें से १,३५,६७५ हेक्तर किसानों में बाँटी गयी। इसके अलावा १६,२५७ हेक्तर सरकारी भूमि भी किसानों को दे दी गयी। विकास, बसाव और सिंचाई की योजनाओं में फरात नदी पर रक्का बाँध और बिजलीघर की योजना उल्लेखनीय हैं। इससे ८,००,००० हेक्तर अतिरिक्त भूमि में सिंचाई हो सकेगी और ६,००,००० किलोवाट बिजली बन सकेगी। खेती-बारी की शिक्षा में भी यथेष्ट विकास हुआ। १५० प्राथमिक पाठशालाओं के अलावा हिम्स और एज़रा में १९५५ में दो अनुसन्धान-केन्द्र खोले गये।

अरब का कायाकल्प १ जून, १९३२ से माना जा सकता है जब एक अमरीकी भूगर्भ-शास्त्री ने बहरीन में तेल का पता लगाया। उसकी कम्पनी ने अरब के शासक अब्दुल अजीज़ इब्न-सऊद से तेल निकालने का ठेका ले लिया। शुरू में इस कम्पनी ने इब्न सऊद को २,५०,००० डॉलर दिये, लेकिन १९४९ में उसकी आमदनी १,१०,००० डॉलर रोजाना हो गयी। इस धन से अरब में समृद्धि का दौर आया। विद्रोही कबीलों के सरदारों को घूस देकर या विवाह-सम्बन्धों द्वारा अथवा जोर-जब्र से दबाया गया। तार, टेलीफोन और रेडियो की व्यवस्था की गयी। पक्की सड़कों और रेलों का जाल बिछाया गया। शिफ़ाखाने और हस्पताल खोले गये। नये उद्योग-धन्धों की प्रगति हुई। बंजर तोड़ने और सिंचाई के साधन जुटाने को महत्त्व दिया गया। रेगिस्तान में नयी ज़िन्दगी आने लगी।

अरब देशों में सुधारों का अगुवा मिस्र रहा है। वहाँ २३ जुलाई, १९५२ को जनरल नजीब ने सत्ता हथिया कर गणतन्त्र की घोषणा की और एक महान् सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। इस क्रान्ति का लक्ष्य बड़े जमींदारों की ताक़त को खत्म करना था जो १९४५ और १९५० के भूमि-सम्बन्धी कानूनों के रास्ते के रोड़े बने हुए थे। अतः १९५२ के भूमि-सुधार-कानून द्वारा यह निश्चित किया गया कि किसी व्यक्ति के पास २०० एकड़ से ज्यादा भूमि नहीं रहेगी। जिसके बच्चे हों वह उनके लिए १०० एकड़ और रख सकता है। इससे अतिरिक्त भूमि ५ वर्ष में सरकार के पास आ जायेगी। इसका मुआवजा सालाना मौलिक लगान के सात गुने का दस गुना होगा और इसकी अदायगी तीस साला बाण्डों के रूप में की जायेगी जिस पर ३% का ब्याज मिलेगा। ये बाण्ड बिक नहीं सकेंगे। नौतोड़ ज़मीन इस कानून से मुक्त होगी। जो ज़मीन इस कानून के अनुसार जमींदारों

से ली जायेगी उसे किसानों में इस तरह बाँटा जायेगा कि किसी को २ एकड़ से कम और ५ एकड़ से ज़्यादा न मिले। किसानों से भी उसका मूल्य, उपर्युक्त मुआवज़े की दर से ३० साला किस्तों में लिया जायेगा। १९५५ तक २,५०,००० एकड़ भूमि इस तरह जमींदारों से लेकर ६९,००० किसान परिवारों में बाँटी जा सकी। १९५७ के एक कानून द्वारा ज़मीन की जब्ती और वितरण का कानून निजी वक्फों पर भी लागू किया गया। इससे १५०,००० एकड़ और भूमि किसानों में बाँटने के लिए मिली। उसी वर्ष के एक और क़ानून द्वारा निजी कम्पनियों को अपनी नौतोड़ ज़मीन का २५% भाग कृषि-सुधार-मन्त्रालय को बेचने पर मज़बूर किया गया। कुछ लोग अपने बच्चों के नाम ज़मीनें ख़रीद लेते थे और १९५२ के कानून का उल्लंघन करते थे। इसे रोकने के लिए १९५८ में एक संशोधन किया गया जिसके अनुसार परिवार भर के लिए ३०० एकड़ से ज़्यादा भूमि रखना अवैध घोषित किया गया। १९५९ में सरकार ने किसानों को ७ क़िस्तों पर दुधारू भैंसें देने की योजना बनायी। १९५५-५८ में देहात में स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि-परामर्श और सामाजिक विकास के केन्द्र खोले गये। १९६० में इन केन्द्रों की संख्या २५० थी और इनमें से हर एक १५,००० आदमियों की सेवा करता था। १९६४ तक उनकी संख्या ३५० हो गयी। हर केन्द्र में एक डॉक्टर, एक नर्स, एक दाई, उनके सहायक, एक प्रधानाध्यापक, १०-१२ अध्यापिकाएँ और एक कृषि-परामर्शदाता होता है। १९५३ से सिकन्द्रिया के दक्षिण में 'तहरीर' प्रान्त में ज़मीन तोड़ने का काम शुरू हुआ। आजकल वहाँ १४,००० मजदूर जमीन तोड़ने पर लगे हैं। वहाँ किसानों में सामूहिक और एकरस जीवन को बढ़ावा दिया जाता है।

१५ जुलाई, १९६१ को, क्रान्ति की नवीं वर्षगाँठ के अवसर पर प्रेसीडेण्ट नासिर ने चार अध्यादेश जारी किये: (१) एक व्यक्ति के पास १०० फद्दान (लगभग १०० एकड़) से ज्यादा भूमि नहीं रह सकती—पहले कानून में यह क्षेत्रफल २०० फद्दान था, (२) किसानों को दी गयी जमीनों की कीमत का आधा भाग माफ किया गया और सूद छोड़ दिया गया, (३) रिहायशी जायदाद के किराये की आमदनी पर बढ़ती हुई दरों से कर लगाया गया, और (४) शाम में सामान्य आय पर बढ़ती हुई दरों से कर लगाया गया।

औद्योगिक विकास की योजनाओं में दो बिजलीघर, एक लोहे और इस्पात का कारखाना, एक रासायनिक खाद का कारखाना और असवान में बिजली बनाने की व्यवस्था है। यह संसार के बड़े बिजलीघरों में एक होगा।

प्रेसीडेण्ट नासिर पश्चिमी एशिया में समाजवाद का प्रमुख प्रवक्ता था। उसके छः सिद्धान्त १९५६ के संविधान के उद्देश्य वाक्यों में इस प्रकार गुम्फित हैं: (१) साम्रा-

ज्यवाद के सब पक्षों का निराकरण, (२) सामन्ती व्यवस्था का अन्त, (३) एकाधिकारों और वपौतियों की समाप्ति, (४) पूँजीवादी प्रभाव का नियन्त्रण, (५) सुदृढ़ राष्ट्रीय सेना का संगठन और (६) सामाजिक न्याय की स्थापना। नासिर के समाजवाद का धर्म से विरोध नहीं है। उसके राष्ट्रीयकरण का अर्थ भी जब्ती नहीं है वरन् मुआवज़ा देकर जायदाद लेना है। वह वर्ग-संघर्ष, सर्वहारा-अधिनायकशाही और धर्मविहीनता को नहीं मानता। वह सब वर्गों के सहयोग और साहचर्य पर बल देता है।

आजकल अरब जगत् में विचारों का तूफ़ान चल रहा है। 'अल-हिलाल' अख़बार के १९५९ के अंक में डॉक्टर अब्दुल हलीम मुन्तसिर ने लिखा है कि अरब नवोत्थान वैज्ञानिक नियोजन पर आधारित होगा जो पाँच-दस वर्ष नहीं पचासों वर्ष तक चलेगा और लाखों-करोड़ों लोगों की ज़रूरतों को पूरा करने के साधन जुटायेगा। प्रसिद्ध अरब लेखक अब्बास महमूद अल अक्काद ने साम्यवाद और उपनिवेशवाद दोनों से दूर रहते हुए भी साहित्य की भौतिक व्याख्या की है। हबीब जमाती ने अपने एक उपन्यास में २००० ईसवी में मिस्र और अरब जगत् की जो तसवीर खींची है उसमें वैज्ञानिक उत्कर्ष और लोक-कल्याण का बोलबाला है। अरब लेखिका लीला बालबकी ने अपने उपन्यास 'अन अहया' (मैं जीवित हूँ) में परम्परा के बन्धन तोड़ने पर जोर दिया है। इन सभी लेखकों में बेताबी और बेचैनी है। वे मानव की समस्या के हल के लिए देवत्व और धर्मशास्त्र के बजाय इतिहास और समाजशास्त्र को खोजते हैं।

पश्चिमी एशिया में पढ़े-लिखे वकीलों, चिकित्सकों, अध्यापकों और अन्य व्यवसाय के लोगों का जो नया मध्यम वर्ग उभर रहा है उसकी नयी उमंगें और राहें हैं। वे पति-पत्नी पर आधारित छोटे परिवारों को पसन्द करते हैं और आधुनिक क़ानूनों के अधीन रहना चाहते हैं। इसलिए १९५७ में मिस्र में मुसलमानों की शरई अदालतें तोड़ दी गयीं और १९६० में मुसलमान पति पर नयी पाबन्दियाँ लगायी गयीं और पत्नी को अधिक अधिकार दिये गये। इनके अनुसार यदि पति एक से अधिक पत्नी रखना चाहे तो उसे अधिकारियों के सामने इसकी ज़रूरत सिद्ध करनी होगी। उनकी अनुमति से यदि वह दूसरा विवाह करे भी तो पहली पत्नी को उस पर तलाक़ का मुकदमा चलाने का हक़ होगा। यदि वह पत्नी को तलाक़ दे तो वह ऐसा अदालत के हुक्म से ही कर सकता है और उसे पत्नी के खर्च का उचित प्रबन्ध करना होगा। यदि पत्नी उसे छोड़ कर चली जाय तो वह पुलिस द्वारा उसे वापस आने पर मजबूर नहीं करा सकता। १९६० में रमज़ान के उपवास के अवसर पर मुफ़्ती ने घोषणा की कि दाँतों को मंजन से साफ करना वैध है। तूनिस के प्रेसीडेण्ट हबीब बूरगीबा ने तो रमज़ान के उपवास को निरर्थक ही कह दिया। यह आधुनिकता की लहर कितनी आगे बढ़ चुकी है इसका अन्दाज़ा इस बात से किया

जा सकता है कि ५ दिसम्बर, १९६८ को जब कुछ मुल्ला-मौलवियों ने स्त्रियों के अधिया घाघरे (मिनिस्कर्ट) पहनने पर यह आपत्ति की कि इससे प्रार्थना के समय झुकते हुए क़ाफी शरीर नग्न हो जाता है, तो प्रेसीडेण्ट नासिर ने इसे हटाने के लिए कानून बनाने से इन्कार कर दिया और इसे बिल्कुल वैयक्तिक मामला बताया।

पश्चिमी एशिया का वर्णन इसराइल की चर्चा के बिना अपूर्ण ही माना जायेगा। इस राज्य का निर्माण १४ मई, १९४८ को हुआ। इसमें अनेक देशों के यहूदी आकर बसने लगे। इन्होंने एक नये प्रकार के समाज का निर्माण किया। किसानों की बस्तियाँ तीन प्रकार की हैं: (१) मोशावाह (निजी गाँव)——इसमें किसान अपनी जमीन खरीद कर उस पर अपने साधनों से खेती करते हैं। (२) क्वुतज़ा या किब्बुत्ज़ (सामूहिक गाँव)——इसमें किसी की निजी ज़मीन-ज़ायदाद नहीं होती, किसान सामूहिक मकानों में रहते और सामूहिक रसोइयों में भोजन करते हैं, खाने के अलावा उनके कपड़े और अन्य चीजों की जरूरतें गाँव के कोश से पूरी होती हैं, उनके बच्चे शुरू से ही सामूहिक मकानों में रहते, खाते, खेलते और सोते हैं और उनकी शिक्षा सामूहिक रूप से चलती है। (३) मोशाव ओवदिम (सहकारी गाँव)——इसमें हर पारिवारिक इकाई के पास अपना घर, सामान और पशु होते हैं, उन्हें जमीनें एलाट होती हैं, उनकी उपज वे ख़ुद रखते हैं और अपनी मर्ज़ी से उसका उपभोग करते हैं, लेकिन खेती का एक भाग और उपज के एक हिस्से का प्रयोग सहकारी आधार पर होता है। यदि कोई किसान बीमार पड़ जाय तो अन्य लोग उसकी मदद करते हैं और उसका काम करते हैं। इन तीनों प्रकार के गांवों में कुछ बातें समान रूप से पायी जाती हैं: (१) जमींदारी का नाम-निशान नहीं है और बड़े-बड़े फार्म नहीं के बराबर हैं, (२) कोई शिकमी या बटाईदार या बेगारी नहीं है, (३) किसान की सामाजिक स्थिति सबसे ज्यादा ऊँची है और यह माना जाता है कि वह समाज की सबसे अधिक सेवा करता है, (४) शहरों के निकट के गाँवों में शहरियत का वातावरण नजर आता है, (५) खेती-बारी में सबसे ज्यादा पूँजी लगाने की प्रवृत्ति है और इसका तेज़ी से उद्योगीकरण और यन्त्रीकरण हो रहा है, (७) इसरायली किसान श्रम-संघों में संगठित हैं और हिस्ताद्रूथ (श्रम महासंघ) के सदस्य हैं——किसान-मजदूर एक ही धरातल पर आ गये हैं, (८) इसराइली समाज-व्यवस्था समाजवादी आदर्श के काफ़ी निकट है, (९) इसराइली समाज में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना बहुत बढ़ी-चढ़ी है।

इसराइल और अरब राष्ट्रों का द्वन्द्व पश्चिमी एशिया के वर्तमान इतिहास का केन्द्र-बिन्दु है। कई बार इसराइल अरब देशों को पछाड़ चुका है जिससे उनकी कमजोरियाँ ऊपर आ गयी हैं। इसराइल से निकले अरब शरणार्थी उग्र हो रहे हैं। उन्होंने 'अल-फतह'

नामक फिलस्तीन मुक्ति-सेना संगठित की है जो समय-समय पर इसराइल में आतंक मचाती रहती है। लेकिन इससे सभी प्रमुख अरब देश चिन्तित हैं। प्रेसीडेण्ट नासिर और मिस्र का शासक दल और उर्दुन्न (जोर्डन) के शाह हुसैन को ख़तरा रहा है कि 'अल-फतह' की कामयाबी से उनके विरोधी तत्त्व प्रबल होकर उनका सफाया कर देंगे। लेबनान में जहाँ मुसलमानों और ईसाइयों में नाजुक सन्तुलन रहता है और सेना राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ रहती है 'अल-फतह' की सफलता संकट की घंटी है। इसलिए स्पष्ट रूप से इस संगठन का समर्थन करने पर भी आन्तरिक रूप से ये लोग उससे सहमे हुए हैं। उधर इसराइल में प्रधान मन्त्री गोल्दा मायर के उग्र राष्ट्रवाद के होते हुए भी मोशे दायान और यिगाल एलोन उर्दुन्न के पश्चिमी तट पर रहने वाले ६,५०,००० अरबों को अपनाने और इसराइल का अंग बनाने के लिए तत्पर हैं। यदि यह नीति सफल हुई तो पश्चिमी एशिया की एक बड़ी गुत्थी सुलझ जायेगी। इस खींच-तान में अरब देश रूस की ओर झुकते जा रहे हैं—इस्लाम और साम्यवाद का रिश्ता क़ायम हो रहा है जो इस इलाक़े के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास के लिए काफ़ी महत्त्व रखता है।

## ईरान में विकास का दौर

द्वितीय महायुद्ध के बाद ईरान के लोकतन्त्र में कुछ जान आने लगी। लोगों को राजनीति में दिलचस्पी होने लगी। दक्षिणपन्थी 'मिहानपरस्तान' (देशभक्त) दल और वामपक्षी 'तूदेह' दल के बीच अली दाश्ती का 'अदालत' (न्याय) दल, मुस्तफा फातिह का 'हमराहान' (सहचर) दल और हसन अरसन्जानी का 'आज़ादी' (स्वतन्त्रता) दल सामने आये। इससे राष्ट्रीय मनोवृत्ति उभरी। तेल के व्यापार के राष्ट्रीयकरण का आन्दोलन तेज हुआ जिसने डॉक्टर मुहम्मद मुसद्दिक को ऊपर उठाया। ८ मार्च, १९५१ को 'मजलिस' (संसद) ने तेल-उद्योग के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी। अगस्त १९५२ में मुसद्दिक को पूरे अधिकार मिल गये। उसने शाह से झगड़ा खरीद लिया। १३ अगस्त, १९५३ को शाह ने उसे बर्खास्त कर दिया। लेकिन उसने इस निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया। जनता उसके साथ थी। इसलिए शाह और रानी को देश छोड़कर बग़दाद और वहाँ से रोम चला जाना पड़ा। चौराहों और सड़कों से शाह की मूर्तियाँ तोड़ी और हटायी जाने लगीं। गणतन्त्र का नज़ारा सामने आने लगा। कुछ ऐसी चर्चा चली कि ईरान में सोवियत शैली का विधान कायम किया जायेगा। लगता था कि मुसद्दिक ज़मींदारों के लंगर को तोड़कर साम्यवाद की बाढ़ में बहा जा रहा है। लेकिन सेना इस तेज तबदीली के लिए तैयार न थी। इसलिए उसने मुसद्दिक को घेर कर गिरफ्तार कर लिया। २२ अगस्त को शाह वापस आ गया।

शाह ने वापस आकर वक्त की जरूरत को पहचाना और शाही जमीनें लोगों में बाँटनी शुरू कीं। २५ अक्तूबर, १६५३ को उसने करीब सोलह सौ किसानों को जमीनों के कागजात दिये। हरएक को साढ़े तीन हेक्तर जमीन मिली। इसकी क़ीमत पच्चीस-साला क़िस्तों में अदा की जानी थी। साथ ही उसने हाथ चूमने और दण्डवत् प्रणाम करने की मनाही कर दी और लोगों में प्रचलित शाही सवारी के वक्त भेड़ों को बलि करने और उनके सिर उसके घोड़े के पैरों में डालने के पुराने रिवाज को खत्म कर दिया। लेकिन वामपन्थियों और ख़ास तौर से तूदेह दल पर उसने बड़ी सख़्ती की। दक्षिण पन्थियों का ज़ोर हुआ लेकिन भ्रष्टाचार इतना था और लोगों में दरिद्रता और असन्तोष इतना बढ़ रहा था कि लोकतन्त्र की पद्धति बेकार साबित हुई। ६ मई, १६६१ को शाह को संसद भंग करनी पड़ी। नवम्बर में उसने सुधार के छः सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की। इसके अनुसार ६ जनवरी, १६६२ को भूमि-सुधार-कानून पास किया गया। इसकी मुख्य धारा यह थी कि किसी एक ज़मींदार के पास एक गाँव से ज्यादा की भूमि नहीं हो सकती। इससे ज़्यादा भूमि को उसे सरकार को बेच कर उसका मुआवज़ा दस-साला किस्तों में लेना पड़ेगा। इस मुआवज़े का हिसाब उस मालगुज़ारी के आधार पर लगाया गया जो जमींदार सरकार को देता था। इससे मुआवज़े की रकम बहुत मामूली बनी। फिर यह ज़मींदारों से ली हुई जमीन किसानों को इस शर्त पर दी गयी कि वे पन्द्रह किस्तों में इसकी कीमत अदा करेंगे। किन्तु इससे बाग-बगीचों, चाय के उद्यानों और पेड़ों के झुण्डों को मुक्त किया गया। साथ ही यन्त्रीकृत फार्मों और उन ज़मीनों को अलग किया गया जो पट्टों पर थीं। जिन किसानों को जमीनें दी जाती थीं उनके लिए सहकारी समितियों में शामिल होना जरूरी था। यद्यपि इस कानून के अन्तर्गत ज़मींदारों के पास अपनी ज़मींदारियाँ बचाने के काफी रास्ते थे, फिर भी सितम्बर, १६६२ तक आज़रबाइजान में २,५७,६०६ हेक्तर की १,०४७ ज़मींदारियाँ ज़मींदारों से लेकर २३,७८३ किसानों में बाँटी गयीं और उन्हें ४५ सहकारी समितियों में संगठित किया गया। अगले वर्ष तक ८,०४२ गाँव २,४३,००० किसानों में बाँटे गये और उनकी २,०८१ सहकारी समितियाँ चालू की गयीं। लगभग १,००० अफसरों ने इस योजना में काम किया। लेकिन १०% किसानों को ही फायदा पहुँचा। फिर भी इन सुधारों से किसानों का हौसला बढ़ गया। उन्होंने १५ जनवरी, १६६३ को एक राष्ट्रीय किसान काँग्रेस में बड़ी सरगर्मी दिखायी। कई इलाकों में किसानों का एक नया राजनीतिक दल तैयार होने लगा। शहर के लोगों में डर फैल गया कि कहीं उनकी जायदादें भी ज़ब्त न हो जायें। अतः सरकार को 'धीरे-चलो' की नीति अपनानी पड़ी। किसान काँग्रेस के दो दिन बाद ही भूमि-सुधार-कानून का एक परिशिष्ट घोषित किया गया जिसमें ज़मींदारों को ज़्यादा सहूलियतें दी गयीं। जो ज़मीनें पट्टे पर थीं उनके

खात्मे की मुद्दत ५ साल से बढ़ाकर ३० साल कर दी गयी। यह तय किया गया कि ५०० हेक्तर फार्म और ३० हेक्तर धान की खेती कानून से मुक्त रहेगी। ज़मींदारों को किसानों से जमीन की बिक्री या बँटाई के बारे में सीधे समझौते करने का हक दिया गया। इससे यह साफ हो गया कि शाह भूमि-सुधार के मामले में ज्यादा दूर जाने के लिए तैयार नहीं था।

द्वितीय महायुद्ध के बाद ईरान में औद्योगीकरण को काफी महत्त्व दिया गया। १९४८ में पहली सप्तवर्षीय योजना प्रकाशित की गयी और अगले वर्ष इसपर २,१०,००० लाख रियाल (करीब १,६०० लाख पौण्ड) का खर्च मंजूर किया गया। किन्तु इस पर ६०,००० लाख रियाल ही खर्च हो पाया। १९५६ में दूसरा सप्तवर्षीय योजना कानून पास किया गया। इसमें ७,००,००० लाख रियाल (९,३६० लाख डालर) के खर्च की व्यवस्था थी। ३ अगस्त, १९५५ के कानून द्वारा सिंचाई की व्यवस्था को नया रूप दिया गया। अप्रैल १९५५ के सामाजिक मामलों और ग्राम-विकास सम्बन्धी कानून द्वारा स्थानीय विकास के लिए जमींदारों पर आय का ५% अतिरिक्त कर लगाया गया। उद्योगों के क्षेत्र में १९५५ में सरकार ने एक कपड़ा मिल चालू की जो प्रतिवर्ष १॥ करोड़ मीटर माल बनाती है और एक पटसन का कारखाना लगाया जो ४३ लाख मीटर माल तैयार करता है। लेकिन १९५५ में १८० लाख डालर का कपड़ा बाहर से आया। इसलिए दूसरी सप्तवर्षीय योजना में कपड़े के उद्योग के लिए ५,५८० लाख रियाल खर्च करने की व्यवस्था की गयी। चीनी के धन्धे को सरकार ने अपने हाथ में लिया। १९५४ तक १२ सरकारी चीनी मिलें चालू थीं, १९५५ में ३ और बनने लगीं। दूसरी सप्तवर्षीय योजना में चीनी के उद्योग पर १,१५० रियाल खर्च करने का विचार किया गया। १९५५ में अफीम उगाने और चण्डू पीने पर पाबन्दी लगायी गयी। मछली, सीमेण्ट, तम्बाकू, साबुन और रासायनिक वस्तुओं के सरकारी कारखाने खोले गये। इन उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की हालत सुधारने के लिए १८ मई, १९४६ का श्रम-कानून चालू है। इसने श्रम-संगठनों को मान्यता दी है और न्यूनतम वेतन के सिद्धान्त को माना है। ट्रेड-यूनियनों का संघ (साजमानी कारगरानी-ए-ईरान) सरकार को मान्य है। लेकिन इनकी गड़बड़ के कारण सरकार को ९ नवम्बर, १९५५ को एक कानून बनाना पड़ा कि मजदूर राजनीति में हिस्सा न लें और सरकारी नियन्त्रण में काम करें।

सरकार ने शिक्षा की ओर भी काफी ध्यान दिया है। १९३५ में तेहरान में, १९४८ में तबरीज में और १९४९ में शीराज, इस्फाहान और मशहद में विश्वविद्यालय खोले गये। १९५६ में इनके साथ मेडीकल कॉलेज लगाये गये। तेहरान में राष्ट्रीय पुस्तकालय स्थापित किया गया। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा पर भी काफी जोर दिया गया।

१९६१ तक शहरों में साक्षर लोगों की संख्या ६५% थी, तो देहात में सिर्फ १५% ही थी, १९६२-६३ तक दस बच्चों में से दो के लिए ही देहाती पाठशालाएँ थीं। अतः शिक्षा-मन्त्री डॉ० खानलारी ने सेना के अफसरों को ग्राम्य शिक्षा के काम में लगाया। योजना यह थी कि सेना का हर अधिकारी देहात में जाकर लोगों को पढ़ाये। इस काम में काफी सफलता मिली।

ईरान में परम्परा और आधुनिकता का टकराव ज़ोरों पर है, जैसा कि १९६३ में शाह की पश्चिमीकरण की नीति के खिलाफ मुल्ला-मौलवियों द्वारा कराये गये व्यापक दंगों से प्रकट होता है।

## स्वतन्त्र भारत का लेखा-जोखा

१९४७ में जब भारत ब्रिटिश शासन से स्वतन्त्र हुआ तो वह दरिद्रता के गर्त में था। इसका अन्दाजा इस बात से किया जा सकता है कि १९४९-५० में भारतीय जनता का औसतन राशन १३.४ औंस अर्थात् ४२५ ग्राम था, जबकि भोजन शास्त्रियों के अनुसार मनुष्य का राशन कम से कम १५.२ औंस यानी ४७५ ग्राम होना चाहिए। बाद में कहा गया कि सामान्य भारतीय को १४.८ औंस अर्थात् ४६० ग्राम मिलता है, फिर भी यह आवश्यक भोजन से काफी कम है। एक अध्ययन के अनुसार यदि अमरीका में एक व्यक्ति ३,००० से अधिक केलोरी का भोजन करता था और मिस्र तक में प्रति व्यक्ति २,४०० केलोरी का भोजन उपलब्ध था तो भारतीय को केवल १,६२० केलोरी का खाद्य ही मिलता था। जाति-पाँति का यह हाल कि करीब २००० जातीय वर्ग थे और अगर अन्तर्गोत्रीय विवाह करने वाली उप-जातियों को लिया जाय तो उनकी संख्या २,००,००० तक पहुँचती थी। इरावती कर्वे के अनुसार महाराष्ट्र में कुम्हारों तक की दस जातियाँ थीं—बड़े चाक वाले कुम्हार 'ढोर चाके', छोटे चाक वाले कुम्हारों, 'लाइन चाके' से अलग-थलग थे और रोटी-बेटी का रिश्ता नहीं रखते थे। स्वतन्त्र भारत को इन सब समस्याओं से जूझना पड़ा। इस संघर्ष और अध्यवसाय में समाज के निम्नलिखित वर्ग सक्रिय रहे।

इस काल के भारतीय समाज को आर्थिक दृष्टिकोण से हम इन भागों में बाँट सकते हैं—बड़े पूँजीपति, छोटे धनपति, नागरिक सर्वहारा वर्ग, देहात के भूमिधर और भूमि-हीन किसान। स्वतन्त्रता के बाद पहले दो वर्गों की बन आयी। इनमें भी पहले को अधिक लाभ हुआ। ४८८० फैक्ट्रियों (कारखानों) में से २०६, अर्थात् कुल का ४.१% भाग, ५०,००,००० रु० या इससे अधिक की पूँजी से चलते थे लेकिन कुल पैदावार का ४३.४% तैयार करते थे। धातु-उद्योग चार बड़ी फर्मों के हाथ में हैं जिनमें से टाटा आयरन ऐण्ड स्टील कम्पनी ७६.९% माल बनाती है। बिजली का धन्धा ज्यादातर ५ बड़ी

कम्पनियों के हाथ में है और सीमेण्ट के काम पर चार कम्पनियों के एक समूह 'एसोसिएटेड सीमेण्ट' कम्पनी लि०, का आधिपत्य है, हालाँकि १४% माल डालमिया समूह द्वारा तैयार होता है। टाटा समूह के पास १०० से अधिक कम्पनियों का नियन्त्रण है जिनमें से करीब ५० उनकी अपनी हैं। उनकी कुल पूँजी ३.८ अरब रु० है। द्वितीय महायुद्ध के बाद बिड़ला बन्धुओं के पास ८६ कम्पनियों और यूनाइटेड कमर्शियल बैंक का प्रबन्ध था और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' (दिल्ली), 'ईस्टर्न इकोनोमिस्ट' (दिल्ली), 'सर्च लाइट' (पटना), 'लीडर' (इलाहाबाद) आदि पत्रों का नियन्त्रण था। १९५८ तक उनका कारोबार टाटा के बराबर हो गया। उनके पास ३०० कम्पनियों का नियन्त्रण आ गया जिनकी पूँजी ३ अरब थी— इसके अलावा अनेक कम्पनियों पर उनका आंशिक दखल था। एक अनुमान के अनुसार टाटा, बिड़ला, बर्न और डालमिया-जैन समूहों की पूँजी १९५१ में कुल गैर-सरकारी कम्पनियों की पूँजी का २१.८५% थी तो १९५८ में २६% हो गयी। ये बड़े पूँजीपति कुछ हद तक राजकीय पूँजीवाद के समर्थक थे क्योंकि इससे विदेशी लोगों की बपौतियों का खात्मा सम्भावित था। लेकिन ये अपने हितों के विषय में भी पूरी तरह सतर्क थे। इसका नतीजा यह हुआ कि उन्होंने उद्योगों को मनमाने तरीके से चलाया जिससे काफी उलझनें पैदा हुईं। विशेष रूप से १९५१ और १९६० के बीच अनेक उद्योगों में मुनाफे ५०% से १००% हो गये, पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगिक पैदावार करीब १४० % बढ़ी, लेकिन बेरोजगारी और गरीबी की समस्या इस रफ्तार से हल नहीं हुई। १९५० से १९६५ तक के भारतीय आर्थिक और औद्योगिक विकास का अधिकतर लाभ बड़े पूँजीपतियों को पहुँचा।

स्वतन्त्रता के बाद धीमा सा नागरिक विकास हुआ। १९५१ में ८२.७ % जनता देहात में और १७.३%, शहर-कसबों में रहती थी तो १९६१ में ८२ % देहात में और १८% नागरिक क्षेत्रों में रहने लगी। १९६१ की जनगणना के अनुसार देश में ५,६७,३३८ गाँव थे तो २,७०० शहर कसबे, जिनमें १०७ ही ऐसे थे जिनकी आबादी एक लाख से ऊपर थी। १९५१ में छोटे धनपति और मझले बुर्जुवा करीब २१ लाख थे और उद्योगों से बाहर काम करने वालों की संख्या ६७,७५,००० थी। बाद में यह संख्या काफी बढ़ी। इस वर्ग के लोग अधिकतर पुराणपन्थी और रूढ़िप्रिय हैं और चालू व्यवस्था को बनाये रखना चाहते हैं। शहरों की आबादी का बड़ा भाग सर्वहारा या मजदूरों का है। इनकी संख्या एक अनुमान के अनुसार लगभग ४५ लाख है लेकिन चार्ल्स ए० मायर्स के अनुसार यह ७६.३० लाख है। १९५० में एक मजदूर की औसतन आय ८० रु० महीना या २.७ रु० रोजाना थी। आम तौर से एक मजदूर को चार व्यक्तियों का पेट पालना पड़ता था। इसका मतलब यह है कि एक व्यक्ति की आय ०.७० पैसा रोज थी। लेकिन इस औसत

में वे लोग भी शामिल हैं जिनकी मासिक आय २०० रु० है। और यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सब मजदूर पूरे वर्ष काम पर लगे नहीं रहते जबकि औसत बारह महीने की आय पर लगाया गया है। साथ ही यह बात दृष्टि में रखने योग्य है कि हर मजदूर उस वक्त १७०० रु० साल का माल पैदा करता था। इसका अर्थ हुआ कि उसके उत्पादन का आधे के करीब भाग उससे छीन लिया जाता था। फिर ये मजदूर जाति-प्रथा के अधीन थे और उसके रस्म-रिवाज से बँधे हुए थे। इसके अलावा देहात से शहरों में आने पर वे अपने आपको नयी परिस्थिति से समन्वित नहीं कर पाये और अनेक प्रकार के अनाचार में फँस कर अपनी साधारण आय का अपव्यय करने लगे। फलत: उनकी दरिद्रता और संकट का ठिकाना न रहा।

१९६९ के एक सरकारी विवरण के अनुसार यदि १९६१ में मजदूरी १०० थी और वस्तुओं के मूल्य का स्तर भी १०० था तो १९६६ तक मजदूरी १३९ हो गयी और वस्तुओं के मूल्य का स्तर १४६ हो गया जिससे मजदूर की आय में घटी हो गयी। एक और रिपोर्ट के अनुसार, जिसकी काफी आलोचना हुई, १९५० से १९६४ तक मजदूरी में ५८% की वृद्धि हुई तो जीवन के व्यय का स्तर ५९% बढ़ा। कहने का अभिप्राय यह है कि मजदूर की आय निरन्तर घटी जबकि उद्योगपतियों के मुनाफे १२.५% प्रतिवर्ष बढ़ कर तिगुने के करीब हो गये। लेकिन यदि मजदूर की आय घटी तो उसकी जागृति बढ़ी। १९५१ में अखबारों की ३० लाख प्रतियाँ बिकती थीं तो १९६२ में ५२ लाख बिकने लगीं, १९५० में ५ लाख रेडियो सेट थे तो १९६३ में ३६ लाख हो गये। इसमें शक नहीं कि भारतीय जनता के आकार को देखते हुए ये आँकड़े बहुत कम हैं, परन्तु इनसे सार्वजनिक चेतना की बढ़ोत्तरी का आभास मिलता है।

अब हम शहर से देहात की ओर आते हैं। स्वतन्त्रता के बाद मध्यवर्ती ज़मींदारों को खत्म करने के लिए अनेक कानून बनाये गये। २२.५ लाख मध्यवर्तियों को मुआवजा देकर अलग किया गया। लेकिन जिन जमीनों पर उनके नाम दर्ज थे वे उन्हीं की रहीं। उनके अलावा जिस जमीन पर जिस किसान का नाम दर्ज था वह उसका सीरदार हो गया और वह सालाना लगान का दस गुना सरकार को दे सका तो उसका दर्जा भूमिधर का हो गया। सीरदार और भूमिधर में खास फर्क यह था कि सीरदार अपनी जमीन को रहन-बै नहीं कर सकता था जबकि भूमिधर को ऐसा करने का हक था। यह उत्तर-प्रदेश के जमींदारी-खात्मा-कानून की प्रमुख विशेषता थी।

इन कानूनों का नतीजा यह हुआ कि देहात की जनता मालिक और किसान-मजदूर इन दो वर्गों में बँट गयी। मालिक वे थे जो अपनी ज़मीनों में खुद खेती करते थे, और किसान-मजदूरों में उनकी गिनती थी जो पूर्ण या आंशिक रूप से मालिकों की जमीन

बँटायी या मजदूरी पर जोत कर अपना गुजारा करते थे। देहाती जनता का १७% भाग मालिक था तो ४५% ऐसे किसान, जिनके पास कुछ अपनी भूमि थी और कुछ वे बँटाई पर या मजदूरी पर लेते थे और ३८% निरे मजदूर, जिनका गुजारा सिर्फ दूसरों के काम पर था। इसके अतिरिक्त ग्राम्य क्षेत्रों में पंचायतों, सहकारी समितियों और सामुदायिक विकास योजनाओं से देहात में नये जीवन का श्रीगणेश हुआ।

स्वतन्त्रता के बाद के भूमि-सुधार में इन किसानों या भूमिहीन मजदूरों की बेहतरी के लिए बहुत कम जगह थी। प्रायः सभी राज्यों के भूमि-सम्बन्धी कानूनों में मालिकों या भूमिधरों के अधिकारों को पुष्ट किया गया और बँटाईदार या हाली-बालदी मजदूरों की अवहेलना की गयी। सिर्फ कश्मीर में असल काश्तकार उसे माना गया है जो अपने हाथ से खेती करता हो। लेकिन वहाँ भी २२ एकड़ से कम जमीन वाले को उसे बँटाई पर देने का हक है, क्योंकि ऐसी स्थिति में बँटाई पर काम करने वाले के कोई अधिकार नहीं हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय समाज बड़े पूँजीपतियों, उनके साथ लगे नगरों के पुराणपन्थी छोटे धनपतियों और देहात के भूमिधरों के दबाव और कब्जे में है। इन सब दबावों का सामना करने में समाज अपने आपको कुछ अशक्त-सा पा रहा है क्योंकि शिक्षा का ढाँचा और विचार-परिवर्तन का तन्त्र ढीला है। इसका प्रमाण यह है कि १९६९ की एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार देश में कुल २४ प्रतिशत लोग साक्षर थे—३४.५ प्रतिशत पुरुष और १३ प्रतिशत स्त्रियाँ। यह शिक्षा भी स्थानीय, क्षेत्रीय, जातीय प्रभावों से आक्रान्त है जो सुव्यवस्थित राष्ट्रीय दृष्टिकोण के निर्माण में बाधक हैं। इससे विघटनकारी तत्त्वों को बढ़ावा मिला है।

उपर्युक्त क्षोभ और अनिश्चय और अव्यवस्था की अभिव्यक्ति आजकल के भारतीय साहित्य को नयी दिशाएँ और नये आयाम दे रही है। बंगाल में 'कविता दैनिकी' और 'कविता घंटि', तेलुगु में 'दिगम्बर कविता', मराठी में 'आसौ कविता' और हिन्दी में 'अकविता, 'न-कविता, 'युयुत्सावादी कविता', 'श्मशानी कविता, 'आक्रोशी कविता' आदि एक व्यापक कुंठा और शंका, विक्षेप और विद्रोह, विघटन और विखण्डन, रिक्तता और विरक्ति, अस्थिरता और प्रवाह की सूचना देती हैं। पुरानी परम्परा फीकी लगती है, अर्थवत्ता से ग्लानि है, मूल्य समझ में नहीं आते, भावों और विचारों में बहाव है, मन कहीं जमता नहीं, सार कहीं दीखता नहीं, मार्ग सूझता नहीं, दिशा जँचती नहीं—सिर्फ शून्य में निरभिप्राय चक्रवत् चलने वाला तूफानी आक्रोश और आवेश, यही आधुनिक साहित्य और कला की भावभूमि है। कमलेश्वर के कहानी-संग्रह 'खोई हुई दिशाएँ' का शीर्षक इस पृष्ठभूमि का सार्थक प्रतीक है। भारतीय प्रगति का पथ एक विशाल परिवर्तन का द्वार बनता जा रहा है।

## दक्षिण-पूर्वी एशिया की उथल-पुथल

डच शासन से स्वतन्त्र होने पर जब १७ अगस्त, १९५० को इन्दोनेशियाई गणतन्त्र की स्थापना हुई तो वहाँ की ८५ प्रतिशत किसान जनता आशा और उत्साह के ज्वार में बहकर 'रतु आदिल' (न्यायप्रिय शासक) के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी, जिसके राज्य में धान की बढ़िया फसलें उगेंगी, चीज़ों के दाम गिरेंगे, लोग प्रेमभाव (गोतोंग रोयोंग) से रहेंगे और सब जगह शान्ति और समृद्धि फैलेगी। दो प्रतिशत शिक्षित लोगों का वर्ग, जिसके हाथ में शासन की बागडोर आयी, इस आशा को साकार करने के लिए आतुर था, किन्तु उसके सामने कठिन समस्याएँ शेर की तरह मुँह फाड़े खड़ी थीं।

देश की साधारण जनता मुसलमान थी लेकिन उनमें विचारों का द्वन्द्व चल रहा था। शहरों के रहने वाले मध्यम वर्ग के लोग आधुनिकता और पश्चिमीकरण और विज्ञान के हामी थे, तो देहाती जनता, मुल्ला-मौलवियों के असर से, इस्लामी परम्परा से नत्थी थी और इसका एक उग्र वर्ग इस्लामी राज्य (दारुल इस्लाम) की स्थापना के लिए १९५०से १९६२ तक गुरिल्ला युद्ध में संलग्न रहा। बहुत से लोग इन झगड़ों को छोड़कर समाजवादी विचारधारा की ओर आकृष्ट होते जा रहे थे। १९५५ के चुनाव में राष्ट्रवादियों को २२.३ प्रतिशत वोट मिले तो आधुनिकता की हामी मुसलिम पार्टी को २०.९ प्रतिशत, मुल्ला-मौलवियों के दल को १८.४ प्रतिशत और साम्यवादी दल को १६.४ प्रतिशत।

इन्दोनेशिया में चीनी लोगों का भारी समूह था। डच शासन में उन्हें लगान वसूल करने का हक़ दिया गया था। बाद में उन्होंने साहूकारी और सूद-बट्टे और गिरवी-गाँठी का काम शुरू कर दिया। परचून का व्यापार ज़्यादातर उनके हाथ में आ गया। मध्य जावा में क़सबों में, हालाँकि उनकी संख्या कुल जनता की १ प्रतिशत थी, उनके हाथ में ८४ प्रतिशत व्यापार था—४५० दुकानों में से ३७८ उनकी थीं। उनके अपने क़ानून और रिवाज थे और अलग गुप्त-गोष्ठियाँ थीं। वे अपने आपको इन्दोनेशियाई न समझकर चीन का अंग मानते थे और १९४९ की लाल क्रान्ति के बाद साम्यवादी विचारों में डूबते जा रहे थे। २२ अप्रैल, १९५५ को बाण्डुग में चीनी प्रधानमन्त्री और इन्दोनेशिया के विदेशमन्त्री में एक सुलह हुई, जिससे चीनी सरकार ने इन्दोनेशिया में रहने वाले चीनियों पर से चीनी नागरिक होने का दावा वापस ले लिया और उन्हें स्थानीय नागरिक मानने का वचन दे दिया। बाद में इस सन्धि में एक परिशिष्ट जोड़ कर इसकी कुछ अस्पष्टता दूर की गयी। १९६१ में मार्शल चेन-यी ने इन्दोनेशिया का दौरा किया और कुछ भ्रमों को दूर कर वहाँ की सरकार से सांस्कृतिक सहयोग का समझौता किया। लेकिन इन्दोनेशिया में चीनियों को ग़ासिब समझा जाता रहा और १९६६ में डॉ० सुकर्नो के पराभव के समय उन पर क़हर के बादल टूट पड़े और उन्हें बेतहाशा ज़ुल्म बर्दाश्त करने पड़े।

इन्दोनेशियाई समाज में इस युग में दो और वर्ग उभरे—सेना और विद्यार्थी। ये दोनों राष्ट्रवादी क्रान्ति में निष्णात थे और राष्ट्रीय उत्थान के प्रबल समर्थक थे। इन्हें राजनीतिक दलों की उधेड़-बुन अखरती थी। इसलिए इनके सहयोग से १९५९ में डॉक्टर सुकर्नो ने विधानसभा को भंग कर सारी सत्ता अपने हाथ में ले ली और 'निदेशित लोकतन्त्र' का श्रीगणेश किया। ये उसके 'पाँच तलिस्म' (लिमा अज़ीमत)—'नसकम' (धार्मिक, राष्ट्रीय और साम्यवादी एकता), 'पंचशील' (भगवद्विश्वास, राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र, सामाजिक न्याय और मानववाद या अन्तर्राष्ट्रीय भावना), 'मनिपोल' (वामपक्षी प्रगतिवाद), 'बर्दिकरी' (आत्मनिर्भरता) और 'तविप' (जोखिम उठाना)—के नारों पर लट्टू थे। इन्हें उसका सामान्य व्यक्ति, विशेषतः किसान (मरहोम) के उत्थान का कार्यक्रम (मरहोमवाद) बहुत रुचता था। जब १९६० में उसने 'हमारी क्रान्ति की प्रगति' (जेरक) की चर्चा की, १९६१ में 'क्रान्ति, इन्दोनेशियाई समाजवाद और राष्ट्रीय नेतृत्व' (रेसोपिम) की आवाज उठायी, १९६२ में, पश्चिमी इरियान के गणतन्त्र में शामिल होने के अवसर पर, 'विजय-वर्ष' (तकेम) की घोषणा की, १९६३ में 'इन्दोनेशियाई क्रान्ति के गूँजते स्वर' (गेसूरी) का नारा लगाया और १९६४ में, मलेशिया से भिड़न्त के मौके पर, 'जोखिम उठाने' (तविप) का आह्वान किया, तो ये झूम कर उत्साह से शराबोर हो गये। इसी तरह जब आधुनिक युग के प्रसिद्ध कवि, इतिहासकार और विचारक मुहम्मद यामीन ने इसलाम से पहले की सांस्कृतिक परम्परा को 'सप्तधर्म' के नाम से उद्धृत किया और बोरोबुदूर और मजपहित की शानदार उपलब्धियों का स्मरण कराया तो उनके आनन्द का ठिकाना न रहा। इस काल में पुरानी परम्परा इतने सशक्त रूप से उभरी कि कुछ लोग कहने लगे कि इन्दोनेशिया की राजनीति रामायण और महाभारत पर आधारित जावा के नाटकों (वायाङ) में लीन हो गयी है।

किन्तु विकास की गति नारेबाज़ी के साथ न चल सकी। १९६२ में १९५२ के मुक़ाबले में लोगों को ज्यादा सख़्ती और तंगी सहन करनी पड़ी। कपड़े का सवाल टेढ़ा हो गया। सरकारी मुलाज़िम तक दफ्तरों में टुक्की लगे कपड़े पहन कर आने लगे। खाने की चीज़ों की कीमतें १९५८ के मुक़ाबले में दसगुनी हो गयीं—हालाँकि देहात में कुछ राहत थी। लोगों की सारी कमाई खाने में लगने लगी। जनता में असन्तोष बढ़ने लगा। सुकर्नो ने साम्यवादी दल और सेना का गठबन्धन किया, लेकिन यह रिश्ता ज्यादा देर चलने वाला नहीं था। १ अक्तूबर, १९६५ को इनका विरोध भभक उठा। साम्यवादियों ने बड़े सैनिक अफसरों को दबोचने की कोशिश की लेकिन उन्होंने बच कर अपने विरोधियों को धर दबाया। असंख्य साम्यवादी मौत के घाट उतरे। सुकर्नो भी बलि का बकरा बना। और जनरल सुहर्तो प्रेसीडेण्ट हो गया। इस क्रान्ति में युवक विद्यार्थी

और सेना साथ थी। जकर्ता की खपच्चियों की झोपड़ियाँ और पश्चिमी शैली के प्रासाद और भिखमंगों की पंक्तियाँ और करोड़पतियों की रंगरेलियाँ उन्हें कड़ी चुनौतियाँ दे रही हैं जिनका हल सिर्फ साम्यवादियों का सफाया नहीं है।

हिन्दचीन (इन्दोचीन) में कम्बोदिया और वियतनाम प्रगति और विकास के अग्रदूत रहे। कम्बोदिया में बौद्ध भिक्षुवर्ग और शासकदल के सहयोग से राजकुमार नरोत्तम सिंहहनूक ने 'संकूम रेआस्त्र नियुम' (लोक-समाजवादी-संगठन) की शुरुआतकी। इसका झुकाव वामपक्षी देशों और उनकी चिन्तन-पद्धतियों की ओर रहा। किन्तु साथ ही विकास का कार्यक्रम भी तेज़ हुआ। १९५५ में वहाँ कोई सरकारी कारखाना नहीं था। १९६८ में २८ सरकारी कारखाने और २९ सरकारी और निजी पूँजी से चलने वाले मिले-जुले कारखाने काम करने लगे। १९५५ में छोटे और मझले ढंग के निजी उद्योग और फैक्ट्री ६५० थीं तो १९६८ में उनकी संख्या ३,७०० हो गयी। १९५५ में ३८६ किलोमीटर रेलवे, १,६०० किलोमीटर तारकोल की सड़कें, १,६०३ किलोमीटर पक्की सड़कें और ११,०५५ किलोवाट बिजली बनाने के साधन थे तो १९६८ में ६६५ कीलोमीटर रेल, २,६०० किलोमीटर तारकोल की सड़कें, २,१४५ किलोमीटर पक्की सड़कें और ७०,००० किलोवाट बिजली बनाने के साधन हो गये। १९५५ में कोई सहकारी समिति नहीं थी, १९६८ में १३ सहकारी उधार देने वाली संस्थाएँ और ७१८ खेती-बारी के विविध काम करने वाली समितियाँ हो गयीं। १९५५ में १४,८४,००० टन चावल और १,००,००० टन गल्ला पैदा होता था तो १९६८ में ३२,५१,००० टन चावल और १,५४,००० टन गल्ला पैदा हुआ। १९५५ में १६ अस्पताल और १०३ दवा देने के केन्द्र और उनमें २,४४५ पलंग थे तो १९६८ में ५९ अस्पताल, ५५३ दवा देने के केन्द्र और ६,५२५ पलंग हो गये। १९५५ में २,७३१ प्राथमिक पाठशालाएँ, १२ माध्यमिक विद्यालय और कॉलिज थे जिनमें क्रमशः ३,११,००० और ५,३०० विद्यार्थी पढ़ते थे तो १९६८ में ५,८५७ प्राथमिक पाठशालाएँ और १८० माध्यमिक विद्यालय और कॉलिज़ हो गये और उनमें पढ़ने वालों की संख्या क्रमशः १०,२५,००० और १,१७,००० हो गयीं। १९५५ में कोई विश्वविद्यालय नहीं था, १९६८ में ९ चालू हो गये। विदेशी और निजी पूँजी लगाने वालों को काफी सुविधाएँ दी गयीं। सिंहहनूकविल नामक नये शहर में लोगों को बसने का प्रोत्साहन दिया गया। लेकिन विदेशों में शिक्षित और दक्षिणपन्थियों का एक वर्ग राजकुमार सिंहहनूक की वामपक्षी नीतियों से असन्तुष्ट था और उसने लोन मोल के नेतृत्व में सिंहहनूक को हटा दिया। सिंहहनूक ने पेकिंग में निर्वासित शासन क़ायम किया और हेनोई के एक स्वागत-समारोह में एक ओर कम्बोदिया-वियतनाम की अभिन्न मित्रता का नारा उठाया और दूसरी ओर 'प्राचीन अंगकोर की संस्कृति' की रक्षा की

दुहाई दी।

हिन्दचीन को सबसे बड़ी चुनौती वियतनाम से मिली। १९५४ में हो चिह-मिन्ह की सेना ने दिएन बिएन फू में फ्रांसीसी फौज को हराकर एक नये क़िस्म के समाज का सूत्रपात किया। जनेवा सम्मेलन में इस देश के दो टुकड़े कर दिये गये। उत्तरी वियतनाम में कोयले की खानें, खनिज पदार्थ के भण्डार, बढ़ती हुई जनसंख्या और औद्योगीकरण के अन्य साधन थे। लेकिन वहाँ खेती-बारी इतनी ज्यादा नहीं थी, दक्षिणी वियतनाम ही 'चावल का कटोरा' कहलाता था। फिर भी वहाँ की सरकार ने औद्योगीकरण के साथ खेती के समूहीकरण की उग्र नीति अपनायी। पूर्वी यूरोप, सोवियत रूस और चीन से उसे इस काम के लिए काफी सहायता मिली। फलतः यह दक्षिण-पूर्वी एशिया का एक शक्तिशाली देश बन गया जिसकी दृढ़ता का परिचय इस बात से मिलता है कि वह आज तक अमरीका समर्थित दक्षिणी वियतनाम से टक्कर ले रहा है और उसके गुरिल्ला सैनिक लाओस और कम्बोदिया में अपने पैर जमाते जा रहे हैं।

दक्षिणी वियतनाम में उत्तरी वियतनाम से लगभग ६,५०,००० कैथोलिक आये। इनकी जमीनें साम्यवादी शासक ने ज़ब्त कर ली थीं। इनके और अन्य ईसाई जायदाद वालों के दबाव के वहाँ के राज्याध्यक्ष न्गो दिन्ह दिएम ने स्थानीय बौद्ध जनता के हितों की अवहेलना की। इससे बौद्धों में रोष फैला। कई भिक्षुओं ने आत्महत्या कर विश्व का ध्यान आकृष्ट किया। काओ दाई आदि अनेक सम्प्रदायों ने खुले विद्रोह का झण्डा फहराया। १९६३ में बौद्धों के दंगों के बाद बड़े सैनिक अफसरों के एक दल ने दिएम को हटाकर मार डाला। किन्तु पुरानी नीतियों में कोई ख़ास फर्क नहीं आया। स्पष्ट है कि उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम का विरोध दो सामाजिक व्यवस्थाओं और विचारधाराओं का संघर्ष है। लाओस का राज्य इनमें विभक्त है और थाईदेश इससे सशंक होकर अमरीका की ओर झुक रहा है, लेकिन शान्ति और स्थिरता के वातावरण में वहाँ काफी आर्थिक विकास हुआ है और चावल आदि का निर्यात काफी बढ़ा है।

बर्मा में स्वतन्त्रता के बाद काफी गड़बड़ रही और 'एण्टी-फासिस्ट पीपुल्स फ्रीडम लीग' की सरकार विदेशी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के बावजूद कोई खास सामाजिक या आर्थिक उन्नति नहीं कर पायी। भ्रष्टाचार और नोक-झोंक से ऊबकर जनरल ने-विन के नेतृत्व में सेना ने सत्ता सँभाली और 'सामाजवाद का मार्ग' (बर्मीज़ रोड टु सोशलिज़्म) अपनाया, लेकिन भारतीय धनपतियों और व्यापारियों को निकालने के अलावा वह कोई खास बेहतरी का काम नहीं कर सकी। वहाँ की विकास की समस्याएँ बड़ी टेढ़ी हैं।

मलाया में अगस्त १९५७ में मलेशियाई संघ के निर्माण के बाद वहाँ के अभिजात मुसलिम वर्ग और चीनी व्यापारी मध्यम वर्ग में समझौता होजाने और वहाँ रहने वाले

हिन्दुस्तानी व्यापारियों के उनके साथ मिलने से 'संयुक्त दल' (एलायन्स पार्टी)' बना, लेकिन सिंगापुर के प्रमुख चीनी लाग इसके साथ नहीं चल सके और उन्होंने इससे नाता तोड़ अपनी अलग सरकार बना ली। इस सारे इलाके में साम्यवादियों का मज़बूत गिरोह है।

फिलिपिन्स में 'इलुस्त्रेदो' वर्ग आ आधिपत्य रहा। इसके दो भाग राष्ट्रवादी और उदारवादी मौलिक बातों पर एकमत रहे। लेकिन एक मध्यम व्यावसायिक वर्ग भी उभरने लगा। १६५३ में प्रेसीडेण्ट पद पर रामोन मेगसेसे का चुनाव इस वर्ग के उत्थान का सूचक है। लेकिन १६५७ में एक वायुयान-दुर्घटना में उसकी मृत्यु से फिर इलुस्त्रेदो ज़मींदार वर्ग प्रमुख हो गया। साथ ही मध्य लूजोन में साम्यवादियों का 'हुकबलहप' दल संगठित होने लगा और सत्ताधारी वर्ग के लिए खतरा पैदा हो गया।

इस प्रकार दक्षिण-पूर्वी एशिया में बहुत छोटे से सत्ताधारी वर्ग और अपार दलित जनता के बीच काफी बड़ी खाई है, जो भेद, विरोध और संघर्ष की जननी है और वैचारिक द्वन्द्व को उत्पन्न कर रही है। इससे साम्यवाद का ज्वार बढ़ रहा है, विद्यार्थी और व्यावसायिक लोग बौखला रहे हैं, स्थानीय धर्मों के लोग सक्रिय हो रहे हैं और एक व्यापक परिवर्त्तन के द्वार खुलते जा रहे हैं।

## चीन में साम्यवादी व्यवस्था

जैसा कि पिछले परिच्छेद में कहा जा चुका है, चीन में ज़मींदारों के अत्याचार, सैनिक सरदारों के आतंक और राष्ट्रवादी जागृति से किसानों में स्पन्दन पैदा हुआ। १६२० के बाद कुङ चानताङ (चीनी साम्यवादी दल) ने अपने आपको किसानों के साथ नत्थी कर लिया। इससे किसानों का आन्दोलन और साम्यवादी क्रान्ति बिलकुल एक हो गये। १६२५ में डॉक्टर सन यात-सेन के मरते ही माओ त्से-तुङ ने किसानों का नेतृत्व सँभाल कर हूनान प्रान्त में एक प्रबल आन्दोलन खड़ा कर दिया। किसानों के झुण्ड के झुण्ड ज़मींदारों और देहात के बड़े आदमियों के घरों में घुस उनके सुअरों को मारने लगे, उनका अनाज लूटने लगे, उनकी औरतों के हाथीदाँत के पलंगों पर लेटने लगे और उनके सिरों पर कागज़ के ऊँचे टोप पहना कर, जो बेवकूफी की निशानी माने जाते हैं, उन्हें सड़कों पर घुमाने लगे। बहुत सी जगह उन्होंने देव मन्दिरों में अपने दफ्तर जमा लिये और उनकी सम्पत्ति से किसानों के लिए पाठशालाएँ खोल दीं और अपने संगठनों के खर्चे चलाने लगे। इस तरह इस आन्दोलन से न सिर्फ ज़मींदारों का सफाया होने लगा, बल्कि पुजारी-पण्डों की सत्ता, कुल-क़बीलों के अधिकार और पति की प्रमुखता भी लड़खड़ाने लगी और सारे समाज का ढाँचा बदलने लगा। साम्यवादियों ने वहाँ पाठशाला और अस्पताल खोले,

प्रेक्षागृह और गोष्ठियाँ क़ायम कीं, अखबार और पाठ्य-पुस्तकें निकालना शुरू किया, अफीम का व्यापार बन्द किया, किन्तु भूमि का राष्ट्रीयकरण न करके उसे किसानों में बाँटने और साथ ही उनकी सहकारी समितियाँ बनाने की नीति अपनायी। नवम्बर १९३१ में उन्होंने चीनी सोवियत गणतन्त्र की स्थापना की घोषणा कर दी।

१९३० के बाद चिआङ काई-शेक ने साम्यवादियों का सफाया करने का बीड़ा उठाया। हालाँकि १९३१ में जापान से टक्कर शुरू हो गयी, पर उसने साम्यवादियों के उखाड़ने को प्राथमिकता दी। उसके दबाव से अक्तूबर १९३४ में माओ-त्ज़े-तुङ ने दक्षिण के सभी साम्यवादियों को साथ लेकर उत्तरपश्चिमी पहाड़ी इलाकों की ओर लम्बा प्रयाण किया। यह प्रयाण असीम साहस और यातना की कहानी है। वहाँ पहुँच कर माओ त्ज़े-तुङ ने येनान में अपनी राजधानी क़ायम की और किसानों के संगठन का काम तेज़ी से शुरू किया। चिआङ काई-शेक ने उन्हें वहाँ भी चैन न लेने दी किन्तु उसके सेनापति, जापानी खतरे को देखते हुए, गृहयुद्ध के प्रति उदासीन थे, जैसा कि १९३७ में सिआन में उनके उसको गिरफ्तार कर लेने से ज़ाहिर हुआ। उधर साम्यवादी भी कुछ समय के लिए शान्ति चाहते थे, इसलिए १० फरवरी १९३७ को दोनों में समझौता हो गया। इसके अनुसार साम्यवादियों ने ज़मींदारों का विरोध कम कर दिया और पट्टों-मुहादों के मुताबिक़ उनके किसानों से लगान वसूल करने में कोई बाधा नहीं डाली। लेकिन उन्होंने बंजर तोड़ने का काम तेज़ किया, सैनिकों और अफसरों को खेती-बारी, पशुपालन और दस्तकारी के कामों में लगाया और कारखाने और उद्योगशाला खोलने पर ज़ोर दिया जिससे १९४४ तक वहाँ ९० कारखाने खुल गये जिनमें २०,००० आदमी काम करते थे। औद्योगिक अवनति के बावजूद वहाँ की आर्थिक व्यवस्था ऐसी थी कि हर आदमी को दिन में दस घंटे काम करनेपर रोज़ाना ½ पौंड चावल और महीने में २ पौंड मांस मिल जाता था। सिपाही और कारीगर को इससे ज्यादा मिलता था। काम के बाद फालतू वक्त में लोगों को विविध गोष्ठियों में जाना पड़ता था जहाँ साम्यवादी प्रचार की गर्मागर्मी रहती थी। शिक्षा को इतना महत्त्व दिया जाता था कि १९४५ तक ७५० प्राथमिक पाठशालाएँ खुल गयी थीं और उनके अलावा अनेक विद्यालय और येनान का विश्वविद्यालय चालू थे।

१९४० के शुरू में यूरोप में मित्रराष्ट्रों की हार से चिआङ काई-शेक की सरकार में निराशा की लहर दौड़ गयी। साम्यवादियों को खतरा हो गया कि कहीं वह जापानियों से सुलह न कर ले। इसलिए उन्होंने २० अगस्त १९४० को जापानियों के विरुद्ध एक बड़ा अभियान जारी कर दिया जिसे 'सौ दस्तों का अभियान' कहते हैं। आठवीं मार्ग-सेना के ११५ दस्तों के चार लाख सैनिक उत्तरी चीन के पाँच प्रान्तों में जापानियों पर टूट पड़े। इस अभियान के बाद जापानियों ने देहातियों पर बड़ी सख़्ती की। अगस्त और अक्तूबर

१९४१ के बीच दस हज़ार जापानी सिपाहियों ने चिन-छा-ची सीमाक्षेत्र के पेइयुएह् ज़िले में ४,५०० आदमियों को मार डाला, १५,००० मकान जलाये और १७,००० आदमियों को मंचूरिया भेजा। १९४२ में पूर्वी होपेइ में पानचिआताह् में १२,८० आदमियों को क़त्ल किया गया और सब मकान और बस्तियाँ जला दी गयीं। जापानियों का तरीक़ा यह था कि देहात में गुरिल्ला सैनिकों ने जो भट, तहख़ानें और सुरंगें बना रखी थीं, वे उन्हें घेर कर उनमें ज़हरीली गैस पम्प कर देते थे जिससे अन्दर के सारे आदमी घुटकर मर जायें। १९४२ में जापानी जनरल ओकामूरा ने 'सान्को सेईसाकू' (सबको मारो, सबको फूँको, सबको बर्बाद करो) की नीति चलायी जिससे देहात के बड़े इलाक़े तबाह और वीरान हो गये। इस मारकाट का नतीजा यह हुआ कि १९४१–४२ में उत्तरी चीन के साम्यवादी इलाक़े की आबादी ४ करोड़ ४० लाख से घट कर २ करोड़ ५० लाख रह गयी। लेकिन इससे किसानों और साम्यवादियों का गठबन्धन मज़बूत हो गया।

जिस इलाक़े पर जापानी हमला करते और वहाँ सरकारी शासन ठप्प हो जाता वहाँ किसान खुद अपनी व्यवस्था करते। उदाहरण के लिए शान्तुङ में एक सरकारी अफ़सर फान चू-शिएन ने गवर्नर हान फू-छू के चले जाने पर पीली नदी के बाढ़ के इलाक़े के एक ग़ैर-आबाद हिस्से में गुरिल्ला अड्डा क़ायम किया, १,६०० विद्यार्थियों की एक संस्था उसके साथ मिल गयी, ये सब लोग आसपास के किसानों को संगठित करने लगे, जल्दी ही उनकी ७०,००० सैनिकों की टुकड़ी बन गयी। जापानी हमले में फान मारा गया और उसके गुरिल्ला सैनिक तितर-बितर हो गये लेकिन बचे-खुचे लोगों ने साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति की सहायता से फिर अपना संगठन किया। इसी प्रकार पूर्वी होपेइ में किसानों ने राष्ट्रीय मुक्ति संस्थाएँ चालू कीं और 'ची-छा-रे-निङ' (होपेइ-चाहार-जीहोल-निङशिआ-अड्डे) नामक गुरिल्ला अड्डे क़ायम किये। किआङसू त्रिकोण में भी ऐसे ही स्वरक्षा-दलों और गुरिल्ला टुकड़ियों का संगठन हुआ। माओ त्ज़े-तुङ ने लिखा है कि जनता और गुरिल्ला का सम्बन्ध ऐसा है जैसा समुद्र और मछली का। जिस तरह समुद्र मछली को शरण देता है और उसमें वह स्वच्छन्दता से चाहे जहाँ पहुँच सकती है इसी तरह जनता गुरिल्ला का घर है और उसके बीच वह आज़ादी से हट-बढ़ सकता है। इस प्रकार चीनी देहात की जनता ने जापानी आतंक और विनाश से बचने के लिए गुरिल्ला-पद्धति के युद्ध को अपनाया जिसने साम्यवादी नेतृत्व को आगे बढ़ाया। अतः किसानों की स्वरक्षा और संगठन की आवश्यकता सहज ही साम्यवादी आन्दोलन में परिणत हो गयी।

आरम्भ में किसानों की क्रान्ति का रूप विशुद्ध राष्ट्रीय था और इसका उद्देश्य जापानियों को देश से निकालना था, लेकिन साथ ही इसने सामाजिक रूप भी धारण कर लिया और यह देश के पूरे कायाकल्प का वाहन बन गयी। देहात में इसने ज़मींदारों के

सफाये का बीड़ा उठाया। दूर-पार के गाँव में भी इसके प्रचारक ज़मींदारों को उखाड़ने लगे। जेक बेल्डन ने अपनी पुस्तक 'चाइना शेक्स दि वर्ल्ड' (न्यूयार्क, १९४९, पृ० १७४-८५) में पहाड़ी इलाक़े के एक गाँव में, जिसे 'पत्थर की दीवारों वाला गाँव' कहते थे, साम्यवादियों के प्रचार के फलस्वरूप वहाँ के लोगों के स्थानीय ज़मींदार वाङ चाङ-यिङ के ख़िलाफ उठने और उसे पेड़ से लटकाकर मार डालने का जीता-जागता चित्र खींचा है। इस गाँव के लोग बहुत ही ग़रीब और सीधे थे और सदा से झुक कर अत्याचार सहन करना अपना एकमात्र कर्त्तव्य समझते थे। लेकिन वहाँ का ज़मींदार वाङ बड़ा कठोर और क्रूर था। गाँव में उसका इतना आतंक था कि जब वह गली में निकलता तो लोग रास्ता छोड़ घरों में घुसकर कुंड़े भेड़ लेते। कोई सपने में भी न सोच पाता कि वह कभी ज़मींदार वाङ का मुक़ाबला करेगा। किन्तु एक दिन पाँच आदमी—एक अध्यापक, एक विद्यार्थी, एक बैरा, एक दुकान पर काम करने वाला नौकर और एक किसान—उस गाँव में आ गये और उन्होंने धीरे-धीरे एक गुफा में अपना अड्डा जमाया और वे लोगों को ज़मींदार वाङ के ख़िलाफ भड़काने लगे। पहले तो किसी ने उनकी बात तक न सुनी लेकिन बाद में कुछ लोग उनके साथ हो लिये। जल्दी ही उनके साथियों ने ज़मींदार के घर पर धावा बोलकर उसे पकड़ लिया और पेड़ से लटकाकर उससे जो कुछ कहलवाना चाहा कहलवाया और फिर उसे एक ठूँठ से बाँधकर मार डाला। इस तरह उस गाँव में, और उस जैसे अनेक गाँवों में, साम्यवाद आ गया।

चिआङ काई-शेक का शासन भ्रष्टाचार और अव्यवस्था से टूटने लगा तो लोगों को साम्यवादी दल में शामिल होने के अलावा और कोई चारा न सूझा। अतः इस दल की सदस्यता तेज़ी से बढ़ने लगी—१९४५ में यह १२,१०,००० थी तो १९४८ में २५,००,००० हो गयी और १९४९ में ४५,००,००० तक पहुँच गयी। उसकी सेना एक के बाद दूसरी कामयाबी हासिल करती गयी। फलतः ३ अक्तूबर, १९४९ को पेकिङ में उनके द्वारा संचालित लोक-गणतन्त्र की स्थापना हो गयी और १९५० के अन्त तक २० देशों ने उसे मान्यता दे दी। डर्क बोडे ने, जो उस समय पेकिङ में मौजूद था, अपनी 'पेकिङ डायरी' में लिखा कि साम्यवादी शासन क़ायम होने पर पेकिङ में लोगों के जीवन में कोई खास फ़र्क़ नहीं आया, सिर्फ़ इश्तहारों और विज्ञापनों की भरमार बढ़ने लगी और प्रचार-कार्य में सरगर्मी आयी। लेकिन धीरे-धीरे तबदीली आने लगी।

लोक-गणतन्त्र का सबसे पहला काम उद्योगों का बढ़ाना और खेती का विकास करना था। अतः उसने ८०० बड़ी औद्योगिक योजनाएँ शुरू कीं जिनसे फौलाद की तैयारी तिगुनी होकर ५३,५०,००० मेट्रिक टन हो गयी, कच्चे लोहे की निकासी तिगुनी होकर ५९,४०,००० टन हो गयी, बिजली की सप्लाई दो गुनी होकर १९०.३ खरब क़िलोवाट

हो गयी, सीमेंट का निर्माण दो गुने से ज्यादा होकर ६८,६०,००० टन हो गया और मशीनों के औजारों की संख्या दो गुनी होकर २८,००० सेटों तक आ गयी। १९५२ तक रेलें और सड़कें क्रमशः १५,००० और ७५,००० मील हो गयीं। उद्योग और व्यापार ज़्यादातर राज्य के हाथ में था। अक्तूबर १९५१ से जून १९५२ तक ४,५०,००० के करीब व्यापारियों को ख़त्म कर दिया गया। जो बच-खुच पाये उनसे आय का ७५ प्रतिशत करों के रूप में वसूल किया जाने लगा। १९५५ में एक कार्यक्रम चालू किया गया जिसमें निजी कारोबारों को संयुक्त-निजी राजकीय संगठनों में मिला दिया गया। इनमें व्यापारियों की जो पूँजी लगी थी उस पर मुनाफे के बजाय बहुत कम दर का ब्याज मिलता था। १९५८ में 'बड़ी छलाँग' शुरू की गयी, जिसका लक्ष्य औद्योगिक क्षेत्र में १५ वर्ष के भीतर ब्रिटेन की बराबरी करना था। इस योजना के अनुसार हर आँगन में फौलाद की भट्ठी लगनी थी जिससे दशकों का काम वर्ष में पूरा हो सके।

१९४५ में माओ त्ज़े-तुङ की नीति यह नहीं थी कि ज़मीनों को जबरन ज़ब्त किया जाये, लेकिन दिसम्बर १९४६ में इस नीति से हटकर उसने यह क़ानून पास कराया कि सरकार ज़मींदारों की ज़मीनें जबरन ख़रीद सकती है और अक्तूबर, १९४७ में एक और भी उग्र क़ानून द्वारा ज़मींदारों, मन्दिरों, विद्यालयों और अन्य संस्थाओं का स्वामित्व रद्द कर सब भूमि किसानों में बराबर बाँटने की व्यवस्था की। १९५० में भूमि-सुधार-क़ानून द्वारा सरकार को ज़मींदारों, व्यापारियों और धार्मिक संस्थाओं की ज़मीनें, औज़ार और फालतू मकान ज़ब्त करने का अधिकार मिल गया। इससे लगभग ४० करोड़ व्यक्तियों पर असर पड़ा और हर ग़रीब किसान को औसतन १/३ एकड़ भूमि मिली। लेकिन किसान अपनी ज़मीन का मालिक बना रहा। उसे फसल का २५ प्रतिशत लगान के रूप में देने के अलावा माल पर चुंगी भी देनी पड़ती थीं।

१९४९ से १९५२ तक खेती-बारी का काफी विकास हुआ, लेकिन १९५२ से १९५७ तक ख़राब मौसम के कारण इसकी ३० प्रतिशत वृद्धि का लक्ष्य पूरा न हो सका। अतः निजी ज़मीनों को करीब सौ-सौ परिवारों के सहकारी क्षेत्रों में मिला दिया गया। इनमें काम करने वालों को अंशतः श्रम के आधार पर और अंशतः ज़मीन के हिस्से के हिसाब से उपज का भाग मिलता था। १९५६ के अन्त तक ८३ प्रतिशत किसान, जिनके परिवारों की संख्या १२,५०,००,००० थी, इस तरह के ७,५०,००० सहकारी क्षेत्रों में बँट गये। १९५८ में इन सहकारी क्षेत्रों को २६,००० बड़े सामूहिक संगठनों (कम्यूनों) में मिला दिया गया। हर संगठन (कम्यून) में क़रीब ५,००० परिवार होते थे। इसके सदस्य सामूहिक रसोइयों में भोजन करते थे, बच्चों को उनके माँ-बाप से अलग कर सामूहिक नर्सरियों में पाला जाता था और बूढ़ों को विशेष आश्रमों में रखकर खाना-कपड़ा दिया जाता

था। हर सदस्य को कुछ उपज के रूप में और कुछ नक़द की शक्ल में वेतन मिलता था। 'बड़ी छलाँग' के कार्यक्रम के अनुसार इन संगठनों को बनाने में काफी सख़्ती बरती गयी।

साम्यवादी शासन में शिक्षा का बड़ा प्रसार हुआ। १९६० में १९४९ से तिगुने विद्यार्थी प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों में पढ़ने लगे। अध्यापकों और विद्यार्थियों को क्रान्तिकारी विचारधारा और तकनीकी जानकारी प्राप्त करने के अलावा हाथ का काम भी करना पड़ता था। अप्रैल १९५७ में सभी शिक्षा-कर्मचारियों और छात्रों को 'शियाफाङ' (नीचे की ओर जाना) की प्रक्रिया में से गुज़रना पड़ा और देहात में फैल कर खेतीबारी में हाथ बँटाना और जनता में घुलना-मिलना पड़ा।

१९५७ में माओ त्जे-तुङ को महसूस हुआ कि बौद्धिक वर्ग, जिनमें करीब चालीस लाख लोग थे, जनता से हटते-से जा रहे हैं। उसे शक हुआ कि कहीं उनका स्वतन्त्र वर्ग न बन जाये, जैसा चीन में पहले भी हो चुका है। इसलिए उसने उन्हें जनता के निकट लाने के लिए 'ता-फाङ' का अभियान चलाया। इसमें जनता को अफसरों, अधिकारियों और बौद्धिक वर्ग के लोगों की खुली आलोचना करने की छुट्टी थी। पहले तो लोग डर के मारे चुप रहे किन्तु जल्दी ही लो तुङ-ची और चाङ पो-चुन जैसे ग़ैर-साम्यवादी नेताओं के कहने से वे खुल पड़े और शासन पर चोटें करने लगे। सोवियत रूस की खुली और खरी बुराई की जाने लगी। 'शत-पुष्प-अध्ययन-गोष्ठी' (पाइ-हुआ श्युएह-शे) के युवक सदस्य खुलकर साम्यवाद पर नुक्ताचीनी करने लगे। इससे घबराकर शासन ने कार्यक्रम बन्द किया, आलोचकों के प्रति कड़ा रुख अपनाया और 'बड़ी छलाँग' और किसानों के सामूहिक संगठनों (कम्यून) के निर्माण को तेज़ किया। 'सौ फूल खिलें और सौ विचारधाराएँ बढ़ें' का नारा दमन का पर्याय बन गया—कुओ मो-रो जैसे साहित्यिक और चिएन पो-त्सान जैसे मार्क्सवादी इतिहासकार तक को सार्वजनिक रूप से अपने अपराध स्वीकार करने पड़े। कला और साहित्य शुद्ध रूप से शासन के उपकरण बन गये। फिर भी तिङ लिङ के 'साङ्कान नदी की धूप' और चाओ शू-ली के 'सान-ली-वान' जैसे उपन्यासों ने उत्कृष्ट साहित्य की परम्परा को जीवित रखा।

साम्यवादी चीन में समाज को नया मोड़ दिया जाने लगा। १९५० के 'नव-विवाह-क़ानून' के अनुसार विवाह, तलाक़ और सम्पत्ति के विषय में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार दिये गये और बच्चों को माँ-बाप के बन्धनों से अलग होने की प्रेरणा दी जाने लगी। सामूहिक भोजनशालाओं, बालगृहों और वृद्धाश्रमों से परिवार-व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी। सार्वजनिक विचार-परिवर्तन का जितना बड़ा प्रयास चीन में हुआ, अभी तक शायद ही कहीं और हुआ हो।

१९६०-६१ की सर्दी में मौसम की ख़राबी से चीन में बड़ी तंगी फैल गयी। मांस-

मछली के मिलने का तो सवाल ही क्या, लोगों ने बिनौलों की खली तक खायी जो सुअरों का खाना है। कानसू प्रान्त तो भुखमरी का शिकार हो गया। किन्तु यह समझ लेना गलत है कि चीन से भ्रष्टाचार या संग्रह का भाव बिलकुल मिट गया या लोगों का उत्साह बराबर बढ़ता रहा। असल में १९५८ की 'बड़ी छलाँग' के बाद लोगों में उदासीनता और सुस्ती आने लगी, जैसा कि होंग-कोंग में आये चीनी प्रवासियों के वृत्तान्तों से पता चलता है।

चीनी साम्यवादी दल में आपसी गहरे मतभेद भी घर करते रहे जो १९६६ की 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' में प्रस्फुटित हुए। लगता है, माओ त्जे-तुङ की सत्ता को कड़ी चुनौती का सामना करना पड़ा और अपनी रक्षा के लिए उसे विद्यार्थियों का 'लाल-रक्षक-दल' संगठित करना पड़ा, जिसने जनता का ध्यान खींचने के लिए अनेक क़ुर्बानी के बकरे ज़िबह करने शुरू किये। यह अन्दाज़ लगाया जा सकता है कि वियतनाम युद्ध में माओ त्जे-तुङ युद्ध को लम्बा खींचना चाहता था और इसमें एकदम कूदने के ख़िलाफ़ था, जबकि लो रुइ-छिङ और शायद लिङ शाओ-छी आदि पूरे ज़ोर-शोर से इसमें घुसने के पक्ष में थे। अतः माओ ने इस विरोधी दल का सफाया किया, साम्यवादी दल के अनेक सिद्धान्त-शास्त्रियों पर धावा बोला और लोगों का ध्यान बँटाने के लिए बुर्जुआ प्रतिक्रिया का नारा उठाकर बचे-खुचे व्यापारियों और सम्पत्तिशाली लोगों को, जिन्हें अपनी पूँजी पर निश्चित दर से सूद मिलता था, निरस्त करना शुरू किया और साथ ही पुरानी संस्कृति के सभी अवशेषों को दूर करने का बीड़ा उठाया। उसके दल ने शिक्षा के क्षेत्र से ऊँचे वर्ग के लोगों को निकालने के लिए प्रवेश-परीक्षाएँ समाप्त कीं और दल द्वारा नामज़द विद्यार्थियों का दाख़िला शुरू किया। इससे शिक्षा, नियुक्ति-उन्नति और विकास के प्रमुख सूत्रों को सत्तारूढ़ सैनिक दल ने अपने हाथ में ले लिया। इस समय चीन में सिद्धान्तों का इतना बोलबाला नहीं है जितना सैनिक शक्ति के विकास द्वारा राष्ट्र की व्यवस्था दृढ़ करने के प्रश्न का महत्त्व है।

साम्यवादी शासन में सबसे अधिक महत्त्व वैज्ञानिक और तकनीकी अनुसन्धान को दिया गया। राजकीय विज्ञान और तकनीकी आयोग के तत्त्वावधान में चीनी अकादमी काम करती है। यह संस्था ११२ शोध-संस्थान चलाती है। इसके अलावा कृषि और चिकित्सा के अनुसंधान की अलग संस्थाएँ हैं। कुल मिलाकर सब संस्थानों की संख्या १९६३ में ३१५ थी। व्यावहारिक विज्ञानों के अध्ययन के लिए मन्त्रालयों से लगे अलग संस्थान हैं। १९६२ में ४० राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं के सदस्यों की संख्या एक लाख थी और वे ५३ वैज्ञानिक पत्रिकाएँ निकालती थीं और १७० पाक्षिक और मासिक पत्र प्रकाशित करती थीं। ये संस्थाएँ अपने उपकरण स्वयं तैयार करती हैं और इनके साथ लगे कारखाने

समृद्ध हैं। चीनी विज्ञान की प्रगति का मानदंड यह है कि उसने अपने तरीक़े से आणविक शक्ति का विकास कर अणुबम तैयार कर लिया है जो एशिया के इतिहास का पहला चमत्कार है।

## जापान का नवनिर्माण

१९३० के बाद जापानियों में उग्र राष्ट्रीयता का विकास हुआ। इसे लेकर बहुत सी संस्थाएँ और समितियाँ सामने आयीं। १९१९ में बनी 'कोको सूई काई' (राष्ट्रीय-परिशुद्धि-संस्था) के कार्यक्रम के अनुसार ये विदेशी मतवाद को निकालना चाहते थे, पौरुष और वीरता के परम्परागत मूल्यों के हामी थे और राजवंश में निष्ठा जागृत करना अपना धर्म समझते थे। साथ ही ये १९२१ में बनी 'सेक्का बोशीदान' (बोल्शेविज़्म-निरोधक संस्था) के विचारों के अनुकूल समाजवाद और साम्यवाद और अन्य श्रम-सम्बन्धी वामपन्थी आन्दोलनों के विरोधी थे। इनके विचार १९३७ में शिक्षा-मंत्रालय द्वारा प्रकाशित 'कोकूताई नी होंगी' (हमारी राष्ट्रीय राज्य प्रणाली के मूल सिद्धान्त) नामक पुस्तिका में प्रस्तुत की गयी वफादारी, देशभक्ति, वात्सल्यभाव, समन्वयशीलता, आत्मविस्मृति, राष्ट्रीय एकीकरण और सामरिक क्षमता की नीति में परिणत हो गये। अतः जापान उदारतावाद और साम्यवाद दोनों को छोड़ता हुआ सैन्यवाद, प्रसारवाद और साम्राज्यवाद की ओर चल पड़ा और १९३९ के द्वितीय महायुद्ध में कूद पड़ा। १९४२ में उसने 'दाई तोआ क्योएईकेन' (बृहत्तर पूर्वी एशिया सम-समृद्धि क्षेत्र) का संगठन कर अपने विशाल साम्राज्य की व्यवस्था की। लेकिन इससे यूरोप और अमरीका के देशों के अलावा इसे एशियाई देशों का विरोध भी सहन करना पड़ा। इससे चीन में किसानों की क्रान्ति हुई, जिसने साम्यवादी आन्दोलन का रूप धारण किया और अन्य देशों में राष्ट्रवादी भावना उभरी जिसने सब प्रकार के उपनिवेशवाद को ख़त्म करने का बीड़ा उठाया। फलतः जापान की पराजय का क्रम शुरू हुआ। अमरीकी परमाणुबमों से हिरोशीमा और नागासाकी के एक लाख आदमियों की जानें गयीं। २ सितम्बर, १९४५ को तोकियो की खाड़ी में 'मिसूरी' जहाज पर जापानी अधिकारियों ने आत्मसमर्पण कर दिया और ६ सितम्बर, को जनरल डगलस मैकार्थर ने वहाँ के सैनिक प्रशासक का पद सँभाल लिया। तब से अप्रैल, १९५१ तक जापान पर उसका अखण्ड शासन रहा। इस काल में जापानी समाज में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

जापान के इतिहास में यह पहला मौका था जब वह किसी विदेशी शक्ति के अधीन हुआ। लेकिन वहाँ के लोगों ने असीम शान्ति, सहनशीलता और समन्वयवृत्ति का परिचय दिया और पराजय की वेला में आत्म-निरीक्षण कर अपनी कमियों को पहचाना और

अपने दोषों को दूर करने का संकल्प किया। अतः उनका सैन्यवाद का ज्वर उतर गया, अभिजात वर्गों और निहित स्वार्थों का सफाया हो गया, लोकतन्त्र के बन्धन कट गये, आर्थिक, औद्योगिक और खेती-बारी के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन हुए, जिनसे बपौतीवाद और जमींदारी समाप्त हो गयी, समाज में समानतापरक भावना और नागरिक चेतना बढ़ी और सोचने-विचारने के ढंग नये होने लगे।

मैकार्थर के अधिकार-शासन ने ४ अक्तूबर, १९४५ को 'जापानी अधिकार-पत्र' की घोषणा की जिससे जनता के मौलिक अधिकारों को सुरक्षित किया गया, ऐसे सब कानूनों को रद्द किया गया जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधक हों और राजनीतिक बन्दियों, विशेषतः समाजवादियों और साम्यवादियों को रिहा किया गया। साथ ही कानूनों की एक नयी संहिता लागू की गयी जिसमें स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार दिये गये, वयस्क होने पर प्रत्येक व्यक्ति को माँ-बाप के नियन्त्रण से मुक्त किया गया और ज्येष्ठ पुत्र के एकाधिकार के बजाय सब बच्चों को पैतृक सम्पत्ति में बराबर का हिस्सा दिया गया। ६ मार्च, १९४६ को नया संविधान जारी हुआ जिसके अनुसार २० वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक व्यक्ति को मतदान का अधिकार था और राष्ट्र की प्रभुसत्ता जनता में निहित थी, सम्राट् उसका प्रतीकमात्र था।

नये शासन ने आर्थिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कदम उठाये। १९४९ के अन्त तक ८३ जाईबात्सू संगठनों को समाप्त कर उनके कारोबार को लोगों को बेच दिया गया। कुल मिलाकर ५,००० निगमों का पुनर्गठन हुआ। मज़दूरों को संगठन बनाने, सामूहिक सौदे-मुहादे करने और मालिक-मज़दूर सम्बन्धों को सुधारने और निपटाने की समितियाँ बनाने का अधिकार दिया गया। १९४६ के अन्त तक उनके दो बड़े संगठन, 'सोदोमेई' (अखिल जापान मजदूर संघ) और 'सानबेतसू' (औद्योगिक यूनियनों की राष्ट्रीय कांग्रेस) अस्तित्व में आये। एक में ९ लाख और दूसरे में १३ लाख सदस्य थे।

नये शासन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य भूमि-सुधार था। यह काम मेईजी पुनरुद्धार के समय से ही लटक रहा था। अब इसके पूरा होने का वक्त आया। १९४६ के एक कानून द्वारा देहात में अनुपस्थित रहने वाले जमींदारों को अपनी जायदादें सरकार को बेचने पर मजबूर किया गया और यह तय किया गया कि खेती न करने वाले अधिक से अधिक ढाई एकड़ जमीन रख सकते हैं और खेती करने वाले साढ़े सात एकड़। जनता द्वारा चुने हुए १३,००० ग्राम्य-भूमि-आयोगों ने इस प्रकार खरीदी और ली हुई भूमि को किसानों में बाँटने का काम हाथ में लिया। करीब ७० % कृषि-योग्य भूमि इस प्रकार किसानों को तीस साल की किस्तों पर बेची गयी। कुल मिलाकर ५०,००,००० एकड़ भूमि ३०,००,००० किसानों में बाँटी गयी। सरकार ने इसके अलावा २८,००,००० एकड़ भूमि तोड़ कर खेती

के योग्य बनायी। किसानों में सहकारी समितियाँ बनाने पर जोर दिया गया। १९४९ तक इन समितियों की संख्या ३,२०० से ज्यादा हो गयी और इनकी सदस्यता ८०,००,००० तक पहुँच गयी। करीब-करीब हर गाँव में एक समिति बन गयी जो सूद-बट्टे और तिजारत का काम भी करती थी।

इस प्रकार नये शासन ने सैन्यवादियों, उद्योगपतियों और जमींदारों का सफाया कर सामान्य जनता, मज़दूरों और किसानों के ऊपर उठने का रास्ता खोल दिया। पुरानी रूढ़ि और परम्परा के बन्धन को तोड़ कर समाज के निचले और दबे वर्ग उभरने लगे। यह सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन राष्ट्रीय विकास को एक नयी दिशा में ले जाने लगा।

१ अप्रैल, १९५२ को अधिकार-शासन के समाप्त होते ही जापान की आर्थिक प्रगति तेज हो गयी। प्रतिवर्ष आर्थिक विकास में १०% की वृद्धि हुई। १९५९ में तो यह १७ % हो गयी। बाद के वर्षों में १२ से १३% रही। १९७० से १९७६ तक इसका अनुमान १०.६ % है। यह संसार के हर देश से ज्यादा है। राष्ट्रीय उत्पादन १९४६ में १३ खरब डालर से बढ़कर १९५१ तक १५१ खरब डालर हो गया और १९६२ में ५१९ खरब डालर तक पहुँच गया। १९७५ तक इसके दो गुने हो जाने का अनुमान है। १९५३ और १९६२ के बीच पक्षियों की पैदावार दो गुनी हुई, गउओं की तिगुनी और सुअरों की चार गुनी, सब्जी और फल का तो कोई ठिकाना ही न रहा—आम तौर से भूमि की उपज तिगुनी हो गयी। अतः उपभोग का स्तर युद्ध के पहले से ३० % ऊँचा हो गया। साथ ही वेतन-स्तर युद्ध के पहले से ३८ % ऊँचा हो गया और १९५६ में ४८ % पर पहुँच गया। किराये और सूद १८ % से गिरकर ४ % तक आ गये। युद्ध से पहले तोकयो में ५९,००० कार, ट्रक और मोटर साइकिलें चलती थीं, १९६१ में उनकी संख्या ७,००,००० हो गयी। घर-घर टेलीविज़न सेट, रेफ्रीजरेटर और कपड़ा धोने की मशीनें लग गयीं। जनसंख्या १९६३ तक बढ़कर ९ करोड़ ६० लाख हो गयी किन्तु जापान के प्रबुद्ध लोगों ने इस पर नियन्त्रण रखा और इसे १% सालाना से ऊपर नहीं जाने दिया।

शिक्षा में युगान्तरकारी परिवर्तन हुआ। विश्वविद्यालयों की संख्या २६० और विद्यालयों की ३०५ हो गयी। कालेज के छात्रों की संख्या १९४० में २,६८,००० से बढ़कर १९६२ तक ८,३४,००० हो गयी। १९६२ के बजट में रक्षा पर ८.६% खर्च होता था तो शिक्षा पर १२.५%। शिक्षा के प्रसार, स्त्रियों के उत्थान, मजदूर-संघों के निर्माण और अर्थ-व्यवस्था के जनतन्त्रीकरण से समाज में व्यक्तिवाद की नयी लहर आयी जिससे 'शूताईसेई' (स्वतन्त्र व्यक्तित्व) के विकास पर ज्यादा ज़ोर दिया जाने लगा। इस नये

समाज में दाजाई ओसामू का सुरा और सुन्दरी से सम्बन्धित साहित्य लोकप्रिय बना। यह सब कुछ होते हुए भी जापानियों ने अपनी निष्ठा नहीं खोयी। 'सोका गाक्काई' (मूल्य-सृजन-संघ) के रूप में उन्होंने एक नये धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात किया। १९५० के करीब इसमें कुछ हजार परिवार शामिल थे, किन्तु १९६४ तक इसके सदस्यों की संख्या ४३ लाख तक पहुँच गयी। औसतन हर पन्द्रह आदमियों में से एक इसका सदस्य है। इसका विश्वास है कि केवल नीचीरेन—बौद्ध-धर्म और पुण्डरीकसूत्र में श्रद्धा रखने से मनुष्य, राष्ट्र और विश्व का कल्याण हो सकता है। इसके अलावा 'जोदो-शीन्सू-नीशी-होन्गान्जी बौद्ध सम्प्रदाय' के १३,००० मन्दिर देश भर में फैले हुए हैं। इनकी प्रशासन व्यवस्था संसदीय पद्धति से चलती है।

आजकल जापान में बड़ा बौद्धिक स्पन्दन मिलता है। 'ओयामा ईकूओ की' (जापान का भावी क्रम) शीर्षक पुस्तक में एक नया नैतिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीयता पर बल दिया गया है। तानाका कोतारो के ग्रन्थ 'शीनरो तो हेईवा ओ मोतोमेते' (सत्य और शान्ति की खोज) में नैतिक व्यवस्था के आधार पर पूर्व और पश्चिम को समन्वित करने का प्रयास किया गया है। इस युग का एक अन्य प्रमुख लेखक हासेगावा न्योजेकान है। उसकी १९५२ में प्रकाशित 'उशीनावारेता नीहोन' (खोया हुआ जापान) शीर्षक पुस्तक में जापानी संस्कृति के मूल तत्त्वों की गवेषणा और पश्चिम के अन्धानुवर्तन का विरोध है। इसी तरह कामेई कातसूईचीरो के १९५४ में प्रकाशित ग्रन्थ 'नीजीस्सेईकी नीहोन नो रीसोज़ो' (बीसवीं सदी के जापान का एक आदर्श चित्र) में तथाकथित आधुनिकता की आलोचना की गयी है और एशियाई आदर्शों को अपनाने पर बल दिया गया है। इन सभी विचारकों और लेखकों की विशेषता यह है कि वे पश्चिम की जीवन-पद्धति और वहाँ के मतवादों के अन्ध श्रद्धालु नहीं हैं। उन्होंने बारम्बार जापान की नैतिक, व्यवस्थापरक, समन्वयप्रधान परम्पराओं को महत्त्व दिया है और उन्हें विकसित करने का यत्न किया है।

ऊपर लिखे विचारों के अलावा जापान में उग्र वामपन्थी मनोवृत्ति भी बढ़ रही है। 'शागाकूदो तोईत्सू-हा' (समाजवादी विद्यार्थी संघ) की एक शाखा 'सेकीगून-हा' (लाल सेना दल) जुलाई १९६९ में कायम हुई। इन्होंने ओसाका और तोकयो में थानों पर छापे मारे। ये लोग विश्व-क्रान्ति में विश्वास रखते हैं। इनका मत है कि अफ्रीका, एशिया, अमरीका, वियतनाम, कोरिया और जापान में लाल सेना संगठित होकर एकदम सशस्त्र क्रान्ति शुरू कर दे। ये लोग लातीनी अमरीका और क्यूबा तक में अपने सम्बन्ध बताते हैं।

इस प्रकार जापान प्रत्येक दृष्टि से और हर प्रकार की विचारधारा में मूर्धन्य स्थान रखता है।

## भावी दिशाएँ

उपर्युक्त सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि आजकल एशिया के लोग एक जबरदस्त क्रान्ति से गुजर रहे हैं। इसकी शुरूआत उन्नीसवीं सदी में यूरोप के सम्पर्क से हुई और आज यह प्रबल वेग से चल रही है। निश्चय ही विश्व के इतिहास में इसका अद्वितीय महत्त्व है।

एशिया की इस क्रान्ति का अपना निजी स्वरूप और अपनी वैयक्तिक विशेषताएँ हैं। सबसे पहली बात जो इसके विषय में स्पष्ट रूप से जान लेनी चाहिए, यह है कि यह एशिया के लोगों द्वारा शुरू हुई। यह मानना गलत है कि इसके प्रवर्तक या स्रष्टा यूरोपियन लोग हैं। सच तो यह है कि यदि उनका बस चलता तो वे अपना आधिपत्य हमेशा को क़ायम रखने के लिए यहाँ के लोगों को पिछड़ा रखते और उन्हें कभी भी उन्नति या आधुनिकता की ओर कदम न बढ़ाने देते। परन्तु इनके शासन ने एक ओर एशिया की सोयी हुई जनता को झकझोरा और दूसरी ओर, मूलत: अपनी सुरक्षा के लिए ऐसे साधन जुटाये जिन्होंने उनके उत्थान में मदद पहुँचायी। फिर भी उत्थान और प्रगति का क्रम एशिया के लोगों ने खुद चलाया और इसमें जो कुछ सफलता मिली वह उनकी अपनी उपलब्धि है।

दूसरी जानने लायक बात यह है कि यूरोपियन उद्वेलन और उत्तेजना से एशिया के लोगों में जो जागृति आयी उसका लक्षण उनके अपने विगत गौरव की चेतना और अपनी महत्ता की प्रतीति थी। पश्चिमी एशिया में सैयद जमालुद्दीन अल-अफगानी, भारत में राजा राममोहन राय, चीन में ली हुङ-चाङ और जापान में ईतो हीरोबूमी आदि व्यक्ति अपनी-अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति जागरूक थे। उनका विचार था कि पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान और तकनीकी उद्योग इन परम्पराओं के प्रतिकूल नहीं वरन् इन्हें दृढ़ करने के उपाय हैं। अत: उन्होंने इन्हें ग्रहण करने की पूरी कोशिश और हिमायत की किन्तु अपना लक्ष्य इनके द्वारा अपनी परम्पराओं को सशक्त और सक्रिय बनाना रखा। इस प्रकार एशिया की क्रान्ति एक सांस्कृतिक नवोत्थान और उद्बोधन के रूप में सामने आयी।

वास्तव में तेरहवीं-चौदहवीं सदियों में एशियाई जीवन में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। मध्य-एशिया के घुमन्तू लोगों ने, विशेषत: मंगोलों ने, और उनसे पहले या उनके साथ तुर्कों ने, एशिया के बहुत बड़े इलाके पर अपना अधिकार जमा लिया। किन्तु उन्होंने वहाँ की प्रतिष्ठित परम्पराओं को शिरोधार्य किया और उनके सांस्कृतिक परिवेश को अपनाने की कोशिश की। यह साधारण अनुभव की बात है कि जब कोई बाहर का आदमी किसी संस्कृति को अपनाता है तो वह उससे इस तरह चिपट जाता है कि उसकी लोच और लचक को खत्म कर देता है। इन घुमन्तू लोगों के सम्पर्क से एशिया की संस्कृतियों का भी यही हाल हुआ और ये अन्धविश्वासों, अभिनिवेशों और दुराग्रहों में फँस कर निष्क्रिय, रूढ़ और जड़ हो गयीं। साथ ही घुमन्तू लोगों ने प्राय: सभी जगह, जहाँ

उनका राज्य रहा, बहुत कुछ स्तैपों के नमूने की, एक विशेष प्रकार की सामन्ती व्यवस्था क़ायम की जो इन जड़ परम्पराओं की तरह ही सख़्त और सूखी थी। इसलिए समाज और संस्कृति दोनों स्थावर हो गये और रुके हुए पानी की तरह गन्दगी के घर बन गये। पश्चिमी प्रभाव ने इनके बाँधों पर चोट कर इनमें बहाव पैदा किया और उपर्युक्त नेताओं ने इसे तेज़ कर इसमें पुराने ज़माने जैसा जीवन लाने की कोशिश की। अतः एशिया में एक प्रकार के कायाकल्प या नवीकरण या पुनर्जन्म (रिनेसां) जैसा वातावरण बनने लगा जिसने जीवन के हर पक्ष को नयी स्फूर्ति और चेतना दी।

जल्दी ही यह सांस्कृतिक नवोत्थान राष्ट्रवादी विचारधारा में बदल गया और पाश्चात्य आधिपत्य को उखाड़ फेंकने की विह्वलता अनुभव करने लगा। अतः एशिया के लोग यूरोप की ताक़तों से टकराने लगे और उनके शासन और शोषण को ख़त्म करने के यत्न में लग गये। इससे एकता, स्पन्दन और उद्वेलन का एक नया दौर आया जिसने अँधेरे की छाया को पूरी तरह निरस्त कर, बड़े-बड़े कुम्भकर्णों की निद्रा को तोड़ उन्हें प्रबल आन्दोलनों में धकेल दिया। हर कोना जागृति से जगमगा गया, हर व्यक्ति स्फूर्ति से तिलमिला गया, हर वर्ग आगे बढ़ने और दौड़ने को बेचैन हो गया, हर तरफ बेताबी और बेबाकी फैल गयी, हर दिशा नये शोर और स्वरों से गूँजने लगी, हर पेड़, हर शाख झनझनाते तूफानों में आवाज़ मिलाने लगी-यह व्यापक क्रिया, गति, ध्वनि अबाध रूप से पश्चिमी प्रभाव को समाप्त करने लगी। इस सदी के मध्य के बाद तेज़ी से एशिया के लोग पश्चिमी आधिपत्य से मुक्त होने लगे।

लेकिन यह क्रान्ति राजनीतिक लक्ष्यों को पाते ही सामाजिक क्षेत्रों में घुसने लगी। इसका उद्देश्य उन वर्गों का सफाया करना हो गया जो सदियों से अपार जनता को दरिद्रता के दलदल में धँसाये हुए थे। अतः यह किसान-मज़दूर के उद्धार का वाहन बन ज़मींदार, उद्योगपति, बपौतीदार आदि के निहित स्वार्थों को चकनाचूर करने लगी। इसने इसके लिए किसी निश्चित विचारधारा का पल्ला नहीं पकड़ा बल्कि परीक्षणात्मक दृष्टि से अवसर के अनुरूप और परिस्थितियों के अनुसार केवल लोकमंगल, जनकल्याण, दलितोद्धार, सार्वजनिक विकास और सर्वांगीण नवनिर्माण को अपना लक्ष्य मान अनेक प्रकार के सुधार-कार्यों, और जहाँ इनसे काम चलता नहीं देखा, विघटनकारी आन्दोलनों की शुरुआत की। यह एशिया के देशों और लोगों की निजी उपज है, इसे पश्चिमी विचारों की परिणति समझ लेना भारी भूल है।

आज एशिया के लोग बेहद अधीर और बेचैन हैं। उनमें जोश और जल्दी की बिजली दौड़ रही है। वे रुकना और ठहरना नहीं चाहते। न सुस्ताने और सोचने के लिए तैयार हैं। सिर्फ बढ़ना, दौड़ना, छलाँगें लगाना उनका धर्म बन गया है। उदाहरण के

लिए, चीन की 'बड़ी छलाँग' १९५८ से १९७३ तक उद्योग-धन्धों में ब्रिटेन का मुक़ाबला करने का मन्सूबा रखती है। जापान के लोगों का यह विचार है कि उनका कुल राष्ट्रीय उत्पादन १९८० तक रूस के बराबर हो जाय और २,००० तक अमरीका के बराबर। हाल ही में वहाँ के विदेशमन्त्री ने जकर्ता में घोषणा की कि उसका देश राष्ट्रीय उत्पादन का १ प्रतिशत विदेशी सहायता में लगायेगा। वहाँ खेती-बारी में इतनी उन्नति हुई कि ज़रूरत से कहीं ज़्यादा पैदावार होती है और किसानों को इतना नफा है कि १८ प्रतिशत लोग इसमें लगे हैं जबकि ८ प्रतिशत से काम चल सकता है। इस तेज़ प्रगति से वहाँ का बौद्धिक वर्ग घबरा रहा है और इसकी रफ्तार धीमी करने की सलाह दे रहा है, लेकिन औद्योगिक वर्ग सिर पर पाँव रख कर बढ़ा चला जा रहा है। वियतनाम में बेतहाशा बर्बादी के बाद भी लोगों में अजीब जोश-ख़रोश, जोखिम उठाने की चाह, खतरों से जूझने का भाव और रुकावटों की परवाह न करते हुए बढ़े जाने का उत्साह है। अतः वियतक़ोंग लाओस और कम्बोदिया तक में ऊधम मचा रहे हैं और दुनिया भर की परवाह न करते हुए आगे बढ़े जा रहे हैं। पश्चिमी एशिया में इसराइली असीम उत्साह और भयानक जोश से अरबों से भिड़ रहे हैं और अरब गुरिल्ला भी जान पर खेल कर उनकी नाक में दम किये हुए हैं। इन अरब शरणार्थियों में इतना वेग है कि इनसे सँभाले नहीं सँभलता और वे अपने ही भाई-बन्दों और उर्दुन्न (जोर्डन) के लोगों से भिड़ते रहते हैं। भारत में नक्सलवादियों को चैन नहीं है और अन्य तत्त्व गड़बड़ फैलाने से नहीं हिचकते हालाँकि वहाँ शान्ति की परम्परा काफी मज़बूत है। इस तरह एशिया में एक प्रकार का भूचाल या तूफान या सैलाब सा चल रहा है जो न किनारों की परवाह करता है न अच्छे-बुरे की पहचान। इस कम्पन, भंजन और बहाव में पुरानी परम्पराएँ खण्ड-खण्ड होकर बही जा रही हैं और नये मूल्य बन-बन कर टूट-फूट रहे हैं। अतः एक प्रकार की शून्यता या रिक्तता-सी पैदा हो रही है जिसमें भयंकर झंझाओं के नर्तन और गुंजन के अलावा और कुछ सुनाई या दिखाई नहीं देता।

किन्तु इस विस्फोट और विघटन में नयी सृष्टि के अंकुर निहित हैं। परम्पराओं के भग्नावशेषों में सांस्कृतिक उर्वरता है। इनमें से नयी व्यवस्थाएँ और पद्धतियाँ फूट रही हैं, नयी जीवन-शैलियाँ जन्म ले रही हैं, नयी सृजनक्रिया का विकास हो रहा है। इस सब कार्यकलाप में अतीत नया रूप ले रहा है, इतिहास नया लिबास बदल रहा है, पुराने पेड़ों पर नयी कोंपलें आ रही हैं, युग नयी करवट ले रहा है, हर तरफ जागरण की गूँज और सृजन का शोर है। यह सब क्या रूप लेगा यह भविष्य का विषय है, किन्तु इसमें शक नहीं कि इससे विश्व में एक नयी संस्कृति का प्रादुर्भाव होगा और मानव-जीवन को नयी दिशाएँ और नये आयाम मिलेंगे।